मिल्लते-इस्लामिया
का
संक्षिप्त इतिहास

(भाग-2)

सरवत सौलत

विषय सूची

अध्याय-4

अध्याय-5

अध्याय-14

अध्याय-15

अध्याय-16

अध्याय-17

अध्याय-18

अध्याय-19

अध्याय-20

अध्याय-33

अध्याय-34

अध्याय-35

अध्याय-36

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम
"अल्लाह दयावान् कृपाशील के नाम से"

प्रस्तावना

मिल्लते-इस्लामिया का संक्षिप्त इतिहास नए क्रम और तरतीब के साथ आपके समक्ष प्रस्तुत है और जैसा कि पाठकगण इसको देखेंगे, यह संस्करण पहले अन्य संस्करणों से अधिक भिन्न है। इस बार मैंने पूरे इतिहास का पुनरावलोकन किया है, बल्कि ठीक बात यह है कि पूरे इतिहास का लेखन मैंने दुबारा किया है और इसकी हैसियत बड़ी हद तक नई पुस्तक की-सी हो गई है। अब इस इतिहास का पहला भाग मोटाई के लिहाज़ से पहले की तुलना में दुगना और दूसरा भाग इससे भी अधिक वृहद और प्रचुर हो गया है। पहले मेरी इच्छा एक विस्तृत इस्लामी इतिहास लिखने की थी, परन्तु काम की अधिकता और समय की कमी के कारण इसकी पूर्ति सम्भव नहीं नज़र आ रही। ऐसी स्थिति में पाठकगण से पहले संस्करण के प्रस्तावना में विस्तृत इतिहास लिखने का जो वादा किया था उसके पूरा करने की यही सूरत नज़र आई कि इस्लाम के संक्षिप्त इतिहास को किसी क़द्र विस्तृत कर दिया जाए, ताकि इस्लामी इतिहास का छात्र कोई इल्मी कमी महसूस न करे और महत्वपूर्ण घटनाएँ और मसले भी नज़रंदाज़ न हों। इस उद्देश्य हेतु उन महत्वपूर्ण घटनाओं को जो पहले संस्करण में बहुत संक्षिप्त थीं, नए संस्करण में किसी क़द्र विस्तार से बयान किया गया है। कई नएं बहसों की वृद्धि भी की गई है और इस बात की कोशिश की गई है कि इतिहास के संक्षिप्त खण्ड को सामने रखते हुए इस्लामी इतिहास का कोई दौर और इस्लामी दुनिया का कोई देश ऐसा न रहे कि जिसका इतिहास नए एडिशन में पेश न किया गया हो।

मिल्लते-इस्लामिया का संक्षिप्त इतिहास के दूसरे भाग की तरतीब में भी परिवर्तन किया गया है। पहले इस भाग में कुल 28 अध्याय थे, अब उनकी संख्या 36 हो गई है। इस भाग में इस देश के इतिहास को उस युग तक

पहुँचाकर समाप्त कर दिया गया है, जिस युग तक इस देश पर ग़ैर-मुस्लिम ताक़तों का अधिकार रहा या जिस वर्ष प्राचीनकाल समाप्त होकर आधुनिक युग का आरम्भ हुआ।

मिल्लते-इस्लामिया का संक्षिप्त इतिहास के तीसरे भाग में इस्लामी दुनिया के आधुनिक युग का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इस भाग में प्रत्येक इस्लामी देशों की स्वतंत्रता के लिए कोशिश, स्वतंत्रता के बाद विकास एवं उत्थान का हाल, आधुनिक सैद्धांतिक कशमकश की घटनाओं को प्रस्तुत करने के अतिरिक्त ज्ञान एवं साहित्य के उत्थान पर भी एक नज़र डाली गई है। आबादी क्षेत्रफल, कृषि और औद्योगिक विकास से सम्बन्धित गणना भी इस भाग की एक बड़ी विशेषता है।

हमारे इतिहास के इस नए संस्करण में इतिहास के विभिन्न कालों के विश्लेषण एवं विघटन के अतिरिक्त इस्लामी दुनिया के पतन पर भी प्रकाश डाला गया है। यह वह पहलू है जो पहले संस्करण में बड़ी हद तक नज़रंदाज़ कर दिया गया था, इसके अतिरिक्त इस नए संस्करण में सैद्धांतिक दृष्टिकोण से किताब को अधिक-से-अधिक महत्वपूर्ण बनाने की कोशिश की गई है। शासकों के वंशीय-वृक्षों की संख्या भी बढ़ा दी गई है और अन्त में महान शख़्सियतों, महत्वपूर्ण स्थानों और प्रांतीय भाषाओं के अंग्रेज़ी के समानार्थक-शब्दों की एक सूची को भी बढ़ा दिया गया है।

इन परिवर्तनों और वृद्धियों के बाद मिल्लते-इस्लामिया का संक्षिप्त इतिहास के इस नए संस्करण ने एक ऐसे सम्पूर्ण और व्यापक इस्लामी इतिहास का रूप धारण कर लिया है, जिसका उदाहरण मेरी जानकारी के अनुसार किसी भी भाषा में उपलब्ध नहीं है। इन तमाम परिवर्तनों के बावजूद किताब की भाषा नियमानुसार दिलचस्प और सरल रखी गई है, ताकि पढ़नेवालों की अधिक-से-अधिक संख्या इस किताब से लाभ उठा सके। पूरी आशा है कि इन वृद्धियों एवं इज़ाफ़ों के बाद मिल्लते-इस्लामिया का संक्षिप्त इतिहास पाठकों के लिए पहले से अधिक दिलचस्प, उपयोगी और ज्ञान में बढ़ोत्तरी करनेवाला सिद्ध होगा।

मुसलमानों के उत्थान का दूसरा दौर

(1)

(656 हि॰/1258 ई॰ से 918 हि॰/1512 ई॰)

इस्लाम के आरम्भ से 1118 हि॰/1707 ई॰ तक एक हज़ार वर्ष का दौर दुनिया में मुसलमानों के उत्थान का दौर है। इस दौर को दो स्पष्ट भागों में बाँटा जा सकता है—

(1) इस्लाम के आरम्भ से 656 हि॰/1258 ई॰ में बग़दाद के पतन तक का दौर जिसका इतिहास इस किताब के प्रथम भाग में प्रस्तुत किया जा चुका है।

(2) 656 हि॰/1258 ई॰ से 1118 हि॰/1707 ई॰ तक का काल जिसके सम्बन्ध में इस द्वितीय भाग में चर्चा की गई है। मुसलमानों के उत्थान के इस दूसरे दौर को हमने दो भागों में बाँटा है—

(क) 656 हि॰/1258 ई॰ से 918 हि॰/1512 ई॰ तक का काल। यह इस्लामी इतिहास का संक्रमणकाल है जिसमें उत्थान के प्रथम दौर की विशेषताएँ भी पाई जाती हैं और आनेवाले दौर की विशेषताएँ भी। इस दौर में पश्चिमी जगत् मुसलमानों के समकक्ष हो गया। इस दौर में राजनीति के क्षेत्र में न सही बौद्धिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में मुसलमानों का यूरोप पर वर्चस्व क्रमशः ख़त्म होता नज़र आता है। इस दौर के अन्त तक मध्यकाल समाप्त हो जाता है।

(ख) 918 हि॰/1512 ई॰ से 1118 हि॰/1707 ई॰ में औरंगज़ेब की मृत्यु तक का दौर। इस दौर में यद्यपि मुसलमानों को पश्चिमी जगत् पर राजनीतिक वर्चस्व प्राप्त रहा, परन्तु बौद्धिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से यूरोप का पलड़ा भारी हो गया। यह दौर विश्व-इतिहास के आधुनिक दौर से सम्बन्ध रखता है। इसके बाद मुसलमानों का राजनीतिक पतन भी प्रारम्भ हो जाता है।

अध्याय-1

पासबाँ मिल गए काबा को सनम-ख़ाने से

(शत्रु ही समर्थक बन गए)

(1) 656 हि०/1258 ई० में मंगोलों के हाथों बग़दाद की तबाही इस्लामी इतिहास का एक नया मोड़ है। बग़दाद के पतन के साथ इस्लामी इतिहास के उत्थान का पहला दौर समाप्त हो जाता है और दूसरे दौर का आरम्भ होता है। यह दूसरा दौर भी मुसलमानों के उत्थान का ही दौर है यद्यपि प्रथम दौर की तरह भव्य और उज्ज्वल नहीं, परन्तु कई हैसियतों से पहले दौर से कम शानदार भी नहीं।

चंगेज़ ख़ाँ और उसके उत्तराधिकारी

चंगेज़ ख़ाँ तुर्किस्तान, अफ़ग़ानिस्तान और उत्तरी ईरान पर विजय प्राप्त करने और वहाँ के शहरों को तबाह व बरबाद कर देने के बाद 620 हि०/1223 ई० में मंगोलिया वापस चला गया, जहाँ 624 हि०/1227 ई० में उसकी मृत्यु हो गई। चंगेज़ यद्यपि मंगोलिया के असभ्य एवं अज्ञानी ख़ानाबदोशों (घुमन्तुओं) के बीच पैदा हुआ था, परन्तु फ़ौजी एवं प्रशासनिक मामलों में वह असाधारण योग्यता रखता था। फ़ौजी योग्यता का अनुमान तो इसी से किया जा सकता है कि उसने चीन एवं ख़ुवारिज़्म जैसी मज़बूत और शक्तिशाली हुकूमतों की फ़ौजों को पराजित किया। उसकी प्रशासनिक योग्यता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसने एक ऐसी हुकूमत क़ायम की जिसे उसके उत्तराधिकारियों ने कुछ वर्षों में ही दुनिया की सबसे विस्तृत सल्तनत बना दिया। यह सल्तनत अपने उत्थान के दौर में चीन से लेकर मध्य यूरोप तक फैली हुई थी और इतिहास में उस समय तक कोई राष्ट्र इतनी विस्तृत सल्तनत स्थापित करने में सफल नहीं हो सका था। मंगोलों की यह सल्तनत उमैया-वंश के दौर में अरबों की सल्तनत से भी अधिक विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई थी। इसके अतिरिक्त चंगेज़ ख़ाँ ने अपने वंश को एक क़ानून भी दिया जो 'तूरह-ए-चंगेज़ी' कहलाता था और जिसका पालन

मंगोल सदियों तक करते रहे।

मंगोल अपने प्रारम्भिक दौर में लोकतान्त्रिक परम्पराओं का बड़ी दृढ़ता से पालन करते रहे। इन परम्पराओं में एक परम्परा यह थी कि जब कोई महत्वपूर्ण मामला सामने आता था तो सभी मंगोल सरदारों एवं प्रशासकों की एक सभा बुलाई जाती थी, जिसे तुर्की और मंगोली भाषा में 'क़ुरुलताई' कहा जाता था, और इस सभा में सबसे विचार-विमर्श के बाद कोई अन्तिम निर्णय लिया जाता था। राज्याभिषेक का मामला भी क़ुरुलताई में तय किया जाता था। मंगोलों में बादशाहत पैतृक हुआ करती थी, अर्थात् बाप के बाद उसकी सन्तान को राजगद्दी सौंपी जाती थी, परन्तु यह फ़ैसला कि विभिन्न सन्तानों में राजगद्दी का सबसे योग्य उत्तराधिकारी कौन है, क़ुरुलताई ही करती थी। मंगोल बादशाह 'ख़ान' या 'क़ाआन' कहलाता था। क़राक़ुरम, जिसके खंडहर आज भी मंगोलिया की वर्तमान राजधानी के निकट पाए जाते हैं, मंगोल-सल्तनत की राजधानी थी। यहाँ निम्नलिखित शासक राजगद्दी पर आसीन हुए—

1. चंगेज़ ख़ाँ 603 हि॰/1206 ई॰ से 624 हि॰/1227 ई॰
2. ऊगदाई ख़ाँ 626 हि॰/1229 ई॰ से 639 हि॰/1241 ई॰ (यह चंगेज़ का बेटा था)।
3. गयूक ख़ाँ 644 हि॰/1246 ई॰ से 646 हि॰/1248 ई॰
   (यह ऊगदाई ख़ाँ का बेटा था)।
4. मोंगू ख़ाँ 649 हि॰/1251 ई॰ से 657 हि॰/1259 ई॰
   (यह चंगेज़ के दूसरे बेटे तूली ख़ाँ का बेटा था)।

इस सूची में एक शासक की मृत्यु और दूसरे के सत्तासीन होने के बीच जो अन्तराल है, उसका कारण यह है कि या तो उस बीच सत्ता के लिए संघर्ष होता रहता था या क़ुरुलताई सभा में सम्मिलित होने के लिए विशाल मंगोल सल्तनत के हर क्षेत्र से मंगोल प्रशासकों को राजधानी क़राक़ुरम में एकत्रित होने में एक-एक, दो-दो वर्ष बीत जाते थे। ऊगदाई के बाद उसका बेटा गयूक ख़ाँ कम उम्र था, अतः 639 हि॰/1241 ई॰ से 644 हि॰/1246

ई॰ तक ऊगदाई की पत्नी ने कार्यकारी प्रशासक के रूप में शासन किया।

चंगेज़ ख़ाँ अपनी विशाल एवं विस्तृत सल्तनत को मरने से पहले अपने चार बेटों में इस प्रकार बाँटकर गया था–

1. सबसे छोटे बेटे तूली ख़ाँ को मंगोलिया और अधिकतम फ़ौज मिली।
2. सबसे बड़े बेटे जोजी ख़ाँ को साइबेरिया में इरतश नदी से पश्चिम की ओर का सम्पूर्ण इलाक़ा मिला, जो दक्षिणी रूस तक फैला हुआ था।
3. चुग़ताई ख़ाँ को तुर्किस्तान और मावराउन-नह्र का इलाक़ा मिला।
4. ऊगदाई को पश्चिमी मंगोलिया मिला।

जब ऊग़दाई ख़ाँ राजगद्दी के लिए चुन लिया गया तो वह क़राक़ुरम चला गया। उसके दूसरे भाईयों ने अपने-अपने क्षेत्रों में सम्प्रभु सत्ता स्थापित कर ली थी, परन्तु क़राक़ुरम के ख़ान (क़ाआन) की अधीनता सभी स्वीकार करते थे। लेकिन धीरे-धीरे केन्द्रीय सत्ता कमज़ोर होती चली गई और मंगोल सल्तनत जल्द ही निम्नलिखित चार हुकूमतों में बँट गई–

1. चीन की यूआन बादशाहत–657 हि॰/1259 ई॰ से 770 हि॰/1368 ई॰
2. कब्चाक़ में आल्तीन औरदह ख़ानदान की बादशाहत–635 हि॰/1237 ई॰ से 908 हि॰/1502 ई॰
3. तुर्किस्तान में चुग़ताई ख़ानदान की बादशाहत–624 हि॰/1227 ई॰ से 771 हि॰/1366 ई॰
4. ईरान में ईलख़ानी बादशाहत–654 हि॰/1256 ई॰ से 750 हि॰/1349 ई॰

चीन में इस्लाम

इनमें पहली हुकूमत का संस्थापक तूली ख़ाँ का लड़का क़ुबला ख़ाँ (1260-1294 ई॰) था, दूसरी हुकूमत का संस्थापक जोजी ख़ाँ का लड़का बातू ख़ाँ था, तीसरी हुकूमत का संस्थापक चंगेज़ ख़ाँ का लड़का चुग़ताई ख़ाँ था और चौथी हुकूमत का संस्थापक तूली ख़ाँ का दूसरा लड़का हलाकू ख़ाँ था। ये हुकूमतें यद्यपि स्वतंत्र थीं, परन्तु मोंगू ख़ाँ के समय तक केन्द्रीय सत्ता

का वर्चस्व स्वीकार करती थीं। इनमें से चीन की यूआन-हुकूमत जिसे क़ुबला ख़ाँ ने क़ायम किया था, हमारी इस पुस्तक के विषय-वस्तु से अलग है। क़ुबला ख़ाँ ने बौद्ध-मत अपना लिया था और चीन में आबाद होनेवाले मंगोलों ने बौद्ध-मत के साथ-साथ चीनी सभ्यता एवं संस्कृति को भी आत्मसात कर लिया था। यहाँ पर एक बात ध्यान देने की यह है कि यद्यपि चीन के मंगोल इस्लाम स्वीकार नहीं कर सके, परन्तु उनकी हुकूमत पर इस्लाम का अच्छा प्रभाव था। उन मुसलमानों के कारण, जिनका सम्बन्ध तुर्किस्तान एवं ईरान से था, चीन में इस्लाम के प्रचार-प्रसार एवं फैलाव में बड़ी मदद मिली। उन मुसलमान अधिकारियों में सम्भवतः सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति शमसुद्दीन उमर (1210-1279 ई॰) थे, जो सैयद अजल के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। उन्होंने चीनी हुकूमत की आर्थिक व्यवस्था एवं अर्थ-नीति में सुधार किया। अन्त में वे प्रान्त यूनन (बर्मा से सटा प्रान्त) के गवर्नर हो गए जहाँ उन्होंने दो मस्जिदें बनवाईं जो शीर्घ ही प्रान्त में इस्लाम का केंद्र बन गईं। चीन की अर्थ-व्यवस्था के सुधार में अमीर अहमद बनाकती का नाम भी बहुत महत्वपूर्ण है। वे सैयद अजल के उत्तराधिकारी थे और 1276 ई॰ से 1282 ई॰ तक काग़ज़ी मुद्रा को प्रचलित करने के सम्बन्ध में लाभकारी सुधार किए। मंगोल काल के एक और प्रसिद्ध मुसलमान अमीर महमूद यलादश हैं जो 1238 ई॰ से 1254 ई॰ तक किपलिंग के गवर्नर रहे।

चीन में फ़ौजी मामलों में भी मुसलमानों से मदद ली जाती थी, बल्कि यह भी कहा जाता है कि बारूद का आविष्कार, जिसका श्रेय कई-एक इतिहासकार चीन के खाते में डालते हैं, वास्तव में उन मुसलमानों का आविष्कार है जो चीन की मंगोल फ़ौज में काम करते थे। क़ुबला ख़ाँ के ज़माने में अग्न्यस्त्र से लैस उस दस्ते का सरदार एक तुर्क जनरल अली यह्या उदीयगूरी था जिसने 1268 ई॰ और 1273 ई॰ के बीच सियांगयांगफ़ू और ख़ानचींग के घेरावों में तोपों का इस्तेमाल किया था। जिस व्यक्ति ने ये बन्दूक़ें और तोपें जनरल अली यह्या को बनाकर दी थीं वह भी इसमाईल[1]

---

1. विस्तार से देखने के लिए देखिए बदरुद्दीन चीनी की किताब 'चीन व अरब के ताल्लुक़ात' (उर्दू) पृष्ठ-368-371, प्रकाशन अंजुमन तरक़्क़िये-उर्दू कराची पाकिस्तान 1949 ई॰ और विलयम लैंगर की इन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री (अंग्रेज़ी), पृष्ठ-345, 346

नाम का एक मुसलमान था।

चीन और मंगोलिया की सीमा के बाहर शेष सल्तनत में, मंगोलों पर इस्लाम का अधिक गहरा प्रभाव पड़ा। ये सभी क्षेत्र अर्थात् तुर्किस्तान, मावराउन-नह्र, ईरान और वोल्गा-नदी की घाटी इस्लामी सभ्यता एवं संस्कृति के केन्द्र थे। जो मंगोल इन क्षेत्रों में आबाद हुए, उन्होंने शीघ्र ही मुसलमानों की सभ्यता, संस्कृति एवं कला को अपना लिया। शासन को चलाने के लिए भी वे मुसलमानों से मदद लेने को मजबूर थे, इसलिए उन मुल्कों में सूबेदारों के अतिरिक्त मंत्री तक मुसलमान होते थे।[1]

चुग़ताई-सल्तनत

चुग़ताई-सल्तनत में, जो तुर्किस्तान और मावराउन-नह्र के इलाक़ों में फैली हुई थी, सबसे पहले जिस मंगोल शासक ने इस्लाम क़बूल किया वह चुग़ताई के पोते का बेटा बुराक़ ख़ाँ (1266-1270 ई॰) था। उसने बादशाह बनने के दो साल बाद इस्लाम क़बूल किया और ग़ियासुद्दीन नाम रखा। उसके बाद जो मंगोल शासक हुए वे अपने पैत्रिक धर्म पर चलते रहे, परन्तु ख़ान तुरमा शिरीन (1324-1326 ई॰) पहला मुस्लिम शासक है जिसके बाद चुग़ताई-ख़ानदान हमेशा के लिए मुसलमान हो गया। तुरमा शिरीन का इस्लामी नाम अलाउद्दीन था। उसके उत्तराधिकारी क़ाज़ान ख़ाँ (1343-1346 ई॰) के शासनकाल में चुग़ताई-वंश में इस्लाम बहुत फैला और तुग़लक़ तैमूर (1347-1363 ई॰) के शासनकाल तक चुग़ताई-सल्तनत के सभी मंगोल मुसलमान हो चुके थे। इस सल्तनत की जनसाधारण भाषा चूँकि तुर्की थी, इसलिए मंगोलों ने इस्लाम के साथ तुर्की भाषा को भी अपना लिया और इस मेल-जोल के नतीजे में एक नई साहित्यिक तुर्की भाषा ने जन्म लिया जो चुग़ताई-तुर्की कहलाती है। तीसरी और चौथी शताब्दी में भारत पर जिन मंगोलों ने हमले किए वे अधिकतर चुग़ताई-मंगोल थे।

1. इस जगह चीन के मशहूर एडमिरल ज़ेंग हू की चर्चा करना दिलचस्पी से ख़ाली न होगा, यह एक मुसलमान हिजड़ा था जिसने मींग-ख़ानदान के ज़माने में 1405 ई॰ और 1433 ई॰ के वक़्त में हिन्द महासागर और अरब-महासागर के इलाक़े में सात नौसेना अभियानों का नेतृत्व किया और जज़ाइर इंडोनेशिया के अतिरिक्त अरब के दक्षिणी समुद्र तक छापे मारे (विलियम, एल॰ लेंगर, पृष्ठ-347)

क़बचाक़ रूस के मंगोलों और ईरान के ईलख़ानी मंगोलों ने भी इस्लाम क़बूल करने में देर नहीं की और इस प्रकार चंगेज़ ख़ाँ के हमले के एक सौ साल के अन्दर वे लोग जिन्होंने इस्लामी दुनिया के बड़े भू-भाग की ईंट-से-ईंट बजा दी थी, अब स्वयं इस्लाम के रक्षक और रहनुमा बन गए थे।[1]

महत्वपूर्ण घटनाएँ

भारतीय उपमहाद्वीप पर मंगोलों के हमले—

618 हिजरी (1221 ई॰) : जलालुद्दीन ख़ुवारिज़्म शाह का पश्चिमी भारत (पाकिस्तान) में प्रवेश और चंगेज़ ख़ाँ का सिन्धु नदी तक आना और दस हज़ार भारतीय क़ैदियों को क़त्ल करना।

639 हिजरी (1241 ई॰) : (17, जुमादल-आख़िरह/दिसम्बर) लाहौर पर मंगोलों का हमला और शहर की तबाही। लाहौर ऐसा तबाह हुआ कि एक लम्बे समय तक गुमनामी में चला गया।

643 हि॰ (1245 ई॰) : झेलम के राजा की साज़िश से मंगोलों का पंजाब पर हमला।

648 हि॰ (1250 ई॰) : शव्वाल के महीने में मंगोलों का मुल्तान पर हमला और पराजय। शेर ख़ाँ का मुल्तान का सूबेदार नियुक्त होना।

651 हि॰ (1253 ई॰) : शेर ख़ाँ ने मंगोलों को पराजित किया और ग़ज़नी तक पीछा किया।

658 हि॰ (1260 ई॰) : (माह सफ़र में) हलाकू ख़ाँ के दूत का नासिरुद्दीन महमूद के दरबार में आना।

683 हि॰ (1285 ई॰) : हिरात और क़ंधार (अफ़ग़ानिस्तान) के गवर्नर

---

1. मंगोलों में इस्लाम के प्रचार-प्रसार को विस्तार से मालूम करने के लिए निम्नलिखित किताबों का अध्ययन कीजिए—

(i) तारीख़े-इशाअते-इस्लाम : डॉ॰ आरनॉल्ड

(ii) तारीख़े-दावत व अज़ीमत (प्रथम भाग) : मौलाना अबुल-हसन अली नदवी

(iii) फ़ोर स्टडीज़ ऑन दि हिस्ट्री ऑफ़ सेन्ट्रल एशिया : वी॰वी॰ बर्थोल्ड, लन्दन, 1956

तैमूर ख़ाँ के नेतृत्व में पंजाब पर मंगोलों का हमला। बलबन का बेटा सुल्तान मुहम्मद, जो शेर ख़ाँ की मृत्यु के बाद 1268 ई॰ से मुल्तान का सूबेदार था, हमले में शहीद हो गया।

690 हि॰ (1291 ई॰) : अब्दुल्लाह के नेतृत्व में हमला, जलालुद्दीन ख़िलजी ने सनाम (पूर्वी पंजाब) के निकट पराजित किया। बहुत-से मंगोल मुसलमान हो गए।

696 हि॰ (1296 ई॰) : ज़फ़र ख़ाँ ने जालंधर के पास दुवा ख़ाँ मंगोल को हराया।

698 हि॰ (1299 ई॰) : क़तलक़ ख़ुवाजा ने दो लाख मंगोलों के साथ हमला किया, दिल्ली का घेराव कर लिया। अलाउद्दीन ख़िलजी और ज़फ़र ख़ाँ ने पराजित किया। ज़फ़र ख़ाँ उनका पीछा करते हुए शहीद हो गया।

703 हि॰ (1303 ई॰) : तुर्ग़ी मंगोल ने दो माह तक दिल्ली का घेराव किए रखा; फिर ख़ुद ही वापस चला गया।

704 हि॰ (1305 ई॰) : अली बेग और तुरपाल ख़ुवाजा ने हिमालय की तराई के साथ-साथ चलकर अचानक रुहेलखण्ड पर हमला कर दिया। ग़ाज़ी मलिक (ग़ियासुद्दीन तुग़लक़) ने अमरोहा के पास उन्हें हराया।

705 हि॰ (1305 ई॰) : गंग नामक मंगोल ने अली बेग का बदला लेने के लिए हमला किया। ग़ाज़ी मलिक ने सिन्धु नदी के किनारे उसे पराजित किया।

अध्याय-2

वोल्गा-नदी की घाटी

(308 हि०/920 ई० से 963 हि०/1556 ई० तक)

1. बुलग़ार-सल्तनत (308 हि०/920 ई० से 634 हि०/1237 ई० तक)

ख़ज़र : वोल्गा-नदी की घाटी पुराने ज़माने से तुर्क-क़बीलों का आश्रय-स्थल रही है। उन्हीं में एक क़बीला ख़ज़र था, जिसने 650 ई० और 965 ई० के बीच ख़ुवारिज़्म से लेकर काला सागर के उत्तरी किनारों तक एक विस्तृत सल्तनत स्थापित कर ली थी। दक्षिण में इस सल्तनत की सीमा क़फ़क़ाज़ के पहाड़ों तक फैली हुई थी। शासक 'ख़ाक़ान' कहलाता था और उसकी राजधानी वोल्गा नदी के किनारे मौजूदा इस्त्राख़ान के उत्तर में थी। कैस्पियन सागर उसी तुर्क-क़बीले के नाम पर ख़ज़र सागर कहलाता है।

ख़ज़र-क़बीले उमैया-वंश और अब्बासी वंश के काल में आरमीनिया के ईसाइयों और बाज़नतीनी सल्तनत की मदद से क़फ़क़ाज़ के रास्ते इस्लामी क्षेत्रों पर हमले करते रहते थे और कभी-कभी तो इराक़ की उत्तरी सीमा तक बढ़ आते थे। कभी मुसलमान क़फ़क़ाज़ के पहाड़ों को पार करके ख़ज़र की राजधानी तक पहुँच जाते थे। मुसलमानों से इस सम्पर्क के नतीजे में ख़ज़र इस्लाम से परिचित हो गए, और उनके एक शासक ने उमैया-वंश के शासक हिशाम के काल में इस्लाम भी क़बूल कर लिया था, हालाँकि बाद में वह इस्लाम से फिर गया। नवीं शताब्दी के अन्त में ख़ज़र की राजधानी आतील में बीस हज़ार मुसलमान और तीस मस्जिदें मौजूद थीं। ख़ज़र के शासक का अंगरक्षक-दस्ता पूर्णतः ख़ुवारिज़्म के मुसलमानों से निर्मित था।

बुलग़ार : ख़ज़र-क़बीले के पतन के बाद वोल्गा-नदी की घाटी में इस्लाम और तेज़ी से फैलने लगा। इस्लाम के इस तेज़ गति से फैलने में बुलग़ार की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण थी। बुलग़ार भी ख़ज़र की तरह तुर्की नस्ल के क़बीले थे, जिनका केन्द्र आतील से बहुत दूर उत्तर में उस स्थान पर था जहाँ

अब रूस का शहर काज़ान स्थित है। राजधानी का नाम भी बुलग़ार था। बुलग़ार के शासक ने, जैसा कि हम इस पुस्तक के प्रथम खण्ड में बता चुके हैं, अब्बासी ख़लीफ़ा मुक़्तदिर बिल्लाह (295 हि०/908 ई० से 325 हि०/932 ई०) के काल में इस्लाम क़बूल कर लिया था, और उसके बाद सभी बुलग़ारी क़बीले मुसलमान हो गए। बुलग़ार का शासक इस्लाम क़बूल करने से पहले 'यलतावर' कहलाता था, मुसलमान होने के बाद 'अमीर' कहलाने लगा। उस शासक का नाम अलमास बिन-सिल्की था। मुसलमान होने के बाद उसने जाफ़र-बिन-अब्दुल्लाह नाम रख लिया। प्रारम्भ में बुलग़ार की हुकूमत ख़ज़र के अधीन थी, परन्तु मुसलमान होने के बाद ख़ज़र का प्रभाव कम हो गया और 965 ई० में ख़ज़र की हुकूमत ख़त्म होने के बाद बुलग़ार की हुकूमत पूर्णतः आज़ाद हो गई। बुलग़ार की यह सल्तनत जो वोल्गा-नदी की घाटी में पहली मुस्लिम सल्तनत थी 634 हि०/1237 ई० में मंगोलों के हमले तक क़ायम रही। बुलग़ार के मुसलमान बड़े जोशीले थे, उनकी कोशिशों से रूस के दूसरे क्षेत्रों में भी इस्लाम फैला। बुलग़ारवासियों को जिहाद बहुत पसन्द था, उनकी फ़ौज में बीस हज़ार घुड़सवार थे। उनकी लड़ाइयाँ अधिकतर रूस से होती थीं जो ख़ज़र के पतन के बाद शक्तिशाली होता जा रहा था।

इस्लाम को अपनाने से पहले बुलग़ार के लोग ख़ानाबदोश थे, परन्तु इस्लाम लाने के बाद उन्होंने नागरिक जीवन अपनाना शुरू कर दिया। बुलग़ार शहर, जिसे पश्चिमी इतिहासकार महान बुलग़ार लिखते हैं, प्राचीन रूस के उन गिने-चुने शहरों में से था जिन्हें हम रूस में सभ्यता-संस्कृति का केन्द्र कह सकते हैं। शहर के चारों ओर छह मील की चहारदीवारी थी और आबादी पचास हज़ार।

बुलग़ार की यह मुस्लिम सल्तनत 1237 ई० में मंगोलों के हमले तक क़ायम रही। यद्यपि फ़ौजी मैदान में बुलग़ार के मुसलमान मंगोलों से पराजित हो गए, परन्तु धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मैदानों में उन्होंने शीघ्र ही मंगोलों पर जीत हासिल कर ली। मंगोलों के अधीनस्थ के रूप में बुलग़ार का अस्तित्व 1391 ई० तक क़ायम रहा। अन्तिम शासक अब्दुल्लाह की इस

साल तैमूर ने हत्या करवा दी।[1]

2. सराय की सल्तनत (634 हि॰/1237 ई॰ से 907 हि॰/1502 ई॰)

तुर्किस्तान और मावराउन-नह्र यद्यपि इस्लामी सभ्यता एवं संस्कृति के सबसे बड़े और प्राचीन केन्द्र थे और वोल्गा-नदी की घाटी इस्लाम के उन सांस्कृतिक केन्द्रों से बहुत दूर थी, परन्तु मंगोलों को इस्लाम ने जिस क्षेत्र में सबसे पहले प्रभावित किया वह यही घाटी है। शासक के रूप में भी और सार्वजनिक स्तर पर भी वोल्गा की घाटी में आबाद मंगोलों ने अपने दूसरे साथियों की अपेक्षा इस्लाम को जल्दी क़बूल किया।

ये क्षेत्र जो चंगेज़ ख़ाँ ने अपने लड़के जोजी ख़ाँ को दिया था, पुराने ज़माने में शते-क़बचाक़ कहलाता था और साइबेरिया की इरतश-नदी से काला सागर के किनारे तक फैला हुआ था। जोजी ख़ाँ अपने बाप से छह महीने पहले ही मर चुका था, इसलिए यहाँ की हुकूमत ज़ोजी के लड़के बातू ख़ाँ को मिली। बातू ख़ाँ 1236 ई॰ में तीन लाख़ फ़ौज लेकर इस इलाक़े पर क़ब्ज़ा करने के लिए बढ़ा। सबसे पहले उसने बुलग़ार की सल्तनत पर विजय प्राप्त की (1237 ई॰), इसके बाद रूस को जीता जो उस ज़माने में छोटी-छोटी हुकूमतों में बँटा हुआ था। 1240 ई॰ में क्यू-शहर पर क़ब्ज़ा करने के बाद, जो उस समय रूस का सबसे बड़ा शहर था, मंगोल फ़ौज दो भागों में बँट गई। एक भाग पोलैण्ड को जीतता हुआ जर्मनी के शहर बरेला तक पहुँच गया और 9 अप्रैल 1241 ई॰ को 'लीनिज़' (Leignitz) नामक स्थान पर पोलैण्ड और जर्मनी की संयुक्त फ़ौज को पराजित किया। दूसरा भाग कारपैथियन पहाड़ों को पार कर ट्रांसलवानिया और हंगरी में प्रवेश कर गया, जहाँ मंगोलों ने हंगरी के बादशाह 'बैला' को 11 अप्रैल 1241 ई॰ में पराजित किया। वापसी की यात्रा में इस दस्ते ने बुलग़ारिया, दिलाचिया और मूलदादिया भी जीत लिए। बातू ख़ाँ की वापसी के बाद हंगरी और पोलैण्ड मंगोलों के हाथ से निकल गए, परन्तु बुलग़ारिया 1310 ई॰ तक मंगोलों के

1. 1. डॉक्टर अक़दस निअ्मत किरात : काला सागर के उत्तर में तुर्की क़बीले और हुकूमतें (तुर्की ज़बान) अँक़रा 1972 ई॰

अधीनस्थ रहा।

बातू ख़ाँ की क़ायम की हुई यह हुकूमत इतिहास की किताबों में 'आल्तीन ओरदा' (Altin Orda) कहलाती है जिसका उर्दू में 'शाख़े-ज़र्रीं' (स्वर्ण-शाखा) और अंग्रेज़ी में 'गोल्डन होर्ड' (Golden Horde) अनुवाद किया गया। चूँकि इस इलाक़े को क़बचाक़ के अलावा 'सीरावरदा' भी कहा जाता था, इसलिए यह सीरावरदा की हुकूमत भी कहलाई जाती थी। बातू ख़ाँ ने वोल्गा-नदी के पूर्वी किनारे पर 'सराय' के नाम से एक शहर बसाया, जो इस सल्तनत की राजधानी था।

बरका ख़ाँ (1257 ई॰-1267 ई॰)

1256 ई॰ में बातू ख़ाँ की मृत्यु हो गई और अगले साल उसके स्थान पर उसका भाई बरका ख़ाँ बादशाह बना। बरका ख़ाँ बादशाह बनने से पहले ही इस्लाम क़बूल कर चुका था। वह मंगोलों में पहला मुसलमान बादशाह है। कहा जाता है कि बुख़ारा से व्यापारियों का एक दल सराय आया, जिसमें दो व्यापारी मुसलमान थे। बरका ख़ाँ उन्हें अलग ले गया और इस्लाम से सम्बन्धित प्रश्न पूछे। उन मुसलमानों ने बादशाह के सामने इस्लाम की बातें इतने प्रभावकारी ढंग से रखीं कि वह तुरन्त मुसलमान हो गया। वोल्गा-नदी की घाटी के तुर्क नागरिक दसवीं शताब्दी ही में मुसलमान हो चुके थे। बरका ख़ाँ के बाद इस इलाक़े में बसे मंगोलों ने भी तेज़ी से इस्लाम क़बूल करना शुरू कर दिया।

बरका ख़ाँ के इस्लाम क़बूल कर लेने के कारण आल्तीन ओरदा (Golden Horde) की हुकूमत में कई बदलाव आ गए। इस हुकूमत ने मंगोलों की केन्द्रीय सल्तनत की अधीनता समाप्त करके उससे अपना सम्बन्ध तोड़ लिया और क़ाहिरा की अब्बासी ख़िलाफ़त की अधीनता स्वीकार कर ली। हलाकू ख़ाँ ने जब बग़दाद पर हमला करना चाहा तो बरका ख़ाँ ने बग़दाद के ख़लीफ़ा और हलाकू ख़ाँ के बीच समझौता कराने की कोशिश की। ईलख़ानी हुकूमत से सम्पर्क स्थापित किया। इसके अतिरिक्त बरका ख़ाँ ने अपना सिक्का भी जारी किया। बरका ख़ाँ ने क़फ़क़ाज़ के

इलाक़े से ईलख़ानी हुकूमत ख़त्म करने की कोशिश भी की और 1263 ई॰ में तीरक-नदी के किनारे हलाकू ख़ाँ को बुरी तरह हराया, परन्तु इसके बाद भी उस इलाक़े से ईलख़ानी हुकूमत ख़त्म नहीं की ज़ा सकी।

इटली के प्रसिद्ध पर्यटक मार्कोपोलो के पिता एवं चाचा बरका ख़ाँ के ज़माने में चीन जाते हुए सराय आए थे और हलाकू ख़ाँ से युद्ध के कारण उन्हें एक वर्ष तक सराय में ठहरना पड़ा।

बरका ख़ाँ के बाद मोंगके ख़ाँ (1267 ई॰ से 1280 ई॰) बादशाह हुआ। उसके बाद शाही परिवार में गृह-युद्ध छिड़ गया। एक मंगोल सरदार 'नोनमाई' ने अपना प्रभाव इतना बढ़ा लिया कि 1267 ई॰ के बाद सराय के शासक उसके आगे बेबस हो गए। उसने काला सागर के उत्तर और पूर्व में एक-एक सल्तनत भी स्थापित कर ली। नोनमाई के नाम से तुर्कों की जो प्रजाति पाई जाती है उसका पूर्वज यही नोनमाई है।

1299 ई॰ में सराय के शासक तोक़्ता ख़ाँ (1291 ई॰-1312 ई॰) ने नोनमाई को पराजित किया और वह युद्ध में मारा गया। इस प्रकार सल्तनत में एक बार फिर स्थिरता और एकजुटता आ गई। बरका ख़ाँ के प्रारम्भिक उत्तराधिकारी मुसलमान नहीं थे, परन्तु ईलख़ानी शासकों की तरह उनका व्यवहार इस्लाम के साथ दुश्मनी का नहीं था। तोक़्ता ख़ाँ के बाद उसका भतीजा ओज़बक ख़ाँ सराय की गद्दी पर बैठा।

मुहम्मद ओज़बक ख़ाँ (1313 ई॰–1341 ई॰)

ओज़बक ख़ाँ के शासनकाल के प्रारम्भ मे बुलग़ारिया और क़ुस्तनतीनिया की बाज़नतीनी हुकूमत, जो अब तक पराधीन थीं, आज़ाद हो गईं, परन्तु इसके बाद भी ओज़बक ख़ाँ का शासनकाल सराय की सल्तनत का उत्थान-बिन्दु समझा जाता है। उसका शासनकाल Golden Horde का स्वर्णकाल समझा जाता है। उसके शासनकाल में सबसे अधिक प्रगति ज्ञान-विज्ञान, संस्कृति एवं कला के मैदान में हुई। मध्यकाल का सबसे बड़ा पर्यटक इब्ने-बतूता उसके समय में सराय आया था। उसने अपने यात्रा-वृत्तान्त में सराय के दिलचस्प हालात लिखे हैं। इब्ने-बतूता, जिसने ओज़बक ख़ाँ के

साथ अस्र की नमाज़ भी पढ़ी थी, लिखता है–

"ओज़बक ख़ाँ बहुत शक्तिशाली सुल्तान है। इसकी सल्तनत विस्तृत है जिसमें बड़े-बड़े शहर हैं। ओज़बक ख़ाँ की गिनती दुनिया के सात बड़े बादशाहों में होती है। क़ुस्तनतीनियावासी जो ख़ुदा के दुश्मन हैं उनके साथ कठोर व्यवहार करता है और उनके साथ लड़ने के लिए हर समय तैयार रहता है।"

एक और ईरानी इतिहासकार मुईनुद्दीन ने लिखा है कि ओज़बक ख़ाँ न्यायप्रिय और नेक इनसान था। मुहम्मद (सल्ल॰) की सुन्नत और उनके बताए हुए तरीक़े पर चलता था।[1] ओज़बक ख़ाँ के समय सराय की सल्तनत ने सही अर्थों में इस्लामी रंग-ढंग अपना लिया था। उसके बाद जितने शासक हुए वे सब मुसलमान थे। उसके काल में मंगोली क़ानून के स्थान पर इस्लामी शरीअत का प्रचलन हो गया था।

सराय के अन्तर्गत रूस में जो विभिन्न छोटी-छोटी रियासतें थीं, उनसे ख़िराज (Tax) वुसूल करने का काम मास्को के शासकों के ज़िम्मे था। 1328 ई॰ में मास्को के बादशाह 'इवान प्रथम कालीता' को ओज़बक ख़ाँ ने 'ग्रान्ड प्रिन्स' अर्थात् 'तेजस्वी युवराज' की उपाधि दी और इस प्रकार रूस के अधीनस्थ हुक्मरानों में मास्को के हुक्मरान को उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई। मास्को की यह अपूर्व हैसियत बाद में मास्को के उत्थान का कारण बनी।

ओज़बक ख़ाँ ने मिस्र और क़ुस्तनतीनिया की हुकूमत से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिए। मिस्र के सुल्तान नासिर से अपनी लड़की की शादी की और क़ुस्तनतीनिया की राजकुमारी से ख़ुद शादी की। ओज़बक के नाम से जो तुर्क-क़ौम पाई जाती है उसका सम्बन्ध ओज़बक ख़ाँ ही से है।

ओज़बक ख़ाँ का लड़का जानी बेग (1342 ई॰–1357 ई॰) सराय का अन्तिम शक्तिशाली शासक था। ईलख़ानी हुकूमत के पतन के बाद जब ईरान में अराजकता फैली तो जानी बेग ने क़फ़क़ाज़ और तबरेज़ पर क़ब्ज़ा कर लिया और अपने बेटे बरदी बेग को तबरेज़ का गवर्नर नियुक्त करके

1. मुईनुद्दीन, मुन्तख़बुत-तवारीख़ ईरान

वापस चला गया, परन्तु बरदी बेग अपने बाप की मृत्यु की ख़बर सुनकर उत्तर की ओर रवाना हो गया। अन्ततः क़फ़क़ाज़ और आज़रबाइजान हाथ से निकल गए।

जानी बेग भी अपने पिता की तरह न्यायप्रिय एवं ज्ञान-विज्ञान को प्रोत्साहन देनेवाला बादशाह था। उसके शासनकाल में इस्लाम और अधिक फैला। निकट काल के एक इतिहासकार के अनुसार उसके शासनकाल में सभी ओज़बक-क़बीलों ने इस्लाम क़बूल कर लिया। बुतख़ाने तोड़ दिए गए और मस्जिदें एवं मदरसे अधिक संख्या में बनाए गए।[1] ईरान के प्रसिद्ध विद्वान 'तफ़्ताज़ानी' ने अपनी पुस्तक 'मुख़्तसर तलख़ीस' उसके नाम समर्पित की है।

चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध और विशेष रूप से ओज़बक ख़ाँ और जानी बेग का शासनकाल सराय-सल्तनत का स्वर्णिमकाल है। इसी काल में सभी मंगोलों ने इस्लाम क़बूल किया, इस्लामी सभ्यता-संस्कृति की बुनियादें मज़बूत हुईं, सभ्यता-संस्कृति ने तरक़्क़ी की और ज्ञान एवं साहित्य को प्रोत्साहन मिला।

सराय की सल्तनत का पतन

जानी बेग का बेटा बरदी बेग मात्र दो साल हुकूमत कर सका। इसके बाद गृह-युद्ध, फूट और हंगामे का एक लम्बा दौर शुरू हो गया। सराय की सल्तनत बरदी बेग के बाद भी लगभग डेढ़ सौ साल तक क़ायम रही, परन्तु इस पूरी अवधि में हालात क्रमशः बिगड़ते ही गए। रूस और पूर्वी यूरोप की अधीनस्थ हुकूमतों ने इस मौक़े से फ़ायदा उठाया और एक-एक करके आज़ाद होती गईं। 1362 ई० में पोडोलिया हाथ से निकल गया। 1370 ई० में क्यूपर से तातारी आधिपत्य समाप्त हो गया। 1387 ई० में मौलदाविया, 1389 ई० में विलाचिया और 1396 ई० में बसराबिया तातारियों के हाथ से निकल गए।

अराजकता के इस काल में एक सरदार 'ख़ान-मुमाई' ने नोनमाई की

1. मुईनुद्दीन, मन्तख़बुत-तवारीख़, पृष्ठ-83 तेहरान 1336 ई०

तरह सराय में सत्ता प्राप्त कर ली। वह जिसे चाहता था उसे राजगद्दी पर बैठा देता था और जिसे चाहता था गद्दी से उतार देता था। मास्को की हुकूमत जो अब तक सराय की वफ़ादार थी, अब उसने भी ख़िराज देना बन्द कर दिया और जब ख़ान-मुमाई ने मास्को पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश की तो मास्को के हुक्मरान ने 'कोलीकोवो' के युद्ध के मैदान में 1380 ई॰ में ख़ान-मुमाई को बुरी तरह से पराजित किया। रूस के इतिहास में इस युद्ध का बड़ा महत्व है, क्योंकि तातारियों ने पहली बार रूस एवं पूर्वी यूरोप के मुक़ाबले में एक बड़ी लड़ाई हारी थी।

इस बीच श्वेत-शाखा या आक़े-अवरदह[1] का शासक अरूस ख़ान ने सराय पर क़ब्ज़ा कर लिया और सराय के शासक तोक़्तमिश को बेदख़ल कर दिया। तोक़्तमिश (1377 ई॰–1395 ई॰) समरक़न्द के शासक तैमूर के पास पहुँचा और उसकी मदद से 1378 ई॰ में पुनः सराय पर क़ब्ज़ा कर लिया। तोक़्तमिश ने 1381 ई॰ के क़रीब ख़ान-मुमाई को भी हरा दिया और 1382 ई॰ में मास्को का घेराव करके वहाँ के शासक को ख़िराज देने पर मजबूर कर दिया। तोक़्तमिश ने इस बीच पूर्वी क़बचाक़ की आक़-अरवदह हुकूमत पर भी क़ब्ज़ा कर लिया और इस प्रकार वह पूर्वी यूरोप और पश्चिमी क़बचाक़ का अकेला बादशाह बन गया और 'नासिरुद्दीन' की उपाधि धारण कर ली।

तोक़्तमिश और अमीर तैमूर

तोक़्तमिश ने सराय के विलुप्त स्वाभिमान को यद्यपि बड़ी हद तक ऊँचा करने में अहम भूमिका निभाई, परन्तु वह अपनी शक्ति के बारे में ग़लतफ़हमी में पड़ गया। वह अपने समर्थक अमीर तैमूर से, जिसकी मदद से वह पुनः बादशाह बना था, ख़ुवारिज़्म के शहर की वापसी की माँग करने

1. पश्चिमी साइबेरिया और क़ज़ाकिस्तान के क्षेत्रों पर जो हुकूमत क़ायम थी, उसे आक़-अवरदह या श्वेत-शाखा कहा जाता है। इसका संस्थापक जोजी ख़ान का बड़ा लड़का अवरदह था। 1360 ई॰ में अरूस ख़ान यहाँ का शासक था जिसने सराय पर क़ब्ज़ा करके तोक़्तमिश के बाप तूली ख़ुवाजा को मार डाला था। इसके बाद जल्द ही अरूस ख़ान मर गया और उसकी जगह उसका लड़का तैमूर मलिक गद्दी पर बैठा, जिससे तोक़्तमिश ने सराय फिर छीन लिया।

लगा। ख़ुवारिज़्म किसी समय सराय की सल्तनत का एक अंग था। तैमूर ने जब उसकी मांग स्वीकार नहीं की तो तोक़्तमिश ने आज़रबाइजान पर हमला करके तबरेज़-शहर को तहस-नहस कर डाला। इस कार्रवाई का नतीजा तैमूर से जंग के रूप में सामने आया, जिसमें तोक़्तमिश पराजित हुआ। तैमूर ने 1395 ई॰ में सराय को जीतकर लूट लिया और तैमूर क़तलक़ एवं एदगी को तोक़्तमिश का उत्तराधिकारी नियुक्त किया। तोक़्तमिश ने पहले लिथुआनिया में पनाह ली और उसके बाद 1406 ई॰ में साइबेरिया के एक स्थान तोमन में बेबसी की हालत में मर गया। एदगी ने 1399 ई॰ में लिथुआनिया के शासक को पोलतावा के पास पराजित करके पुनः अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। परन्तु 1419 ई॰ में एदगी की मृत्यु के बाद हुकूमत की व्यवस्था फिर बिखर गई।

सराय की गद्दी के दो दावेदारों में से एक उलुग़-मुहम्मद ने 1438 ई॰ में क़ाज़ान के शहर में अपनी एक अलग हुकूमत स्थापित कर ली। 1441 ई॰ में क्रीमिया में भी एक स्वतंत्र तातारी हुकूमत स्थापित हो गई और लगभग उसी काल में सराय के दक्षिण में उस्तरख़ान में भी एक तीसरी तातारी हुकूमत स्थापित हो गई।

सराय की हुकूमत का अस्तित्व इसके बाद भी पचास साल से ज़्यादा क़ायम रहा, परन्तु एक पश्चिमी इतिहासकार के अनुसार, "सीर अवरदह की मंगोल हुकूमत, जो कभी एक महान शक्ति थी, अब पूर्वी यूरोप की हुकूमतों के लिए फुटबाल बन गई थी। 1476 ई॰ में जब सराय के एक शासक ख़ान अहमद (1465 ई॰–1481 ई॰) ने मास्को से ख़िराज की माँग की तो मास्को की हुकूमत ने इनकार कर दिया। ख़ान अहमद ने 1480 ई॰ में मास्को का घेराव कर लिया। रूसी इतने परेशान हुए कि मास्को के शासक शाह जॉन ने अपनी पत्नी को दूर उत्तर में आर्किनचल भेज दिया और स्वयं भी वहाँ से भागने की तैयारी करने लगा, परन्तु 19 नवम्बर को तातारियों ने ख़ुद ही घेराव समाप्त कर दिया। इस प्रकार मास्को पर से तातारियों का आधिपत्य सदा के लिए समाप्त हो गया।

वापसी में ख़ान अहमद को सोते हुए क़त्ल कर दिया गया। ख़ान अहमद

के बाद उसके लड़कों में गृह-युद्ध छिड़ गया। सईद अहमद (1481 ई॰–1502 ई॰) विजयी हुआ, परन्तु क्रीमिया के ख़ान मंगलीगिराई ने 1502 ई॰ में उसे पराजित करके गिरफ़्तार कर लिया और इस प्रकार सराय की स्वर्ण-शाखा (Golden Horde) की हुकूमत हमेशा के लिए समाप्त हो गई। लगभग पचास साल बाद क़ाज़ान और उस्तरख़ान पर भी रूसियों का क़ब्ज़ा हो गया। रूस में मुसलमानों की सत्ता अब केवल क्रीमिया और उसके आसपास के क्षेत्रों तक सीमित हो गई, जहाँ से उसमानी सल्तनत के संरक्षण के कारण रूसी हुक्मरान तातारियों को दो सौ साल तक बेदख़ल नहीं कर सके। (क्रीमिया के इतिहास के लिए देखें परिच्छेद-32 का टीका)

क़ाज़ान और उस्तरख़ान

स्वर्ण-शाखा (Golden Horde) के शासन की समाप्ति के बाद पूर्वी और दक्षिणी रूस के वे क्षेत्र जो सराय की सत्ता के अधीन थे, तीन आज़ाद हुकूमतों में बँट गए जो तातारी भी थे और मुसलमान भी–

1. काज़ान की सल्तनत (1438 ई॰–1552 ई॰)
2. उस्तरख़ान की सल्तनत (1441 ई॰–1556 ई॰)
3. क्रीमिया की सल्तनत (1441 ई॰–1791 ई॰)

रूस में इस्लामी क़ब्ज़ेवाले क्षेत्र का बड़ा भाग यद्यपि अब भी मुस्लिम राजनीतिक सत्ता के अधीन था, परन्तु सराय के पतन से मास्को की रूसी सल्तनत के विकास एवं उत्थान के लिए रास्ता साफ़ हो गया और तातारियों एवं मुसलमानों के ख़िलाफ़ रूस की हिंसक कार्रवाइयों में क्रमशः बढ़ोत्तरी होती चली गई। मास्को की रूसी हुकूमत ने 1480 ई॰ ही में तातारी हुकूमत को ख़िराज देना बन्द कर दिया था। 1547 ई॰ तक रूस की सभी छोटी-छोटी हुकूमतें मास्को की हुकूमत में विलीन हो चुकी थीं और मास्को के हुक्मरान (शासक) अपने लिए 'सम्पूर्ण रूस के हुक्मरान' की उपाधि ग्रहण कर चुके थे। 1453 ई॰ में क़ुस्तनतीनिया से बाज़नतीनी हुकूमत ख़त्म हो जाने के बाद मास्को ने ईसाई-धर्म के केन्द्र की हैसियत प्राप्त कर ली थी और मास्को को 'तीसरा रूम' कहा जाने लगा था।

ईवान चतुर्थ (1547 ई॰–1584 ई॰) जो मुहीब की उपाधि से जाना जाता है, जब मास्को के तख़्त पर बैठा तो रूस के पूर्वी और दक्षिणी क्षेत्रों को छोड़कर, जो मुसलमानों के क़ब्ज़े में थे, लगभग सम्पूर्ण यूरोपीय रूस मास्को की सत्ता की अधीनता स्वीकार कर चुका था। क्रीमिया ने 1475 ई॰ में तुर्की की उसमानी सल्तनत की अधीनता स्वीकार कर ली थी, इसलिए रूसी हुकूमत दक्षिण की ओर चढ़ाई की हिम्मत नहीं कर सकी। पूरब में काज़ान और उस्तरख़ान की कमज़ोर मुसलमान हुकूमतें थीं इसलिए अब रूस की आक्रामक कार्रवाइयों का रुख़ उनकी ओर हो गया।

काज़ान की तातारी सल्तनत की राजधानी काज़ान-शहर थी जिसे बातू ख़ाँ ने सराय के उत्तर में वोल्गा-नदी और कामा-नदी के संगम पर उस जगह आबाद किया था जहाँ पहले महान बुलग़ार का शहर था। काज़ान की इस मुस्लिम सल्तनत की एक सौ साल की अवधि में रूस से 25 लड़ाइयाँ हुईं। रूसियों ने काज़ान के हुक्मराँ ख़ानदान के आपसी मतभेदों से पूरा-पूरा लाभ उठाया। उन्हें जब भी अवसर मिलता, वे काज़ान में अपनी मर्ज़ी का ख़ान नियुक्त करा देते थे, जिसे तातारी जनता जल्द ही बेदख़ल कर देती थी।

अक्तूबर 1552 ई॰ में जॉन मुहीब ने एक लाख फ़ौज और डेढ़ सौ तोपों से निर्णायक हमला किया और अपनी इस चढ़ाई को क्रूसेड (धर्म-युद्ध) की हैसियत दी। तातारियों के पास केवल तीस हज़ार फ़ौज थी और उसके पास बड़ी तोपें अथवा और कोई अग्न्यस्त्र भी नहीं था, परन्तु इसके बाद भी उन्होंने बड़ी हिम्मत से रूसी आक्रमणकारियों का मुक़ाबला किया। छह हज़ार तातारियों ने शहादत की भावना से प्रेरित होकर अपनी ज़िरह (कवच) उतार दी और रूसियों पर टूट पड़े और एक-एक करके शहीद हो गए। जब रूसी फ़ौजें शहर में दाख़िल हुईं तो जगह-जगह उनका मुक़ाबला किया गया। जामा-मस्जिद के इमाम अपनी मस्जिद के सामने जंग करते हुए शहीद हो गए। अपने फ़ौजी बल एवं अच्छे हथियारों के कारण अन्ततः रूसी सफल हो गए और काज़ान से मुस्लिम सत्ता हमेशा के लिए समाप्त हो गई। यहाँ ध्यान देने की बात है कि काज़ान के मुसलमानों का अपनी सत्ता को बचाने के लिए किया गया यह संघर्ष ग़रनाता (स्पेन) के कायर शासक अबू-

अब्दुल्लाह की हार से कितना भिन्न था, जिसने साठ वर्ष पहले ग़रनाता (Granada) का ऐतिहासिक शहर बिना किसी संघर्ष के दुश्मनों के हवाले कर दिया था।

काज़ान के बाद रूसियों ने उस्तरख़ान का रुख़ किया और चार साल बाद 1556 ई॰ में उस शहर पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। अब रूसियों के लिए साइबेरिया और क़ज़ाकिस्तान के मुस्लिम इलाक़ों की ओर चढ़ाई के लिए मार्ग प्रशस्त हो चुका था। अन्दलुस (Andalus) के बाद वोल्गा-नदी की घाटी दूसरा बड़ा इलाक़ा था जो मुसलमानों के हाथ से निकला।

यूरोपीय रूस में अब केवल क्रीमिया में मुसलमानों की हुकूमत बाक़ी रह गई थी जिसने उसमानी सल्तनत की अधीनता एवं प्रतिरक्षा में आ जाने के कारण और दो सौ साल तक रूसियों का मुक़ाबला जारी रखा। (देखें—परिच्छेद-33 का टीका)

वोल्गा की घाटी में सभ्यता एवं संस्कृति

आल्तीन अवरदा के ज़माने में रूस के मुसलमानों ने सभ्यता एवं संस्कृति के मैदान में और अधिक तरक़्क़ी की। उस काल की संस्कृति का स्तर यद्यपि एशिया और उत्तरी अफ़्रीक़ा के मुसलमानों की संस्कृति के स्तर से बहुत निम्न था लेकिन बुलग़ार के ज़माने की संस्कृति से उसका स्तर स्पष्ट रूप से ऊँचा था। उस काल में वोल्गा-नदी की घाटी के मुसलमानों ने मिस्र और अनातोलिया से क़रीबी सम्बन्ध स्थापित कर लिए थे। ये सम्बन्ध राजनीतिक भी थे और धार्मिक एवं सांस्कृतिक भी। मिस्री उलमा (विद्वान), कलाकारों और कारीगरों ने वोल्गा की घाटी और दक्षिणी रूस में उन ज्ञान, कला और उद्योगों को विकसित किया जो इस्लामी दुनिया की विशिष्टता थी। मिस्री कारीगरों ने सराय और क्रीमिया में आलीशान इमारतें बनाईं जिनमें मोज़ेक का काम होता था। शीशा और चीनी मिट्टी के बर्तनों का उद्योग काफ़ी विकसित हुआ।

राज-व्यवस्था की दृष्टि से रूसी इलाक़े दो भागों में बँटे थे। वोल्गा और यूराल नदियों की घाटियाँ तथा दक्षिणी रूस सीधे मंगोल अमीरों (प्रशासकों)

के अधीन थे, और शेष क्षेत्रों में रूसियों की अपनी रियासतें थीं, जो आन्तरिक रूप से आज़ाद थीं और सराय की हुकूमत को सालाना ख़िराज देती थीं।

सराय की हुकूमत की सैनिक-व्यवस्था मंगोल-पद्धति का अनुसरण करती थी जो उस काल के अनुसार विकसित और श्रेष्ठ व्यवस्था समझी जाती थी। रूस की सैनिक-व्यवस्था पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। अर्थ-व्यवस्था एवं संचार (डाक) व्यवस्था भी अच्छी थी और रूस की डाक एवं अर्थ-व्यवस्था पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। सराय और दूसरे शहरों में सिक्का ढालने की टकसालें थीं और काग़ज़ बनाने के कारख़ाने भी थे। पूरी सल्तनत में पूर्णतः शान्ति थी जिसके कारण व्यापार को बहुत तरक़्क़ी मिली। सराय की सल्तनत से समूर, मछली और अनाज निर्यात होता था। गुलाम (सेवक) भी निर्यात किए जाते थे, और यह व्यापार यहूदियों के हाथ में था। एशियाई देशों और मिस्र से रेशम, कालीन, ख़ुशबू की वस्तुएँ, अच्छे क़िस्म के कपड़े, मवेशी, आभूषण, चीनी के बर्तन आयात किए जाते थे। सराय, काज़ान, इस्तरख़ान बागची सराय, अज़ाक़ (अज़दफ़) और दरबन्द अहम शहर एवं व्यापारिक केन्द्र थे।

राजधानी 'सराय' वोल्गा-नदी की एक शाख़ा के पूर्वी किनारे पर इस्तरख़ान से 65 मील उत्तर में और स्टालिनग्राद से तीस मील पूरब में स्थित था। यह नया सराय था जिसकी नींव बरका ख़ान ने डाली थी। इसे 'सराय बरका ख़ाँ' भी लिखा जाता है। प्राचीन सराय जिसकी नींव बातू ख़ाँ ने डाली थी इससे थोड़ी दूरी पर था। मध्यकाल का सबसे बड़ा पर्यटक इब्ने-बतूता सुल्तान ओज़बक ख़ान के ज़माने में सराय आया था। वह इस शहर के बारे में लिखता है–

> "यहाँ अच्छे बाज़ार और बड़ी-बड़ी सड़कें है, और मकानों का सिलसिला दूर-दूर तक फैला हुआ है। एक सुबह हम घोड़े पर सवार होकर निकले ताकि शहर का चक्कर लगाएँ और पता लगाएँ कि यह कितना विस्तृत है तो शहर के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचने में दोपहर हो गई। यहाँ तेरह बड़ी मस्जिदें हैं। कई जाति के लोग

बसे हुए हैं। अधिकतर मंगोल हैं। इनके केवल एक वर्ग ने इस्लाम क़बूल किया है। रूसी और यूनानी नागरिक ईसाई हैं। हर जाति के लिए एक अलग भाग है जिसके चारों ओर ऊँची चहारदीवारी है ताकि इनका व्यापारिक माल सुरक्षित रह सके।''

चुग़ताई-सल्तनत की तरह यहाँ भी मंगोलों और तुर्कों के आपसी सम्पर्क से एक नई क़ौम और एक नई साहित्यिक तुर्की भाषा ने जन्म लिया जो 'तातारी' कहलाती है और जिसका मज़हब इस्लाम है।

सराय के आलतिन औरदा शासकों की सूची

(634 हि॰/1237 ई॰-907 हि॰/1502 ई॰)

1. बातू ख़ाँ	(634 हि॰/1237 ई॰—654 हि॰/1256 ई॰)
2. बरका ख़ाँ	(655 हि॰/1257 ई॰—666 हि॰/1267 ई॰)
3. मंगू तैमूर	(666 हि॰/1267 ई॰—679 हि॰/1280 ई॰)
4. तोदा मंगू	(679 हि॰/1280 ई॰—686 हि॰/1287 ई॰)
5. तेले बोग़ा	(686 हि॰/1287 ई॰—690 हि॰/1291 ई॰)
6. तोक़्ता	(690 हि॰/1291 ई॰—712 हि॰/1312 ई॰)
7. ओज़बक ख़ाँ	(712 हि॰/1313 ई॰—741 हि॰/1341 ई॰)
8. तैनी बक	(741 हि॰/1341 ई॰—742 हि॰/1342 ई॰)
9. जानी बक	(742 हि॰/1342 ई॰—758 हि॰/1357 ई॰)
10. बरदी बक	(758 हि॰/1357 ई॰—760 हि॰/1359 ई॰)
11. कुलपा	(760 हि॰/1359 ई॰—760 हि॰/1360 ई॰)
12. नौरोज़ बेग़	(760 हि॰/1360 ई॰)
13. ख़िज़्र ख़ाँ	(760 हि॰/1359 ई॰—762 हि॰/1361 ई॰)
14. तैमूर ख़ाजा	(762 हि॰/1361 ई॰)
15. मुरीद	(762 हि॰/1361 ई॰—764 हि॰/1363 ई॰)
16. अरदू मलिक	(762 हि॰/1360 ई॰—764 हि॰/1362 ई॰)

17. अब्दुल्लाह (764 हि॰/1362 ई॰—771 हि॰/1366 ई॰)

18. केलदी बक (1362 ई॰—1363 ई॰)

19. फ़ौलाद तैमूर (1362—1365 ई॰)

20. तौग़ाए (1365 ई॰)

21. अज़ीज़ (क़बचाक़ के इलाक़े में) (1364 ई॰—1367 ई॰)

22. अब्दुल्लाह (तुर्किस्तान में) (1364 ई॰—1367 ई॰)

23. जानी बेग द्वितीय (1366 ई॰—1367 ई॰)

24. मुहम्मद बौलाक़ (1370 ई॰)

25. ऐबक (1371 ई॰)

26. क़ारन ख़ाँ (1371 ई॰—1375 ई॰)

27. उरूस ख़ाँ (1374 ई॰—1376 ई॰)

28. तोक़्ताक़िया (777 हि॰/1375 ई॰—777 हि॰/1376 ई॰)

29. तैमूर मलिक इब्ने-उरूस ख़ाँ (777 हि॰/1376 ई॰—778 हि॰/1377 ई॰)

30. हसनबेग ख़ाँ (778 हि॰/1377 ई॰)

31. अरब शाह (778 हि॰/1377 ई॰)

32. तोक़्तमिश (778 हि॰/1377 ई॰—798 हि॰/1395 ई॰)

33. तैमूर क़ुतलुक़ (तैमूर मलिक का बेटा) (1395 ई॰—1401 ई॰)
(उसके बाद 1419 ई॰ तक अस्ल शासक एदगी था।)

34. शादी बक (1401 ई॰—1407 ई॰)

35. फ़ौलाद ख़ाँ (1407 ई॰—1410 ई॰)

36. तैमूर (तैमूर क़ुतलुक़ का लड़का) 1410 ई॰—1412 ई॰

37. जलालुद्दीन-इब्ने-तोक़्तमिश (1412 ई॰)

38. करीम बरदी (1412 ई॰—1417 ई॰)

39. केबक ख़ाँ (1414 ई॰—1415 ई॰)

40. जब्बार बरदी (1417 ई॰–1419 ई॰)

41. चेगरे (1418 ई॰)

42. उलुग़ मुहम्मद (1419 ई॰–1424 ई॰ पुनः 1427 ई॰–1438 ई॰)

43. दौलत बरदी (1420 ई॰–1424 ई॰)

44. बर्क़ (1422 ई॰–1427 ई॰)

45. सैयद अहमद प्रथम (1433 ई॰–1465 ई॰)

46. कचक मुहम्मद-बिन-तैमूर (1435 ई॰–1465 ई॰)

47. अहमद-बिन-कचक मुहम्मद (1465 ई॰–1481 ई॰)

48. सैयद अहमद द्वितीय (1481 ई॰)

49. मुर्तज़ा (सैयद अहमद द्वितीय का भाई) 1481 ई॰–1499 ई॰

50. शैख़ अहमद-बिन-सैयद अहमद (1481 ई॰–1502 ई॰/907 हि॰)

क़ाज़ान के शासक (1437 ई॰/841 हि॰–1552 ई॰/959 हि॰)

1. उलुग़ मुहम्मद (1437 ई॰–1445 ई॰)
2. महमूद (1445 ई॰–1461 ई॰)
3. ख़लील (1461 ई॰–1467 ई॰)
4. इबराहीम (1467 ई॰–1479 ई॰)
5. इलहाम (1479 ई॰–1487 ई॰)
6. मुहम्मद अमीन (1487 ई॰–1496 ई॰)
7. मामूक [साइबेरिया के ख़ान-वंश से] (1496 ई॰–1497 ई॰)
8. अब्दुल-लतीफ़ (1497 ई॰–1502 ई॰)
9. मुहम्मद अमीन [दूसरी बार] (1502 ई॰–1518 ई॰)
10. शाह अली (1519 ई॰–1521 ई॰)
11. साहब गिरानी [क्रीमिया के वंश से सम्बन्ध था] (1521 ई॰–1524 ई॰)
12. सफ़ा गिरानी (1524 ई॰–1531 ई॰)

13. जान अली (1531 ई॰–1533 ई॰)
14. सफ़ा गिरानी [दूसरी बार] (1533 ई॰–1546 ई॰)
15. शाह अली [दूसरी बार] (1546 ई॰–1548 ई॰)
16. सफ़ा गिरानी [तीसरी बार] (1548 ई॰–1549 ई॰)
17. ओकैमिशन गिरानी (1549 ई॰–1551 ई॰)
18. शाह अली [तीसरी बार] (1551 ई॰–1552 ई॰)
19. मुहम्मद यादगार [उस्तर ख़ान वंश से सम्बन्ध था] (959 हि॰/1552 ई॰)
(2 अक्तूबर 1552 ई॰ को काज़ान पर रूस का क़ब्ज़ा हो गया।)

उस्तर ख़ान वंश के शासक (871 हि॰/1466 ई॰–963 हि॰/1556 ई॰)

1. क़ासिम-बिन-मुहम्मद-बिन-कचक मुहम्मद (1466 ई॰–1480 ई॰)
2. अब्दुल-करीम [क़ासिम का भाई] (1480 ई॰–1509 ई॰)
3. हुसैन (1509 ई॰–1532 ई॰)
4. आक़-कोबक (1532 ई॰)
5. अबदुर्रहमान-बिन-अब्दुल-करीम (1533 ई॰–1537 ई॰)
6. दुरवेश अली (1537 ई॰–1539 ई॰)
7. यमफ़ुरजा (1539 ई॰–1554 ई॰)
8. दुरवेश अली [दूसरी बार] (1554 ई॰–1556 ई॰)

महत्वपूर्ण घटनाएँ

922 ई॰ बुलग़ार के शासक का इस्लाम क़बूल करना और इब्ने-फ़ज़लान का ख़लीफ़ा मुक़्तदिर बिल्लाह अब्बासी के दूत की हैसियत से बुलग़ार जाना।

986 ई॰ रूसी शासक ब्लादीमिर ने 'क्यू' में धार्मिक सभा आयोजित करके ईसाई धर्म क़बूल किया। इस सभा में बुलग़ार के उलमा (विद्वान) सम्मिलित हुए और ब्लादीमिर को इस्लाम की दावत दी।

1237 ई॰ बुलग़ार पर बातू ख़ाँ का क़ब्ज़ा और यूरोप की मुहिम पर रवाना होना। रूस का बड़ा हिस्सा जीत लिया जाना।

1240 ई॰ क्यू पर मंगोलों का क़ब्ज़ा।

1241 ई॰ ब्रायला से आगे लिगनिट्ज़ (Leignitz) नामक स्थान पर मंगोल फ़ौज ने जर्मनी को पराजित किया (9 अप्रैल)। एक दूसरी मंगोल फ़ौज ने 11 अप्रैल को हंगरी के बादशाह बैला को पराजित किया। वापसी में बातू ख़ाँ ने सराय का शहर बसाया।

1263 ई॰ (13 जनवरी) बरका ख़ाँ ने तीरक नदी (क़फ़क़ाज़) के किनारे हलाकू ख़ाँ को हराया।

1328 ई॰ ओज़बक ख़ाँ ने मास्को के रूसी गवर्नर को 'ग्रांड-प्रिंस' का ख़िताब दिया।

1357 ई॰ जानी बेग का तबरीज़ पर क़ब्ज़ा।

1377 ई॰ तोक़्तमिश ने तैमूर की मदद से सराय का तख़्त हासिल किया।

1380 ई॰ सराय के शाह साज़ ख़ाँ मुमाई को रूसियों ने पहली बार कोलीकोवो (Kolikovo) की जंग में पराजित किया (8 सितम्बर)। ये रूसियों के मुक़ाबले में मंगोलों की पहली बड़ी पराजय थी।

1382 ई॰ तोक़्तमिश ने मास्को का घेराव किया और ख़िराज वुसूल किया।

1391 ई॰ (18 अप्रैल) तैमूर ने वोल्गा के किनारे तोक़्तमिश को हराया।

1395 ई॰ (15 अप्रैल) तैमूर ने तीरक नदी (क़फ़क़ाज़) के किनारे तोक़्तमिश को दूसरी बार पराजित किया।

1399 ई॰ (12 अगस्त) सराय के एदगी मिर्ज़ा ने लिथुआनिया के बादशाह को पराजित किया।

1408 ई॰ एदगी मिर्ज़ा ने मास्को का घेराव करके ख़िराज वुसूल किया।

1439 ई॰ काज़ान के शासक उलुग़ मुहम्मद ने मास्को पर घेरा डाला।

1445 ई॰ (7 जुलाई) सोज़वाल नामक स्थान पर मास्को के शासक को उलुग़-मुहम्मद ने हराया और ख़िराज देने को बाध्य किया।

1480 ई॰ मास्को ने तातारियों को ख़िराज देने से इनकार किया।

1487 ई॰ काज़ान पर रूसियों का पहली बार अस्थायी क़ब्ज़ा।

1506 ई॰ 22 मई और 22 जून को काज़ान के पास मुसलमानों ने रूसियों को दो बार हराया।

1521 ई॰ काज़ान के शासक साहब गिराई ने क्रीमिया के तातारियों की मदद से मास्को पर हमला किया और मास्को को ख़िराज देने पर विवश किया।

1552 ई॰ रूसी बादशाह इवान चतुर्थ ने 2 अक्तूबर को अपनी तीसरी चढ़ाई में काज़ान पर क़ब्ज़ा कर लिया और मुसलमानों का क़त्लेआम किया।

1571 ई॰ क्रीमिया के ख़ान दौलत गिराई ने मास्को का घेराव किया और ख़िराज वुसूल किया। मास्को के ख़िलाफ़ मुसलमानों की यह अन्तिम सफल चढ़ाई थी।

1591 ई॰ क्रीमिया के ख़ान ग़ाज़ी गिराई ने मास्को पर हमला किया परन्तु पराजित हुआ।

अध्याय-3

ईलख़ानी वंश के शासक

(654 हि॰/1256 ई॰ से 750 हि॰/1349 ई॰)

हलाकू ख़ाँ

ईलख़ानी शासन का संस्थापक चंगेज़ ख़ाँ का पोता हलाकू ख़ाँ था। चंगेज़ ख़ाँ के लड़के तूली ख़ाँ के तीन बेटे थे। उनमें से एक मंगू ख़ाँ या 'मंगू क़ाआन' था, जो क़राक़ुरम में रहता था और पूरी मंगोल सल्तनत का 'ख़ाने-आज़म' (सम्राट) था; दूसरा बेटा क़ोबला ख़ाँ या क़ोबलाई ख़ाँ था जो चीन में मंगोल सल्तनत का संस्थापक था; तीसरा लड़का हलाकू ख़ाँ था। मंगू ख़ाँ के ज़माने में उत्तर-पश्चिम ईरान में इसमाईली लोगों ने बड़ा हंगामा और मार-काट शुरू कर दिया था। यह इलाक़ा मंगोलों के शासन-क्षेत्र में था, इसलिए वहाँ के निवासियों ने मंगू ख़ाँ से इस ज़ुल्मो-सितम के ख़िलाफ़ फ़रियाद की। मंगू ख़ाँ ने इस शिकायत पर अपने भाई हलाकू ख़ाँ को 1256 ई॰/654 हि॰ में ईरान का हाकिम (गवर्नर) बनाकर भेजा और उसे इसमाईली लोगों के ख़िलाफ़ कार्रवाई करने का आदेश दिया। हलाकू ने 1256 ई॰/654 हि॰ में इसमाईली लोगों के केन्द्र 'क़िलाउल-मौत' पर क़ब्ज़ा करके इसमाईली शासन का हमेशा के लिए ख़ातिमा कर दिया और उनके अन्तिम बादशाह 'ख़ोरशाह' को क़त्ल कर दिया।

इसमाईली लोगों की शक्ति को कुचलकर हलाकू ख़ाँ ने बग़दाद का रुख़ किया, जो उस समय शिया-सुन्नी विवाद का गढ़ बना हुआ था और जिसके कारण ख़लीफ़ा मुस्तासिम बिल्लाह के शिया वज़ीर इब्ने-अलक़मी ने हलाकू ख़ाँ को बग़दाद पर हमला करने के लिए तैयार किया था। 656 हि॰/1258 ई॰ में बग़दाद को तबाह करने के बाद हलाकू ख़ाँ ने सम्पूर्ण इराक़ पर क़ब्ज़ा कर लिया और बसरा एवं कूफ़ा जैसे महान शहर तबाह एवं बरबाद कर दिए। इसके बाद मंगोल-फ़ौज ने जज़ीरा के रास्ते शाम (सीरिया) पर हमला किया। मंगोल-फ़ौजें नुसैबीन, रुहा और हर्रान के शहरों को तबाह-बरबाद

करती हुई हलब पहुँच गईं जहाँ पचास हज़ार मर्द क़त्ले-आम में मारे गए और हज़ारों औरतों एवं बच्चों को लौंडी-ग़ुलाम बना लिया गया। मंगोल-फ़ौजें इसी प्रकार मार-काट और बरबादी फैलाती हुई फ़लस्तीन तक पहुँच गईं, परन्तु यहाँ नासरा के दक्षिण में 'ऐन जालूत' नामक स्थान पर 25 रमज़ान 658 हि॰/1260 ई॰ को एक घमासान युद्ध में मिस्र के ममलूकों (ग़ुलाम शासकों) ने उन्हें बुरी तरह पराजित करके पूरे शाम (सीरिया) से निकाल दिया और इस प्रकार मिस्र तबाह होने से बच गया।

मंगू ख़ाँ के बाद क़राक़ुरम की शासन-सत्ता कमज़ोर पड़ गई और हलाकू ख़ाँ ने ईरान में अपनी स्थायी सत्ता क़ायम कर ली जो ईलख़ानी हुकूमत कहलाती है। उसने मुराग़ा को जो तबरीज़ से सत्तर मील दक्षिण में स्थित है, अपनी राजधानी बनाया। बाद में राजधानी तबरीज़ स्थानान्तरित कर दी गई।

हलाकू के बाद उसका बेटा अबाक़ा ख़ाँ (663 हि॰—680 हि॰) गद्दी पर बैठा। उसने भी अपने बाप की तरह इस्लाम-दुश्मनी की नीति जारी रखी। उसने यूरोप और यूरोप के शासकों से नज़दीकी सम्बन्ध क़ायम किए और ईसाइयों को बैतुल-मक़दिस पर क़ब्ज़ा करने के लिए प्रेरित किया। उसने यूरोप के समर्थन और अपने अधीनस्थ क्षेत्रों के अरमनी और गरजिस्तानी निवासियों की मदद से शाम (सीरिया) पर हमला भी किया, परन्तु 1280 ई॰ में शहर हिम्स के निकट ग़ुलाम शासक क़लाउन से पराजित होकर पीछे हटने पर मजबूर हुआ।

अबाक़ा ख़ाँ के बाद उसका भाई नकोदार अग़लन (680 हि॰—683 हि॰) बादशाह हुआ। वह पहले ईसाई था लेकिन बादशाह बनने के बाद वह प्रधानमंत्री शमूसुद्दीन जवेनी[1] की प्रेरणा से मुसलमान हो गया और अपना

1. ख़्वाजा शमूसुद्दीन जवेनी, नसीरुद्दीन तूसी के बाद हलाकू ख़ाँ का मंत्री नियुक्त हुआ था और सुल्तान अरग़ौन के प्रारम्भिक काल तक इस पद पर रहा। मौलाना शिबली (रह॰) ने 'शेरुल-अजम' खण्ड द्वितीय में शेख़ सअदी के हालात के तहत लिखा है कि हलाकू ख़ाँ के ज़माने में तातारियों की क्रूरता के बावजूद इस्लाम का जो नामो-निशान शेष रहा वह सिर्फ़ ख़्वाजा शमूसुद्दीन की मेहनत का प्रतिफल था।

नाम अहमद ख़ाँ रखा। उसने इस्लाम और मुसलमानों से सम्बन्धित मंगोल-शासन की पॉलिसी बदलने की कोशिश की। मिस्र के सुल्तान को अपने मुसलमान होने की सूचना भेजी और मिस्र के ख़िलाफ़ फ़ौजी कार्रवाईयाँ बन्द कर दीं। अहमद ख़ाँ ने इस्लामी तरीक़ों को प्रचलित करने की कोशिश की और मंगोलों को मुसलमान हो जाने की प्रेरणा दी। उसने तूरह-ए-चंगेज़ी को छोड़कर इस्लामी शरीअत (इस्लामी विधान) के आदेशों को लागू किया। अहमद ख़ाँ की यह पॉलिसी उसके भतीजे और अबाक़ा ख़ाँ के बेटे अरग़ून ख़ाँ को पसन्द नहीं आई। उसने अहमद ख़ाँ के ख़िलाफ़ बग़ावत कर दी और उसे क़त्ल करके स्वयं बादशाह बन गया।

अरग़ून ख़ाँ (683 हि॰—690 हि॰) के दौर में मुसलमान एक बार फिर घोर अत्याचार का निशाना बनाए गए और अनगिनत उलमा (मुस्लिम विद्वान) क़त्ल कर दिए गए। 684 हि॰ में उसने प्रधानमंत्री शमसुद्दीन को भी क़त्ल करा दिया। अरग़ून के उत्तराधिकारी गनजातू (690 हि॰—694 हि॰) का शासनकाल इस कारण उल्लेखनीय है कि चीन के अनुकरण में जहाँ काग़ज़ के नोट चलते थे, उसने ईलख़ानी शासन में भी काग़ज़ी मुद्रा (काग़ज़ के नोट) चलाने की कोशिश की।

ग़ाज़ान ख़ाँ

गनजातू का उत्तराधिकारी ग़ाज़ान ख़ाँ (694 हि॰—703 हि॰), जो अरग़ून ख़ाँ का बेटा था, दूसरा ईलख़ानी शासक है, जिसने इस्लाम क़बूल किया। वह एक प्रतिष्ठित मंगोल-शासक नौरोज़ ख़ाँ की प्रेरणा से 694 हि॰/1292 ई॰ में मुसलमान हुआ था। उसके साथ दस हज़ार मंगोल-नागरिक भी मुसलमान हो गए। बादशाह ने जिस दिन इस्लाम क़बूल किया उस दिन बड़ी ख़ुशी मनाई गई और लोगों के सिरों पर सोना-चाँदी और मोती निछावर किए गए। ग़ाज़ान ख़ाँ ने जिसे कभी-कभी क़ाज़ान ख़ाँ भी लिखा जाता है, इस्लाम को देश का सरकारी मज़हब घोषित किया और पीकिंग के ख़ाने-आज़म का वर्चस्व समाप्त करके अपनी पूर्ण आज़ादी की घोषणा कर दी। उसने नए सिक्के ढाले, जिनपर इस्लामी प्रतीक अंकित थे और मंगोल-टोपी के स्थान

पर इस्लामी पगड़ी धारण की। इनके अतिरिक्त ग़ाज़ान ख़ाँ ने कई लाभप्रद सुधार भी किए। उदाहरणतः पूरी सल्तनत से वेश्यावृत्ति समाप्त कर दी और सूदी कारोबार पर पाबन्दी लगा दी। ये सभी क़दम इस बात की पुष्टि करते थे कि अब ईलख़ानी सल्तनत ने इस्लाम-धर्म को हमेशा के लिए क़बूल कर लिया है और अब यहाँ तूरह-ए-चंगेज़ी (चंगेज़ी विधान) नहीं, बल्कि शरीअते-मुहम्मदी अर्थात् इस्लामी विधान पर अमल होगा।

ग़ाज़ान ख़ाँ के इस्लाम क़बूल करने से ईलख़ानी सल्तनत में मुसलमानों की कठिनाई के दिन समाप्त हो गए, परन्तु ग़ाज़ान ख़ाँ के इन सभी काम एवं सुधार-कार्यों के बावजूद बादशाह पर इस्लामी शिक्षाओं का कोई लाभप्रद प्रभाव नहीं पड़ा। मुसलमान हो जाने के बाद भी उसने शाम (सीरिया) और मिस्र के ख़िलाफ़ मुहिम जारी रखी और दो बार शाम पर हमले किए। पहला हमला 1299 ई॰/699 हि॰ में किया और ग़ाज़ान ख़ाँ ने गुलाम सुल्तान मलिक नाज़िर को दिमश्क़ के बाहर हराकर शहर पर क़ब्ज़ा कर लिया। इस अवसर पर प्रसिद्ध इस्लामी विद्वान एवं सुधारक इब्ने-तैमिया ने ग़ाज़ान ख़ाँ से मिलकर उसे मुसलमान होने के बावजूद एक मुस्लिम इलाक़े पर हमला करने पर धिक्कार भी लगाई परन्तु ग़ाज़ान ख़ाँ पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, बल्कि यह धमकी देकर ईरान वापस चला गया कि अगले वर्ष वह मिस्र पर भी हमला करेगा। 702 हि॰/1303 ई॰ में मंगोलों ने दूसरी बार शाम पर हमला किया, परन्तु इस बार 25, रमज़ानुल मुबारक को मरजे-सुफ़्र नामक मैदान में मुसलमानों ने मंगोलों को ऐसी शिकस्त दी कि इसके बाद उन्होंने फिर कभी शाम का रुख़ नहीं किया।

ग़ाज़ान ख़ाँ की खेदजनक कार्रवाइयों में से दूसरी कार्रवाई अमीर नौरोज़ ख़ाँ का क़त्ल है। यह महान मंगोल-सरदार जिसके प्रयास से अनगिनत मंगोल मुसलमान हुए और स्वयं ग़ाज़ान ख़ाँ भी मुसलमान हुआ, ग़ाज़ान ख़ाँ ने उसे बग़ावत के आरोप में क़त्ल करा दिया, हालाँकि वह सिर्फ़ इस्लामी शरीअत की सही अर्थों में वर्चस्व चाहता था।

ग़ाज़ान ख़ाँ शिआ-पंथ का माननेवाला था और उसने सुन्नियों के ख़िलाफ़ कार्रवाइयाँ करके ज़ुल्मो-अत्याचार की उस पॉलिसी की बुनियाद

डाली जो सफ़वी-काल में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई।

ग़ाज़ान ख़ाँ के बाद उसका भाई अलजाइतू ख़ुदाबन्दा (703 हि॰–716 हि॰) तख़्त पर बैठा। वह भी ग़ाज़ान ख़ाँ की पॉलिसी पर ही चलता रहा। वह अपनी राजधानी तबरीज़ से सुल्तानिया ले गया। यह एक नया शहर था जो क़ज़वीन और ज़नजान के बीच बनाया गया था। अब तो यह शहर आलीशान इमारतों का खँडहर है, परन्तु उस दौर में पूरे ईरान में तबरीज़ के बाद सबसे बड़ा और शानदार शहर समझा जाता था।

रशीदुद्दीन (1247 ई॰/645 हि॰–1318 ई॰/718 हि॰)

ग़ाज़ान ख़ाँ और अलजाइतू ख़ुदाबन्दा के हालात रशीदुद्दीन की चर्चा के बिना अधूरे रहेंगे, जो उनके ज़माने में लगातार बाइस वर्ष तक ईलख़ानी सल्तनत के प्रधानमंत्री रहे और सल्तनत के कल्याण और विकास में जिनकी भूमिका बादशाहों से कम नहीं है। रशीदुद्दीन प्रसिद्ध बुवैही मंत्री साहिब इब्ने-इबाद की तरह बहुत बड़े लेखक भी थे। उन्होंने कई खण्डों में इतिहास की एक पुस्तक लिखी जो 'जामिउत्तवारीख़' के नाम से प्रसिद्ध है। यह इतिहास फ़ारिसी भाषा में है और फ़ारिसी की सर्वोत्कृष्ट रचनाओं में गिनी जाती है। रशीदुद्दीन प्रतिदिन फ़ज्र की नमाज़ के बाद यह इतिहास लिखना शुरू करते थे और सूरज निकलने पर लिखना बन्द कर देते थे। वह इस प्रकार कई साल तक पाबन्दी से लिखते रहे, यहाँ तक कि किताब पूरी हो गई। रशीदुद्दीन चिकित्सक भी थे और उन्होंने चिकित्सा-विज्ञान पर भी किताबें लिखी हैं।

रशीदुद्दीन ने ज्ञान एवं कला को बड़ा संरक्षण प्रदान किया और प्रजा को बहुत लाभ पहुँचाया। उन्होंने तबरीज़ शहर के निकट 'रबा-ए-रशीदी' के नाम से एक बस्ती बसाई थी। यह बस्ती क्या थी, ज्ञान एवं कला का एक बड़ा केन्द्र थी। इसकी हैसियत 'यूनीवर्सिटी-टाउन' की थी। इस दौर में भी जबकि दुनिया ने बड़ी तरक़्क़ी कर ली है, यूनिवर्सिटी से सम्बन्धित ऐसी बस्तियाँ दुनिया में बहुत कम नज़र आएँगी, जो 'रबा-ए-रशीदी' का मुक़ाबला कर सकें।

इस बस्ती में तीस हज़ार ख़ूबसूरत मकान थे। बाग़-बग़ीचों, स्नानगृहों, पवनचक्कियों, कपड़े के कारख़ानों, काग़ज़ बनाने के कारख़ानों और एक टकसाल के अलावा यहाँ 24 कारवान-सरायें (क़ारवान के ठहरने का स्थल) और पन्द्रह सौ कारख़ाने थे। यहाँ के पुस्तकालय में साठ हज़ार किताबें थीं। इस बस्ती में 200 हाफ़िज़ (सम्पूर्ण क़ुरआन कन्ठस्थ करनेवाले) और क़ारी थे जो बच्चों को क़ुरआन हिफ़्ज़ कराते थे और क़िराअत सिखाते थे। चार सौ फ़ुक़्हा (इस्लामी-शरीअत के विद्वान) और मुहद्दिस (हदीस के विद्वान) थे। इस्लामी देशों के एक हज़ार छात्र यहाँ शिक्षा पाते थे, जिनका ख़र्च हुकूमत के ज़िम्मे था। रबा-ए-रशीदी में एक विशाल अस्पताल भी था, जिसमें पचास उच्च्य कोटि के चिकित्सक नियुक्त थे। ये चिकित्सक छात्रों को पढ़ाते भी थे। जर्राह (सर्जन) कह्हाल (नेत्र-विशेषज्ञ) आदि तो इनके अतिरिक्त थे। कई दीनी मदरसे (इस्लामी मदरसे) और एक नक्षत्रशाला भी थी, जहाँ नक्षत्र-विज्ञान के प्रयोग किए जाते थे।

रशीदुद्दीन ने इसी प्रकार की एक और बस्ती ईलख़ानी शासन की नई राजधानी सुल्तानिया के निकट भी बसाई थी।

अबू-सईद

सुल्तान अबू-सईद (716 हि॰—736 हि॰) ईलख़ानी शासन का अन्तिम शक्तिशाली शासक था। जब उसके पिता "अल-जायतू-ख़ुदाबन्दा" की मृत्यु हुई तो अबू-सईद की उम्र मात्र 12 वर्ष थी। सल्तनत का सारा इन्तिज़ाम प्रधानमंत्री, अमीर चौपान सलदोज़ के हाथ में था। अबू-सईद नेक दिल इनसान था। वह एक अच्छा ख़त्तात (सुन्दर लिखावट लिखनेवाला) और संगीतकार भी था। अबू-सईद शीआ-पंथ को छोड़कर सुन्नी हो गया था।

सुल्तान अबू-सईद के काल की एक दुखद घटना प्रधानमंत्री रशीदुद्दीन का क़त्ल है, जिसे बिना किसी अपराध के मात्र इस सन्देह के कारण मरवा डाला गया कि उसने सुल्तान के बाप 'अल-जायतू ख़ुदाबन्दा' को ऐसी दवा दी कि वह मर गया। परन्तु यह घटना उसके शुरुआती शासनकाल की है, जबकि अबू-सईद की उम्र केवल चौदह वर्ष थी और शासन प्रधानमंत्री अमीर

चौपान सलदोज़ के हाथ में था। बाद में सुल्तान ने रशीदुद्दीन के लड़के ख़्वाजा ग़ियासुद्दीन को 727 हि॰ में अमीर चौपान सलदोज़ के स्थान पर प्रधानमंत्री नियुक्त करके अपनी उस ग़लती का प्रायश्चित करने की कोशिश की।

सुल्तान अबू-सईद के बाद ईलख़ानी शासन का पतन शुरू हो गया। अमीर लोग आपस में लड़ने लगे और बादशाह उनके हाथों में कठपुतली बन गए। 750 हि॰/1349 ई॰ में ईलख़ानी वंश की सत्ता ख़त्म हो गई और उनकी विशाल सल्तनत कई छोटी-छोटी हुकूमतों में बँट गई।

ईलख़ानी काल की विशेषताएँ

ईलख़ानी काल इस्लामी इतिहास का एक प्रकार से संक्रमण काल है। इसका प्रारम्भ बग़दाद की तबाही से होता है जो अपने दौर में न केवल दुनिया का सबसे बड़ा शहर था बल्कि ज्ञान-विज्ञान, साहित्य तथा सभ्यता-संस्कृति का भी सबसे बड़ा केन्द्र था। बग़दाद के बाद ईलख़ानी वंश की तबाही का दायरा इराक़ के दूसरे शहरों, पूर्वी और दक्षिणी अनातोलिया एवं शाम (सीरिया) तक फैल गया। हलब और दिमश्क़ (Damuscus) भी उनकी लूटमार और तबाही का निशाना बने। ईलख़ानी वंश के प्रारम्भिक काल में ख़ुद उनकी सल्तनत में रहनेवाले मुसलमान भी उनके ज़ुल्म से बच न सके। अनगिनत उलमा (विद्वान) क़त्ल किए गए। इसके बाद उन्होंने इस्लाम क़बूल कर लिया। मुसलमानों ने इत्मीनान की साँस ली। लेकिन शुरू-शुरू में उनका इस्लाम लाना मात्र रस्मी (औपचारिक) था। ख़ासकर ग़ाज़ान ख़ाँ और अल-जायतू ख़ुदाबन्दा मुसलमान तो हो गए थे, परन्तु इस्लामी अक़ीदे (धारणाओं) की आवश्यक तरबियत (प्रशिक्षण) न होने के कारण इनमें इस्लाम की सही चेतना पैदा नहीं हुई थी। फिर यह ईलख़ानी शासनकाल ही था जिसमें मज़हबी अक़ीदों के विद्वेष ने हिंसा का रूप ले लिया था और सुन्नी आबादी को भयभीत कर रखा था। इस्लामी इतिहास में मज़हबी हिंसा का यह रूप इससे पहले नज़र नहीं आता। बनू-बुवैह और बनू-फ़ातिमा की शिआ हुकूमतों ने भी अपने मज़हबी भेदभाव की भावना के बावजूद सुन्नी आबादी के ख़िलाफ़ हिंसा का रास्ता नहीं अपनाया था। ईलख़ानी काल की

यह नीति बाद में सफ़वी काल में अपने चरम पर पहुँच गई।

ईलख़ानी सल्तनत अपने काल की महानतम हुकूमतों में से थी। ईरान, इराक़, अफ़ग़ानिस्तान, क़फ़क़ाज़ और पूर्वी अनातोलिया उनकी सल्तनत में शामिल थे। उन्होंने अपने योग्य मंत्रियों की मदद से, जिनमें अन्वेषक तूसी, ख़्वाजा शमूसुद्दीन जवेनी, रशीदुद्दीन और ग़ियासुद्दीन जैसे मंत्री शामिल थे, अपनी सल्तनत का इन्तिज़ाम बड़ी ख़ूबी से किया। पूरी सल्तनत में पूर्णतः सुख-शान्ति थी जिसके कारण व्यापार को बढ़ावा मिला, और उनकी राजधानी तबरीज़ दुनिया का एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र बन गया। वास्तुकला ने भी उस काल में बड़ी तरक़्क़ी की। मुराग़ा, तबरीज़ और सुल्तानिया में शानदार इमारतें बनाई गईं। उनमें सुल्तानिया में सुल्तान अल-जायतू का मक़बरा वास्तुकला का अद्भुत नमूना समझा जाता है। इसके गुम्बद की ऊँचाई एक सौ अस्सी (180) फ़ुट है।

ज्ञान एवं साहित्य

मंगोल हमलों के दौरान ज्ञान एवं साहित्य के विकास को बहुत चोट पहुँची थी। पुस्तकालय एवं मदरसे बरबाद कर दिए गए थे। हज़ारों उलमा (विद्वानों) को मौत के घाट उतार दिया गया था। परन्तु ईलख़ानी काल में ज्ञान एवं साहित्य का विकास एक बार फिर प्रारम्भ हुआ। इस सिलसिले में अन्वेषक तूसी और प्रधानमंत्री ख़्वाजा रशीदुद्दीन ने प्रशंसनीय कोशिशें कीं। अन्वेषक तूसी हलाकू ख़ाँ के मंत्री थे। वह इस कारण बदनाम हैं कि बग़दाद पर हमला करने के लिए उन्होंने हलाकू ख़ाँ को उकसाया था, परन्तु वह गणित, नक्षत्र-विज्ञान एवं दर्शनशास्त्र के बहुत बड़े विद्वान थे और इन विषयों में उन्होंने कई उच्च कोटि की किताबें भी लिखी हैं। इसलिए उन्होंने ज्ञान को नष्ट होने से बचाने की कोशिश की और तबरीज़ में एक बहुत बड़ा पुस्तकालय स्थापित किया, जिसमें चार लाख किताबें थीं। इस प्रकार तूसी ने बहुत-सी किताबों को तबाह व बरबाद होने से बचा लिया। ख़्वाजा रशीदुद्दीन ने किताबों की सुरक्षा की जो कोशिशें कीं उनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

ईलख़ानी शासनकाल में इतिहास की कई उच्च कोटि की किताबें लिखी गईं। उनमें सबसे महत्वपूर्ण किताब रशीदुद्दीन की 'जामिउत्तवारीख़' है। यह दुनिया का पहला विश्व-इतिहास है। इससे पहले किसी काल में भी विश्व-इतिहास लिखने की कोशिश नहीं की गई थी। यह इतिहास की पुस्तक 1310 ई॰ में तैयार हुई और मंगोलों के इतिहास के अलावा इसमें चीन, भारत और यूरोप का इतिहास भी लिखा गया है।

इस काल की इतिहास की दूसरी प्रमुख पुस्तक 'अता मलिक जवेनी' की 'तारीख़े-जहानक' है जो 658 हि॰/1260 ई॰ में लिखी गई और मंगोलों एवं ख़ुवारिज़्म शाही काल का विस्तृत एवं प्रामाणिक इतिहास है। अता मलिक प्रधानमंत्री ख़ुवाजा शमसुद्दीन के भाई थे।

अबू सुलैमान दाऊद बनाकती की 'तारीख़े-बनाकती' भी, जो 717 हि॰/1317 ई॰ में लिखी गई, विश्व इतिहास का दर्जा रखती है। इसका आधा से ज़्यादा भाग ग़ैर-मुस्लिम क़ौमों के इतिहास पर आधारित है। ब्रिटेन, इटली, फ़्रांस और स्पेन का इतिहास भी इसमें आ गया है।

ईरान और मंगोलों के इतिहास का एक और प्रमुख स्रोत 'तारीख़े-वस्साफ़' है, जिसे अब्दुल्लाह-बिन-फ़ज़लुल्लाह शीराज़ी ने 1303 ई॰ में लिखा।

इस काल के लेखकों में हम 'हम्दुल्लाह मुस्तौफ़ी को भी नज़रअन्दाज़ नहीं कर सकते। इनका 'तारीख़े-गुज़ीदा' हालाँकि संक्षिप्त विश्व-इतिहास है, लेकिन इनकी लिखी भूगोल पर आधारित किताब 'नुज़हतुल-क़ुलूब' ईरान के ऐतिहासिक भूगोल का एक प्रमुख स्रोत है। इतिहास की ये सभी किताबें फ़ारसी भाषा में लिखी गई थीं।

ईलख़ानी शासनकाल के हकीमों में अन्वेषक तूसी के अलावा क़ुतुबुद्दीन शीराज़ी (1236 ई॰–1311 ई॰) का नाम भी प्रमुख है। वे अन्वेषक तूसी के शिष्य थे। उन्होंने नक्षत्र एवं चिकित्सा के क्षेत्र में अतिश्रेष्ठ पुस्तकें लिखी हैं। पहले मुसलमान ईलख़ानी शासक अहमद ख़ाँ ने मिस्र के सुल्तान क़लादून के पास उनको ही ख़त देकर और अपना राजदूत बनाकर भेजा था।

उस काल के वैद्यों (चिकित्सकों) में कमालुद्दीन फ़ारिसी (मृत्यु-1320 ई॰)

का काम सर्वप्रमुख है। वे न केवल इस्लामी इतिहास में बल्कि आधुनिक काल से पूर्व आँखों के इलाज के दुनिया में सबसे बड़े नेत्र-विशेषज्ञ समझे जाते थे। आँखों पर आधारित उनके शोध बड़े महत्वपूर्ण हैं और उन्होंने इब्ने-हैसम के सिद्धान्त को और अधिक उपयोगी बनाया।

शैख़-सअदी

ईलख़ानी काल की एक और महान हस्ती ईरान के प्रसिद्ध कवि और साहित्यकार शैख़ सअदी (1184 ई॰/580 हि॰—1292 ई॰/682 हि॰) की है। शैख़ सअदी का सीधे तौर पर ईलख़ानी हुक्मरानों से कोई सम्बन्ध नहीं था। वह अताबकान[1] फ़ारस के दरबार से सम्बन्ध रखते थे जो ईलख़ानियों का अधीनस्थ हो गया था। हाँ, प्रधानमंत्री ख़्वाजा शमसुद्दीन और उनके भाई अलाउद्दीन शैख़ सअदी के संरक्षक थे। सअदी ने बग़दाद के मशहूर मदरसा

---

1. मिल्लते-इस्लामिया का संक्षिप्त इतिहास भाग-1 में बताया जा चुका है कि सलजूक़ियों के पतन के बाद उनके विभिन्न फ़ौजी अफ़सरों ने, जिन्हें अताबक कहा जाता था और जो सलजूक़ी शासकों के भरोसेमन्द गुलाम होते थे, सल्तनत के विभिन्न भागों में अपनी हुकूमतें क़ायम कर ली थीं। इन हुकूमतों में एक अताबकान आज़रबाइजान की हुकूमत थी जो 531 हि॰/1136 ई॰—632 हि॰/1225 ई॰ तक क़ायम रही और जिसकी राजधानी तबरीज़ थी। दूसरी हुकूमत अताबकान फ़ारस की थी जिसे 'दौलते-सलफ़रिया' भी कहा जाता है, क्योंकि उसका संस्थापक एक तुर्कमान सरदार सलफ़र था। यह हुकूमत 543 हि॰/1148 ई॰—686 हि॰/1284 ई॰ तक क़ायम रही और इसकी राजधानी शीराज़ थी। मंगोलों के हमले के बाद इस हुकूमत ने उनकी अधीनता स्वीकार करके फ़ारिस और दक्षिणी ईरान को तबाही से बचा लिया था। इस ख़ानदान में कई अच्छे शासक गुज़रे हैं जिनमें सअद-बिन-ज़ंगी (1203 ई॰—1231 ई॰) और उसका लड़का अबू-बक्र-बिन-सअद (1231 ई॰—1260 ई॰) बहुत प्रमुख हैं। शैख़ सअदी उन्हीं के शासनकाल से सम्बन्ध रखते थे और उन्होंने अपना उपनाम 'सअदी' सअद-बिन-ज़ंगी से ख़ानदानी सम्बन्ध के कारण रखा था। अताबकों के दौर की एक और महान हस्ती 'अब्दुल्लाह-बिन-उमर बैज़ावी' (613 हि॰/1226 ई॰—658 हि॰/1260 ई॰) की है। वे अबू-बक्र-बिन-सअद के ज़माने में शीराज़ के क़ाज़ी (चीफ़ जस्टिस) थे। उनकी क़ुरआन की तफ़सीर आज भी दीनी मदरसों में पढ़ाई जाती है और उलमा ने उसपर बहुतायत से टिप्पणियाँ लिखी हैं।

'निज़ामिया' में तालीम पाई थी। वह अपने ज़माने के बहुत बड़े पर्यटक भी थे। काशग़र से मिस्र तक और अनातोलिया (Anatolia) से यमन एवं हबश तक सारी इस्लामी दुनिया की सैर की थी। इस प्रकार उन्हें जो अनुभव प्राप्त हुए, उनकी रौशनी में उन्होंने 'गुलिस्ताँ' और 'बूस्ताँ' दो महत्त्वपूर्ण किताबें लिखीं। इनमें 'बूस्ताँ' पूर्णतः पद्य रूप में है जबकि 'गुलिस्ताँ' गद्य एवं पद्य का सुन्दर सम्मिश्रण है। ये किताबें फ़ारसी साहित्य की कालजयी रचनाएँ हैं जो दुनिया के सर्वश्रेष्ठ साहित्य के मुक़ाबले में पेश की जा सकती हैं। इनमें छोटे-छोटे क़िस्सों-कहानियों के ज़रिए बड़े काम की बातें बताई गई हैं। इन किताबों को इतनी प्रसिद्धि मिली कि दुनिया की अधिकतर बड़ी भाषाओं में इनका अनुवाद हुआ। उर्दू-हिन्दी में भी इनके अनुवाद उपलब्ध हैं।

सअदी 'फ़ारिसी ग़ज़ल' के, जो फ़ारिसी और उर्दू शायरी की सबसे लोकप्रिय विधा है, आदि-पुरुष माने जाते हैं। उनकी ग़ज़लों एवं दूसरी नज़्मों का संग्रह 'बदाए-सअदी' कहलाता है। उनकी ग़ज़लें भी फ़ारिसी की बेहतरीन ग़ज़लों में गिनी जाती हैं। बग़दाद की तबाही पर उन्होंने अरबी और फ़ारिसी दोनों भाषाओं में मरसिए (शोक-गीत) लिखे, जो बड़े मार्मिक हैं।

ईलख़ानी वंश के शासक (654 हि॰/1256 ई॰–750 हि॰/1349 ई॰)

1.	हलाकू ख़ाँ	(654 हि॰/1256 ई॰—663 हि॰/1265 ई॰
2.	अबाक़ा ख़ाँ	(663 हि॰/1265 ई॰—680 हि॰/1282 ई॰)
3.	नकोदार अग़लन	(680 हि॰/1282 ई॰—683 हि॰/1284 ई॰)
4.	अरग़ौन	(684 हि॰/1284 ई॰—690 हि॰/1291 ई॰)
5.	गंनजातू	(690 हि॰/1291 ई॰—694 हि॰/1295 ई॰)
6.	ग़ाज़ान ख़ाँ	(694 हि॰/1295 ई॰—703 हि॰/1304 ई॰)
7.	अलजायतू ख़ुदाबन्दा	(703 हि॰/1305 ई॰—716 हि॰/1316 ई॰)
8.	अबू-सईद	(716 हि॰/1316 ई॰—736 हि॰/1335 ई॰)

इसके बाद ईलख़ानियों का पतन शुरू हो गया और 750 हि॰/1349 ई॰ में उनकी हुकूमत ख़त्म हो गई। 736 हि॰ के बाद मंगोल-सरदार जलायर

हसन बुज़ुर्ग और अमीर हसन कोचक चौपान अपने-अपने बादशाह नियुक्त करते रहे। इस सिलसिले का अन्तिम बादशाह नौशेरवाँ था, जो 745 हि॰/1344 ई॰ में गद्दी पर बैठाया गया।

फ़ारिस के अताबकान (सलफ़रिया)

(543 हि॰/1148 ई॰–686 हि॰/1284 ई॰)

1. सुनक़र-बिन-मौदूद (543 हि॰/1148 ई॰–557 हि॰/1161 ई॰)
2. ज़ंगी-बिन-मौदूद (557 हि॰/1161 ई॰–571 हि॰/1175 ई॰)
3. मुज़फ़्फ़रुद्दीन तकला-बिन-ज़ंगी (571 हि॰/1175 ई॰–590 हि॰/1194 ई॰)
4. तफ़रल-बिन-सुनक़र (590 हि॰/1194 ई॰–599 हि॰/1203 ई॰)
5. सअद-बिन-ज़ंगी (599 हि॰/1203 ई॰–628 हि॰/1231 ई॰)
6. अबू-बक्र-बिन-सअद (628 हि॰/1231 ई॰–658 हि॰/1260 ई॰)

   इसे उगदाई ख़ाँ ने 'कुतलग़ ख़ाँ'' का ख़िताब दिया था।
7. मुहम्मद-बिन-सअद (658 हि॰/1260 ई॰–660 हि॰/1262 ई॰)
8. मुहम्मद शाह (660 हि॰/1262 ई॰–661 हि॰/1263 ई॰)
9. सलजूक़ शाह-बिन-सुनक़र (661 हि॰/1263 ई॰–663 हि॰/1264 ई॰)

फ़ारिस के अताबकान 1256 ई॰ से मंगोलों के अधीनस्थ हो गए थे। मंगोलों ने जब सलजूक़ शाह को क़त्ल कर दिया तो इस ख़ानदान की एक महिला आबिश ख़ातून को एक साल तक गद्दी पर बैठाया। इसके बाद हलाकू के चौथे बेटे मंगू तैमूर ने उससे शादी कर ली और उसके नाम से 683 हि॰/1284 ई॰ में उसकी मृत्यु तक शासन किया। उसके बाद सलफ़री ख़ानदान का अन्त हो गया।

[यहाँ सालों का निर्धारण लेनपूल की 'Muslim Dynasties' और इन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ इस्लाम (अंग्रेज़ी), भाग-4 के आलेख Salghurides के अनुसार किया गया है। हिजरी सालों का निर्धारण कई जगह मैंने जंत्री (तिथि-पत्र) की मदद से किया है। लेनपूल ने हिजरी सन् सही नहीं दिए हैं—लेखक]

प्रमुख घटनाएँ

654 हि॰/1256 ई॰ – हलाकू ख़ाँ ने क़िलाउल-मौत पर विजय प्राप्त करके बातिनी (इसमाईली) शासन का अन्त कर दिया।

656 हि॰/1258 ई॰ – (ज़िल-हज्जा दिसम्बर) बग़दाद पर क़ब्ज़ा।

658 हि॰/1260 ई॰ – (25 रमज़ान) ऐन जालूत नामक स्थल पर गुलाम शासकों ने मंगोल-सेना को पराजित किया।

678 हि॰/1280 ई॰–अबाक़ा ख़ान का शाम (सीरिया) पर हमला, मंसूर क़लाऊन ने मंगोल-लश्कर को हराया।

681 हि॰/1282 ई॰ – मंगोल-हुक्मरान नकोदार अग़लन ने इस्लाम क़बूल किया और अहमद ख़ान नाम रखा।

684 हि॰/1285 ई॰ – ईलख़ानी वज़ीर ख़ुवाजा शमसुद्दीन का क़त्ल।

694 हि॰/1295 ई॰ – (4 शाबान/19 जून) ग़ाज़ान ख़ान ने इस्लाम क़बूल किया।

699 हि॰/1299 ई॰ – ग़ाज़ान ख़ाँ ने दिमश्क़ पर क़ब्ज़ा किया।

702 हि॰/1303 ई॰ – (25 रमज़ान) मरजे-सुफ़्र की जंग में गुलाम राजाओं ने ग़ाज़ान ख़ाँ की सेना को पराजित करके शाम (सीरिया) से मंगोलों को निकाल दिया।

718 हि॰/1318 ई॰ – प्रधानमंत्री रशीदुद्दीन फ़ज़्लुल्लाह को क़त्ल कर दिया गया।

अध्याय-4

काली भेड़वाले और सफ़ेद भेड़वाले

(715 हि॰/1315 ई॰–908 हि॰/1502 ई॰)

ईलख़ानी शासन की समाप्ति के बाद ईलख़ानी इलाक़ों में कई आज़ाद हुकूमतें क़ायम हो गईं, जिनमें चार हुकूमतें उल्लेखनीय हैं। दक्षिणी ईरान में मुज़फ़्फ़र-वंश का शासन, इराक़ में जलायर-वंश का शासन, उत्तरी ईरान और पूर्वी अनातोलिया में क़ुरह कोवियूनलू और आक़ कोवियूनलू-क़बीलों का शासन। इनमें अन्तिम दो क़बीलों के झंडों पर काली और सफ़ेद भेड़ की आकृतियाँ बनी हुई थीं, इसलिए उन्हें क़ुरह कोवियूनलू यानी काली भेड़वाले और आक़ कोवियूनलू यानी सफ़ेद भेड़वाले कहा जाता है। तुर्की भाषा में 'क़ुरह' काले को और 'आक' सफ़ेद को कहते हैं, और कोवियून भेड़ को कहते हैं।

मुज़फ़्फ़र-वंश (715 हि॰/1315 ई॰–795 हिं॰1393 ई॰)

इस शासन का संस्थापक एक ईरानी सरदार मुज़फ़्फ़र था जो ईलख़ानी शासन की ओर से शहर 'यज़्द' का प्रशासक था। 715 हि॰/1315 ई॰ में सुल्तान अबू-सईद ने उसके लड़के मुबारिज़ुद्दीन मुहम्मद (715 हि॰/1315 ई॰ से 758 हि॰/1357 ई॰) को यज़्द और फ़ारिस की सत्ता प्रदान की, और वह ईलख़ानियों के पतन के बाद स्वतंत्र हो गया। उसने 741 हि॰/1340 ई॰ में किरमान पर, 754 हि॰/1353 ई॰ में शीराज़ और फ़ारिस पर, 758 हि॰/1357 ई॰ में इस्फ़हान पर क़ब्ज़ा कर लिया। मुबारिज़ुद्दीन का दौर इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि उसने शराबख़ोरी और दूसरी बुराइयों को, जो शीराज़ में उस ज़माने में आम हो गई थीं, रोका और इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सख़्त क़ानून लागू किए।

मुबारिज़ुद्दीन के बाद शाह शुजाअ (758 हि॰/1357 ई॰–786 हि॰/1384 ई॰) उसका उत्तराधिकारी हुआ, जो इस ख़ानदान का सबसे प्रसिद्ध शासक

है। उसने इराक़ के जलायर-शासक सुल्तान उवैस की 1375 ई॰ में मृत्यु के बाद शुतुर, बग़दाद, सुल्तानिया, तबरीज़, नख़च्वान और क़ुरहबाग़ पर भी क़ब्ज़ा कर लिया, और इस प्रकार उसका ख़ुरासान को छोड़कर सम्पूर्ण ईरान पर क़ब्ज़ा हो गया। यह वह ज़माना था जब तैमूर समरक़न्द में एक मज़बूत हुकूमत क़ायम कर चुका था और ख़ुरासान पर उसका क़ब्ज़ा हो चुका था। शाह शुजाअ ने उसकी बढ़ती हुई ताक़त का अन्दाज़ा लगाकर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

शाह शुजाअ के बाद उसका उत्तराधिकारी ज़ैनुल-आबिदीन (786 हि॰/1384 ई॰–789 हि॰/1387 ई॰) मात्र तीन साल शासक रहा। 1387 ई॰ में तैमूर ने उसे सत्ताच्यूत कर दिया। इसके बाद मुज़फ़्फ़र-वंश के शहज़ादों में गृह-युद्ध शुरू हो गया। यज़्द में शाह यह्या, किरमान में सुल्तान अहमद, और इस्फ़हान में शाह मंसूर शासन करने लगे। इस गृह-युद्ध से लाभ उठाकर तैमूर ने 795 हि॰/1393 ई॰ में मुज़फ़्फ़र-वंश के शासन का अन्त कर दिया।

मुज़फ़्फ़र-वंश ज्ञान-विज्ञान और साहित्य के संरक्षक थे। मशहूर शायर हाफ़िज़ शीराज़ी (715 हि॰/1315 ई॰–793 हि॰/1390 ई॰) का शाह शुजाअ के दरबार से सम्बन्ध था। हाफ़िज़ फ़ारिसी के सबसे बड़े ग़ज़लगो (ग़ज़ल कहनेवाले) शायर हैं। उनके अलावा और भी विद्वान उसके दरबार से सम्बद्ध थे। फ़ारिसी के सबसे बड़े हिजोगो (निन्दा वर्णन करनेवाले और व्यंग्य-कवि) उबैद ज़ाकानी (मृत्यु-1371 ई॰) का भी उसी दौर से सम्बन्ध है। उसकी किताब 'अख़लाक़ुल-अशराफ़' व्यंग्य-विधा की उच्च कोटि की कृति है। इसके अध्ययन से पता चलता है कि उस ज़माने में ईरानवासी नैतिक दृष्टि से कितने गिरे हुए थे।

जलायर (740 हि॰/1339 ई॰–813 हि॰/1410 ई॰)

जलायर-क़बीले ईलख़ानियों ही की एक शाखा थे और नस्ल के आधार पर मंगोल थे। जब ईलख़ानी सुल्तान अबू-सईद की मृत्यु हुई तो सरदार और मंत्री केन्द्र की सत्ता पर क़ाबिज़ हो गए। वे जिसे चाहते राजगद्दी पर बैठाते और जिसे चाहते राजगद्दी से उतार देते। उनमें जलायर-सरदार शैख़ हसन

बुज़ुर्ग ने बड़ी शक्ति हासिल कर ली और वह ईलख़ानी शासकों को कठपुतली की तरह नचाता था। जब अन्तिम ईलख़ानी शासक नौशेरवाँ मर गया तो हसन बुज़ुर्ग (740 हि॰/1339 ई॰–757 हि॰/1356 ई॰) ने इराक़ पर अधिकार कर लिया और बग़दाद को राजधानी बनकार एक अलग सत्ता स्थापित कर ली।

हसन बुज़ुर्ग के बाद उसका लड़का उवैस ख़ाँ (757 हि॰/1356 ई॰–775 हि॰/1374 ई॰) राजगद्दी पर बैठा। 759 हि॰ में उसने तुर्कमानों से, जो आज़रबाइजान और पूर्वी अनातोलिया पर क़ब्ज़ा किए हुए थे, तबरीज़ और आज़रबाइजान छीन लिया और 766 हि॰ में मूसल (मूसिल) और दयारे-बकर पर भी क़ब्ज़ा कर लिया।

उवैस के उत्तराधिकारी हुसैन (775 हि॰/1374 ई॰–784 हि॰/1382 ई॰) की काली भेड़वाले (क़ुरह क़ोवियूनलू) तुर्कमानों से जो आरमीनिया के दक्षिणी भाग पर शासन करते थे और मुज़फ़्फ़र-वंश से लड़ाइयाँ रहीं। तुर्कमानों से तो 779 हि॰ में उसकी सुलह हो गई लेकिन मुज़फ़्फ़र-वंश के शासक शाह शुजाअ ने उसे आज़रबाइजान और इराक़ के एक बड़े भाग से कुछ समय के लिए बेदख़ल कर दिया।

हुसैन के बाद उसका राज्य दो बेटों में इस प्रकार बँट गया कि इराक़ और आज़रबाइजान सुल्तान अहमद (786 हि॰/1382 ई॰–813 हि॰/1410 ई॰) को और कुर्दिस्तान बायज़ीद को मिला। सुल्तान अहमद को शान्तिपूर्वक शासन करने का अवसर नहीं मिला। तैमूर के सफल आक्रमणों का सिलसिला आज़रबाइजान तक पहुँच चुका था और उसने 796 हि॰/1393 ई॰ में बग़दाद और इराक़ पर भी अधिकार कर लिया। सुल्तान अहमद भागकर मिस्र चला गया। इसके बाद यह होता था कि जब तैमूर बग़दाद से चला जाता था तो सुल्तान अहमद मिस्र की हुकूमत की मदद से बग़दाद पर क़ब्ज़ा जमा लेता और जब तैमूर लौटकर उसकी ओर आता तो वह फिर भाग जाता था। आख़िर में वह बग़दाद पर क़ाबिज़ हो गया था लेकिन आज़रबाइजान पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश में वह क़ुरह कोवियूनलू-शासक क़ुरह यूसुफ़ ख़ान के हाथों 813 हि॰ में पराजित होकर मारा गया। उसके बाद उसका भतीजा

शाह वल्द बग़दाद में उत्तराधिकारी बना, लेकिन अगले साल (814 हि॰) में काली भेड़वाले तुर्कमानों ने बग़दाद पर क़ब्ज़ा करके जलायर-ख़ानदान के शासन का अन्त कर दिया। जलायर की एक शाखा इसके बाद भी 829 हि॰ तक बसरा, वासित और शुसतर के इलाक़े पर शासन करती रही, लेकिन वह तैमूरी सल्तनत के अधीनस्थ रही। अन्ततः इस शासन को भी काली भेड़वालों ने समाप्त कर दिया।

जलायर का शासनकाल विकास और जनकल्याण के कामों की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता। फ़ारिसी के मशहूर क़सीदागो (प्रशंसा-गीत कहनेवाले) मुसलमान सावजी (मृत्यु-1378 ई॰) और अरब-इतिहासकार इब्ने-अरब शाह (1388 ई॰—1450 ई॰) का जलायर के दरबार से सम्बन्ध था। इब्ने-अरब शाह का इतिहास-ग्रंथ 'अजाइबुल-मक़दूर' उस दौर के इतिहास, विशेषकर अमीर तैमूर के हालात, का बहुमूल्य स्रोत है। यह अरबी भाषा में है और इसमें तैमूर की निन्दा की गई है। अमीर तैमूर बग़दाद पर अधिकार करने के बाद, इब्ने-अरब शाह को समरक़न्द ले गया था। अहमद जलायर ने फ़ारिसी के शायर हाफ़िज़ शीराज़ी की सरपरस्ती भी की थी।

क़ुरह-कोवियूनलू (काली भेड़वाले)

(777 हि॰/1375 ई॰–873 हि॰/1468 ई॰)

तुर्कमानों के इस शासक-वंश का संस्थापक ख़्वाजा बैरम (777 हि॰/1375 ई॰—782 हि॰/1380 ई॰) था, जो जलायर-सुल्तान उवैस का एक पदाधिकारी था। उवैस की मृत्यु के बाद उसने मूसल और सन्जार पर अधिकार करके अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली। ख़्वाजा बैरम के मरने के बाद उसका लड़का क़ुरह मुहम्मद (782 हि॰/1380 ई॰—792 हि॰/1390 ई॰) उत्तराधिकारी हुआ। उसके बाद क़ुरह मुहम्मंद का लड़का क़ुरह यूसुफ़ (792 हि॰/1390 ई॰—822 हि॰/1419 ई॰) शासक हुआ। वास्तव में वही इस वंश का संस्थापक और सबसे पहला प्रमुख शासक है। उसने तबरीज़ पर अधिकार करके उसको अपनी राजधानी बनाया। अमीर तैमूर से उसकी कई बार लड़ाइयाँ हुईं। तैमूर ने उसे कई बार तबरीज़ से बेदख़ल कर दिया और उसने

पहले उसमानी सुल्तान बायज़ीद के पास और फिर मिस्र के गुलाम राजा के दरबार में शरण ली। परन्तु वह जितनी बार देश से निकाला गया उतनी ही बार फिर वापस आ गया। तैमूर के बाद दयारे-बकर और तबरेज़ पर 809 हि॰/1406 ई॰ में फिर अधिकार कर लिया। उसने 813 हि॰/1410 ई॰ में जलायर-सुल्तान अहमद को पराजित करके क़त्ल कर दिया और अगले साल बग़दाद पर अधिकार करके जलायर-वंश की सत्ता समाप्त कर दी।

क़ुरह यूसुफ़ का उत्तराधिकारी अमीर इसकन्दर (822 हि॰/1419 ई॰–838 हि॰/1434 ई॰) हुआ और उसके बाद जहाँशाह गद्दी पर बैठा। क़ुरह कोवियूनलू (काली भेड़वालों) की तैमूर के उत्तराधिकारी सुल्तान शाहरुख़ से लड़ाइयाँ जारी रहीं। ये तुर्कमान तैमूरियों की अधीनता स्वीकार कर लेते थे, लेकिन फ़िर बाग़ी हो जाते थे। जहाँशाह जिसे शाहरुख़ ने गद्दी पर बैठाया था, इस वंश का सबसे बड़ा शासक है। उसने 839 हि॰/1435 ई॰–871 हि॰/1466 ई॰ तक शासन किया। शाहरुख़ के मरने के बाद उसने इस्फ़हान, फ़ारिस और किरमान पर अधिकार कर लिया। 862 हि॰/1458 ई॰ में उसने ख़ुरासान पर भी अधिकार कर लिया। परन्तु तैमूरी सुल्तान अबू-सईद से समझौते के बाद ख़ुरासान से क़ब्ज़ा हटा लिया। आख़िरी ज़माने में ख़ुरासान को छोड़कर लगभग सम्पूर्ण ईरान और इराक़ जहाँशाह के अधिकार में आ गया था। 871 हि॰/1466 ई॰ में एक दूसरे तुर्कमान-शासक ओज़ून हसन आक़ कोवियूनलू (सफ़ेद भेड़वालों) ने अचानक हमला करके उसे क़त्ल कर दिया और दो साल के बाद क़ुरह कोवियूनलू (काली भेड़वाले) की सत्ता को समाप्त कर दिया।

आक़ क़ोवियूनलू (सफ़ेद भेड़वाले)

(780 हि॰/1378 ई॰–908 हि॰/1502 ई॰)

ईलख़ानियों के पतन के बाद जो शासन बने उनमें सबसे सुदृढ़ एवं शक्तिशाली आक़ क़ोवियूनलू (सफ़ेद भेड़वाले) तुर्कमानों का शासन था। इस वंश का संस्थापक एक तुर्कमान क़ुरह उसमान (780 हि॰/1378 ई॰–839 हि॰/1435 ई॰) था। उसने तैमूर की अधीनता स्वीकार कर ली थी और अनक़रा की जंग (1402 ई॰) में तैमूर का साथ दिया था। इसके बदले में

तैमूर ने उसे दयारे-बकर का इलाक़ा दे दिया।

इस वंश का सबसे प्रमुख शासक ओज़ून हसन (871 हि॰/1466 ई॰–883 हि॰/1478 ई॰) हुआ है। उसने 871 हि॰ में काली भेड़वाले शासक जहाँशाह को हराकर काली भेड़वालों (क़ुरह कोवियूनलू) की सत्ता समाप्त कर दी और 873 हि॰/1468 ई॰ में तैमूरी सुल्तान अबू-सईद को भी हराकर क़त्ल कर दिया और सल्तनत को ख़ुरासान एवं हरात तक फैला लिया। अब वह सम्पूर्ण ईरान एवं पूर्वी अनातोलिया का अकेला शासक हो गया। काली भेड़वालों और तैमूरियों के विरुद्ध इन सफलताओं ने ओज़ून हसन के हौसले बढ़ा दिए और उसने शेष अनातोलिया पर भी अधिकार करना चाहा, और इस उद्देश्य से वेनिस की हुकूमत से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध क़ायम करने की कोशिश की, लेकिन अनातोलिया उसमानी सल्तनत के मशहूर शासक मुहम्मद फ़ातेह जैसे शक्तिशाली शासक के क़ब्ज़े में था। अनातोलिया के शहर इरज़िनजान के निकट 'ओतलुकबेली' (Otlukbeli) नामक स्थान पर ओज़ून हसन और मुहम्मद फ़ातेह के बीच 1473 ई॰ में एक घमासान युद्ध हुआ, जिसमें ओज़ून हसन की पराजय हुई और वह पूर्वी अनातोलिया के एक बड़े भूभाग से भी हाथ धो बैठा।

ओज़ून हसन के बाद उसका लड़का याक़ूब (883 हि॰/1478 ई॰–896 हि॰/1490 ई॰) शासक बना, जो एक अच्छा और सफल शासक था। उसके बाद आक़ कोवियूनलू (सफ़ेद भेड़वालों) का पतन प्रारम्भ हो गया। 908 हि॰/1502 ई॰ में अन्ततः नई उभरती हुई सफ़वी सल्तनत के शासक शाह इसमाईल ने इस वंश के शासन का अन्त कर दिया।

सफ़ेद भेड़वालों (आक़ कोवियूनलू) की राजधानी पहले दयारे-बकर में थी, जहाँ उस शासन-काल में कई अच्छी इमारतें बनाई गईं। बाद में तबरीज़ को राजधानी बनाया गया। इस वंश के कुछ शासकों ने ज्ञान-विज्ञान और साहित्य को प्रोत्साहन भी दिया। ईरान के मशहूर आलिम जलालुद्दीन दवानी (830 हि॰/1426 ई॰–908 हि॰/1502 ई॰) ने अपनी विश्व-प्रसिद्ध किताब 'अख़लाक़े-जलाली' सुल्तान ओज़ून हसन के नाम समर्पित की थी।

कुर्त के शासक

उपर्युक्त चार बड़ी हुकूमतों के अलावा हरात में कुर्त के शासकों की छोटी हुकूमत भी उल्लेखनीय है। कुर्त के शासकों का सम्बन्ध ग़ोर-इलाक़े से था। हरात में मंगोलों से पहले से उनकी सत्ता क़ायम थी। शुरू में उन्होंने मंगोलों की अधीनता स्वीकार कर ली, परन्तु ईलख़ानियों के पतन के बाद वे स्वतंत्र हो गए। कुर्त के शासकों का शासनकाल 643 हि॰/1245 ई॰–791 हि॰/1389 ई॰ तक है। इस वंश की हुकूमत तैमूर ने समाप्त कर दी।

कुर्त के शासक ज्ञान एवं शिक्षा-प्रेमी थे। उनके काल की सबसे बड़ी विद्वान हस्ती सअदुद्दीन तफ़ताज़ानी (722 हि॰/1322 ई॰–792 हि॰/1390 ई॰) की है। वे एक प्रमुख तुर्क-आलिम (विद्वान) थे और तर्क-शास्त्र एवं न्याय-शास्त्र की सोलह किताबों के लेखक थे। उन्होंने सअदी की बूस्ताँ का तुर्की भाषा के पद्य में अनुवाद किया था।

जलायर-वंश के शासक (740 हि॰/1339 ई॰–813 हि॰/1410 ई॰)

1. हसन बुज़ुर्ग : 740 हि॰/1339 ई॰–757 हि॰/1356 ई॰
2. उवैस : 757 हि॰/1356 ई॰–775 हि॰/1374 ई॰
3. हुसैन : 775 हि॰/1374 ई॰–786 हि॰/1382 ई॰
4. अहमद : 786 हि॰/1382 ई॰–813 हि॰/1410 ई॰

मुज़फ़्फ़र-वंश के शासक (715 हि॰/1315 ई॰–795 हि॰/1393 ई॰)

1. मुबारिज़ुद्दीन मुहम्मद: 715 हि॰/1315 ई॰–759 हि॰/1357 ई॰
2. शाह शुजाअ : 759 हि॰/1357 ई॰–786 हि॰/1384 ई॰
3. ज़ैनुल-आबिदीन : 786 हि॰/1384 ई॰–789 हि॰/1387 ई॰
   (तैमूर ने निष्कासन करके शीराज़ पर क़ब्ज़ा कर लिया)
4. शाह यह्या : 789 हि॰/1387 ई॰–यज़्द में हुक्मराँ
5. सुल्तान अहमद : 789 हि॰/1387 ई॰–किरमान में हुक्मराँ
6. शाह मंसूर : 789 हि॰/1387 ई॰–795 हि॰/1393 ई॰–इस्फ़हान में हुक्मराँ।

काली भेड़वाले (क़ुरह क़ोवियूनलू)

(777 हि॰/1375 ई॰–870 हि॰/1466 ई॰)

1. बैरम ख़्वाजा : 777 हि॰/1375 ई॰–782 हि॰/1380 ई॰
2. क़ुरह मुहम्मद : 782 हि॰/1380 ई॰–792 हि॰/1390 ई॰
3. क़ुरह यूसुफ़ : 792 हि॰/1390 ई॰–822 हि॰/1419 ई॰
4. अमीर इसकंदर : 822 हि॰/1419 ई॰–838 हि॰/1434 ई॰
5. जहाँशाह : 839 हि॰/1435 ई॰–870 हि॰/1466 ई॰

सफ़ेद भेड़वाले (आक़ कोवियूनलू)

(805 हि॰/1402 ई॰–914 हि॰/1508 ई॰)

1. फ़ख़रुद्दीन क़ुरह यूलूक़ उसमान : 805 हि॰/1402 ई॰–839 हि॰/1435 ई॰
2. अली जलालुद्दीन : 839 हि॰/1435 ई॰–842 हि॰/1438 ई॰
3. नूरुद्दीन हमज़ा : 842 हि॰/1438 ई॰–848 हि॰/1444 ई॰
4. जहाँगीर : 848 हि॰/1444 ई॰–857 हि॰/1453 ई॰
5. ओज़ून हसन (नुस्रतुद्दीन अबू-नस्र) : 857 हि॰/1453 ई॰–882 हि॰/1478 ई॰
6. याक़ूब : 882 हि॰/1478 ई॰–896 हि॰/1490 ई॰
7. बाइसन्क़र : 896 हि॰/1490 ई॰–897 हि॰/1492 ई॰
8. रुस्तम : 897 हि॰/1492 ई॰–902 हि॰/1497 ई॰
9. अहमद : 902 हि॰/1497 ई॰–903 हि॰/1498 ई॰
10. मुहम्मद मिर्ज़ा : 903 हि॰/1498 ई॰–905 हि॰/1500 ई॰
11. सुल्तान अलवन्द : 903 हि॰/1498 ई॰–910 हि॰/1504 ई॰
12. सुल्तान मुराद : 903 हि॰/1498 ई॰–914 हि॰/1508 ई॰

अहमद के बाद मुहम्मद मिर्ज़ा, अलवन्द और मुराद में लड़ाइयाँ जारी रहीं। अन्ततः इसमाईल सफ़वी ने इस वंश का अन्त कर दिया। मुराद पराजित होकर बग़दाद भाग गया, जहाँ उसने साढ़े चार साल और राज किया।

मध्य एशिया के तैमूर-वंश के शासक

(771 हि॰/1366 ई॰–913 हि॰/1507 ई॰)

ईलख़ानियों के बाद क़ायम होनेवाली वे सभी हुकूमतें जिनका वर्णन पिछले अध्याय में हो चुका है, चौदहवीं सदी ईसवी के अन्त में विस्तृत तैमूरी सल्तनत का अंग बना ली गईं या उसकी अधीनस्थ होकर ख़िराज देने लगीं।

1. अमीर तैमूर (771 हि॰/1366 ई॰–807 हि॰/1405 ई॰)

तैमूरी सल्तनत का संस्थापक तैमूर एक तुर्क-क़बीले बरलास से सम्बन्ध रखता था, जिसका चंगेज़ ख़ाँ के ख़ानदान से क़रीबी सम्बन्ध था। प्राचीन काल के एक समझौते के अनुसार हुकूमत की देखरेख चंगेज़ ख़ाँ के ख़ानदान से सम्बद्ध थी, और सिपहसालारी अर्थात् सैनिक-व्यवस्था का सम्बन्ध बरलास के ख़ानदान से था। तैमूर जैहून-नदी के उत्तरी तट पर स्थित शहर 'सब्ज़' में जिसे 'किश' भी कहते थे, 736 हि॰/1336 ई॰ में पैदा हुआ। यह क्षेत्र उस समय चुग़ताई सल्तनत में शामिल था, जो अपने पतन की ओर बढ़ रही थी। चुग़ताई शासक बेबस हो चुके थे और हर जगह मंगोल एवं तुर्क सरदार सत्ता हासिल करने के लिए एक-दूसरे से लड़ रहे थे। तैमूर ने, जो एक अच्छा सिपाही और बेमिसाल सिपहसालार था, इन परिस्थितियों से लाभ उठाया और सभी स्थानीय सरदारों को हराने के बाद 771 ई॰/1366 ई॰ में बल्ख़ में सत्तासीन हुआ। उस समय तक वह तुर्किस्तान एवं वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान के एक बड़े भूभाग पर अधिकार कर चुका था। गद्दी पर बैठने के बाद उसने 'साहबे-क़िरान'[1] की उपाधि धारण की। तैमूर यद्यपि अब

1. ज्योतिष-विज्ञान के अनुसार वह व्यक्ति साहबे-क़िरान कहलाता है जिसकी पैदाइश के समय जुहरा (शुक्र-ग्रह) और मुश्तरी (बृहस्पति) या ज़ुहल (शनि-ग्रह) और मुश्तरी (बृहस्पति) एक ही बुर्ज (राशि) में हों। ऐसा व्यक्ति प्रतिष्ठावान, बहादुर और निर्भीक समझा जाता है, अर्थात् ऐसा व्यक्ति अपने समय का महानतम सम्राट होता है।

आज़ाद एवं सम्प्रभु शासक था, लेकिन उसने ख़ुद को हमेशा 'अमीर' (अर्थात् सरदार अथवा गवर्नर) कहा, क्योंकि समझौते के अनुसार शासन का हक़ चंगेज़ ख़ाँ के वंश को प्राप्त था। तैमूर ने इस उद्देश्य से काफ़ी समय तक चंगेज़ ख़ाँ के ख़ानदान के एक व्यक्ति को बादशाह बनाए रखा, परन्तु उसकी हैसियत एक कठपुतली से ज़्यादा नहीं थी।

तैमूर की सैनिक सफलता

बल्ख़ में गद्दी पर बैठने के बाद तैमूर ने उन सभी क्षेत्रों और देशों पर अधिकार करना अपना हक़ और उद्देश्य बनाया जिनपर चंगेज़ ख़ाँ की औलाद शासन कर चुकी थी। इस उद्देश्य से उसने अपने आक्रमणों एवं विजय प्राप्त करने के एक ऐसे सिलसिले की शुरुआत की जो उसकी मृत्यु तक पूरे 37 साल जारी रहा। तैमूर के प्रारम्भिक कुछ साल चुग़ताई सल्तनत के बचे-खुचे हिस्सों पर अधिकार करने में बीते। उसने 776 हि॰ में काशग़र और 781 हि॰ में ख़ुवारिज़्म को अपने अधिकार में कर लिया। उसके बाद उसने ख़ुरासान का रुख़ किया। 783 हि॰/1381 ई॰ में उसने हरात के कुर्त-ख़ानदान को अपनी अधीनता स्वीकार करने पर मजबूर किया। अगले साल नीशापुर और उसके आसपास के इलाक़े पर और 785 हि॰ में क़ंधार एवं सबिस्तान पर अधिकार किया। 788 हि॰/1386 ई॰ में उसने ईरान पर आक्रमण-अभियान का प्रारम्भ किया, जो तीन वर्षीय आक्रमण कहलाता है और इस बीच उसने माज़ंदरान से आज़रबाइजान तक पूरे उत्तरी ईरान पर अधिकार कर लिया। इस अभियान के दौरान गिरजिस्तान पर भी उसने अधिकार कर लिया।

रूस का अभियान

793 हि॰/1391 ई॰ में तैमूर ने सैरे-उरदा यानी सराय के ख़ान तोक़्तमिश के ख़िलाफ़ आक्रमण किया, जो सैनिक-दृष्टि से युद्ध-कला का एक महान कारनामा समझा जाता है। सराय के ख़ान तोक़्तमिश को साइबेरिया के आक़ औरदा-ख़ानदान के शासक उरुस ख़ान ने गद्दी से बेदख़ल कर दिया था। तैमूर ने तोक़्तमिश की मदद की और उसे दोबारा गद्दी दिलाई, लेकिन

तोक़्तमिश ख़ुवारिज़्म को अपनी सल्तनत का एक हिस्सा समझता था, इसलिए उसने तैमूर का उपकार मानने के बजाय तैमूर से ख़ुवारिज़्म की वापसी की माँग करने लगा। ख़ुवारिज़्म दोनों शासकों के बीच एक स्थायी विवाद बन गया, और उसे प्राप्त करने के लिए तोक़्तमिश बार-बार तैमूरी सल्तनत पर आक्रमण करने लगा। कभी सैरे-दरिया और ख़ुवारिज़्म के मार्ग से और कभी क़फ़क़ाज़ एवं आज़रबाइजान के रास्ते से। तैमूर ने तोक़्तमिश का सिर कुचलने के लिए दो बार रूस पर आक्रमण किया। उनमें पहला आक्रमण (793 हि॰/1391 ई॰) में सैरे-दरिया यानी जैहून-नदी के रास्ते किया गया। तैमूर अपनी विशाल सेना को क़ज़ाकिस्तान के रास्ते दक्षिणी अरतश एवं यूराल तक सुनसान, शुष्क एवं बर्फ़ीले मैदानों से सफलतापूर्वक गुज़ारकर ले गया, और कंदज़ज़ा-नदी के किनारे मौजूद समारह के निकट 18 अप्रैल 1391 ई॰ (793 हि॰) को तोक़्तमिश को एक घमासान युद्ध में पराजित किया।

रूस के अभियान से वापसी के बाद तैमूर ने ईरान में नए आक्रमण का प्रारम्भ किया जो पंचवर्षीय आक्रमण कहलाता है। इस अभियान के दौरान उसने हमदान, इस्फ़हान और शीराज़ पर विजय प्राप्त की। मुज़फ़्फ़र-वंश के शासन को समाप्त किया और बग़दाद एवं इराक़ से अहमद जलायर को बेदख़ल किया। इस प्रकार उसने पूरे ईरान एवं इराक़ पर अधिकार कर लिया। तैमूर ईरान के अभियान को समाप्त करके अभी तबरीज़ वापस आया ही था कि उसे ख़बर मिली कि तोक़्तमिश ने दरबन्द के रास्ते फिर हमला कर दिया है। तैमूर ने तैरक-नदी के किनारे 15 अप्रैल 1395 ई॰(797 हि॰) को एक बार फिर तोक़्तमिश को बुरी तरह पराजित किया। इसके बाद तैमूर ने आगे बढ़कर सैरे-ओरदा की राजधानी सराय को तबाह व बरबाद कर दिया और उसकी ईंट-से-ईंट बजा दी। इस अभियान में तैमूर उस्तरख़ान, मास्कोकेफ़ और क्रीमिया के शहरों को जीतता हुआ और तबाही फैलाता हुआ क़फ़क़ाज़, गिरजिस्तान एवं तबरीज़ के रास्ते 798 हि॰ में समरक़ंद वापस आ गया।

भारत पर आक्रमण

801 हि०/1398 ई० में तैमूर भारत पर विजय प्राप्त करने के इरादे से रवाना हुआ। मुल्तान और दीपालपुर होता हुआ दिसम्बर 1398 ई० (801 हि०) में दिल्ली पहुँचा। दिल्ली पर विजय प्राप्त करके क़त्ले-आम करता हुआ मेरठ पहुँचा। वहाँ से यमुना-नदी की ऊपरी घाटी में स्थित हरिद्वार में, जो हिन्दुओं का पवित्र स्थान है, लोगों का यह समझकर क़त्ले-आम किया कि ग़ैर-मुस्लिमों को मारकर सवाब (पुण्य) कमाया जा रहा है। इस स्थान पर तैमूर को अपनी सल्तनत की पश्चिमी सीमा से चिन्ताजनक ख़बरें मिलीं। अहमद जलायर सुल्ताने-मिस्र की मदद से दोबारा बग़दाद वापस आ गया था, तथा उसके और क़ुरह यूसुफ़ तुर्कमान के बहकावे में आकर उसमानी सुल्तान बायज़ीद यल्दरम उन सबके साथ मिलकर तैमूर के विरुद्ध मोर्चा बना रहा था। अतः तैमूर तुरन्त समरक़ंद वापस आ गया।

समरक़न्द से तैमूर 801 हि०/1399 ई० में अपने अन्तिम और लम्बे अभियान पर रवाना हुआ। तबरीज़ पहुँचकर उसने मिस्र के सुल्तान के पास दूत भेजे, जिन्हें मार डाला गया। अतः तैमूर मिस्र के सुल्तान को सबक़ सिखाने के लिए रवाना हुआ जो अहमद जलायर को मदद और प्रोत्साहन देता था। वह स्पोरस, हल्ब, हमाह, हिम्स और बअलबक को जीतता हुआ दिमश्क़ पहुँचा और अपनी परम्परा के अनुसार लोगों का क़त्ले-आम किया और शहर में आग लगा दी। इसके बाद वह बग़दाद आया, परन्तु अहमद जलायर उसके बग़दाद पहुँचने से पहले ही फ़रार हो गया था।

अंक़रा का युद्ध

इस बीच सुल्तान बायज़ीद ने अहमद जलायर और क़ुरह यूसुफ़ की प्रेरणा से, जो उसके पास शरण लिए हुए थे, अनातोलिया में तैमूरी इलाक़ों पर हमला किया। तैमूर ने आपसी विवाद को पत्राचार के द्वारा हल करना चाहा, परन्तु जब इसमें सफलता नहीं मिली तो उसने उसमानी सल्तनत पर आक्रमण कर दिया। स्पोरस की प्रतिरक्षा करनेवाले चार हज़ार सिपाहियों को जीवित दफ़न कर दिया। बायज़ीद उस समय क़ुस्तनतीनिया (इस्तंबोल) का

घेराव करने में व्यस्त था। तैमूर के हमले की सूचना मिली तो घेराव उठाकर तुरन्त अनातोलिया की ओर रवाना हुआ। अंक़रा के निकट 21 जुलाई, 1402 ई॰ (804 हि॰) को निर्णायक युद्ध हुआ, और बायज़ीद पराजित होकर बन्धी बना लिया गया। तैमूर उसके साथ आदर एवं मान-सम्मान से पेश आया। यह कथन कि तैमूर ने उसे पिंजरे में क़ैद कर दिया था और अपने साथ-साथ लिए फिरता था, बिलकुल ग़लत है। अंक़रा के युद्ध के बाद तैमूर की फ़ौज ने बरूसा और अज़मीर तक सम्पूर्ण अनातोलिया को उजाड़ डाला। मिस्र के ग़ुलाम-वंश के बादशाह को जब सूचना मिली कि तैमूर ने बायज़ीद जैसे शक्तिशाली शासक को पराजित करके बन्धी बना लिया है तो उसने दूत भेजकर तैमूर की अधीनता स्वीकार कर ली। मिस्र में तैमूर के नाम का सिक्का ढाला और मक्का एवं मदीना में उसके नाम का ख़ुत्बा (जुमा के पूर्व का अभिभाषण) पढ़ने का हुक्म दिया गया।

समरक़न्द वापस आने के बाद तैमूर ने चीन पर हमले की तैयारियाँ शुरू कर दीं। चीन भी एक ज़माने में चंगेज़ ख़ाँ की औलाद के क़ब्ज़े में रह चुका था। इसलिए तैमूर उसपर भी अपना हक़ समझता था। इसके अतिरिक्त तैमूर चीन के विधर्मियों के साथ युद्ध करके उस ख़ून-ख़राबे का बदला लेना चाहता था, जिसका शिकार अब तक केवल मुसलमान हुए थे। जाड़े का मौसम अपने चरम पर था और तैमूर बूढ़ा हो चुका था। सैरे-दरिया जो अब बिलकुल जम चुका था, को पार करके जब वह इतरार पहुँचा तो उसकी तबियत ख़राब हो गई और उसी स्थान पर 18 फ़रवरी 1405 ई॰ (807 हि॰) में उसकी मृत्यु हो गई। उसकी लाश समरक़न्द लाकर दफ़न कर दी गई। लड़ाइयों में ज़ख़्म खाने के कारण तैमूर का दाहिना हाथ सुन्न हो गया था और दाहिने पाँव में लंगड़ाहट थी, इसलिए विरोधी इतिहासकार उसका उपहास करते हुए तैमूर लंग लिखते थे।

तैमूर : विजेता और शासक के रूप में

विजयों के विस्तार की दृष्टि से तैमूर की गिनती सिकन्दर महान और चंगेज़ ख़ाँ के साथ दुनिया के तीन सबसे बड़े विजेता सिपहसालारों में होती

है। विजयों की अधिकता में वह शायद चंगेज़ से भी आगे निकल गया था। चंगेज़ के जीते हुए इलाक़े का विस्तार पूरब से पश्चिम तक बहुत अधिक था, परन्तु उत्तर से दक्षिण का विस्तार तैमूर के मुक़ाबले में कम था। साथ ही चंगेज़ की सल्तनत का एक बड़ा हिस्सा उसके सिपहसालारों ने जीता था, जबकि तैमूर दिल्ली से अज़मीर तक और मास्को से दिमश्क़ एवं शीराज़ तक हर जगह खुद गया, और हर युद्ध में खुद शामिल रहा। चंगेज़ युद्ध की योजना अच्छी बना सकता था। जबकि तैमूर युद्ध क्षेत्र में फ़ौजों को लड़ाने में उस्ताद था।[1] किसी शहर का घेराव करने की कला का भी उस्ताद माना गया है। कलात और तिकरित (1393 ई॰/796 हि॰) जैसे दुर्भेद्य पहाड़ी क़िलों को भेदकर विजय प्राप्त करना, उसकी इस योग्यता का सबसे बड़ा सुबूत समझा जाता है।

तैमूर की सिपहसालार के रूप में आश्चर्यजनक योग्यताओं एवं प्रतिभा से इनकार नहीं किया जा सकता, परन्तु उसने इस ईश-प्रदत्त क्षमता एवं प्रतिभा से जो काम लिया, वह इस्लामी स्प्रिट के विपरीत था। उसके सारे अभियानों का उद्देश्य अपनी व्यक्तिगत प्रसिद्धी के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। इस दृष्टि से उसे ख़ालिद-बिन-वलीद, महमूद ग़ज़नवी, तुग़रल और सलाहुद्दीन के समकक्ष नहीं रखा जा सकता। वह बदला लेने के मामले में भी बहुत कठोर था। विरोध के स्वर को सहन नहीं कर सकता था। वह मुसलमान होने के बावजूद ख़ून-ख़राबे और क्रूरता में चंगेज़ और हलाकू से कम नहीं था। दिल्ली, इस्फ़हान, बग़दाद और दिमश्क़ में उसने जो क़त्ले-आम किए, उनमें हज़ारों बेगुनाह मारे गए। वह बदले की भावना से शहर-के-शहर खंडहर में परिवर्तित कर देता था। खुवारिज़्म, बग़दाद और सराय के साथ उसने यही किया। केवल मस्जिद, मदरसे और ख़ानक़ाहें लूटमार से सुरक्षित रहती थीं। सच्चाई यह है कि इस मामले में मंगोलों की तरह वह भी अल्लाह का अज़ाब (प्रकोप) ही था।

1. तैमूर और चंगेज़ की सैनिक योग्यता की तुलना के लिए देखिए हेरल्ड लैम्ब की किताबें 'चंगेज़ ख़ाँ' और 'तैमूर'। इन दोनों किताबों का मौलवी इनायतुल्लाह (मरहूम) ने उर्दू में अनुवाद किया है। इनमें दोनों महान विजेताओं के कारनामों की सैनिक-दृष्टिकोण से समीक्षा की गई है।

तैमूर ने अपनी सैनिक-सफलता से कोई लाभ नहीं उठाया और कोई सृजनात्मक काम नहीं कर सका। जीते हुए क्षेत्रों का एक बड़ा भूभाग ऐसा था जिसे उसने अपनी सल्तनत की शासन-व्यवस्था का अंग नहीं बनाया। उन क्षेत्रों, मुल्कों को वह स्थानीय शासकों-प्रशासकों के हवाले कर देता था, और उनसे केवल अधीनता का वादा लेकर संतुष्ट हो जाता था। फलस्वरूप अनातोलिया, शाम (सीरिया), रूस और भारत के विस्तृत जीते हुए इलाक़े, जो बड़े ख़ून-ख़राबे के बाद हासिल हुए थे, तैमूरी सल्तनत का अंग न बन सके। यदि वह इन क्षेत्रों को अपनी सल्तनत की व्यवस्था में ले आता तो दुनिया की एक महान सल्तनत अस्तित्व में आ जाती। इस मामले में चंगेज़ और मंगोल, तैमूर से अच्छे थे कि वे जिस इलाक़े को जीतते थे उसे सीधे अपनी सल्तनत का अंग बनाकर अपनी शासन-व्यवस्था लागू करते थे। उसने क़फ़क़ाज़ के इलाक़ों में लोगों को बलपूर्वक मुसलमान बनाने की कोशिश भी की जो इस्लाम की आत्मा एवं शिक्षा के विरुद्ध है।

तैमूर ने तोक़्तमिश, मिस्र के सुल्तान और बायज़ीद को पराजित करके इस्लामी दुनिया की दो बड़ी ताक़तों को ख़त्म तो कर दिया, परन्तु इससे जो शून्य पैदा हुआ उसकी क्षतिपूर्ति नहीं कर सका। यदि बायज़ीद की ताक़त ख़त्म न होती तो बलक़ान (बालकन) का इलाक़ा डेढ़ सौ साल पहले मुसलमानों के क़ब्ज़े में आ चुका होता। सराय की सत्ता की तबाही भी इस्लामी दुनिया के लिए अच्छी साबित नहीं हुई। सराय की शक्तिशाली सत्ता के ख़त्म होने से मास्को की नई शक्ति को उभरने के लिए रास्ता साफ़ हो गया। तैमूर ने रूस में तौक़्तमिश के ख़िलाफ़ और अनातोलिया और मिस्र में उसमानी सल्तनत एवं गुलाम-सल्तनत के ख़िलाफ़ जो सैनिक-कार्रवाई की, यद्यपि हम इनका दोष तैमूर पर नहीं मढ़ सकते क्योंकि उसने अपनी ओर से सुलह-समझौते के द्वारा विवाद को समाप्त करने की पूरी कोशिश की थी। लेकिन उन आक्रमणों के नतीजे में इस्लामी दुनिया को जो हानि पहुँची उससे इनकार नहीं किया जा सकता।

इस्लामी इतिहास में तैमूर का शासनकाल एक बदनुमा धब्बा है। इस काल में दुनिया को फ़ायदा बहुत कम और नुक़सान बहुत ज़्यादा पहुँचा।

शायद इसकी वजह यह थी कि तैमूर को पर्याप्त इस्लामी प्रशिक्षण नहीं मिला था, और उसका भरण-पोषण तोर-ए-चंगेज़ी (चंगेज़ी क़ानून) और अर्द्ध विकसित मंगोलों के समाज की देख-रेख में हुआ था।

फिर भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि जिस इलाक़े में तैमूर ने अपनी स्थायी सत्ता स्थापित की वहाँ उसने शान्ति-व्यवस्था, न्याय-इनसाफ़, विकास एवं ख़ुशहाली के लिए सराहनीय कोशिशें कीं। बरबाद हुए शहरों को दोबारा आबाद किया और व्यापार को आगे बढ़ाया।

तैमूर की राजधानी : समरक़न्द

राजधानी समरक़न्द पर उसने विशेष ध्यान दिया। हेरल्ड लैम्ब ने लिखा है कि जिस समय समरक़न्द पर तैमूर का क़ब्ज़ा हुआ था, वहाँ कच्ची ईंटों और लकड़ी के मकानों के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, परन्तु यही कच्ची ईंटों और लकड़ी का शहर तैमूर के हाथों में आकर एशिया का रूम बन गया। तैमूर ने हर जीते हुए इलाक़ों से कारीगरों, दस्तकारों, कलाकारों, विद्वानों और साहित्यकारों को पकड़-पकड़कर समरक़न्द में जमा किया और अपनी राजधानी को न केवल शानदार इमारतों का शहर बना दिया, बल्कि ज्ञान एवं साहित्य का केन्द्र भी बना दिया। अच्छी बात यह हुई कि उसकी औलाद ने भी उसकी इन अंतिम वर्णित परम्पराओं को जारी रखा जिसके फलस्वरूप मध्य एशिया के तैमूर-वंश के शासनकाल को इतिहास में एक अलग पहचान मिली।

तैमूर ने शहर की चहारदिवारी ठीक की। शहर के दरवाज़ों से मध्य शहर के बाज़ार 'रासुतताक' तक चौड़ी-चौड़ी सड़कें बनवा दीं, जिनका फ़र्श पत्थर का था। दक्षिण के पहाड़ पर मकान बने थे, उन्हें ढहाकर क़िला बनवाया। शहर से नदी तक सड़कें बनवा दीं। बाग़-बग़ीचों के चारों ओर दीवारें बना दीं। जगह-जगह पानी के पक्के तालाब बनवा दिए। इमारतें अब तक खाकी रंग की होती थीं लेकिन अब मकान, बुर्ज और गुम्बद फ़िरोज़ी (नीले) रंग के हो गए, और इस नीले रंग के कारण लोग समरक़न्द को 'गोककुन्द' यानी नीला शहर कहने लगे। तैमूर ने शहर में एक चिड़ियाघर भी बनाया जिसमें

जानवर प्राकृतिक परिवेश में घूमते-फिरते थे। तैमूर के ज़माने में केवल 'अरक' के इलाक़े में डेढ़ लाख की आबादी थी। यह इलाक़ा क़िला एवं उससे सटी आबादी के क्षेत्र पर अवस्थित था।

तैमूर की मृत्यु के सौ वर्ष बाद जब बाबर ने समरक़न्द देखा था, तो उस समय वह अपनी पुरानी सुन्दरता और आकर्षण को थोड़ा खो चुका था एवं पतन की ओर अग्रसर था, इसके बावजूद बाबर ने अपनी तुज़्क में उसका जो हाल लिखा है, वह बड़ा दिलचस्प है। वह लिखता है—

> "यह समरक़न्द, जो हमें अल्लाह की ओर से प्रदान किया गया, अपनी ख़ूबियों एवं विशेषताओं के आधार पर सारी दुनिया में एकमात्र चयनित नमूना है। यह शहर अमीर तैमूर की राजधानी थी। इससे पहले किसी बड़े ताजदार (बादशाह) ने इसे यह सम्मान नहीं दिया था। समरक़न्द में अंगूर, ख़रबूज़े, सेब, अनार और दूसरे प्रकार के फल होते हैं। विशेष रूप से यहाँ के अंगूर और सेब तो बहुत मशहूर हैं। सर्दियों में बड़े ज़ोर की सर्दी पड़ती है, पर काबुल जैसी बर्फ़बारी नहीं होती। जलवायु अच्छी है परन्तु गर्मी जैसी काबुल में मज़ेदार गुज़रती है ऐसी नहीं गुज़रती।"

अमीर तैमूर ने समरक़न्द को ख़ूब रौनक़ दी थी। बहुत-सी इमारतें बनवाईं और बाग़-बग़ीचे लगवाए। समरक़न्द की इमारतों में सबसे शानदार अमीर तैमूर का महल है जो 'अरक-सराय' के नाम से मशहूर है। महल के बाद यहाँ की जामा मस्जिद उच्च कोटि की है। इसकी मेहराब पर क़ुरआन की लिखी हुई आयतें इतनी सुस्पष्ट एवं बड़े-बड़े अक्षरों में लिखी हैं कि एक कोस दूर से पढ़ी जाती हैं। अमीर तैमूर के लगाए हुए दो बाग़ भी समरक़न्द के अजूबे में से हैं।

अमीर तैमूर के उत्तराधिकारियों में से मुहम्मद सुल्तान मिर्ज़ा, उलुग़ बेग मिर्ज़ा और दूसरों ने भी कई इमारतें बनवाईं, जिनमें ख़ानक़ाह बड़ी अहमियत रखती है। उसका गुम्बद इतना बड़ा है कि दुनिया में उसकी कोई मिसाल मौजूद नहीं। ख़ानक़ाह से सम्बद्ध मदरसा, यद्यपि उसमें बहुत-सी ख़ूबियाँ हैं

लेकिन उसका हम्माम (स्नानगृह) तो पूरे ख़ुरासान एवं मावराउन-नह्र में अपनी मिसाल आप है। मदरसे के दक्षिण में स्थित मस्जिद भी अपनी विशेषताओं के आधार पर उल्लेखनीय है। लकड़ी के टुकड़े ख़ूबसूरती से काट-काटकर उसकी दीवारें और छतें सजाई गई हैं। पहाड़ की तराई में एक बड़ी नक्षत्र-शाला है जहाँ 'उलग़ बेग' ने 'ज़ीचगोरगानी' नामक पुस्तक लिखी। समरक़न्द की प्रसिद्ध इमारतों में चालीस खम्भोंवाला एक भवन भी है। इस भवन से लगा हुआ एक बड़ा बाग़ीचा है जिसमें एक अजीबो-ग़रीब बारहदरी बनी है जिसका नाम 'चीनीख़ाना' है। समरक़न्द की विशेषताओं में एक विशेषता यह भी है कि यहाँ हर पेशे और उद्योग के बाज़ार अलग-अलग हैं। समरक़न्द में बहुत अच्छा काग़ज़ तैयार होता है जिसकी सारी दुनिया में माँग है। समरक़न्द के घास के मैदान भी अपनी हरियाली एवं सुन्दरता के कारण अपनी मिसाल आप हैं।"

2. तैमूर के उत्तराधिकारी

शाहरुख़ (807 हि०/1405 ई०–850 हि०/1447 ई०)

तैमूर ने अपनी सल्तनत को उस ज़माने की परम्परा के अनुसार अपनी औलाद में बाँट दिया था। आधे विजित प्रदेशों से मुँह मोड़ लेने के कारण तैमूरी सल्तनत पहले ही आधी रह गई थी,अब सल्तनत के इस बँटवारे ने उसके और अधिक टुकड़े कर दिए। आज़रबाइजान, इराक़ और उससे लगे हुए क्षेत्र मीरान शाह को मिले, और ख़ुरासान उसके सबसे छोटे बेटे शाहरुख़ को। समरक़न्द और मावराउन-नह्र ख़लील को मिले, जिसे मंत्रियों ने तैमूर का उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। किन्तु तैमूर की मृत्यु के बाद उसकी औलाद में जो गृह-युद्ध शरू हुआ, उसमें कामयाबी शाहरुख़ को प्राप्त हुई। उसने 809 हि०/1406 ई० में माज़ंदरान, उसके अगले साल सीस्तान और 811 हि०/1409 ई० में मावराउन- नह्र पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। 817 हि०/1414 ई० में शाहरुख़ ने फ़ारिस, 819 हि०/1416 ई० में किरमान भी जीत लिया। मीरान शाह ने पहले ही 808 हि०/1405 ई० में शाहरुख़ की अधीनता स्वीकार कर ली थी। इस प्रकार शाहरुख़ ने अपने पिता की मृत्यु

के 12 वर्ष बाद तैमूरी सल्तनत की सीमा को पूर्ववत कर लिया। शाहरुख़ के शासनकाल से मध्य एशिया में एक नए दौर का आरम्भ होता है। यह दौर चढ़ाई और आक्रमण का नहीं बल्कि शान्ति, ख़ुशहाली, विकास, निर्माण और ज्ञान एवं कला की उन्नति का दौर है। शाहरुख़ अपने पिता से बिलकुल भिन्न स्वभाववाला था। वह ज़ुल्म-ज़्यादती के बदले दया, प्रेम, न्याय और नेकी को पसन्द करता था। वह अल्लाह से डरनेवाला और इबादतगुज़ार शासक था। शाहरुख़ अपने स्वभाव से नेक और शरीफ़ होने के बाद भी कमज़ोर शासक नहीं था। उसने सल्तनत की एकता एवं अखण्डता की पूरी शक्ति से सुरक्षा की, और बग़ावतों को बड़ी क़ठोरता से कुचल दिया। इसके लिए उसे तीन बार तबरीज़ और तीन बार शीराज़ तक जाना पड़ा।

शाहरुख़ ने ज्ञान और साहित्य एवं कला की दिल खोलकर सरपरस्ती की। उसके शासनकाल में फ़ारिसी की कई यादगार पुस्तकें लिखी गईं। सिर्फ़ उसके दरबार में ललित कला अर्थात् भवन-निर्माण-कला, चित्रकला एवं संगीत के चार सौ अनुभवी लोग मौजूद थे। उसे इमारतें बनवाने और बाग़-बग़ीचे लगवाने में विशेष रुचि थी। उसके काल में अत्यधिक मस्जिदें, मदरसे, ख़ानक़ाहें और मुसाफ़िरख़ाने बनाए गए, और इनके निर्माण में होनेवाले ख़र्च के लिए, वक़्फ़ सम्पत्ति का निर्धारण हुआ। उसके ज्ञान-प्रेमी बेटे उलग़ बेग ने जो समरक़न्द का गवर्नर था, समरक़न्द शहर में 824 हि॰/1421 ई॰ में एक शानदार मदरसा और ख़ानक़ाह बनवाया। समरक़ंद की मशहूर वेधशाला (रसदगाह) भी, जिसमें आकाशीय पिण्डों पर शोध किया जाता था, उसी काल में निर्मित हुई।

शाहरुख़ का दूसरा बेटा 'बायेसन्फ़र' (1393 ई॰–1433 ई॰) चित्रकला और पुस्तकों की सजावट के क्षेत्र का विशेषज्ञ था। बेहतरीन 'ख़त्तात' (सुलेखक) था। उसके पुस्तकालय में चालीस ख़त्तात (Calligraphers) किताबों की प्रतिलिपि तैयार करने पर नियुक्त थे।

क़व्वामुद्दीन शीराज़ी अपने दौर के वास्तुकला का सबसे बड़ा विशेषज्ञ था। हरात और मशहद की शानदार इमारतें उसकी कला की विशेषता को साबित करने के लिए आज भी मौजूद हैं। शाहरुख़ के मंत्रियों में ख़्वाजा

ग़ियासुद्दीन का काम उल्लेखनीय है, जो तीस वर्ष तक मंत्री के पद पर रहा और ख़ुरासान एवं इराक़ में जनकल्याण के लिए बहुत-सी इमारतें बनवाईं।

शाहरुख़ ने हरात में एक बड़ा पुस्तकालय भी क़ायम किया था।

उलुग़ बेग (850 हि॰/1447 ई॰–852 हि॰/1449 ई॰)

शाहरुख़ की मृत्यु के बाद उसका नेकदिल और ज्ञान-प्रेमी लड़का उलुग़ बेग गद्दी पर बैठा। उलुग़ बेग कला एवं हुनर जाननेवालों की मदद करने तथा न्याय को लागू करने में सर्वोत्कृष्ट था। वह 814 हि॰/1411 ई॰ में मावराउन-नह्र का सूबेदार होकर समरक़न्द आया था और उसने बहुत थोड़े समय में अपने सूबे को ख़ूब आबाद और सुसज्जित बना दिया। उलुग़ बेग क़ुरआन को सातों क़िराअत (वाचन-विधि) के साथ पढ़ सकता था। वह अपने ज़माने के अधिकतर विषयों को जानता था, परन्तु गणित और नक्षत्र-विज्ञान में अद्वितीय था। उसने अपने ज़माने में जो यादगारें निर्मित कीं उनमें समरक़न्द की वेधशाला भी शामिल है। यह वेधशाला नक्षत्र-विज्ञान के दो विशेषज्ञों ग़ियासुद्दीन ज़मशेद और मुईनुद्दीन काशी की मदद से बनाई गई थी। यह मुसलमानों के उत्थान-काल की अन्तिम बड़ी वेधशाला थी जिसमें महत्वपूर्ण प्रयोग किए गए।

उलुग़ बेग अपनी सभी व्यक्तिगत ख़ूबियों के बावजूद एक कामयाब शासक साबित न हो सका। वह बग़ावतों और साज़िशों का मुक़ाबला न कर सका और उसे गद्दी पर बैठे तीन साल भी नहीं हुए थे कि उसके अयोग्य बेटे अब्दुल-लतीफ़ ने बग़ावत करके उसे क़त्ल कर दिया।

उलुग़-बेग की हत्या ने तैमूरी सल्तनत को एक बार फिर अशान्ति की भेंट चढ़ा दिया। खुद अब्दुल-लतीफ़ छह माह बाद मारा गया, लेकिन एक दूसरे तैमूरी शहज़ादे अबू-सईद मिर्ज़ा ने जो मीरान शाह के लड़के मुहम्मद मिर्ज़ा का बेटा था, जल्द ही हालात को सम्भाल लिया।

अबू-सईद (855 हि॰/1452 ई॰–872 हि॰/1467 ई॰)

सुल्तान अबू-सईद मध्य एशिया में अन्तिम शक्तिशाली तैमूरी शासक था। उसने 863 हि॰/1458 ई॰ तक ख़ुरासान, मावराउन-नह्र वर्तमान

अफ़ग़ानिस्तान, आज़रबाइजान और उत्तरी ईरान पर अपनी सत्ता मज़बूती से स्थापित की। 872 हि॰/1467 ई॰ में सुल्तान अबू-सईद क़ुरह बाग़ (आरमीनिया) के पास आक़ कोवियूनलू-शासक ओज़ून हसन के साथ एक युद्ध में मुक़ाबला करते हुए गिरफ़्तार हो गया, और ओज़ून हसन ने उसे क़त्ल करा दिया।

इतिहासकारों ने अबू-सईद की बुद्धि-विवेक, योग्यता और नेक सीरत होने की बहुत प्रशंसा की है। वह अपना समय उलमा (विद्वानों) और मशाइख़ (सूफ़ी-सन्तों) की संगति में गुज़ारता था।

अबू-सईद के बाद तैमूरी सल्तनत और सिमट गई, अब वह ख़ुरासान, अफ़ग़ानिस्तान और मावराउन-नह्र (तुर्किस्तान) तक सिमटकर रह गई और उस सीमित इलाक़े में भी तीन आज़ाद हुकूमतें क़ायम थीं।

समरक़न्द में अबू-सईद का लड़का सुल्तान अहमद उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसने 872 हि॰/1467 ई॰–899 हि॰/1494 ई॰ तक शासन किया। उसका दौर शान्तिमय रहा। व्यक्तिगत रूप से सुल्तान अहमद अच्छे आचरणवाला था, उसके दरबार में उलमा जमा रहते थे और उसने समरक़न्द में शानदार इमारतें बनवाईं, परन्तु सुल्तान अहमद पूरे मावराउन-नह्र पर भी शासक नहीं था। फ़रग़ाना में उसका दूसरा भाई उमर शैख़ मिर्ज़ा शासक था जो हिन्दुस्तान की तैमूरी सल्तनत के संस्थापक बाबर का बाप था। हरात और ख़ुरासान पर तैमूर के बेटे उमर शैख़ मिर्ज़ा के एक पोते हुसैन बायक़रा ने अधिकार कर लिया था।

हुसैन बायक़रा (872 हि॰/1467 ई॰–911 हि॰/1506 ई॰)

सुल्तान हुसैन बायक़रा जिस वक़्त हरात की गद्‌दी पर बैठा उस वक़्त ख़ुरासान के अतिरिक्त सारा ईरान तैमूरियों के हाथ से निकलकर सफ़ेद भेड़वालों (आक़ क़ोवियूनलू) के हाथ में जा चुका था और सुल्तान अहमद के बाद मावराउन-नह्र भी छोटी-छोटी रियासतों में बँट गया था जो आपस में एक दूसरे से संघर्षरत रहती थीं। उस काल में केवल हुसैन बायक़रा का राज्य ऐसा था जिसमें शान्ति और स्थायित्व पाया जाता था। सुल्तान हुसैन

बायक़रा की सल्तनत ज़्यादा बड़ी नहीं थी। फिर भी वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान, ख़ुरासान और माज़ंदरान उसकी सल्तनत में शामिल थे। हुसैन बायक़रा की मूल प्रतिष्ठा सल्तनत के विस्तार या सुदृढ़ता के कारण नहीं बल्कि उसकी प्रजा-पालकता, जनकल्याण के कामों और ज्ञान एवं कला की सरपरस्ती के कारण से है। वह मध्य एशिया में तैमूर-वंश का अन्तिम प्रमुख शासक था और शाहरुख़ के अतिरिक्त किसी तैमूर-वंश के शासक का दौर उसके दौर का मुक़ाबला नहीं कर सकता। अन्तिम समय में यदि वह अपने आचरण को भोग-विलास से दाग़दार नहीं कर लेता तो इतिहास में उसका स्थान और बुलंद होता।

उस काल के मशहूर फ़ारिसी इतिहास 'रौज़तुस्सफ़ा' के लेखक के अनुसार हुसैन बायक़रा इस्लामी शरीअत को लागू करने में हर सम्भव प्रयास करता था और बिदअत (ग़ैर-इस्लामी व्यवहार जो इस्लामी समझकर किया जाए) एवं ज़लालत (बुरे काम जिन्हें आमतौर पर सभी बुरा समझते हैं) की रोक-थाम का भरपूर प्रयास करता था। सादात (सैयद : हज़रत अली रज़ि० एवं फ़ातिमा रज़ि० के वंशज जो मुसलमानों के निकट बड़े आदरणीय हैं) उलमा एवं शायरों (साहित्यकारों) की उपेक्षा नहीं करता था। उन्हें इनाम दिया करता था। सप्ताह में दो बार सोमवार एवं वृहस्पतिवार को उलमा एवं क़ाज़ियों (Judges) की सभा बुलाता था और सभी मामलों को उनके मशवरों और फ़ैसलों के अनुसार तय करता था। दरवेशों (संतों) की संगति एवं सभा में जाकर उनके उपदेश सुनता था। मस्जिदें, मदरसे, ख़ानक़ाहें और मुसाफ़िरख़ाने बनवाने में रुचि लेता था, और उनके लिए स्थायी रूप से औक़ाफ़ की व्यवस्था की थी। ये औक़ाफ़ (अनुदान) वह अपने माल से ख़रीदकर दान देता था। उसे महल और इमारतें बनाने का शौक़ था। इसी प्रकार बाग़-बग़ीचे और फूल-पत्ती लगाने में भी उसे बड़ी दिलचस्पी थी।

हरात

सुल्तान हुसैन बायक़रा के ज़माने में हरात दुनिया का एक बड़ा शहर बन गया था। हरात की आबादी का अनुमान तैमूर के ज़माने में लगभग ढाई

लाख था। उसके बाद शाहरुख़ के ज़माने में शहर में और अधिक विस्तार हुआ। शानदार इमारतें और बाग़-बग़ीचे बनाए गए। हुसैन बायक़रा के 36 साल के शासनकाल में शहर का जो विकास हुआ उसके सम्बन्ध में बाबर ने 'तुज़्क' में लिखा है–

> "सारी दुनिया में हरात की तरह कोई दूसरा शहर नहीं था। सुल्तान हुसैन मिर्ज़ा के ज़माने में उसकी ख़ूबसूरती में दस गुना बल्कि बीस गुना बढ़ोत्तरी हो गई थी। इसके कारण मुझे हरात देखने की बड़ी तमन्ना थी।"

अतः बाबर ने हरात की अच्छी तरह सैर की। उसने अपनी किताब में शहर की जिन उल्लेखनीय इमारतों की चर्चा की है उनकी संख्या पचास से ज़्यादा है। उनमें मस्जिदें, महल, मदरसे, मक़बरे, कागज़ बनाने के कारख़ाने, पुल, बाग़, मछलियों के तालाब, जलकुण्ड, बुर्ज, ख़ानक़ाहें, अस्पताल और स्नानगृह शामिल हैं।

कहा जाता है कि तैमूर के शासनकाल में हरात में बहुत-से मदरसे, तीन हज़ार हम्माम (स्नानागार) और दस हज़ार दुकानें थीं। हो सकता है ये आंकड़े ग़लत अथवा अतिशयोक्तिपूर्ण हों, लेकिन इनसे शहर के विस्तार का ज़रूर अंदाज़ा होता है। किताब 'तैमूर' के लेखक हेरल्ड लैम्ब ने इन आंकड़ों को पेश करने के बाद लिखा है कि उस ज़माने में लंदन और पेरिस की आबादी साठ हज़ार से ज़्यादा नहीं थी, और पेरिस में मदरसे थे, हम्माम नहीं थे। इसी प्रकार तुज़्के-बाबरी के अंग्रेज़ी अनुवादक ने लिखा है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में यूरोप का अत्यन्त सभ्य एवं सुसज्जित दरबार भी अपनी शानो-शौकत में हरात के दरबार का मुक़ाबला नहीं कर सकता था।

लेकिन हरात की महानता और भव्यता उसकी शानदार इमारतों और आबादी की अधिकता के कारण नहीं है, बल्कि इस कारण है कि शाहरुख़ और हुसैन बायक़रा के ज़माने में यह शहर ज्ञान-विज्ञान एवं कला का एक बड़ा केन्द्र बन गया था।

हुसैन बायक़रा के अन्तिम दौर में शैबाई ख़ाँ के नेतृत्व में उज़बेकों ने

पूरे मावराउन-नह्र पर अधिकार कर लिया था और शैबाई ख़ाँ ने जैहून-नदी के उत्तर में सभी तैमूरी रियासतों को ख़त्म कर दिया था। अब वह हरात की ओर बढ़ रहा था। हुसैन बायक़रा उससे मुक़ाबले के लिए रवाना हुआ, लेकिन रास्ते ही में 11, ज़िल-हिज्जा 911 हि०/1506 ई० को उसकी मृत्यु हो गई। हुसैन बायक़रा के लड़के बदीउज़्ज़माँ ने दूसरे तैमूरी शहज़ादों की मदद से मर्व के क़रीब शैबाई ख़ाँ को रोकने की कोशिश की, लेकिन वह हार गया। उसके बाद 913 हि०/1507 ई० में हरात पर शैबाई ख़ाँ का अधिकार हो गया। मध्य एशिया में तैमूरी सत्ता ख़त्म हो गई और उज़बेकों के दौर का आरम्भ हुआ। बदीउज़्ज़माँ ईरान होता हुआ इस्तंबूल चला गया, जहाँ 923 हि०/1517 ई० में उसकी मृत्यु हो गई। बदीउज़्ज़माँ का बेटा मुहम्मद ज़मान बाप के मरने के बाद क़िस्मत आज़माने के लिए हिन्दुस्तान चला आया, जहाँ उसने पुर्तगीज़ों की मदद से गुजरात का बादशाह बनने की नाकाम कोशिश की, और 946 हि०/1539 ई० में उसकी मृत्यु हो गई। लेकिन सुल्तान अबू-सईद का पोता और फ़रग़ाना के शासक उमर शैख़ का बेटा बाबर खुशक़िस्मत साबित हुआ। मध्य एशिया से बेदख़ल होकर उसने पहले काबुल में और उसके बाद दिल्ली में एक नई तैमूरी सल्तनत की बुनियाद डाली, जिसकी शानो-शौकत ने आगे चलकर समरक़न्द एवं हरात की तैमूरी सल्तनत को भी पीछे छोड़ दिया।

ज्ञान एवं कला

तैमूर का शासनकाल ज्ञान एवं कला तथा ललित-कला के विकास की दृष्टि से इतिहास का एक महत्वपूर्ण काल है, लेकिन ईलख़ानी काल की तरह इस काल में भी जो चीज़ स्पष्ट नज़र आती है वह यह है कि तात्विक विद्या अर्थात् गणित, चिकित्सा, रसायन-विज्ञान, भौतिक विज्ञान, भूगोल और इस प्रकार के दूसरे विषयों की ओर कम ध्यान दिया गया। खुवारिज़्मी, फ़ाराबी, इब्ने-सीना, अल-बैरूनी और उमर ख़ैयाम जैसी कोई शख़सियत इस दौर में नज़र नहीं आती। दीनी उलूम (इस्लामी ज्ञान) में कुछ प्रमुख काम ज़रूर नज़र आते हैं। लेकिन उनमें भी इस क्षेत्र के बुख़ारी, मुस्लिम, तिरमिज़ी, सरख़सी और ज़मख़्शरी के समकक्ष लोग नज़र नहीं आते। यद्यपि उलुग़ बेग

की जन्तरी अथवा पञ्चांग उसी काल में संकलित की गई और समरक़न्द की यह वेधशाला जहाँ मध्यकाल के इस्लामी इतिहास में अन्तिम महत्वपूर्ण नक्षत्र-विज्ञान के प्रयोग किए गए, उसी काल में क़ायम की गई, और तकनीकी ज्ञानों पर आधारित कुछ किताबें भी लिखी गईं, लेकिन ईलख़ानी काल की तरह तैमूर के काल में भी महत्वपूर्ण किताबें इतिहास विषय की ही लिखी गईं। शाहरुख़ के ज़माने में शुर्फ़ुद्दीन यज़्दी ने तैमूर के हालात पर 'ज़फ़रनामा' लिखा। हाफ़िज़ अबरू ने 'ज़ुब्दतुत्तवारीख़' लिखी जो 1426 ई॰ तक के हालात पर आधारित विश्व इतिहास की एक बड़ी पुस्तक है, और अब्दुर्रज़्ज़ाक़ समरक़न्दी (816 हि॰/1413 ई॰–887 हि॰/1482 ई॰) ने 'मतल-उस्सादैन' नामक पुस्तक लिखी जो ईलख़ानी शासक अबू-सईद के ज़माने से तैमूरी शासक अबू-सईद के ज़माने तक की महत्वपूर्ण जानकारी देनेवाली इतिहास की पुस्तक है। हाफ़िज़ अबरू ने भूगोल-विषय पर भी एक किताब लिखी। तैमूर और शाहरुख़ के ज़माने के उलमा (विद्वानों) में जलालुद्दीन दवानी (830 हि॰/1427 ई॰–908 हि॰/1502 ई॰) और फ़ीरोज़ाबादी (727 हि॰/1326 ई॰–817 हि॰/1414 ई॰) के नाम उल्लेखनीय हैं। दवानी एक दार्शनिक और आलिम (इस्लामी ज्ञान के विद्वान) थे। उनकी सबसे मशहूर किताब 'अख़्लाक़े-जलाली' है जो आज भी इस्लामी मदरसों में पढ़ाई जाती है। फ़ीरोज़ाबादी अरबी के मशहूर शब्दकोश "क़ामूस" के संकलनकर्ता हैं, जो अरबी का उच्चकोटि का एवं प्रमाणिक शब्दकोश समझा जाता है। शाहरुख़ के काल में एक और प्रमुख आलिम सैयद शरीफ़ जुरजानी (739 हि॰/1339 ई॰–816 हि॰/1413 ई॰) थे। उन्होंने अरबी और फ़ारिसी में न्यायशास्त्र एवं तर्कशास्त्र पर उपयोगी पुस्तकें लिखीं। वे शीराज़ के रहनेवाले थे। उस दौर में तर्कशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र के एक और विद्वान 'अज़्दुद्दीन एजी' (मृत्यु 756 हि॰/1355 ई॰) थे। उस दौर की एक और अज़ीम शख़सियत ख़ुवाजा मुहम्मद नक़्शबन्द (717 हि॰/1317 ई॰–791 हि॰/1389 ई॰) की है जो तसव्वुफ़ (सूफ़ीइज़्म) के मशहूर नक़्शबन्दी पंथ के संस्थापक हैं। वे बुख़ारा के रहनेवाले थे।

हुसैन बायक़रा के ज़माने के इतिहासकारों में 'रौज़तुस्सफ़ा' के लेखक

मीर ख़्वांद (मृत्यु 904 हि./1498 ई.) और 'हबीबुस्सियर' के लेखक ख़्वांद मीर (मृत्यु 942 हि./1535 ई.) सबसे प्रमुख हैं। रौज़तुस्सफ़ा और हबीबुस्सियर की गिनती फ़ारिसी के सबसे अच्छे इतिहासों में होती है। ये एक प्रकार से विश्व-इतिहास का दरजा रखते हैं, लेकिन इनका सबसे क़ीमती हिस्सा वह है जिसमें उन्होंने तैमूरी बादशाहों के हालात और ईरान का इतिहास लिखा है। हबीबुस्सियर के लेखक ख़्वांद मीर हरात पर शाह इसमाईल के अधिकार के बाद कुछ समय के लिए ईरान चले गए थे, जहाँ उन्होंने किताब हबीबुस्सियर पूरी की। इसके बाद वह हिन्दुस्तान आ गए और बाबर एवं हुमायूँ के दरबार से जुड़ गए और दिल्ली में ही उनकी मृत्यु हुई।

हुसैन बायक़रा के दौर की एक और महत्वपूर्ण रचना 'तज़किरा दौलते-शाह समरक़न्दी' है जो 892 हि./1487 ई. में पूरी की गई और फ़ारिसी साहित्य में कवियों की महत्वपूर्ण जीवनी समझी जाती है।

अलीशेर नवाई

तैमूर के शासनकाल की बौद्धिक उपलब्धि की चर्चा अलीशेर नवाई और मौलाना जामी की चर्चा के बिना पूरी नहीं हो सकती, जो इस दौर की निस्संदेह महानतम बौद्धिक और साहित्यिक शख़्सियतें हैं और जिन्होंने विश्व-प्रसिद्धि प्राप्त की। इन दोनों का सम्बन्ध हुसैन बायक़रा के दौर से है। अलीशेर नवाई हरात में 844 हि./1440 ई. में पैदा हुए और वहीं 12 जुमादस्सानी 906 हि. (3 जनवरी 1501 ई.) को दिवंगत हुए। उनकी ज़िन्दगी का कुछ हिस्सा समरक़न्द और उस्तराबाद में भी गुज़रा जहाँ वह हुसैन बायक़रा के समय कई साल तक गवर्नर रहे। छात्र-जीवन में वे हुसैन बायक़रा के सहपाठी रहे थे। बायक़रा ने बादशाह बनने के बाद अपनी इस दोस्ती को आख़िर तक निभाया। अलीशेर नवाई काफ़ी समय तक हुसैन बायक़रा के मुहर-बरदार (बादशाह का ख़ास मुहर रखनेवाला एक उच्च अधिकारी) भी रहे लेकिन कतिपय ईर्ष्यालु दरबारियों की साज़िश को देखते हुए ख़ुद ही इस पद से त्यागपत्र दे दिया। अलीशेर नवाई न केवल तुर्की भाषा के एक बड़े कवि और साहित्यकार थे बल्कि वह अपने समय के

विद्वानों, कवियों, साहित्यकारों और कलाकारों के संरक्षक भी थे। वे 29 किताबों के रचयिता थे जो अधिकतर चुग़ताई-तुर्की में हैं। उनकी रचनाओं में 'मुहा-क-मतुल-लु-ग़तैन' (अर्थात् दो भाषाओं के शब्द के बीच तुलना) बड़ा महत्व रखती है। इस किताब में उन्होंने यह साबित किया है कि तुर्की-भाषा एक साहित्यिक भाषा की हैसियत से फ़ारिसी से किसी प्रकार कम नहीं है। उनकी एक और किताब 'मज़ालिसुन-नफ़ाइस' अपने समय के कवियों के व्यक्तित्व और कृतित्व पर आधारित है। अलीशेर नवाई तुर्की में 'नवाई' उपनाम करते थे और उनकी गिनती तुर्की के महानतम कवियों में होती है। चुग़ताई-तुर्की के वे निस्सन्देह सबसे बड़े कवि थे। उन्होंने तुर्की-भाषा में चार दीवान (ग़ज़ल-संग्रह) और पाँच मस्नवियाँ (प्रेम-कथा काव्य) लिखीं। साहित्यकार के अलावा वे चित्रकार, संगीतकार एवं गीतकार भी थे।

नवाई केवल एक अमीर (उच्च पदाधिकारी) थे लेकिन वे विद्वानों, कवियों एक कलाकारों को प्रोत्साहन देने में तत्कालीन बादशाह से भी आगे थे। उस समय के लगभग सभी बाकमाल लोग (अपने-अपने क्षेत्र के विशेषज्ञ) उनसे सम्बद्ध थे। वे तैमूर के शासनकाल के सबसे बड़े फ़ारिसी शायर एवं बुज़ुर्ग (सन्त) 'जामी' के दोस्त और संरक्षक थे। जामी ने अपनी कई किताबें उन्हें समर्पित करते हुए लिखी हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार मीर ख़्वान्द और ख़्वान्द मीर का प्रशिक्षण उन्हीं की देखरेख में हुआ। चित्रकारों में बहज़ाद एवं शाह मुज़फ़्फ़र और संगीतकारों में गुल मुहम्मद शैख़ी और हुसैन औदी को उन्होंने संरक्षण प्रदान किया। ये सभी अपने काल के प्रमुख कलाकार थे।

जनकल्याण और विकास के कामों से नवाई को ख़ास दिलचस्पी थी। उन्होंने अपनी ज़िन्दगी में ख़ुरासान में तीन सौ सत्तर मस्जिदें, मदरसे, सराय, अस्पताल और ख़ानक़ाहें या तो बनवाईं या उनका आधुनिकरण किया। केवल हरात में उन्होंने 12 शानदार इमारतें बनवाईं जिनमें जामे-क़ुदसिया, मदरसा-इख़लासिया और एक अस्पताल शामिल हैं।

मौलाना जामी

हुसैन बायक़रा के शासनकाल की दूसरी अज़ीम साहित्यिक शख़्सियत अब्दुर्रहमान जामी (817 हि॰/1414 ई॰—898 हि॰/1492 ई॰) की है। जामी बहुत बड़े लेखक और कवि थे। उन्होंने लगभग एक सौ किताबें लिखीं। ईरान में वे फ़ारिसी के आख़िरी बड़े कवि थे। उसके बाद फ़ारिसी के बड़े शायर ईरान में नहीं बल्कि उपमहाद्वीप भारत-पाकिस्तान में हुए, लेकिन वे भी जामी की बराबरी नहीं कर सके। उनकी कविता ने ईरान और तुर्की के क़वियों पर गहरा प्रभाव डाला। उनकी किताब 'नफ़ख़ातुल-इंस' जिसमें औलिया अल्लाह (पीर, बुज़ुर्ग) के हालात लिखे गए हैं, बड़ी लोकप्रिय किताब है। उनकी एक और महत्त्वपूर्ण किताब 'बहारिस्तान' है जो सअदी की गुलिस्ताँ की शैली में लिखी गई है।

ललित-कला

तैमूर के शासनकाल तक मुसलमानों ने चित्रकला की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया था। वे ख़ुश-नवेसी अर्थात् सुलेखन-कला और नक़्क़ाशी में ज़्यादा दिलचस्पी लेते थे, और इसे उन्होंने एक कला का रूप दे दिया था, जिसके नमूने हर दौर की मस्जिदों, मदरसों और शाही महलों में नज़र आते हैं। इसकी बड़ी वजह यह थी कि इस्लाम में जानदार चीज़ों की तस्वीरें बनाना मना है, क्योंकि इस प्रकार मूर्ति-पूजा का प्रचलन बढ़ने का डर है जिसका इस्लाम विरोधी है। लेकिन ग़ैर-इस्लामी प्रभाव के कारण मुसलमानों में धीरे-धीरे चित्रकला की परम्परा आरम्भ हो गई। शायद मुसलमान यह समझने लगे थे कि अब मूर्ति-पूजा का ख़तरा नहीं रहा, इसलिए जानदार चीज़ों की तस्वीरें बनाने में कोई आपत्ति नहीं है। तैमूर के दौर में इस कला की ओर ख़ास ध्यान दिया गया। चीन से चित्रकार बुलाए गए और उन्होंने मुसलमानों को इसका प्रशिक्षण दिया। मुसलमानों ने जल्दी ही इस कला में महारत हासिल कर ली। तैमूर के दौर के चित्रकारों में बहज़ाद सबसे अधिक प्रसिद्ध है जो आधुनिक काल से पूर्व ईरान का सबसे बड़ा चित्रकार समझा जाता था। उस दौर का एक दूसरा बड़ा चित्रकार शाह मुज़फ़्फ़र है। इन दोनों

ने नवाई के दरबार में प्रशिक्षण प्राप्त किया था।

वास्तुकला का भी इस दौर में बहुत विकास हुआ और शायद तुर्किस्तान एवं ईरान में तैमूर के दौर से पूर्व इतनी शानदार इमारतें इतनी अधिक संख्या में किसी एक दौर में नहीं बनाई गईं जितनी तैमूर के शासनकाल में बनाई गईं। समरक़न्द में अमीर तैमूर का मक़बरा 'गोरे-अमीर', बुख़ारा में उलुग़ बेग का मदरसा, मशहद में शाहरुख़ की पत्नी गौहर शाद की मस्जिद और हरात में शाहरुख़ एवं गौहर शाद बेगम का मक़बरा वास्तुकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। तैमूर के दौर के सबसे बड़े गणितज्ञ और वास्तुकला के माहिर उस्ताद क़व्वामुद्दीन थे। शाहरुख़ के दौर की अधिकतर इमारतें उन्हीं की बनाई हुई हैं।

हक़ीक़त यह है कि शाहरुख़, उलुग़ बेग और हुसैन बायक़रा के दौर में सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान और साहित्य का भी बड़ा विकास हुआ। तैमूर-वंश के शासकों, शेहज़ादों, गवर्नरों और मंत्रियों की कोशिशों से राजधानी हरात दुनिया का एक भव्य शहर और ज्ञान का एक प्रमुख केन्द्र बन गया। उस दौर में जितनी बहुलता से और जितनी उच्च कोटि के उलमा (विद्वान), हकीम (वैद्य), साहित्यकार, कवि और कलाकार हरात में पाए जाते थे उसकी मिसाल पन्द्रहवीं सदी में क़ाहिरा के अलावा दुनिया में कहीं नहीं मिलेगी।

तबरीज़

तैमूर के दौर की चर्चा ख़त्म करने से पहले आज़रबाइजान के शहर तबरीज़ की चर्चा करना भी ज़रूरी है। यदि समरक़न्द और हरात राजधानियाँ और ज्ञान एवं साहित्य के केन्द्र थे, तो शहर तबरीज़ तैमूर की सल्तनत का व्यापारिक एवं औद्योगिक केन्द्र था। तबरीज़ ने यह हैसियत ईलख़ानियों के शासनकाल में ही प्राप्त कर ली थी। तैमूर के दौर में उसकी यह हैसियत बड़ी हद तक पूर्ववत रही। तबरीज़ जनसंख्या एवं क्षेत्रफल के आधार पर समरक़न्द और हरात से बड़ा था। यह उस समय दुनिया के बड़े शहरों में से एक था। इस्लामी दुनिया में क़ाहिरा के अलावा और कोई शहर क्षेत्रफल में

तबरीज़ का मुक़ाबला नहीं कर सकता था। अब तो तबरीज़ की जनसंख्या तीन-चार लाख से ज़्यादा नहीं लेकिन ईलख़ानी एवं तैमूर के शासनकाल में उसकी जनसंख्या बारह लाख से अधिक थी। यूरोप के व्यापारी एवं पर्यटक जब उस शहर को देखते तो आश्चर्यचकित रह जाते थे। उस ज़माने का एक यूरोपियन पर्यटक लिखता है—

> "दुनिया-भर में व्यापार की दृष्टि से सबसे अच्छा शहर तबरीज़ है। हर चीज़ यहाँ पर्याप्त मात्रा में मिल जाती है। हर चीज़ यहाँ की ऐसी अजीब है कि जब तक कोई अपनी आँख से न देखे, सुनने का यक़ीन नहीं आ सकता। यह शहर जितना धन अपने बादशाह को देता है, वह उस धन से ज़्यादा है जो पूरा फ़्रांस अपने बादशाह को देता है।"

तैमूर के ज़माने में अन्दलुस (स्पेन) की ईसाई रियासत क़शक़ालिया का राजदूत यहाँ आया था। वह लिखता है—

> "शहर की गली-कूचों में नहरें हैं। रास्ते और सड़कें नियमबद्ध एवं साफ़-सुथरी हैं। बड़ी आलीशान इमारतें हैं। हर धनवान व्यक्ति की कोशिश रहती है कि वह दूसरे से अच्छी और ज़्यादा ख़ूबसूरत इमारत बनवाए। शहर के बाज़ारों और गली-कूचों में बहुत-से हौज़ हैं जिनमें फ़व्वारे छूटते रहते हैं। गर्मी के मौसम में इन हौज़ों में बर्फ़ के टुकड़े डाले जाते हैं और हौज़ की मेड़ पर पीतल और ताम्बे के मग रखे होते हैं। जिसका जी चाहे आए और बर्फ़ का पानी पिए।
>
> यहाँ की मस्जिदें बड़ी शानदार और सुन्दर हैं। स्नानगृह (हम्माम) इतने उच्चकोटि के हैं कि मुझे यक़ीन है दुनिया में किसी दूसरी जगह न होंगे।"

मध्य एशिया के तैमूर-वंश के बादशाह

(771 हि॰/1366 ई॰–913 हि॰/1507 ई॰)

1. तैमूर — 771 हि॰/1366 ई॰–807 हि॰/1405 ई॰
2. शाहरुख़ — 807 हि॰/1405 ई॰–850 हि॰/1447 ई॰

3. उलुग़ बेग — 850 हि॰/1447 ई॰—853 हि॰/1449 ई॰

4. अब्दुल-लतीफ़ — 853 हि॰/1449 ई॰—854 हि॰/1450 ई॰

5. मिर्ज़ा अब्दुल्लाह — 854 हि॰/1450 ई॰—855 हि॰/1452 ई॰

6. अबू-सईद — 855 हि॰/1452 ई॰—872 हि॰/1467 ई॰

7. सुल्तान अहमद — 872 हि॰/1467 ई॰—899 हि॰/1493 ई॰

8. हुसैन बायक़रा — 872 हि॰/1467 ई॰—911 हि॰/1506 ई॰

913 हि॰/1507 ई॰ में हरात पर शैबानी ख़ान के क़ब्ज़ा के बाद मध्य एशिया में तैमूर-वंश की सत्ता समाप्त हो गई।

महत्वपूर्ण घटनाएँ

- 736 हि॰/1336 ई॰ — (25 शाबान/8 अप्रैल) तैमूर का जन्म।
- 771 हि॰/1366 ई॰ — (माह रमज़ान) बल्ख़ में तैमूर का सत्तासीन होना।
- 776 हि॰/1374 ई॰ — काशग़र पर विजय।
- 781 हि॰/1379 ई॰ — ख़ुवारिज़्म पर विजय।
- 783 हि॰/1381 ई॰ — हरात पर क़ब्ज़ा।
- 785 हि॰/1383 ई॰ — क़न्धार और सीस्तान पर क़ब्ज़ा। अगले साल माज़न्दरान पर क़ब्ज़ा।
- 789 हि॰/1389 ई॰ — इस्फ़हान पर विजय और नागरिकों का क़त्ले-आम।
- 793 हि॰21391 ई॰ — (18 अप्रैल) तोक़्तमिश को तैमूर ने वोल्गा-नदी के तट पर हराया।
- 795 हि॰/1393 ई॰ — बग़दाद पर विजय।
- 796 हि॰/1393 ई॰ — तिकरीत का क़िला भेदकर विजय।
- 797 हि॰/1395 ई॰ — (15 अप्रैल) तैमूर ने तोक़्तमिश को तैरक-नदी

(क़फ़क़ाज़) के किनारे दूसरी बार हराया और उसके बाद सराय का शहर जलाकर राख कर दिया।

- 801 हि॰/1398 ई॰ – (7 रबीउल-आख़िर/दिसम्बर) दिल्ली के पास महमूद तुग़लक़ को हराया। उसी दिन शहर में प्रवेश करके शहरवासियों का क़त्ले-आम किया। युद्ध से पहले एक लाख क़ैदी क़त्ल कर दिए गए।
- 803 हि॰/1400 ई॰ – स्यूरस, हल्ब और दिमश्क़ को जीता। दिमश्क़ में आग लगवाई।
- 803 हि॰/1401 ई॰ – बग़दाद में क़त्ले-आम।
- 804 हि॰/1402 ई॰ – (21 जुलाई) अंगूरा की जंग में बायज़ीद यल्दरम को हराया।
- 807 हि॰/1405 ई॰ – (17 शाबान/18 फ़रवरी) तैमूर की मृत्यु।
- 902 हि॰/1497 ई॰ – बाबर का समरक़न्द पर पहली बार क़ब्ज़ा।
- 905 हि॰/1500 ई॰ – बाबर का समरक़न्द पर दूसरी बार क़ब्ज़ा।
- 911 हि॰/1506 ई॰ – (11 ज़िल-हिज्जा/मई) हुसैन बायक़रा की मृत्यु।
- 913 हि॰/1507 ई॰ – (माह मई) शैबाई ख़ान का हरात में प्रवेश और तैमूर-वंश की सत्ता का अन्त।
- 917 हि॰/1511 ई॰ – बाबर का समरक़न्द पर तीसरी बार क़ब्ज़ा।

अध्याय-6

मिस्र के ग़ुलाम-वंश के बादशाह

(647 हि॰/1250 ई॰–922 हि॰/1517 ई॰)

इस्लामी इतिहास की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है कि मुसलमानों ने ग़ुलामों को कभी ज़िल्लत व अपमान एवं हीन दृष्टि से नहीं देखा, और उनके साथ वैसा मानवता-विरुद्ध व्यवहार कभी नहीं किया जैसा रूमियों के ज़माने से लेकर पिछली शताब्दी तक पश्चिमी देशों में किया जाता रहा है। इस्लामी समाज में ग़ुलामों को समानता का दरजा देने का यह नतीजा निकला कि इस्लामी दुनिया में ग़ुलामों को विकास के मार्ग में कोई बाधा नहीं आई, और वे धार्मिक एवं सांसारिक दृष्टि से विकास की मंज़िलें तय करते रहे। अध्याय-3 में हम नेक-नाम अताबक शासकों की चर्चा कर चुके हैं जो वास्तव में सलजूक़ियों के ग़ुलाम थे। अब हम यहाँ ग़ुलामों की एक अन्य वंशावली की चर्चा करना चाहते हैं, जिन्होंने ढाई सौ साल तक मिस्र एवं शाम (सीरिया) पर शानो-शौकत से शासन किया। इतिहास का यह बड़ा दिलचस्प पहलू है कि मिस्र एवं शाम (सीरिया) में ग़ुलामों की सत्ता शुरू हुई तो दूसरी ओर हिन्दुस्तान में भी ग़ुलाम-वंश की सत्ता की नींव पड़ी।

(देखिए : अध्याय 11)

1. बेहरी ममलूक

(647 हि॰/1250 ई॰–784 हि॰/1382 ई॰)

मिस्र एवं शाम के ग़ुलाम-वंश के बादशाहों को 'ममलूक' कहा जाता है, क्योंकि अरबी में 'ममलूक' 'ग़ुलाम' को कहते हैं। ये दो ख़ानदानों में बँटे थे। एक ख़ानदान बेहरी ममलूकों का था जिन्होंने 647 हि॰/1250 ई॰ से 784 हि॰/1382 ई॰ तक शासन किया और दूसरा ख़ानदान बुर्जी-ममलूकों का था जिन्होंने 784 हि॰/1382 ई॰ से 922 हि॰/1517 ई॰ तक शासन किया। बेहरी ममलूक अधिकतर तुर्क और मंगोल नस्ल के थे। ये मलिक सालेह

अय्यूबी के गुलाम थे और चूँकि इन्हें नील नदी के किनारे आबाद किया गया था इसलिए इन्हें बेहरी ममलूक (समुद्री गुलाम) कहा जाता है। बुर्जी ममलूक ज़्यादातर क़फ़क़ाज़ के रहनेवाले सरकेशी गुलाम थे। ये समुद्री गुलामों के बादशाह मंसूर क़लाऊँ के सुरक्षा-दस्ते से सम्बन्ध रखते थे और क़िलों में तैनात थे। इसलिए इन्हें क़िलेवाले गुलाम (बुर्जी ममलूक) कहा जाता है।

मलिक सालेह की मृत्यु के बाद एक तुर्क गुलाम तमरुद्दीन ऐबक ने सुल्तान के उत्तराधिकारी तोरून शाह को क़त्ल कर दिया, लेकिन मलिक सालेह की पत्नी 'शजरतुद्दुर' अस्सी दिन तक शासन करती रही और अपने नाम का खुतबा (जुमा का विशेष अभिभाषण, जिसे धार्मिक महत्व प्राप्त है) और सिक्का जारी किया, और जब तमरुद्दीन ऐबक को दरबारियों ने बादशाह चुन लिया तो शजरतुद्दुर ने उससे शादी कर ली। यही ऐबक मिस्र में गुलाम-वंश का संस्थापक है। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के गुलाम-वंश के बादशाहों और मिस्र के गुलाम-वंश के बादशाहों के बीच कई मामलों में जो समानता पाई जाती है, उनमें से एक दिलचस्प समानता यह भी है कि दोनों देशों के गुलाम-वंश के संस्थापकों का नाम ऐबक था, और दोनों ख़ानदानों में एक-एक औरत ने शासन किया शजरतुद्दुर ने मिस्र में और रज़िया सुल्ताना ने दिल्ली में।

गुलामों के शासन में बाप के बाद बेटा उत्तराधिकारी नहीं होता था, बल्कि जो गुलाम सरदार ताक़तवर होता था वही गद्दी पर क़ब्ज़ा कर लेता था। कोई व्यवस्था न होने के कारण हर बादशाह के गद्दी पर बैठने के समय लड़ाई ज़रूर होती थी और कभी-कभी तो हर साल एक नया सरदार बादशाह बन जाता था। अतः समुद्री गुलामों के एक सौ बत्तीस साल की थोड़ी अवधि में चौबीस बादशाह गद्दी पर बैठे। इनमें चार बादशाह ऐसे भी हैं जिनकी शासन-अवधि कुल मिलाकर 84 साल है और उन्होंने मिस्र को एक स्थायी हुकूमत दी। उन्हीं में एक मलिक सालेह का गुलाम बैबरस है, जिसने बादशाह बनने के बाद मलिक अज़-ज़ाहिर की उपाधि धारण की।

मलिक अज़-ज़ाहिर बैबरस

बैबरस गुलाम वंश के बादशाहों का पहला प्रमुख शासक है। उसने 1260 ई॰ से 1277 ई॰ तक सत्रह साल मिस्र एवं शाम (सीरिया) पर शासन किया। वह हलाकू ख़ाँ और दिल्ली के ग़ियासुद्दीन बलबन का समकालीन था। बग़दाद को तबाह करने के बाद जब हलाकू की फौजें शाम (सीरिया) की ओर बढ़ीं तो बैबरस और एक अन्य गुलाम-वंश का सरदार सैफ़ुद्दीन क़त्ज़ ने मिलकर 658 हि॰/1260 ई॰ में ऐने-जालूत नामक स्थान पर उन्हें बुरी तरह पराजित किया और शाम (सीरिया) से मंगोल-फ़ौजों को निकाल बाहर किया। बैबरस का यह बहुत बड़ा कारनामा है कि उसने मिस्र एवं शाम (सीरिया) को मंगोलों के उत्पात से बचाया, अन्यथा इन देशों का भी वही हाल होता जो ईरान, इराक़ और तुर्किस्तान का हुआ। बैबरस ने सिर्फ़ यही नहीं कि शाम (सीरिया) पर मंगोलों के आक्रमणों को कुचल डाला बल्कि ख़ुद उनके इलाक़ों पर चढ़ाई भी की। उसने मिस्र की सल्तनत की उत्तरी सीमा अनातोलिया के मध्य इलाक़ों तक पहुँचा दी।

बैबरस का दूसरा बड़ा कारनामा शाम (सीरिया) के समुद्री तट पर क़ब्ज़ा जमाए यूरोपीय सत्ताओं का ज़ोर तोड़ना है। ये रियासतें पहली सलीबी जंग (ईसाई धर्म-युद्ध) के ज़माने से शाम (सीरिया) के तटीय शहरों पर क़ब्ज़ा जमाए बैठी थीं। नूरुद्दीन और सलाहुद्दीन ने यद्यपि अन्दरूनी इलाक़ों और फ़लस्तीन से फ़िरंगियों को निकाल दिया था, लेकिन तटीय शहरों पर उनकी सत्ता बहुत समय से क़ायम थी। उन्हें समुद्री मार्ग से यूरोप से लगातार मदद पहुँचती रहती थी। ये हुकूमतें मिस्र एवं शाम (सीरिया) के ख़िलाफ़ मंगोलों से गठजोड़ बना लेती थीं और इस प्रकार मुसलमान दोतरफ़ा सैनिक-दबाव का शिकार रहते थे। बैबरस ने उन यूरोपीय रियासतों में से अंताकिया की ताक़तवर रियासत का ख़ातिमा कर दिया। इसके अलावा उसने कई और तटीय शहर भी जीत लिए और उन यूरोपीय रियासतों की शक्ति तोड़ दी।

बैबरस ने अपनी सल्तनत को दक्षिण में सूडान तक फैला लिया और नौबा का इलाक़ा भी जीत लिया, जो अय्यूबी सुल्तानों के ज़माने से मिस्र की

सत्ता में शामिल कर लिया गया था। अपनी इन विजयों और कारनामों के कारण बैबरस का नाम मिस्र एवं शाम (सीरिया) में सलाहुद्दीन की तरह मशहूर है, और वह मिस्री जनता का बड़ा लोकप्रिय हीरो है।

बैबरस केवल एक विजेता नहीं था बल्कि समझदार एवं न्यायप्रिय बादशाह भी था। उसके शासनकाल में कई महत्वपूर्ण काम किए गए। उनमें से एक ख़िलाफ़त के सिलसिले की बहाली है। बग़दाद में मुस्तअ़सिम-बिल्लाह अब्बासी की शहादत के बाद इस्लामी दुनिया तीन साल तक बिना ख़िलाफ़त के रही। संयोग से ज़ाहिर-बिल्लाह अब्बासी का एक लड़का अबुल-क़ासिम अहमद मंगोलों की क़ैद से छूटकर 659 हि०/1262 ई० में मिस्र आ गया। बैबरस उसे इज़्ज़त व सम्मान के साथ क़ाहिरा लाया और उस ज़माने के मशहूर आलिम इज़्ज़ुद्दीन अब्दुस्सलाम (578 हि०/1182 ई०–660 हि०/1262 ई०) की मौजूदगी में उसके हाथ पर ख़िलाफ़त की बैअत की और मिस्र में उसके नाम का ख़ुत्बा और सिक्का जारी किया। इस प्रकार अब्बासी ख़िलाफ़त अब बग़दाद से क़ाहिरा स्थानान्तरित हो गई। यद्यपि मिस्र के ये अब्बासी ख़लीफ़ा सिर्फ़ नाम के ख़लीफ़ा होते थे, और सत्ता पर वास्तविक पकड़ ग़ुलाम वंश के बादशाहों की होती थी, परन्तु इस प्रकार कम-से-कम इस्लाम की ख़िलाफ़त जैसी एक पहचान को क़ायम रखने की कोशिश की गई।

बैबरस इस्लामी शिक्षाओं एवं सिद्धान्तों का ख़ुद भी पाबन्द था और अपनी सल्तनत में उसने इस्लामी शासन-विधान को लागू करने की भरपूर कोशिश की। उसके काल में अदालत में बड़े-से-बड़े आदमी पर मुक़द्दमा चलाया जा सकता था। कई बार ख़ुद बैबरस पर भी लोगों ने मुक़द्दमे दायर किए और उसे अदालत में आना पड़ा। बैबरस ने शराब बनाने एवं उसके क्रय-विक्रय पर भी पाबन्दी लगा दी थी। हज से पहले मिस्र से ग़िलाफ़े-काबा को मक्का ले जाने की परम्परा का आरम्भ जिसे 'महमिल' कहा जाता है बैबरस ही के ज़माने से शुरू हुई। वह पहला शासक है जिसने चारों इमामों (मालिक, अबू-हनीफ़ा, शाफ़िई और अहमद-बिन-हमबल) की फ़िक़्ह (इस्लामी विधान) को सरकारी तौर पर मान्यता दी और मिस्र एवं शाम (सीरिया) में

चारों फ़िक़्ह से सम्बन्ध रखनेवाले क़ाज़ियों को नियुक्त किया। इससे पहले केवल शाफ़िई क़ाजी नियुक्त किए जाते थे, क्योंकि मिस्र में ज़्यादातर शाफ़िई फ़िक़्ह पर चलनेवालों की आबादी है।

बैबरस ने जनकल्याण के काम भी किए। नहरें, पुल और मदरसे बनवाए। वह अपने बनवाए हुए "ज़ाहिरिया-कुतुबख़ाना" (पुस्तकालय), जो दिमश्क में है, के अहाते में दफ़न हुआ।

मंसूर क़लाऊन

गुलाम वंश का दूसरा प्रमुख शासक मंसूर क़लाऊन (678 हि॰/1279 ई॰–689 हि॰/1290 ई॰) है जो बैबरस के दो साल बाद गद्दी पर बैठा। वह भी बैबरस की तरह मलिक सालेह का गुलाम था और बैबरस की अपेक्षा ज़्यादा क़ीमत देकर ख़रीदा गया था। उसका सम्बन्ध क़बचाक़ के रेगिस्तानी इलाक़े से था।

क़लाऊन के काल में ईलख़ानी शासकों अबाक़ा ख़ाँ और अरग़ून ने यूरोप के ईसाइयों को मिस्र के विरुद्ध उकसाया कि एक नई सलीबी जंग शुरू करके बैतुल-मक़दिस पर क़ब्ज़ा कर लिया जाए। अबाक़ा ख़ाँ ने ईसाइयों की मदद से शाम (सीरिया) पर आक्रमण भी किया, लेकिन क़लाऊन ने हिम्स के निकट 678 हि॰/1280 ई॰ में अबाक़ा ख़ाँ को हराकर इस योजना को नाकाम बना दिया।

यूरोपीय उपनिवेश के ख़िलाफ़ बैबरस की तरह क़लाऊन ने भी अभियान जारी रखा, और उसने लताकिया (Latakia) एवं तराबुलुस को यूरोपी फ़ौजों से छीन लिया। क़लाऊन के बाद उसके लड़के अशरफ़ ख़लील ने अक्का, तायर, सैदा, हैफ़ा और बैबरस के शेष शहरों को भी जीत लिया और इस प्रकार शाम (सीरिया) के समुद्री तट से यूरोपीय ईसाइयों की सत्ता को हमेशा के लिए ख़त्म कर दिया।

क़लाऊन ने क़ाहिरा में 'बीमारिस्तान-मंसूरिया' के नाम से एक ऐसा विशाल अस्पताल बनाया जो अपनी मिसाल आप था। क़लाऊन एक बार दिमश्क़ में बीमार पड़ा। वहाँ उसे नूरुद्दीन ज़ंगी के बनाए हुए अस्पताल में

प्रवेश मिला। क़लाऊन उस अस्पताल को देखकर इतना प्रभावित हुआ कि उसने प्रण लिया कि जब वह स्वस्थ हो जाएगा तो राजधानी क़ाहिरा में ऐसा ही एक अस्पताल बनवाएगा। अतः स्वस्थ होने के बाद उसने अपना प्रण पूरा किया। इस अस्पताल में हर बीमारी के उपचार के लिए अलग-अलग विभाग थे। इसके अलावा प्रयोगशाला, स्नानगृह, रसोईघर और गोदाम भी थे। एक बड़े हॉल में जो औषधीय सामग्री और औज़ार से सजा रहता था। चिकित्सा की शिक्षा दी जाती थी। अर्थात् यह मात्र एक अस्पताल ही नहीं था बल्कि पूर्णतः एक मेडिकल कॉलेज (Medical College) था। अस्पताल का ख़र्च दस लाख दिरहम वार्षिक था और यहाँ काम करने के लिए पुरुष एवं महिला दोनों की नियुक्ति होती थी।

मलिक अन-नासिर मुहम्मद

मलिक अशरफ़ ख़लील के बाद चार-पाँच साल पहले की तरह अशान्ति रही और मिस्र के तख़्त पर कई ग़ुलाम वंश के सरदारों ने क़ब्ज़ा किया और फिर बेदख़ल हुए। आख़िरकार इस गृह-युद्ध में मंसूर क़लाऊन का लड़का मुहम्मद कामयाब हुआ। वह तीन बार गद्दी पर बैठा, लेकिन यदि उस एक साल की अवधि को निकाल दिया जाए जबकि 708 हि०/1308 ई० में एक दूसरे सरदार बैबरस जाशनगीर ने उसे बेदख़ल कर दिया था, तो मुहम्मद ने 698 हि०/1298 ई० से 741 हि०/1341 ई० तक पूरे 42 साल लगातार शासन किया। मिस्र के ग़ुलाम वंश के शासकों में उसका दौर सबसे लम्बा और सबसे शानदार है। बादशाह बनने के बाद उसने मलिक अन-नासिर की उपाधि धारण कर ली। ईलख़ानी शासकों में ग़ाज़ान ख़ाँ, अलजायतू ख़ुदाबन्दा और अबू-सईद उसके समकालीन थे और दिल्ली के बादशाहों में अलाउद्दीन ख़िलजी, ग़ियासुद्दीन तुग़लक और मुहम्मद तुग़लक भी उसके समकालीन थे।

मलिक अन-नासिर मुहम्मद के काल में ईलख़ानी मंगोलों ने, जो अब मुसलमान हो चुके थे, दो बार शाम (सीरिया) पर हमला किया। ये दोनों हमले ग़ाज़ान ख़ान ने किए थे। पहले हमले में (699 हि०/1299 ई०) मंगोल

दिमश्क़ तक आ गए थे। दूसरे हमले में भी वे दिमश्क़ तक पहुँच गए थे, परन्तु इस बार दिमश्क़ के दक्षिण में मरजुस्सफ़र की जंग में 25 रमज़ान 702 हि॰/1303 ई॰ को सुल्तान नासिर मुहम्मद ने मंगोलों को बुरी तरह हराया और फिर उन्होंने कभी शाम (सीरिया) की ओर नज़र नहीं डाली। इस युद्ध में मशहूर आलिमे-दीन (इस्लामी विद्वान) और सुधारक इब्ने-तैमिया (रह॰) ने खुलकर भाग लिया। मलिक अन-नासिर के काल में नौबा को जीतने की प्रक्रिया भी पूरी हुई, जिसका आरम्भ बैबरस के काल में हुआ था।

मलिक अन-नासिर मुहम्मद ने अपनी राजनीति में विदेश-सम्बन्ध को बड़ा महत्व प्रदान किया। अतः उसके शासनकाल में अन्य देशों से जितने कूटनीतिक सम्बन्ध क़ायम हुए, इससे पहले कभी नहीं हुए। पोप, फ्रांस के शाह, स्पेन के शाह अरगून और हिन्दुस्तान के तुग़लक़-ख़ानदान से द्विपक्षीय राजनयिक सम्बन्ध स्थापित हुए। इन सम्बन्धों के कारण व्यापार को काफ़ी बढ़ावा मिला। अन-नासिर मुहम्मद ने टैक्सों में भी कमी की। ज़मीन की पैमाइश करवाई, नहरें खुदवाईं, सड़कें बनवाईं, भेड़-बकरियों की प्रजातियों को बढ़ाया। इन सुधारों के कारण मिस्र उसके शासनकाल में अपनी खुशहाली के चरम को पहुँच गया।

वास्तुकला ने भी उस ज़माने में बहुत तरक़्क़ी की। अन-नासिर मुहम्मद को इमारतें बनवाने से बड़ी दिलचस्पी थी और उसने क़ाहिरा को एक भव्य शहर बना दिया। उसने जो मस्जिदें बनवाईं उनकी संख्या तीस बताई जाती है। ख़ानक़ाहों, सबीलों (पियाऊ), मदरसों और हम्मामों (स्नानगृहों) की संख्या इसके अलावा है। उसका बनवाया हुआ मदरसा-नासिरीया और क़ाहिरा की जामा-मस्जिद उस दौर की वास्तुकला के बेहतरीन नमूने हैं। उसका अनुसरण उसके गवर्नरों ने भी किया और उन्होंने हलब एवं दिमश्क़ को बेहतरीन इमारतों से सजा दिया।

उसके सुधारवादी कामों में सबसे प्रमुख शराब पर पाबन्दी है। शराब ग़ैर-इस्लामी देशों की तरह मुस्लिम देशों में कभी आम नहीं हुई, लेकिन अब्बासियों के पतन के बाद उच्च पदाधिकारियों एवं धनाढ्यों का एक वर्ग इसका आदी हो गया था, जिसके कारण इस्लामी विचारधारा के पोषक

शासक इस 'बुराइयों की जड़'—शराब को आम होने से रोकने की कोशिश करते रहते थे। मलिक अन-नासिर मुहम्मद भी ऐसे ही शासकों में से था।

2. बुर्जी ममलूक

(784 हि०/1382 ई०–922 हि०/1517 ई०)

सुल्तान बरक़ूक़

मलिक अन-नासिर के बाद मिस्र एवं शाम (सीरिया) में एक बार फिर अशान्ति फैल गई। अगले 43 साल की अल्प अवधि में तेरह (13) बादशाह गद्दी पर बैठे। इनमें केवल अशरफ़ शाबान ऐसा ख़ुशक़िस्मत था जिसने चौदह साल शासन किया। बहरहाल 784 हि०/1382 ई० में मलिक अज़-ज़ाहिर बरक़ूक़ के गद्दी पर बैठने के बाद हालात बेहतर हो गए। सुल्तान बरक़ूक़ (1382 ई०–1398 ई०) बुर्जवाले ग़ुलाम-वंश की सत्ता का संस्थापक है। बुर्जवाले बादशाह, समुद्री ग़ुलाम बादशाहों की तरह सुसभ्य एवं सुसंस्कृत नहीं थे। ये हमेशा आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे और हर समय ख़ून-ख़राबे के लिए तैयार रहते थे, परन्तु इनकी सत्ता ग़ुलाम-वंश के समुद्री शासकों से कम मज़बूत नहीं थी। इनमें आठ शासक ऐसे थे जिन्होंने 7 से 29 साल तक शासन किया, और कुल मिलाकर इन 8 शासकों ने 116 साल शासन किया। इस प्रकार ग़ुलाम-वंश के बुर्जवाले शासकों की सत्ता के 138 वर्षीय काल में केवल 22 वर्ष अशान्ति एवं हंगामे के हैं जिसके दौरान 15 शासक गद्दी पर बैठे, शेष 116 साल मिस्र में स्थिर एवं मज़बूत हुकूमत रही अर्थात् उनकी स्थिरता की अवधि रूम-सल्तनत के उत्थान काल के उस ज़माने से ज़्यादा है जब शहंशाह कालीगोला से नीरवा तक (37 ई०–98 ई०) 61 साल की अवधि में दस शासक रूम के गद्दी पर बैठे।

तैमूर का हमला

बरक़ूक़ के बेटे एवं उत्तराधिकारी मलिक अन-नासिर फ़रज के ज़माने में शाम (सीरिया) को एक बार फिर बाहरी हमले का सामना करना पड़ा। यह हमला अमीर तैमूर का था और सुल्तान बरक़ूक़ की ग़लत पॉलिसी के कारण

मिस्र को इस हमले का सामना करना पड़ा। बरक़ूक़ ने बग़दाद के शासक अहमद जलायर को जो तैमूर का बाग़ी था, अपने पास पनाह देकर और सुल्तान बायज़ीद से मिलकर तैमूर के ख़िलाफ़ मोर्चा बनाने की कोशिश की थी। उसके बेटे ने तैमूर के राजदूतों को क़त्ल करके तैमूर के ग़ुस्से को और भड़का दिया, अतः तैमूर ने बदले की भावना से 803 हि०/1401 ई० में सारे शाम (सीरिया) को रौंद डाला और दिमश्क़ में न केवल जनसंहार किया बल्कि सारे शहर में आग भी लगा दी। दिमश्क़ को ग़ाज़ान ख़ान ने भी इतना नुक़सान नहीं पहुँचाया था जितना तैमूर ने पहुँचाया।

बुर्जवाले ग़ुलाम शासकों में यद्यपि कई शासकों ने लम्बी अवधि तक शासन किया, लेकिन उनमें एक भी बैबरस, क़लाऊन अथवा मलिक अन-नासिर मुहम्मद जैसा नहीं हुआ। इस दौर की एकमात्र सैनिक सफलता क़बरस की जीत है। इस द्वीप के ईसाई मुसलमानों के लिए मुसीबत बने हुए थे, और शाम (सीरिया) के तट को अपने समुद्री हमलों का निशाना बनाते रहते थे। 1426 ई० में अमीर बरसबाए ने क़बरस को जीतकर इस ख़तरे को दूर कर दिया।

अकाल और प्लेग (Plague)

बुर्जवाले ग़ुलाम वंश के शासकों का दौर मिस्र के इतिहास में एक अन्धकारमय दौर समझा जाता है। उस ज़माने में लगातार अकाल पड़े, कई बार प्लेग जैसी महामारी फैली जिसने बस्तियों-की-बस्तियाँ उजाड़ दीं। 1422 ई० में अमीर बरसबाए के ज़माने में गणना की गई तो मिस्र में दो हज़ार एक सौ सत्तर बस्तियाँ पाई गईं, जबकि चौथी सदी हिजरी में इन बस्तियों की संख्या दस हज़ार थी। अकाल एवं प्लेग के कारण मिस्र की आबादी एक तिहाई रह गई थी। बुर्जवाले ग़ुलाम वंश के शासकों के दौर के अन्तिम वर्षों में यूरोपवासियों ने हिन्दुस्तान का समुद्री मार्ग खोज लिया था। इस खोज ने मिस्र की अर्थव्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव डाला। अब तक मिस्र यूरोप और एशिया के मध्य एक प्रमुख व्यापारिक मार्ग पर स्थित था, समुद्री मार्ग की खोज के बाद यह व्यापारिक मार्ग बन्द हो गया। बुर्जवाले शासक संकीर्ण

विचार के भी थे। बारूद की खोज के बाद पन्द्रहवीं सदी में बन्दूकों और तोपों का इस्तेमाल बड़े पैमाने पर होने लगा था, लेकिन बुर्जवाले शासकों ने इससे फ़ायदा नहीं उठाया और अग्न्यास्त्र के इस्तेमाल को मर्दानगी और बहादुरी के ख़िलाफ़ क़रार दिया। इन तमाम बातों के बावजूद शानदार इमारतें बनाने से बुर्जवाले ग़ुलाम वंश के शासकों को भी दिलचस्पी थी। इस दौर में क़ाहिरा में जो यादगार इमारतें बनाई गईं उनमें बरक़ूक़ की मस्जिद और मदरसा तथा 'क़ाबत बे' का मदरसा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मिस्र पर उसमानी तुर्कों का अधिकार

पन्द्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पश्चिमी एशिया में एक नई ताक़त उभरकर आई, जिसने तैमूरियों की जगह ले ली। ये उसमानी तुर्क थे। बायज़ीद प्रथम यद्यपि अंक़रा के युद्ध में तैमूर से पराजित हुआ था, और उसमानी सल्तनत लगभग मृतप्राय हो चुकी थी, लेकिन बायज़ीद के उत्तराधिकारियों ने जल्दी ही सम्भाल लिया और पहले से ज़्यादा शक्ति के साथ उभरे। मुहम्मद फ़ातेह ने 1453 ई॰ में क़ुस्तनतीनिया को जीतकर उसमानी सल्तनत को दुनिया की एक शक्तिशाली हुकूमत में बदल दिया। उभरती हुई उसमानी शक्ति का ज़ोर तोड़ने के लिए ईरान के सफ़वी शासक इसमाईल सफ़वी और ग़ुलाम वंश के शासक मलिक 'क़ानसूह ग़ौरी' (906 हि॰/1500 ई॰—922 हि॰/1516 ई॰) ने साझा मोर्चा बनाना चाहा, लेकिन उसमानी सुल्तान सलीम प्रथम ने इस मंसूबे को नाकाम कर दिया। चालदरान की लड़ाई में इसमाईल सफ़वी को हराने के बाद सलीम ने शाम (सीरिया) का रुख़ किया। 24 अगस्त 1516 ई॰ को हलब के पास 'मरजदाबिक़' की लड़ाई में सलीम ने क़ानसूह ग़ौरी को भी पराजित किया और क़ानसूह ग़ौरी युद्ध में मारा गया। तूमान-बे ने जिसे ग़ुलामों ने नया शासक चुना, सलीम की पेशक़दमी को रोकना चाहा, लेकिन क़ाहिरा के पास अदानिया की लड़ाई में 22 जनवरी 922 हि॰/1517 ई॰ को वह भी पराजित हुआ, और गिरफ़्तार होकर क़त्ल हुआ। ग़ुलामों की सत्ता ख़त्म हो गई और मिस्र एवं शाम (सीरिया) उसमानी सल्तनत का अंग बन गए। सुल्तान सलीम, अब्बासी ख़लीफ़ा मुतवक्किल तृतीय को 923 हि॰/1518 ई॰ में मिस्र से वापसी पर अपने साथ इस्तंबोल ले गया। इस प्रकार

ख़िलाफ़त भी मिस्र से तुर्की स्थान्तरित हो गई।

ममलूक बादशाहों के कारनामे

मिस्र एवं शाम (सीरिया) में ग़ुलाम-वंश के शासकों का शासनकाल इस्लामी इतिहास का बहुत महत्वपूर्ण दौर है। उनका सबसे बड़ा कारनामा मंगोलों के हमले की रोक-थाम है। शाम (सीरिया) को तो वे मंगोलों के लूटपाट एवं मारकाट से ज़्यादा नहीं बचा सके, लेकिन मिस्र का उन्होंने बड़ी सफलता से बचाव किया। शाम (सीरिया) के तटीय क्षेत्र से बचे-खुचे सलीबियों का सफ़ाया, उनका दूसरा बड़ा कारनामा है। इस प्रकार उन्होंने इस क्षेत्र को कम-से-कम छह सौ साल तक बाहरी साज़िशों एवं हमलों से सुरक्षित रखा।

ग़ुलाम-वंश के बादशाहों में कई शासक जैसे : मलिक अज़-ज़ाहिर बैबरस, मंसूर क़लाऊन और मलिक अन-नासिर मुहम्मद, ज्ञानवान एवं सुसभ्य शासक थे। परन्तु उनकी बहुसंख्यक आबादी गँवार एवं असभ्य थी, विशेष रूप से बुर्जवाले ग़ुलाम वंश के शासक ज़्यादा गंवार और जाहिल थे। ये शासक धार्मिक मामलों में तो शरीअत की पाबन्दी करते थे परन्तु उनकी निजी ज़िन्दगी में ग़ैर-इस्लामी प्रभाव अब भी मौजूद था। वे अपने निजी मामलात के फ़ैसले 'तोर-ए-चंगेज़ी' के अनुसार करते थे।

क़ाहिरा

मिस्र के ग़ुलाम वंश के शासक व्यक्तिगत रूप से चाहे जैसे हों, इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि उनके दौर में मिस्र एवं शाम (सीरिया) अपनी ख़ुशहाली के चरम पर पहुँच गए थे। व्यापार का विकास हुआ और वास्तुकला ने बहुत तरक़्क़ी की। उस ज़माने में बहुलता से ऐसी मस्जिदें मदरसे, अस्पताल और मक़बरे बने जो वास्तुकला का उत्कृष्ट नमूना समझे जाते हैं। सुल्तान हसन इब्ने-क़लाऊन की बनवाई मस्जिद और मदरसा इस्लामी दुनिया की सुंदरतम इमारतों में गिने जाते हैं। इनके अलावा क़लाऊन का मक़बरा, अस्पताल, जामे-मुइय्यद, जामे क़ाबित-बे (दोनों मदरसे), आक़सुनक़र की नीली मस्जिद और ख़ान-ख़लीली का मुसक़्क़फ़

बाज़ार (छतदार बाज़ार/मार्केटिंग कॉम्पलेक्स) उस दौर की अहम तामीरी यादगारें हैं।

उनके ज़माने में क़ाहिरा दुनिया का सबसे बड़ा शहर बन गया था। आज भी क़ाहिरा की सबसे बड़ी दिलकशी उन गुलाम वंश के बादशाहों की इमारतों की वजह से है। पर्यटक इब्ने-बतूता मलिक अन-नासिर के ज़माने में क़ाहिरा आया था। वह लिखता है कि शहर में सक़्क़ों (पानी की टंकियों) की संख्या बारह हज़ार है, तीस हज़ार दुकानें हैं और कशतियों की संख्या 36 हज़ार है। उस ज़माने के एक जर्मन पर्यटक ने लिखा है कि क़ाहिरा में बारह हज़ार सड़के हैं और हर सड़क पर बारह हज़ार मकान हैं। ये आंकड़े अतिशयोक्तिपूर्ण बल्कि पूर्णतः ग़लत हैं, लेकिन इनसे यह स्पष्ट होता है कि क़ाहिरा इतना बड़ा शहर था कि लोगों को आश्चर्यचकित कर देता था और यूरोप के लोग जिन्होंने इतने बड़े शहर नहीं देखे थे, कोई सही अनुमान पेश नहीं कर सकते थे।

सुल्तान नासिर के बाद मिस्र में एक बड़ी सख़्त महामारी फैली थी। उस महामारी में क़ाहिरा में नौ लाख लोग मौत का शिकार हो गए थे। इतने लोगों के मरने के बाद भी दो सौ साल बाद एक अरब लेखक लियो अफ़्रीक़ी लिखता है—

> "क़ाहिरा एक अज़ीमुश्शान और हैरतअंगेज़ शहर है। सारी दुनिया में ऐसा शहर नहीं मिल सकता जो क़ाहिरा की शानो-शौकत का मुक़ाबला करे।"

ज्ञान एवं साहित्य

तैमूर का शासनकाल जिस प्रकार मध्य एशिया में ज्ञान एवं साहित्य के विकास का आख़िरी दौर था, उसी प्रकार मिस्र एवं शाम (सीरिया) में गुलामों का शासनकाल ज्ञान एवं साहित्य की तरक़्क़ी का आख़िरी दौर था। बल्कि सच्चाई तो यह है कि इस क्षेत्र में मिस्र सम्पूर्ण इस्लामी दुनिया में सबसे आगे निकल गया था। चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदी ईस्वी में मिस्र एवं शाम (सीरिया) में इमाम इब्ने-तैमिया (रह०) और हाफ़िज़ इब्ने-क़य्यिम जैसे महान

लेखक एवं विद्वान बहुत अधिक पैदा हुए। इसकी मिसाल इन दो सदियों में पूरी इस्लामी दुनिया में नहीं मिलती और बाद में भी बरकोचक, पाकिस्तान एवं भारत के अतिरिक्त किसी दूसरे भूभाग में नहीं मिलेगी।

इस दौर के लेखकों में सबसे प्रमुख तक़ीउद्दीन इब्ने-तैमिया हैं।

इब्ने-तैमिया (661 हि०/1263 ई०–728 हि०/1328 ई०)

तक़ीउद्दीन इब्ने-तैमिया उत्तरी शाम (सीरिया) के शहर हर्रान में पैदा हुए। यह वह ज़माना था कि मंगोलों के हमले शाम (सीरिया) पर होते रहते थे। अभी इब्ने-तैमिया पाँच साल ही के थे कि मंगोलों ने हमला किया और उनके पिता को घरवालों के साथ दिमश्क़ में पनाह लेनी पड़ी। इब्ने-तैमिया ने दिमश्क़ ही में शिक्षा प्राप्त की। वह बहुत मेधावी थे और उनकी स्मरण-शक्ति बहुत मज़बूत थी। इसलिए बीस साल की उम्र में ही उन्होंने सभी प्रकार के इल्म हासिल कर लिए। उस ज़माने के बड़े-बड़े नामवर आलिम जिन मसलों को हल नहीं कर सकते थे, वे उन्हें हल करके लोगों को हैरत में डाल देते थे।

इब्ने-तैमिया ने तलवार और क़लम दोनों से अपनी ज़िन्दगी में काम लिया। मंगोलों के हमले की रोक-थाम के लिए लोगों और हुकूमत को तैयार ही नहीं किया, बल्कि उन्होंने खुद लड़ाई में हिस्सा लिया और दिमश्क़ के निकट मंगोलों को पराजित किया।

लेकिन इब्ने-तैमिया का सबसे बड़ा कारनामा यह है कि उन्होंने दीनी उलूम (धार्मिक विद्या) का शोधन किया और इस्लामी आस्थाओं एवं मान्यताओं की सत्यता को पुरज़ोर तरीक़े से सिद्ध किया। उन्होंने क़ुरआन-भाष्य, हदीस, दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र और सूफ़ीवाद इत्यादि विषय पर किताबें लिखीं और मुसलमानों को उन ग़ैर-इस्लामी विचारों से बचाया जो मुसलमानों में फैलते जा रहे थे। उन्होंने तक़लीद अर्थात् अंधानुकरण के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई और वैचारिक स्वतंत्रता का समर्थन किया। उन्होंने ज्ञान की बुनियाद को तर्कशास्त्र के बजाय व्यावहारिक अनुभव पर क़ायम करने पर ज़ोर दिया।

इब्ने-तैमिया के सुधारों एवं विचारों के कारण बहुत-से उलमा उनके ख़िलाफ़ हो गए और हुकूमत पर दबाव डालकर उन्हें क़ैद करा दिया। इस प्रकार वह दिमश्क़, क़ाहिरा और स्किन्दरिया में तीन बार कैद किए गए। उनकी ज़िन्दगी के कई वर्ष क़ैद में ही गुज़रे, लेकिन वे जिस बात को सत्य समझते थे उसे बराबर कहते रहे। वे क़ैदख़ाने में भी किताबें लिखते रहे।

इब्ने-तैमिया की एक बड़ी ख़ूबी यह थी कि जब वे किसी मसले पर अपनी राय देते थे तो पहले ख़ूब पढ़ लेते थे और उसपर अच्छी तरह चिन्तन-मनन कर लेते थे। अतः वे लिखते हैं—

> ''कभी-कभी क़ुरआन की एक आयत के लिए मैंने सौ-सौ तफ़सीरों (क़ुरआन-भाष्य) का अध्ययन किया। अध्ययन के बाद मैं अल्लाह से दुआ करता कि मुझे आयत का भावार्थ समझने की क्षमता मिले। मैं अर्ज़ करता, ऐ आदम एवं इबराहीम के मुअल्लिम (ज्ञानदाता)! मेरी तालीम फ़रमा। सुनसान और ग़ैर-आबाद मस्जिदों एवं स्थानों की ओर चला जाता, अपनी पेशानी (माथा) ख़ाक पर मलता और कहता, ऐ इबराहीम को तालीम देनेवाले! मुझे समझ अता (प्रदान) कर।''

इब्ने-तैमिया के दिल में लोगों के सुधार का जज़्बा कूट-कूटकर भरा हुआ था और वे किसी अच्छे काम के लिए हुकूमत के सहयोग की प्रतीक्षा नहीं करते थे, बल्कि ख़ुद मैदाने-अमल में कूद पड़ते थे। यदि वे देखते थे कि बुराइयों की रोक-थाम में हुकूमत हिम्मत से काम नहीं ले रही तो वे अपने साथियों को लेकर ख़ुद उस बुराई का ख़ातिमा कर देते थे। इस सिलसिले में उनका एक कारनामा दिमश्क़ के शहर में शराब बन्द कराना है। ग़ुलाम-वंश के शासकों के ज़माने में इस शहर के बहुत-से मुसलमानों में शराब पीने का रिवाज हो चला था। इब्ने-तैमिया ने जब देखा कि हुकूमत इस सिलसिले में कोई क़दम नहीं उठा रही तो उन्होंने अपने साथियों की मदद से शहर में शराब बन्द कराने की मुहिम शुरू कर दी और आख़िरकार लोगों को इस अभिशाप से मुक्ति दिलाने में कामयाब हो गए। इब्ने-तैमिया की क़ैद की हालत ही में मृत्यु हुई लेकिन वे जनसाधारण में इतने लोकप्रिय हो गए थे

कि जब 22, ज़ी-क़ादा को दिमश्क़ में उनकी मृत्यु हुई तो दो लाख मर्द और पंद्रह हज़ार औरतें उनके जनाज़े के साथ थीं।

इब्ने-तैमिया निस्संदेह इस दौर की सबसे बड़ी इल्मी शख़्सियत हैं। उनके द्वारा रचित पुस्तकों की संख्या कई सौ है। केवल तफ़सीरे-क़ुरआन से सम्बद्ध किताबों की संख्या तीस खण्ड में हैं। उनकी निम्नलिखित चार किताबें महत्वपूर्ण हैं—

1. अल-जवाबुस-सहीह : यह ईसाइयत के खंडन में है।
2. अल-मिन्हाजुस-सुन्नत : इसमें अहले-सुन्नत वल-जमाअत के मतों की पुष्टि की गई है।
3. अर्रद्दु अलल-मन्तकिईन : इसमें दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र के बजाय क़ुरआन एवं सुन्नत के तरीक़े को अपनाने पर ज़ोर दिया गया है। अरस्तू के तर्कशास्त्र और उसके सिद्धान्तों का पहली बार सविस्तार खंडन किया गया है।

इब्ने-क़य्यिम

इब्ने-तैमिया के शागिर्द हाफ़िज़ इब्ने-क़य्यिम (691 हि॰/1292 ई॰—751 हि॰/1350 ई॰) भी इस्लामी इतिहास में इस्लामी चिन्तक के रूप में बहुत बुलन्द मक़ाम रखते हैं। वे कई किताबों के रचयिता हैं। उनमें सबसे प्रमुख 'आलामुल-मुवक़्क़िईन' तथा 'ज़ादुल-मआद' हैं। ज़ादुल-मआद के बारे में कहा जाता है कि ग़ज़ाली (रह॰) की 'इह्याउल-उलूम' के बाद शायद कोई दूसरी ऐसी सारगर्भित किताब नहीं लिखी गई, बल्कि क़ुरआन और सुन्नत से अनुकूलता के आधर पर इसे इह्याउल-उलूम पर श्रेष्ठता प्राप्त है।

कुछ दूसरे प्रसिद्ध लोग

इस दौर के दूसरे उलमा में मुहद्दिस इब्ने-हजर (773 हि॰/1372 ई॰—852 हि॰/1449 ई॰) हैं, जिनकी पुस्तक 'फ़तहुल-बारी' सहीह बुख़ारी (हदीस की किताब) की सबसे अच्छी शरह (व्याख्या) समझी जाती है। उन्होंने इसके अलावा भी हदीस, असमाउर-रिजाल (हदीस के रावियों के नाम) और

इतिहास के विषय पर कई प्रमुख किताबें लिखी हैं जो आज तक कारामद एवं लाभप्रद हैं। मुहीउद्दीन नववी (631 हि॰/1233 ई॰—676 हि॰/1277 ई॰) जिनकी 'अल-मिन्हाज' सहीह मुस्लिम (हदीस की किताब) की सबसे अच्छी शरह (व्याख्या) समझी जाती है। शम्सुद्दीन ज़हबी (673 हि॰/1274 ई॰—748 हि॰/1348 ई॰) जो अपने ज़माने के सबसे बड़े मुहददिस और हदीस के रावियों को परखने की कला 'इल्मुर-रिजाल' के माहिर थे और जलालुद्दीन सुयूती (849 हि॰/1445 ई॰—911 हि॰/1505 ई॰) जिन्हें कतिपय उलमा-मुजददिद (इस्लाम का पुनरुद्धार करनेवाला) क़रार देते हैं, इस दौर के अन्य प्रमुख उलमा में से हैं।

इस दौर में इतिहास में भी कई महत्वपूर्ण किताबें लिखी गईं। अबुल-फ़िदा (672 हि॰/1273 ई॰—733 हि॰/1331 ई॰) इस दौर के सबसे बड़े इतिहासकार और भूगोलविद हैं। उन्होंने इतिहास एवं भूगोल दोनों विषय में महत्वपूर्ण किताबें लिखीं। वे ज़मीन के गोल होने के क़ायल थे। दूसरे बड़े इतिहासकारों में इब्ने-कसीर (701 हि॰/1301 ई॰—774 हि॰/1372 ई॰) का नाम बहुत महत्वपूर्ण है। उनकी इतिहास की पुस्तक 'अलबिदाया वन-निहाया' बड़ी विस्तृत एवं प्रामाणिक इस्लामी इतिहास है। उसमें हर दौर के उलमा और दूसरे मशहूर लोगों के हालात भी हैं। इब्ने-कसीर की क़ुरआन-भाष्य भी बहुत मशहूर है। उर्दू में भी इसका अनुवाद हो गया है। यह तफ़्सीर हदीस पर आधारित है।

मक़रीज़ी (765 हि॰/1364 ई॰—845 हि॰/1442 ई॰), जिनकी किताब 'अल-ख़तत' जो मिस्र से सम्बन्धित जानकारियों का क़ीमती ख़ज़ाना है और लेखक अबुल-मुहासिन तफ़रीबरदी (812 हि॰/1409 ई॰—874 हि॰/1469 ई॰) जिनकी किताब 'नुजूमुज़-ज़ाहिरा' जो इस्लाम की फ़तूह से 1453 ई॰ तक मिस्र के विस्तृत इतिहास पर आधारित है, इस दौर के दूसरे बड़े इतिहासकार हैं।

इस दौर के लेखकों में सलाहुद्दीन ख़लील सफ़दी (697 हि॰/1296 ई॰—764 हि॰/1362 ई॰) का नाम इस आधार पर उल्लेखनीय है कि वे शायद दुनिया के सबसे बड़े जीवनी लेखक हैं। उनकी किताब 'अल-वाफ़ी'

तीस खण्डों में फैली हुई है। इनमें से जो खण्ड सुरक्षित हैं, केवल उनमें चौदह हज़ार मशहूर लोगों के हालात लिखे हुए हैं। शायद दुनिया में किसी एक व्यक्ति ने इतनी बड़ी संख्या में लोगों के हालात नहीं लिखे।

इब्ने-नफ़ीस (607 हि॰/1210 ई॰–687 हि॰/1288 ई॰) इस दौर के सबसे बड़े चिकित्सक थे। वे कई महत्वपूर्ण किताबों के लेखक हैं। रक्त-संचरण की अवधारणा जिससे यूरोपवाले सोलहवीं शताब्दी के मध्य में परिचित हुए, इब्ने-नफ़ीस ने तीन सौ साल पहले पेश कर दी थी। उन्होंने अपना मकान एवं पुस्तकालय क़ाहिरा के बीमारिस्तान मंसूरिया को वक़्फ़ कर दिया था।

बदरुद्दीन ऐनी (762 हि॰/1360 ई॰–855 हि॰/1451 ई॰) और सख़ावी (831 हि॰/1427 ई॰–902 हि॰/1496 ई॰) इस दौर के अन्य बड़े उलमा में गिने जाते हैं। सख़ावी आख़िरी बड़े मुहददिस थे। उनके बारे में कहा जाता है कि उनके बाद इल्मे-हदीस ख़त्म हो गया। अर्थात् विकास पूर्ण हो गया और चरम सीमा पर पहुँच गया।

इस ज़माने की एक और महान हस्ती शिहाबुद्दीन अहमद इब्ने-माजिद की है। यह अपने दौर के महान नाविकों में से एक था। इसने न केवल हिन्द महासागर और उससे मिले हुए तूफ़ानी समुन्दरों का वर्षों सफ़र किया, बल्कि वह जहाज़-निर्माण एवं जहाज़-चालन की कला का भी माहिर था, और इससे सम्बद्ध विषयों पर लगभग तीस पुस्तकों का वह रचयिता भी है। इन किताबों में सबसे महत्वपूर्ण 'अल-फ़वाइदु फ़ी उसूलि इल्मिल-बहरि वल-कवाइदु' है। जहाज़-चालनकला में इब्ने-माजिद के बाद फिर किसी मुसलमान ने कोई विशेष कार्य नहीं किया। पुर्तगाली नाविक वास्कोडिगामा 1498 ई॰ में इब्ने-माजिद से पूर्वी अफ़्रीक़ा के शहर मालन्दी में मिला था और इब्ने-माजिद ने ही वास्कोडिगामा को हिन्दुस्तान तक जाने का रास्ता बताया था। अहमद-बिन-माजिद के जहाज़-चालन के उपकरण, वास्को-डिगामा के उपकरणों से ज़्यादा अच्छे थे।

(सल्तनते-उसमानिया के पतन के बाद मिस्र के इतिहास के लिए देखें अध्याय 34/3)

समुद्री ग़ुलाम-वंश के शासक (647 हि॰/1250 ई॰–784 हि॰/1382 ई॰)

1. इ़ज़्ज़ुद्दीन ऐबक : (647 हि॰/1250 ई॰—655 हि॰/1257 ई॰)
2. नूरुद्दीन अली : (655 हि॰/1257 ई॰—657 हि॰/1259 ई॰)
3. सैफ़ुद्दीन क़ुतुज़ : (657 हि॰/1259 ई॰—658 हि॰/1260 ई॰)
4. मलिक अज़-ज़ाहिर बैबरस : (658 हि॰/1260 ई॰—676 हि॰/1277 ई॰)
5. मुहम्मद सईद बरक़ा ख़ाँ : (676 हि॰/1277 ई॰—678 हि॰/1279 ई॰)
6. सलामिश-बिन-बैबरस : (678 हि॰/1279 ई॰)
7. सैफ़ुद्दीन क़लाऊन : (678 हि॰/1279 ई॰—689 हि॰/1290 ई॰)
8. मलिक अशरफ़ ख़लील : (689 हि॰/1290 ई॰—693 हि॰/1293 ई॰)
9. मलिक अज-ज़ाहिर बैदरा : (693 ई॰/1293 ई॰)
10. मलिक अन-नासिर मुहम्मद-बिन-क़लाऊन : (693 हि॰/1293 ई॰—694 हि॰/1294 ई॰)
11. मलिक अल-आदिल कतबूग़ा : (694 हि॰/1294 ई॰—696 हि॰/1296 ई॰)
12. मंसूर लाचीन : (696 हि॰/1296 ई॰—698 हि॰/1298 ई॰)
13. मलिक अन-नासिर मुहम्मद (दूसरी बार) : (698 हि॰/1298 ई॰—708 हि॰/1308 ई॰)
14. बैबरस जाशंगीर : (708 हि॰/1308 ई॰—709 हि॰/1309 ई॰)
15. मलिक अन-नासिर मुहम्मद (तीसरी बार) : (709 हि॰/1309 ई॰—741 हि॰/1341 ई॰)
16. मंसूर अबू-बक्र : (741 हि॰/1340 ई॰—742 हि॰/1341 ई॰)
17. अलाउद्दीन कुचुक : (742 हि॰/1341 ई॰—742 हि॰/1342 ई॰)
18. नासिर शिहाबुद्दीन अहमद : (742 हि॰/1342 ई॰—743 हि॰/1342 ई॰)

19. मलिक अस-सालेह इसमाईल : (743 हि॰/1342 ई॰–746 हि॰/1345 ई॰)

20. ज़ैनुद्दीन शाबान : (746 हि॰/1345 ई॰–747 हि॰/1346 ई॰)

21. मुज़फ़्फ़रुद्दीन : (747 हि॰/1346 ई॰–748 हि॰/1347 ई॰)

22. नासिर हसन-बिन-मुहम्मद : (748 हि॰/1347 ई॰–752 हि॰/1351 ई॰)

23. सालेह सलाहुद्दीन-बिन-मुहम्मद : (752 हि॰/1351 ई॰–755 हि॰/1354 ई॰)

24. नासिर हसन-बिन-मुहम्मद (दूसरी बार) : (755 हि॰/1354 ई॰–762 हि॰/1361 ई॰)

25. मंसूर मुहम्मद : (762 हि॰/1361 ई॰–764 हि॰/1363 ई॰)

26. अशरफ़ शाबान : (764 हि॰/1363 ई॰–778 हि॰/1376 ई॰)

27. मंसूर अली-बिन-शाबान : (778 हि॰/1376 ई॰–783 हि॰/1381 ई॰)

28. सालेह हाजी-बिन-शाबान : (783 हि॰/1381 ई॰–784 हि॰/1382 ई॰)

बुर्जवाले ग़ुलाम-वंश के शासक (784 हि॰/1382 ई॰–922 हि॰/1517 ई॰)

1. मलिक अज़-ज़ाहिर बरक़ूक़ : (784 हि॰/1382 ई॰–801 हि॰/1398 ई॰)
2. मलिक अन-नासिर फिरज-बिन-बरक़ूक़ : (801 हि॰/1398 ई॰–808 हि॰/1405 ई॰)
3. मंसूर इज़्ज़ुद्दीन-बिन-अब्दुल-अज़ीज़ : (808 हि॰/1405 ई॰)
4. मलिक अन-नासिर फ़िरज (दूसरी बार) : (809 हि॰/1406 ई॰–816 हि॰/1412 ई॰)
5. शैख़ महमूदी : (816 हि॰/1412 ई॰–824 हि॰/1421 ई॰)
6. मुज़फ़्फ़र अहमद : (824 हि॰/1421 ई॰–824 हि॰/1421 ई॰)
7. मलिक अज़-ज़ाहिर ततर : (824 हि॰/1421 ई॰)
8. सालेह मुहम्मद-बिन-ततर : (824 हि॰/1421 ई॰–825 हि॰/1422 ई॰)

9. मलिक अल-अशरफ़ बरसबाए : (825 हि॰/1422 ई॰—841 हि॰/1438 ई॰)

10. अज़ीज़ यूसुफ़-बिन-बरसबाए : (841 हि॰/1438 ई॰—842 हि॰/1438 ई॰)

11. मलिक अज़-ज़ाहिर चक़मक़ : (842 हि॰/1438 ई॰—857 हि॰/1453 ई॰)

12. मंसूर उसमान-बिन-चक़मक़ : (857 हि॰/1453 ई॰)

13. मलिक अल-अशरफ़ एनाल : (857 हि॰/1453 ई॰—865 हि॰/1460 ई॰)

14. अहमद-बिन-एनाल : (865 हि॰/1460 ई॰—865 हि॰/1461 ई॰)

15. मलिक अज़-ज़ाहिर ख़ूश-क़दम : (865 हि॰/1461 ई॰—872 हि॰/1467 ई॰)

16. मलिक अज़-ज़ाहिर बलबाए : (872 हि॰/1467 ई॰)

17. मलिक अज़-ज़ाहिर तमरेग़ा : (872 हि॰/1467 ई॰—872 हि॰/1468 ई॰)

18. मलिक अल-अशरफ़ क़ायतबाए : (872 हि॰/1468 ई॰—901 हि॰/1495 ई॰)

19. नासिर मुहम्मद-बिन-क़ायतबाए : (901 हि॰/1495 ई॰—904 हि॰/1498 ई॰)

20. क़ानसूह : (904 हि॰/1498 ई॰—905 हि॰/1499 ई॰)

21. जान बलात : (905 हि॰/1499 ई॰—906 हि॰/1500 ई॰)

22. मलिक क़ानसूह ग़ौरी : (906 हि॰/1500 ई॰—922 हि॰/1516 ई॰)

23. तूमान बे : (922 हि॰/1516 ई॰—922 हि॰/1517 ई॰)

मिस्र के अब्बासी ख़लीफ़ा

1. अबुल-क़ासिम मुसतन्सिर-बिल्लाह : (659 हि॰/1262 ई॰–661 हि॰/1263 ई॰)
2. अबुल-अब्बास अहमद हाकिम बि-अमरिल्लाह : (661 हि॰/1263 ई॰–701 हि॰/1301 ई॰)
3. अबुर-रबीअ सुलैमान मुस्तकफ़ी-बिल्लाह : (701 हि॰/1301 ई॰–740 हि॰/1339 ई॰)
4. अबू-इसहाक़ इबराहीम वासिक़-बिल्लाह : (740 हि॰/1339 ई॰–741 हि॰/1340 ई॰)
5. अबुल-अब्बास अहमद हाकिम बि-अमरिल्लाह (द्वितीय) : (741 हि॰/1340 ई॰–748 हि॰/1347 ई॰)
6. अबू-बक्र मुअ्तज़िद-बिल्लाह : (748 हि॰/1347 ई॰–763 हि॰/1362 ई॰)
7. अबू-अब्दुल्लाह मुहम्मद मु-तवक्किल अलल्लाह (प्रथम) : (763 हि॰/1362 ई॰–785 हि॰/1383 ई॰)
8. अबू-हफ़्स उमर वासिक़-बिल्लाह : (785 हि॰/1383 ई॰–788 हि॰/1386 ई॰)
9. ज़करिया मुस्तासिम-बिल्लाह : (788 हि॰/1386 ई॰–791 हि॰/1389 ई॰)
10. मु-तवक्किल-अलल्लाह (दूसरी बार) : (791 हि॰/1389 ई॰–808 हि॰/1405 ई॰)
11. अबुल-फ़ज़्ल अब्बास मुस्तईन-बिल्लाह : (808 हि॰/1405 ई॰–816 हि॰/1414 ई॰)
12. अबुल-फ़त्ह दाऊद मुअ्तज़िद-बिल्लाह : (816 हि॰/1414 ई॰–845 हि॰/1441 ई॰)
13. अबुर-रबीअ सुलैमान मुस्तईन-बिल्लाह : (845 हि॰/1441 ई॰–854 हि॰/1450 ई॰)
14. अबुल-बक़ा हमज़ा क़ाइम बि-अमरिल्लाह : (854 हि॰/1450 ई॰–859 हि॰/1455 ई॰)

15. अबुल-मुहासिन यूसुफ़ मुस्तन्जिद-बिल्लाह (द्वितीय) : (859 हि॰/1455 ई॰–884 हि॰/1479 ई॰)
16. अब्दुल-अज़ीज़ मु-तवक्किल अलल्लाह : (884 हि॰/1479 ई॰–903 हि॰/1497 ई॰)
17. याक़ूब मुस्तमसिक-बिल्लाह : (903 हि॰/1497 ई॰–920 हि॰/1514 ई॰)
18. मुहम्मद मु-तवक्किल अलल्लाह (तृतीय) : (920 हि॰/1514 ई॰–923 हि॰/1518 ई॰)

मुहर्रम 923 हि॰ (1518 ई॰) में मिस्र पर सलीम उसमानी के क़ब्ज़े के बाद अब्बासी ख़िलाफ़त ख़त्म हो गई।

महत्वपूर्ण घटनाएँ

- 658 हि॰/1260 ई॰ (25, रमज़ान) – ऐने-जालूत की जंग में ममलूकों ने हलाकू ख़ाँ की फ़ौज को हराया।
- 659 हि॰/1262 ई॰ – ख़िलाफ़त बग़दाद से क़ाहिरा आई, मुसतन्सिर-बिल्लाह का ख़लीफ़ा नियुक्त होना।
- 678 हि॰/1280 ई॰ – मंसूर क़लाऊन ने हिम्स के निकट अबाक़ा ख़ाँ को पराजित किया।
- 699 हि॰/1299 ई॰ – ग़ाज़ान ख़ाँ ने दिमश्क़ को जीता, इब्ने-तैमिया ने ग़ाज़ान ख़ाँ से मुलाक़ात की और मुसलमानों से जंग करने पर उसे चेतावनी दी।
- 702 हि॰/1303 ई॰ (25, रमज़ान) – मरजुस्सफ़र की जंग में नासिर ने मंगोलों को पराजित किया। इब्ने-तैमिया ने भी जंग में भाग लिया।
- 803 हि॰/1401 ई॰ – तैमूर का शाम (सीरिया) फ़त्ह करना और दिमश्क़ को जलाना। इब्ने-ख़लदून की दिमश्क़ में तैमूर से मुलाक़ात।
- 922 हि॰/1516 ई॰ (24 अगस्त) – हलब के निकट सलीम उसमानी ने मरजदाबिक़ की जंग में ममलूकों को पराजित किया।
- 922 हि॰/1517 ई॰ – क़ाहिरा के पास रवानिया की जंग में ममलूकों की पराजय।
- 923 हि॰/1518 ई॰ – सलीम उसमानी आख़िरी अब्बासी ख़लीफ़ा मु-तवक्किल (तृतीय) को इस्तंबूल ले गया।

अध्याय-7

उत्तरी अफ़्रीक़ा : मुवह्हिदीन के बाद

(625 हि॰/1228 ई॰–957 हि॰/1550 ई॰)

मुवह्हिदीन का जब पतन हुआ तो उनकी विस्तृत सल्तनत, जो सम्पूर्ण उत्तरी अफ़्रीक़ा में फैली हुई थी, निम्नलिखित तीन रियासतों में बँट गई–

1. बनू-हफ़्स – (625 हि॰/1228 ई॰–941 हि॰/1534 ई॰)
2. बनू-अब्दुल-वाद[1] – (637 हि॰/1239 ई॰–962 हि॰/1554 ई॰)
3. बनू-मरीन – (667 हि॰/1269 ई॰–875 हि॰/1470 ई॰)

अन्दलुस (स्पेन) में बनू-अहमर ने जो हुकूमत क़ायम की वह इनके अलावा थी और उसका वर्णन इस पुस्तक के प्रथम भाग में किया जा चुका है।

1. बनू-हफ़्स-वंश

(625 हि॰/1228 ई॰–941 हि॰/1534 ई॰)

बनू-हफ़्स-वंश के शासन का संस्थापक शैख़ अबू-हफ़्स उमर-बिन-यह्या, मुवह्हिदीन के धर्म-सुधार आन्दोलन के संस्थापक इब्ने-तोरत के साथियों में

---

1. बनू-अब्दुल-वाद की सत्ता जिनको बनू-ज़्यान भी कहा जाता है, वर्तमान अल-जज़ायर (Algiers) के पश्चिमी हिस्से में थी और तिलमसान का ख़ूबसूरत एवं अच्छी जलवायुवाला शहर उनकी राजधानी थी। बनू-अब्दुल-वाद की तूनिस (ट्यूनिस) के बनू-हफ़्स और मराकश के बनू-मरीन से हमेशा लड़ाइयाँ होती रहती थीं। और वे कभी बनू-हफ़्स की अधीनता स्वीकार कर लेते थे और कभी बनू-मरीन की। इन लड़ाइयों के बावजूद उन्होंने तिलमसान-शहर को बहुत तरक़्क़ी दी। ज्ञान एवं साहित्य को प्रोत्साहन दिया, मदरसे और मस्जिदें बनवाईं। उस ज़माने में यह शहर अन्दलुस (स्पेन) से हिजरत (प्रवास) करके आनेवाले मुसलमानों का बहुत बड़ा केन्द्र बन गया था और इन योग्य प्रवासियों (हिजरत करनेवालों) के कारण कृषि, उद्योग, वास्तुकला और कला एवं संगीत की बड़ी तरक़्क़ी हुई। इब्ने-ख़लदून (इतिहासकार) ने अपनी विश्व-प्रसिद्ध पुस्तक 'मुक़द्दमा-ए-तारीख़' इसी ज़माने में तिलमसान के क़रीब लिखी।

से था। उसके बेटे अबू-मुहम्मद अब्दुल-वाहिद ने 603 हि॰/1207 ई॰ से 618 हि॰/1221 ई॰ तक अफ़्रीक़ा यानी वर्तमान तूनिस (Tunisia) के गवर्नर की हैसियत से शासन किया। 625 हि॰/1228 ई॰ में उसके पोते अबू-ज़करिय्या यह्या को अफ़्रीक़ा का गवर्नर नियुक्त किया गया। यह वह समय था, जब मुवह्हिदीन का पतन शुरू हो गया था, इसलिए अबू-ज़करिय्या यह्या ने दो साल बाद 627 हि॰/1229 ई॰ में आज़ादी का एलान कर दिया और अमीर (बादशाह) की उपाधि धारण कर ली। यही अबू-ज़करिय्या यह्या (625 हि॰/1228 ई॰—647 हि॰/1249 ई॰), बनू-हफ़्स की आज़ाद सल्तनत का संस्थापक़ है। बनू-हफ़्स की राजधानी तूनिस (Tunisia) थी और उनका शासन-क्षेत्र तराबुलुस (Tripoli) से अल-जज़ायर (Algiers) के मध्य भाग तक फैला हुआ था और कभी-कभी तिलमसान का शहर भी उनकी सत्ता के अधीन हो जाता था।

बनू-हफ़्स की सल्तनत तीन सौ साल की अवधि में दो बार उत्थान एवं पतन की प्रक्रिया से गुज़री है। उत्थान का पहला दौर 627 हि॰ से 694 हि॰ तक और दूसरा दौर 772 हि॰ से 893 हि॰ तक की अवधि में रहा। पहले दौर में अबू-ज़करिय्या यह्या जो इस वंश का संस्थापक था और उसका लड़का अबू-अब्दुल्लाह मुहम्मद योग्य शासक हुआ। अबू-अब्दुल्लाह मुहम्मद ने ख़लीफ़ा होने का दावा किया और 650 हि॰/1253 ई॰ में 'मुस्तन्सिर-बिल्लाह' (647 हि॰/1249 ई॰—675 हि॰/1277 ई॰) की उपाधि धारण की। उसके काल में इस सल्तनत की सीमाएँ पूरब में तराबुलुस (Tripoli) तक पहुँच गईं। इल्मे-फ़िक़्ह (इस्लामी धर्म-विधानशास्त्र) और वास्तुकला को बड़ी तरक़्क़ी मिली। यूरोप के देशों से व्यापारिक सम्बन्ध क़ायम हुए। मुस्तंसिर के बाद कुछ वर्ष तक अशान्ति रही, परन्तु उसके बाद पाँचवाँ शासक अबू-हफ़्स उमर प्रथम (683 हि॰/1284 ई॰—694 हि॰/1295 ई॰) ने पुनः स्थिर एवं शक्तिशाली सत्ता स्थापित कर ली।

अबू-हफ़्स उमर प्रथम धर्मपरायण एवं शान्तिप्रिय शासक था। उसके काल में बहुत-सी मस्जिदें एवं मदरसे बनाए गए।

अबू-हफ़्स उमर प्रथम के बाद तूनिस (Tunisia) पुनः एक लम्बी अवधि

तक अशान्ति एवं गृह-युद्ध का शिकार रहा। आख़िर में सोलहवें शासक सुलतान अबुल-अब्बास अहमद (772 हि॰/1370 ई॰–796 हि॰/1394 ई॰) ने पतनशील सल्तनत को एक बार पुनः सम्भाला। बग़ावतों को दबाया और शान्ति स्थापित की। और इस प्रकार बनू-हफ़्स के दूसरे दौर का आरम्भ हुआ। अबुल-अब्बास अहमद के बेटे अबू-फ़ारिस (796 हि॰/1394 ई॰–837 हि॰/1434 ई॰) ने सल्तनत को तराबुलुस (Tripoli) से अल-जज़ायर (Algiers) तक फैलाकर पहले की सीमा को पुनः बहाल किया। आख़िर में तिलमसान के बनू-अब्दुल-वाद को भी अधीनता स्वीकार करने पर मजबूर कर दिया। अबू-फ़ारिस न्यायप्रिय, धर्मपरायण एवं लोकप्रिय शासक था। उसने शरीअत के ख़िलाफ़ वुसूल किए जानेवाले टैक्स पर पाबन्दी लगा दी और जिहाद के लिए स्वयंसेवी व्यवस्था क़ायम की।

अबू-अम्र उसमान (839 हि॰/1435 ई॰–893 हि॰/1488 ई॰) बनू-हफ़्स का अन्तिम शक्तिशाली एवं योग्य शासक था। वह पाक-साफ़ विचारवाला एवं न्यायप्रिय था। उसने जलापूर्ति की व्यवस्था को विकसित किया। तूनिस (Tunisia) में सुख-शान्ति का वह लम्बा सौ वर्षीय दौर जो अबू-फ़ारिस के गद्दी पर बैठने के बाद शुरू हुआ था, अबू-अम्र उसमान के बाद ख़त्म हो गया। बनू-हफ़्स के पतनकाल में स्पेन की सत्ता ने जो मुसलमानों को स्पेन से निकालने के बाद एक बड़ी विश्व-शक्ति बन गई थी, 1510 ई॰ के बाद से अफ़्रीक़ा के मामलों में भी हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया और अल-जज़ायर (Algiers) एवं तूनिस (Tunisia) के कई हिस्सों पर क़ब्ज़ा कर लिया और 1534 ई॰ के बाद बनू-हफ़्स को अपने अधीन कर लिया। परन्तु इस प्रभुत्व को पूरब से आनेवाले उसमानी तुर्कों ने चैलेंज कर दिया। एक लम्बी अवधि तक तुर्कों और स्पेनवालों के बीच लड़ाइयाँ जारी रहीं, जिनमें अन्ततः तुर्कों की जीत हुई। 1553 ई॰ में तुर्क अमीरुल-बह्र (जलसेना पदाधिकारी) ख़ैरुद्दीन पाशा ने अल-जज़ायर (Algiers) को जीत लिया और 982 हि॰/1574 ई॰ में एक-दूसरे अमीरुल-बह्र औलूज पाशा ने तूनिस (Tunisia) को भी जीतकर सल्तनते-उसमानिया का एक हिस्सा बना लिया।

तूनिस (Tunisia)

बनू-हफ़्स का दौर तूनिस के विकास और ख़ुशहाली का दौर है। उनके ज़माने में तूनिस में शानदार इमारतें और जनकल्याण की संस्थाएँ बनीं, जिनमें उत्तरी अफ़्रीक़ा का प्राचीन मदरसा जामे-ज़ैतूनिया भी शामिल है। अब तक अफ़रीक़िया (Afrikia) का सबसे बड़ा राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं बौद्धिक केन्द्र क़ैरोवान था, लेकिन बनू-हफ़्स के ज़माने में शहर तूनिस ने क़ैरोवान की जगह ले ली। बनू-हफ़्स का दौर तूनिस के प्राचीन इतिहास का आख़िरी शानदार दौर था। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मिस्र एवं शाम (सीरिया) में ग़ुलाम वंश के शासकों का दौर और मध्य एशिया में तैमूरियों का दौर इस्लामी इतिहास के आख़िरी शानदार दौर थे। इसके बाद तूनिस का राजनीतिक सांस्कृतिक एवं बौद्धिक पतन शुरू हो गया। महान इतिहासकार इब्ने-ख़लदून (732 हि॰/1332 ई॰–808 हि॰/1406 ई॰) जिनके व्यक्तित्व और कृतित्व का वर्णन आगे किया जा रहा है, तूनिस ही में पैदा हुए थे और उन्होंने अपनी पुस्तक तिलमसान में लिखी थी।

2. बनू-मरीन

(667 हि॰/1269 ई॰–875 हि॰/1470 ई॰)

मरीनी वंश का बर्बर क़बीले 'ज़नाता' से सम्बन्ध था, परन्तु मुवह्हिदीन का पतन होने के बाद 1216 ई॰ में मरीनी सरदार अब्दुल-हक़ (591 हि॰/1195 ई॰–614 हि॰/1217 ई॰) ने मुवह्हिदीन के ख़िलाफ़ बग़ावत कर दी। पचास साल तक बनू-मरीन और मुवह्हिदीन के बीच लड़ाइयाँ होती रहीं और बनू-मरीन ने धीरे-धीरे मराकश (Morocco) में मुवह्हिदीन के इलाक़ों पर क़ब्ज़ा जमा लिया। 1245 ई॰ में उन्होंने मकनास और फ़ास (Faz) के महत्वपूर्ण शहरों पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। 656 हि॰/1258 ई॰ में जब अब्दुल-हक़ का चौथा बेटा अबू-यूसुफ़ याक़ूब गद्दी पर बैठा तो शहर मराकश (Morocco) को छोड़कर सम्पूर्ण मराकश-देश बनू-मरीन के क़ब्ज़े में आ चुका था। याक़ूब ने 667 हि॰/1269 ई॰ में मराकश पर भी क़ब्ज़ा कर लिया और मुवह्हिदीन-वंश के शासन का अन्त कर दिया।

अमीर याक़ूब

याक़ूब (656 हि॰/1258 ई॰–685 हि॰/1286 ई॰) पहला मरीनी शासक है जो पूरे मराकश पर शासन करता था। याक़ूब बड़ा योग्य, बुद्धिमान, प्रजापालक और न्यायप्रिय शासक था। उत्तरी अफ़्रीक़ा के सम्पूर्ण इतिहास में सिवाय अब्दुल-मोमिन और याक़ूब अल-मंसूर के और कोई बादशाह उसका मुक़ाबला नहीं कर सकता। उसकी आदत और चरित्र याक़ूब अल-मंसूर से बहुत मिलती-जुलती थी। याक़ूब ने अपने शासनकाल में जितनी बड़ी संख्या में अस्पताल और दीन-दुखी सहायता केन्द्र बनाए उतनी उत्तरी अफ़्रीक़ा में अभी तक किसी ने नहीं बनाए थे। उसने अंधों, कुष्ठग्रस्त रोगियों एवं विकलांगों के लिए मासिक वज़ीफ़े (पेंशन) निर्धारित किए और फ़ास (Faz) में एक बहुत बड़ा मदरसा बनवाया।

अमीर याक़ूब ने विद्वानों (आलिमों) और भले लोगों को अपना दरबारी बनाया और सभी काम उनके परामर्श से करता था। याक़ूब प्रजापालक शासक तो था ही, लेकिन वह बड़ा अच्छा सेनापति भी था। हम पढ़ चुके हैं कि मुवह्हिदीन के बाद अन्दलुस (स्पेन) के इस्लामी शासन का पतन हो गया था और मुसलमानों का शासन केवल शहर ग़रनाता (Granada) और उसके आसपास के इलाक़ों तक सीमित होकर रह गया था। अमीर याक़ूब के ज़माने में इस छोटे-से राज्य को ईसाई सत्ता से ख़तरा पैदा हो गया था, जिसके कारण उसने कई बार अमीर याक़ूब से मदद ली। याक़ूब ने 659 हि॰/1261 ई॰ से 674 हि॰/1275 ई॰ तक और 676 हि॰/1277 ई॰ में अन्दलुस पर सफल आक्रमण किए और ईसाइयों को हर बार हराकर क़ुरतुबा (Cordova) और अशबीलिया तक का इलाक़ा जीत लिया। इसके बाद 1284 ई॰ में याक़ूब स्पेन के बादशाह की मदद के लिए आया और मैड्रिड (Madrid) एवं तुलैतिला (Toledo) को जीत लिया और अलफ़ांसो को तख़्त पर बैठाया। याक़ूब ने वापस होने से पहले ईसाई हुकूमत से निम्न शर्तें मनवा लीं।

1. अन्दलुस के मुसलमानों से कोई टैक्स नहीं लिया जाएगा।
2. अन्दलुस में जितनी भी अरबी किताबें हैं वे मराकश (Morocco) भेज

दी जाएँ।

इन शर्तों के अनुसार जब ये किताबें आ गईं तो याक़ूब ने उन्हें फ़ास (Faz) के मदरसे में भेज दिया।

याक़ूब मिस्र के बादशाह बैबरस का समकालीन था, परन्तु उससे बड़ा विद्वान, प्रजापालक और न्यायप्रिय शासक था। सच्ची बात तो यह है कि उस ज़माने में वह सारी दुनिया में सबसे अच्छा बादशाह था। उसके बाद फिर कोई मुसलमान बादशाह स्पेन पर हमला न कर सका।

याक़ूब के बाद उसका लड़का यूसुफ़ (685 हि॰/1286 ई॰—706 हि॰/1307 ई॰) गद्दी पर बैठा। उसने वहरान (Oran), अल-जज़ायर और बजाया (Bougie) पर क़ब्ज़ा करके बनू-मरीन की सल्तनत पूरब में बनू-हफ़्स के इलाक़ों तक पहुँचा दी। उसका दौर सुख-शान्ति का दौर था। पुर्तगाल, तूनिस और मिस्र ने यूसुफ़ से अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिशें कीं और उसके दरबार में अपने प्रतिनिधि एवं तोहफ़े भेजे।

यूसुफ़ की मृत्यु के बाद बनू-मरीन का स्वर्ण-युग समाप्त हो गया। आख़िरी दौर में सुल्तान अबुल-हसन अली (731 हि॰/1331 ई॰—749 हि॰/1348 ई॰) के ज़माने में बनू-मरीन एक बार फिर सम्भले, तिलमसान पर क़ब्ज़ा कर लिया और तूनिस भी जीत लिया। परन्तु ये सफलताएँ क्षणिक साबित हुईं। अबुल-हसन के बाद उसका लड़का सुल्तान अबुल-अनान (749 हि॰/1348 ई॰—759 हि॰/1358 ई॰) तख़्त पर बैठा। अबुल-अनान ने 1357 ई॰ में तूनिस को जीतकर एक बार फिर सल्तनत की सीमा में विस्तार किया, परन्तु अगले साल सुल्तान की मृत्यु के बाद न केवल क़ब्ज़ा किए गए सम्पूर्ण इलाक़े बनू-मरीन के हाथ से निकल गए बल्कि मराकश भी गृह-युद्ध का शिकार हो गया। अबुल-अनान बनू-मरीन का आख़िरी ताक़तवर शासक था। उसके बाद देश अशान्ति, हंगामों और बिखराव की चपेट में आ गया। 875 हि॰/1470 ई॰ में बनू-मरीन की एक दूसरी शाख बनू-वतास ने, बनू-मरीन की इस हुकूमत का जो अमीर अब्दुल-हक़ के वंश में चली आ रही थी, अन्त कर दिया। इब्ने-बतूता ने अपना सफ़रनामा इसी बादशाह के ज़माने में लिखा।

बनू-वतास

वतास-वंश के शासन का संस्थापक शैख़ मुहम्मद वतासी (मृत्यु-910 हि॰/1500 ई॰) है।

बनू-मरीन के आख़िरी दौर में मराकश (Morocco) पर स्पेन और पुर्तगालवालों के हमले शुरू हो गए थे। अब तक यह हाल था कि यद्यपि स्पेन के बड़े हिस्से से मुसलमान निकाले जा चुके थे, लेकिन स्पेन और पुर्तगाल की ईसाई हुकूमतें मराकश पर हमला करने की हिम्मत नहीं कर सकती थीं, बल्कि उल्टे याक़ूब अल-मंसूर मरीनी के ज़माने तक मराकश के मुसलमान स्पेन पर हमला करते थे, परन्तु अब स्थिति बदल गई। बनू-मरीन के पतन और बिखराव से फ़ायदा उठाकर 1415 ई॰ में पुर्तगाल ने सबता पर अधिकार कर लिया। 869 हि॰/1465 ई॰ में तंजा (Tangier) पर और 866 हि॰/1462 ई॰ में जबलुत-तारिक़ (Gibralter) पर स्पेन ने अधिकार कर लिया। शैख़ मुहम्मद वतासी के लड़के मुहम्मद बरतक़ाली ने ईसाई आक्रमण को रोकना चाहा लेकिन सफल न हुआ और 1506 ई॰ और 1507 ई॰ के बीच पुर्तगालियों ने अल-जदीदा, साफ़ी, अज़मूर और अनमादीर की बन्दरगाहों पर अधिकार कर लिया, और इस प्रकार मराकश का सारा तटीय क्षेत्र पुर्तगाल और स्पेनवालों के अधिकार में आ गया, और वतासी शासक उस क़ब्ज़े को स्वीकार करने पर मजबूर हो गए। ग़रनाता (Granada) हाथ से निकल जाने के बाद वहाँ के आख़िरी शासक अबू-अब्दुल्लाह ने शैख़ मुहम्मद वतासी के पास पनाह ली।

957 हि॰/1550 ई॰ में मराकश के बनू-सअद ने वतासी शासन का अन्त कर दिया।

बनू-मरीन के दौर की सांस्कृतिक परिस्थिति

बनू-मरीन का शासनकाल याक़ूब अल-मंसूर और यूसुफ़ के दौर को छोड़कर राजनीतिक दृष्टि से अधिक शानदार एवं उज्ज्वल नहीं है, लेकिन सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से यह दौर मराकश के इतिहास का एक शानदार अध्याय है। अन्दलुस से आनेवाले प्रवासी यद्यपि पूरे उत्तरी अफ़्रीक़ा

में फैल गए थे, लेकिन उनकी सबसे बड़ी संख्या सुदूर पश्चिम या वर्तमान मराकश में आबाद हुई। ये अन्दलुसी मुसलमान दुनिया के अत्याधुनिक एवं विकसित समाज से सम्बन्ध रखते थे। उनमें हर प्रकार के कलाकार, कारीगर, टेक्नीशियन, साहित्यकार एवं कवि मौजूद थे। उनके आने से उत्तरी अफ़्रीक़ा के सांस्कृतिक जीवन को साधारण रूप से और मराकश के सांस्कृतिक जीवन को विशेष रूप से बल मिला। मरीनी दरबार उलमा (विद्वानों) और साहित्यकारों का केन्द्र बन गया। अन्दलुसी टेक्नीशियनों एवं कारीगरों की मदद से मरीनी सुल्तानों ने शानदार महल और जनकल्याण के विभाग बनवाए। बनू-मरीन के शासनकाल में भारी संख्या में मस्जिदें, मदरसे, पुस्तकालय, बाग़-बग़ीचे, स्नानागार एवं मुसक़्क़फ़ बाज़ार (छतदार बाज़ार/ आधुनिक रूप मार्केटिंग कॉम्पलेक्स) बनवाए गए, जो अपनी शानो- शौकत में किसी महल से कम नहीं थे। एक बार जब सुल्तान अबुल-अनान के सामने फ़ास के मदरसे के ख़र्च का ब्योरा पेश किया गया तो उसने तत्काल एक शेर पढ़ा, जिसका अर्थ यह था : "हुस्न चाहे किसी क़ीमत पर ख़रीदा जाए, वह कभी महंगा साबित नहीं होता, और जिस चीज़ से इनसान को ख़ुशी प्राप्त हो उसकी कोई क़ीमत अदा नहीं की जा सकती।" आज भी मराकश के सभी शहरों में 'बू-अनानिया' नामक मदरसे मिलेंगे। ये सब सुल्तान अबू-अनान की ज्ञान-प्रियता की यादगारें हैं।

बनू-मरीन की राजधानी फ़ास (Faz) थी। सुल्तान याक़ूब अल-मंसूर ने 1276 ई॰ में इसके क़रीब ही नए फ़ास (New Faz) की बुनियाद डाली। शीघ्र ही यह शहर सुन्दर और शानदार इमारतों, बाग़ों, मदरसों और मस्जिदों का शहर बन गया। फ़ास की 'जामे-क़ज़वैन', जो उत्तरी अफ़्रीक़ा का प्राचीन मदरसा है, इसका विस्तार इसी ज़माने में हुआ और अन्दलुस (स्पेन) से आनेवाली किताबें, सुल्तान याक़ूब अल-मंसूर ने इसी मदरसे के पुस्तकालय को दी थी।

बनू-हफ़्स और बनू-मरीन के दोनों वंशों अर्थात् अब्दुल-हक़ का वंश और वतास का वंश, इन दोनों के ख़ातिमे पर उत्तरी अफ़्रीक़ा में इस्लामी इतिहास का वह अन्तरिम काल समाप्त हो गया, जो मुवह्हिदीन के पतन के बाद

शुरू हुआ था। पूरब में यह दौर बग़दाद की तबाही के बाद शुरू हुआ और लगभग उसी ज़माने (यानी सोलहवीं शताब्दी के शुरू) में ख़त्म हुआ जब मध्य एशिया एवं मिस्र में क्रमशः तैमूरियों एवं ग़ुलाम वंश के शासकों का पतन हुआ। उत्तरी अफ़्रीक़ा के इतिहास के इस कालखण्ड में बादशाहों के अलावा बड़े-बड़े विद्वान गुज़रे हैं। उनमें से हम केवल एक इतिहासकार एवं एक पर्यटक की यहाँ चर्चा करेंगे—

इब्ने-बतूता

पर्यटक का नाम इब्ने-बतूता (703 हि॰/1304 ई॰—779 हि॰/1377 ई॰) है। इब्ने-बतूता मराकश (Morocco) के शहर तंजा (Tangier) का रहनेवाला था। इस्लामी इतिहास में बहुत-से पर्यटक गुज़रे हैं। उनमें से कुछ जैसे, मक़दिस, इब्ने-हौकल मसऊदी और इब्ने-जुबैर बड़े पर्यटकों में गिने जाते हैं, लेकिन उनमें कोई भी इब्ने-बतूता से महान पर्यटक नहीं था। हक़ीक़त तो यह है कि इब्ने-बतूता न सिर्फ़ सबसे बड़ा मुसलमान पर्यटक था, बल्कि वह उस समय से पहले दुनिया का सबसे बड़ा पर्यटक था। उसने दुनिया के जितने बड़े हिस्से की सैर की, उस वक़्त तक किसी ने भी नहीं की थी।

इब्ने-बतूता 2 रजब, 725 हि॰ तद्नुसार 14 जून, 1325 ई॰ को इक्कीस वर्ष की उम्र में हज के इरादे से अपने वतन तंजा (Tangier) से रवाना हुआ। उसके माँ-बाप दोनों जीवित थे, इसलिए इतने लम्बे सफ़र पर रवाना होने के ख़याल से उनकी जुदाई बड़ी कठिन महसूस हुई, परन्तु सफ़र के शौक़ में उसने इस जुदाई को गवारा कर लिया, और वह अपने लम्बे सफ़र पर, जो 28 सालों में ख़त्म होनेवाला था, ख़ुदा का नाम लेकर चल पड़ा। तिलमसान, अल-जज़ायर (Algiers), तूनिस (Tunisia) और तराबुलुस (Tripoli) होता हुआ 5, अप्रैल 1326 ई॰ को वह मिस्र की प्रसिद्ध बन्दरगाह सिकन्दरिया (Alexandria) पहुँच गया। इब्ने-बतूता ने लगभग छह माह तक मिस्र (Egypt) और शाम (Syria) की सैर की और हर दर्शनीय वस्तु एवं जगह देखी। उसके बाद उसने नवम्बर 1326 ई॰ में मदीना की ज़ियारत की और मक्का पहुँचकर हज किया। मक्का से वह इराक़ एवं ईरान के लिए रवाना हुआ। उसने बसरा और कूफ़ा की सैर की और करबला में इमाम हुसैन

(रज़ि॰) के मज़ार की ज़ियारत की। इब्ने-बतूता ने बग़दाद की वीरानी का अफ़सोस के साथ ज़िक्र किया है और लिखा है कि पश्चिमी हिस्सा खंडहर हो चुका है, मदरसे वीरान पड़े हैं और शहर का मशहूर अस्पताल भी वीरान था।

1330 ई॰ में इब्ने-बतूता ने फिर हज किया और यमन की सैर की। यमन से वह पूर्वी अफ़्रीक़ा गया और वहाँ सवाकन, सौदान, ज़बला मक़दिशू (सोमालिया), मुमबासा (कीनिया) और क्लोआ (टांगानिका) की सैर की। वापसी में उसने हज़रे-मौत, उमान और बहरैन की सैर की और 1332 ई॰ में वह फिर हज के लिए गया। अब वह मिस्र (Egypt) और शाम (Syria) के रास्ते अनातोलिया की ओर रवाना हुआ। वह बरुसा भी गया जहाँ उसमानी वंश का दूसरा बादशाह 'औरख़ाँ' शासक था। यहाँ से वह रूस के इलाक़े क्रीमिया प्रायद्वीप गया जो सैर औरदह के शासक सुल्तान उज़बक (1312 ई॰—1340 ई॰) के क़ब्ज़े में था। सैर औरदह की राजधानी शहर सराय में उसने सुल्तान मुहम्मद उज़बक से मुलाक़ात की। यहाँ से वह उत्तर में बुलग़ार के ठंडे प्रदेश की सैर करने के लिए रवाना हुआ। अपने सफ़रनामे में उसने बुलग़ार का बड़ा दिलचस्प हाल लिखा है। वह लिखता है—

"रमज़ान का महीना था। रोज़ा इफ़्तार करने के बाद सिर्फ़ मग़रिब और इशा की नमाज़ पढ़ने का मौक़ा मिलता था। उसके बाद सुबह हो जाती थी और फ़ज्र की अज़ान हो जाती थी।"

इब्ने-बतूता ने यहाँ से और भी उत्तर में साइबेरिया के अंधकारपूर्ण इलाक़ों में जाने का इरादा किया, परन्तु फिर यह इरादा छोड़ दिया।

बुलग़ार की सैर के ज़माने में वह क़ुस्तनतीनिया (Coustantinople) भी गया। इसके बाद वह शहर सराय से रवाना होकर चालीस दिन में क़बचाक़ के जंगलों को पार करके ख़ुवारिज़्म पहुँचा। यहाँ उसने समरक़न्द, बुख़ारा, नीशापुर और दूसरे मशहूर शहरों की सैर की। इसके बाद वह ग़ज़नी से होता हुआ मुहर्रम, 734 हि॰ तदनुसार सितम्बर 1333 ई॰ में सिंध के रास्ते पश्चिमी पाकिस्तान में दाख़िल हुआ। सिंधु-नदी को पार करते वक़्त उसने पहली बार गेंडा देखा। यह जानवर पहले पश्चिमी पाकिस्तान में पाया जाता था, परन्तु

अब लुप्त हो चुका है।

सिंध की गर्मी ने इब्ने-बतूता को बहुत परेशान किया। वह कपड़े भिगाकर जिस्म के ऊपर लपेट लेता था, तब उसे चैन मिलता था। उसने लिखा है कि सिंध में दूध और मछली की बहुतायत है। उसने पश्चिमी पाकिस्तान में लाहरी बन्दरगाह, भक्कर, मुल्तान और अजोधन की सैर की। सिंधु-नदी के बारे में वह लिखता है कि यह दुनिया की सबसे बड़ी नदियों में से है, और जिस प्रकार नील-नदी से मिस्र में खेती होती है उसी प्रकार इस नदी से पाकिस्तान में खेती होती है।

इसके बाद वह हाँसी होता हुआ दिल्ली पहुँचा। दिल्ली में सुल्तान मुहम्मद तुग़लक ने इब्ने-बतूता को क़ाज़ी (जज) बना दिया। वह लगभग आठ साल हिन्दुस्तान में रहा और कन्नौज, ग्वालियर, उज्जैन, दौलताबाद, ख़ंबायत, कालीकट और दूसरे शहरों की सैर की।

इब्ने-बतूता ने दिल्ली की इमारतों, दरबार के नियम-क़ानून और ईद मनाने का बड़ा दिलचस्प वृतान्त लिखा है।

हिन्दुस्तान की सैर के ज़माने में एक बार उसके क़ाफ़िले को डाकुओं ने लूट लिया। इब्ने-बतूता को बड़ी मुसीबतें उठानी पड़ीं। कई दिन भूखा-प्यासा रहा और बड़ी मुश्किल से जान बची।

दिसम्बर 1341 ई॰ में सुल्तान मुहम्मद तुग़लक ने इब्ने-बतूता को राजदूत बनाकर चीन भेजा, लेकिन कालीकट के बन्दरगाह पर ऐसा तूफ़ान आया कि उसका सारा सामान बरबाद हो गया, लेकिन इब्ने-बतूता तूफ़ान से डरनेवाला कब था। वह जहाज़ में बैठकर मालदीप और श्रीलंका गया। यहाँ से वह समुद्री जहाज़ से बंगाल (बंगलादेश) आया और सनादगाँव और सिलहट की सैर की। बंगाल के बारे में उसने लिखा है—

"बहुत विस्तृत और हरा-भरा देश है और चीज़ें इतनी सस्ती हैं कि दुनिया के किसी दूसरे देश में नहीं।"

बंगाल से इब्ने-बतूता सुमात्रा होता हुआ चीन गया और पूरे देश की ख़ूब सैर की। पूरब में यह आख़िरी देश था जिसकी उसने सैर की। इसके बाद

वह अपने वतन वापस हुआ। वापसी पर वह कई वर्ष मिस्र एवं शाम (सीरिया) में रहा और कई हज किए। उसी ज़माने में उसे अपनी माँ के इंतिक़ाल की ख़बर मिली। यह ख़बर सुनकर वह अपने घर रवाना हो गया। तंजा पहुँचकर सबसे पहले अपनी प्यारी माँ की क़ब्र पर गया और फ़ातिहा पढ़ी।

इब्ने-बतूता ने यद्यपि दुनिया के बड़े हिस्से की सैर कर ली थी और सम्पूर्ण सभ्य संसार देख लिया था, परन्तु पर्यटन एवं सैर का शौक़ अब भी ख़त्म नहीं हुआ था। अतः अब वह अन्दलुस (स्पेन) के लिए रवाना हुआ। वहाँ उसने मालक़ा, ग़रनाता और उन शहरों की सैर की जो अबतक इस्लामी सल्तनत में शामिल थे। यहाँ से जब वह वापस आया तो विशाल रेगिस्तान को पार करके उन देशों की सैर करने का शौक़ हुआ जहाँ अब तक मानव-भक्षी इंसान आबाद थे, परन्तु वहाँ मुसलमानों के पहुँच जाने से धीरे-धीरे सभ्यता की रौशनी फैलती जा रही थी।

इब्ने-बतूता फ़ास (Faz), मराकश (Morocco) और सजलमासा होता हुआ, चार माह के सफ़र का सामान लेकर एक क़ाफ़िले के साथ दुनिया के सबसे बड़े रेगिस्तान में दाख़िल हो गया। (मुहर्रम 735 हि०/18 फ़रवरी 1352 ई०) विशाल रेगिस्तान को पार करके वह पश्चिमी सूडान के शहर माली पहुँचा और वहाँ के बादशाह से मुलाक़ात की। माली की सल्तनत में उसने टिम्बकटू और दूसरे शहरों की सैर की। नरभक्षी हबशियों को देखा और उनका दिलचस्प हाल लिखा।

रेगिस्तान से वापसी पर उसने मराकश (Morocco) के सुल्तान अबुल-अनान मरीनी के आदेश से अपना यात्रा-वृतान्त (सफ़रनामा) संकलित किया। मध्य युग के इस सबसे बड़े पर्यटक का 1378 ई० में तंजा में देहान्त हुआ। उसकी क़ब्र अब तक वहाँ मौजूद है।

इब्ने-बतूता के सफ़र शुरू करने के तीस साल पहले इटली के एक व्यक्ति मारको पोलो (1254 ई०-1324 ई०) ने दुनिया के बहुत बड़े हिस्से का अपना भ्रमण समाप्त किया था, जिसके कारण मारको पोलो मध्य युग में यूरोप का सबसे बड़ा पर्यटक कहा जाता है, लेकिन इब्ने-बतूता पर्यटन के

मामले में मारको पोलो से बहुत आगे बढ़ गया। उन दोनों में जो अन्तर है उसे यूँ समझा जा सकता है–

1. मारको पोलो वास्तव में पर्यटक नहीं था। वह अपने बाप-दादा के साथ चीन में नौकरी के लिए गया था और उसका ज़्यादा समय चीन ही में गुज़रा। इसके विपरीत इब्ने-बतूता सही मानो में एक पर्यटक था। उसे सैर-सपाटे से दिली लगाव था और वह दुनिया की सैर ही करने के इरादे से अपने देश से निकला था।

2. मारको पोलो एक साधारण योग्यता एवं क्षमता का व्यक्ति था, लेकिन इब्ने-बतूता एक बड़ा विद्वान और साहित्यकार था।

3. मारको पोलो जिन-जिन देशों से गुज़रा, इब्ने-बतूता ने सिवाय गोबी रेगिस्तान के उन सब देशों की अच्छी तरह सैर की।

इसके अतिरिक्त उसने बुलग़ार, क़ुस्तनतीनिया (Constantinople), उत्तरी अफ़्रीक़ा, अन्दलुस और अफ़्रीक़ा के विशाल रेगिस्तान की भी सैर की, जिनकी मारको पोलो ने सैर नहीं की।

4. मारको पोलो अपने वतन से 24 साल बाहर रहा और इस अवधि में 13 साल चीन में रहा। इब्ने-बतूता ने 28 साल तक सैर की और हर देश में कई-कई महीने और कुछ में कई-कई साल रहा।

इब्ने-ख़लदून (732 हि॰/1332 ई॰–808 हि॰/1406 ई॰)

अब्दुर्रहमान-बिन-ख़लदून बनू-हफ़्स के दौर में तूनिस (Tunisia) में पैदा हुए। उनकी ज़िन्दगी का अधिकतर भाग तूनिस, फ़ास (Faz), ग़रनाता (Granada) और उत्तरी अफ़्रीक़ा के शहरों में गुज़रा। 1382 ई॰ में वे मिस्र चले गए, जहाँ ग़ुलाम-वंश के सुल्तान बरक़ूक़ ने उन्हें क़ाहिरा का क़ाज़ी (जज) बना दिया और वहीं 25 रमज़ान 808 हि॰ (16 मार्च 1406 ई॰) को उनका देहान्त हुआ। इब्ने-ख़लदून ने अन्दलुस (स्पेन), मराकश (Morocco), तूनिस (Tunisia) और मिस्र की राजनीति में सक्रिय भाग लिया। तैमूर के शाम (सीरिया) पर हमले के दौरान मिस्र की ओर से राजदूत की भूमिका निभाई और दिमश्क़ (Damascus) में तैमूर से मुलाक़ात की (1401 ई॰)।

इब्ने-ख़लदून 'किताबुल-इबर' नामक इतिहास की एक विशाल पुस्तक के रचयिता हैं, जो हज़रत आदम (अलैहि॰) से लेकर अपने ज़माने तक दुनिया के बड़े हिस्से के इतिहास को अपने में सेमेटे हुए है। इस इतिहास की पुस्तक का वह भाग विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है जो बर्बरों और अफ़्रीक़ा के विशाल रेगिस्तान के दक्षिण में आबाद काले लोगों के इतिहास से सम्बन्धित है। परन्तु इब्ने-ख़लदून की महानता इस इतिहास से ज़्यादा इस इतिहास के मुक़द्दमे (भूमिका) के कारण है। यह इतिहास और इसकी भूमिका तूनिस़ (Tunisia) और तिलमसान में लिखा गया था। भूमिका कई सौ पृष्ठों पर फैली हुई है और इसमें इब्ने-ख़लदून ने पहली बार इस बात से बहस की है कि क़ौमों का उत्थान एवं पतन क्यों होता है। साथ ही इस बात की भी चर्चा की है कि मौसम, भौगोलिक परिस्थितियों एवं पर्यावरण का लोगों के आचरण और आदतों पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है। यह भूमिका अति सारगर्भित एवं विचारोत्तेजक है।

उस समय तक दुनिया में किसी विचारक ने इतिहास को इस प्रकार दार्शनिक एवं बौद्धिक रूप में नहीं देखा था जिस प्रकार इब्ने-ख़लदून ने इस भूमिका में देखा है। उनकी इसी विशेषता के कारण इब्ने-ख़लदून को इतिहास-दर्शन और समाज-शास्त्र का संस्थापक माना जाता है। इस किताब की भूमिका का दुनिया की अधिकतर भाषाओं में एवं उर्दू में भी अनुवाद हो चुका है। (इसके अगले क्रम के लिए देखें : अध्याय-25)

बनू-हफ़्स (तूनिस) (625 हि॰/1228 ई॰–976 हि॰/1569 ई॰)

1. अबू-ज़करिय्या यह्या प्रथम : (625 हि॰/1228 ई॰–647 हि॰/1249 ई॰)
2. अबू-अब्दुल्लाह मुहम्मद मुस्तंसिर : (647 हि॰/1249 ई॰–675 हि॰/1277 ई॰)
3. अबू-ज़करिय्या यह्या द्वितीय अल-वासिक़ : (675 हि॰21277 ई॰–678 हि॰/1279 ई॰)
4. अबू-इसहाक़ इबराहीम प्रथम : (678 हि॰/1279 ई॰–682 हि॰/1283 ई॰)

5. अबू-हफ़्स उमर प्रथम : (683 हि॰/1284 ई॰—694 हि॰/1295 ई॰)

6. अबू-अब्दुल्लाह मुहम्मद द्वितीय : (694 हि॰/1295 ई॰—708 हि॰/1309 ई॰)

7. अबू-यह्या अबू-बक्र अश-शहीद : (709 हि॰/1309 ई॰)

8. अबुल-बक़ा ख़ालिद : (709 हि॰/1309 ई॰—711 हि॰/1311 ई॰)

9. अबू-यह्या ज़करिय्या प्रथम : (711 हि॰/1311 ई॰—717 हि॰/1317 ई॰)

10. अबू-दरबा : (717 हि॰/1317 ई॰—718 हि॰/1318 ई॰)

11. अबू-यह्या अबू-बक्र : (718 हि॰/1318 ई॰—747 हि॰/1346 ई॰)

12. अबू-हफ़्स उमर द्वितीय : (747 हि॰/1346 ई॰—748 हि॰/1347 ई॰)

13. अबुल-अब्बास अहमद : (748 हि॰/1347 ई॰)

बनू-मरीन का तूनिस पर क़ब्ज़ा : (748 हि॰/1348 ई॰—750 हि॰/1350 ई॰)

14. अबू-इसहाक़ इबराहीम द्वितीय : (750 हि॰/1350 ई॰—770 हि॰/1369 ई॰)

बनू-मरीन का दोबारा तूनिस पर क़ब्ज़ा (753 हि॰/1352 ई॰—759 हि॰/1358 ई॰)

15. अबुल-बक़ा ख़ालिद द्वितीय : (770 हि॰/1369 ई॰—772 हि॰/1370 ई॰)

16. अबुल-अब्बास अहमद द्वितीय : (772 हि॰/1370 ई॰—796 हि॰/1394 ई॰)

17. अबुल-फ़ारिस अब्दुल-अज़ीज : (796 हि॰/1394 ई॰—837 हि॰/1434 ई॰)

18. अबू-अब्दुल्लाह मुहम्मद चतुर्थ मुस्तंसिर : (837 हि॰/1434 ई॰—839 हि॰/1435 ई॰)

19. अबू-अम्र उसमान : (839 हि॰/1435 ई॰—893 हि॰/1488 ई॰)

20. अबू-ज़करिय्या यह्या तृतीय : (893 हि॰/1488 ई॰—894 हि॰/1489 ई॰)

21. अब्दुल-मोमिन : (894 हि॰/1489 ई॰—895 हि॰/1490 ई॰)

22. अबू-यह्या ज़करिय्या द्वितीय : (895 हि॰/1490 ई॰—899 हि॰/1494 ई॰)

23. अबू-अब्दुल्लाह मुहम्मद पंचम् : (899 हि॰/1494 ई॰—932 हि॰/1526 ई॰)

24. मौलाए-हसन : (932 हि॰/1526 ई॰—950 हि॰/1542 ई॰)

(मौलाए-हसन को 941 हि॰/1534 ई॰ में ख़ैरुद्दीन बारबरूसा ने निकाल दिया था, लेकिन 942 हि॰/1535 ई॰ में चार्ल्स पंचम् की मदद से वापस आ गया।)

25. सुल्तान अहमद : (950 हि॰/1542 ई॰—976 हि॰/1569 ई॰)

तुर्कों ने 976 हि॰/1569 ई॰ में शहर तूनिस पर क़ब्ज़ा कर लिया। 982 हि॰/1574 ई॰ में तुर्कों ने ऑस्ट्रिया के डॉन जॉन को हल्क़ुलवादी से निकालकर तूनिस पर पूरी तरह से क़ब्ज़ा कर लिया और बनू-हफ़्स का ख़ातिमा कर दिया।

बनू-मरीन के बादशाह (591 हि॰/1195 ई॰–875 हि॰/1470 ई॰)

1. अब्दुल-हक़ : (591 हि॰/1195 ई॰—614 हि॰/1217 ई॰)
2. उसमान प्रथम : (614 हि॰/1217 ई॰—637 हि॰/1239 ई॰)
3. मुहम्मद प्रथम : (637 हि॰/1239 ई॰—642 हि॰/1244 ई॰)
4. अबू-यह्या अबू-बक्र : (642 हि॰/1244 ई॰—656 हि॰/1258 ई॰)
5. अबू-यूसुफ़ याक़ूब : (656 हि॰/1258 ई॰—685 हि॰/1286 ई॰)
6. अबू-याक़ूब युसूफ़ : (685 हि॰/1286 ई॰—706 हि॰/1306 ई॰)
7. अबू-साबित अमीर : (706 हि॰/1306 ई॰—708 हि॰/1308 ई॰)

8. अबू-रबीअ सुलैमान : (708 हि०/1308 ई०–710 हि०/1310 ई०)
9. अबू-सईद उसमान द्वितीय : (710 हि०/1310 ई०–731 हि०/1331 ई०)
10. अबुल-हसन : (731 हि०/1331 ई०–749 हि०/1348 ई०)
11. अबू-अनान : (749 हि०/1348 ई०–759 हि०/1358 ई०)
12. सईद : (759 हि०/1358 ई०–760 हि०/1359 ई०)
13. अबू-सलीम इबराहीम : (760 हि०/1359 ई०–762 हि०/1361 ई०)
14. अबू-उमर ताशफ़ीन : (762 हि०/1361 ई०–763 हि०/1361 ई०)
15. अबू-ज़बान मुहम्मद द्वितीय : (763 हि०/1361 ई०–768 हि०/1366 ई०)
16. अब्दुल-अज़ीज़ : (768 हि०/1366 ई०–774 हि०/1372 ई०)
17. मुहम्मद तृतीय : (774 हि०/1372 ई०–776 हि०/1374 ई०)
18. अबुल-अब्बास अहमद : (776 हि०/1374 ई०–786 हि०/1384 ई०)
19. मुस्तंसिर : (786 हि०/1384 ई०–788 हि०/1386 ई०)
20. मुहम्मद चतुर्थ : (788 हि०/1386 ई०–789 हि०/1387 ई०)
21. अबुल-अब्बास अहमद (पुनः) : (789 हि०/1387 ई०–796 हि०/1393 ई०)
22. अबू-फ़ारिस : (796 हि०/1393 ई०–811 हि०/1408 ई०)
23. अबू-सईद : (811 हि०/1408 ई०–819 हि०/1416 ई०)
24. सईद : (819 हि०/1416 ई०–827 हि०/1424 ई०)
25. अब्दुल्लाह : (827 हि०/1424 ई०–875 हि०/1470 ई०)

अब्दुल्लाह के उत्तराधिकारी शरीफ़ से 875 हि०/1470 ई० में वतासी ख़ानदान ने सत्ता ले ली। वतासियों को 957 हि०/1550 ई० में सअदी शुरफ़ा ने ख़त्म कर दिया।

अध्याय-8

काले लोगों का देश : सूडान की धरती

1. लमतूना और मुराबितीन

अफ़्रीक़ा के मानचित्र पर यदि हम नज़र डालें तो उत्तरी अफ़्रीक़ा के देशों मराकश (Morocco), अल-जज़ायर (Algiers), तूनिस (Tunisia) और लीबिया के दक्षिण में एक बहुत बड़ा रेगिस्तान नज़र आएगा, जिसे सहरा-ए-आज़म (महानतम रेगिस्तान-अर्थात् अफ़्रीक़ा का सहारा रेगिस्तान) कहते हैं। यह दुनिया का सबसे बड़ा रेगिस्तान है जो अटलांटिक महासागर से लाल-सागर तक फैला हुआ है। वर्षा और जल के अभाव में ये सारा इलाक़ा ग़ैर-आबाद है। हाँ कहीं-कहीं मरुद्यान पाए जाते हैं जो एक-दूसरे से सैकड़ों मील की दूरी पर हैं। सहारा-क्षेत्र में रहनेवाले लोग आम तौर पर बर्बर नस्ल के हैं और ख़ानाबदोशों जैसी ज़िन्दगी गुज़ारते हैं। टिम्बकटू का प्राचीन शहर दक्षिण में सहारा-रेगिस्तान की सीमा है। टिम्बकटू, जो अफ़्रीक़ा की तीसरी सबसे बड़ी नदी नाइजीरिया के किनारे आबाद है, एक ज़माने में इस्लामी सभ्यता एवं ज्ञान-विज्ञान एवं साहित्य का बड़ा केन्द्र था। उसके दक्षिण में जो देश हैं वे रेगिस्तानी नहीं हैं। उन देशों की ज़मीनें बहुत उपजाऊ हैं और यहाँ बड़े-बड़े जंगल पाए जाते हैं। यहाँ के वासी बर्बर नहीं, बल्कि काले हबशी नस्ल के हैं। प्राचीन काल में इसी कारण अरबवाले इस क्षेत्र को 'सूदान' यानी 'काले रंगवालों की भूमि' कहा करते थे। इस्लाम लाने से पहले इन देशों के वासी काफ़िर और बुतपरस्त थे। कुछ क़बीलों में इनसानों का गोश्त खाने की परम्परा भी थी।

अब्दुल्लाह-बिन-यासीन

सहरा-ए-आज़म (सहारा रेगिस्तान) के बर्बर वासी चौथी सदी हिजरी (दसवीं सदी ईस्वी) तक आमतौर पर मुसलमान हो चुके थे। अतः मशहूर पर्यटक इब्ने-हौक़ल जब चौथी सदी हिजरी के मध्य में सहारा रेगिस्तान पार

करके बर्बरों के क़बीले लमतूना की राजधानी औदग़स्त गया तो उसने देखा कि वहाँ के सभी स्थानीय वासी मुसलमान हैं और अरब-व्यापारी भारी संख्या में आबाद हैं। एक और इतिहासकार याक़ूत हमवी ने लिखा है कि "औदग़स्त और आसपास के वासी चौथी सदी हिजरी के शुरू में मुसलमान हुए थे। इससे पहले वे काफ़िर थे, सूरज की पूजा करते थे और ख़ून एवं मुर्दा खाते थे, परन्तु अब ये क़ुरआन और फ़िक़्ह (इस्लामी धर्म-विधान) की तालीम हासिल करते हैं और मस्जिदों में जमाअत के साथ नमाज़ (सामूहिक नमाज़) अदा करते हैं।"

लमतूना-क़बीले के इन्हीं बर्बरों ने पाँचवीं सदी हिजरी में सहरा-ए-आज़म के दक्षिण में काले हबशी वासियों में इस्लाम फैलाया। यह वह ज़माना है जब बर्बरों में मुराबितीन का मशहूर इस्लामी आन्दोलन शुरू हुआ। एक मुराबिती प्रचारक और सरदार अब्दुल्लाह-बिन-यासीन ने, जो मुराबितीन-वंश के संस्थापक यूसुफ़-बिन-ताशफ़ीन के चाचा थे, 1042 ई॰ में सिनिगाल-नदी के एक टापू में एक रबात या ख़ानक़ाह (आश्रम) बनाई। इसी ख़ानक़ाह से वे धर्म-प्रचारकों की जमाअतें (टीम) देश के भीतरी भागों में भेजते थे और काले हबशीवासियों में इस्लाम का प्रचार करते थे। सबसे पहले सिनिगाल के प्रमुख क़बीले तकरूर ने इस्लाम क़बूल किया।

उस ज़माने में नाइजर-नदी की मध्य वादी में, जिसे अब माली कहा जाता है, काले हबशी लोगों की एक बहुत बड़ी सल्तनत क़ायम थी जिसे ग़ाना कहा जाता था। चूँकि यहाँ के लोग काफ़िर थे इसलिए मुसलमान इसे 'ग़ा-नतुल-कुफ़्फ़ार' भी कहते थे। ग़ानावालों ने दसवीं सदी ईस्वी में लमतूना-बर्बरों की राजधानी औदग़स्त पर भी क़ब्ज़ा कर लिया था। अब्दुल्लाह-बिन-यासीन ने ताक़त हासिल करने के बाद तकरूर-क़बीले की मदद से 1054 ई॰ में औदग़स्त को ग़ानावालों से वापस ले लिया। 1057 ई॰ में अब्दुल्लाह-बिन-यासीन सुदूर पश्चिम में एक जंग में शहीद हो गए। उनके अधूरे काम को एक दूसरे मुराबिती सरदार अमीर अबू-बक्र (1062 ई॰ से 1087 ई॰) ने पूरा किया और 1076 ई॰ में ग़ाना की राजधानी कुम्बी को जीत करके ग़ाना की काफ़िर सल्तनत का ख़ातिमा कर दिया। कुम्बी का

शहर वर्तमान टिम्बकटू के दक्षिण-पश्चिम में तीन सौ मील की दूरी पर स्थित था।

मुराबितीन तो जल्द ही अपने जीते हुए इलाक़े से वापस चले गए, लेकिन उन्होंने इस थोड़े समय में जिस धर्मप्रचार अभियान की बुनियाद डाल दी, वह बड़ी कामयाब साबित हुई और ग्यारहवीं सदी ईस्वी के अन्त तक सिनिगाल से चाड-झील के मध्य तक निवास करनेवाले सभी काले हबशी लोगों में इस्लाम फैल गया। उन ही में नाइजर की मध्य घाटी में सोंघाई और माली के क़बीले शामिल थे। एक सौ साल की अवधि में इस क्षेत्र में इस्लाम को जो तरक़्क़ी मिली उसका अंदाज़ा इस बात से किया जा सकता है कि 1200 ई॰ में जब नाइजर-नदी के किनारे स्थित शहर 'जन्नह' के बादशाह ने इस्लाम क़बूल किया तो इस ख़ुशी में ज़बरदस्त जश्न मनाया गया था, जिसमें माली के चार हज़ार दो सौ उलमा (धार्मिक विद्वानों) ने शिरकत की थी।

2. माली-सल्तनत (1230 ई॰–1545 ई॰)

ग़ाना (Ghana) के पतन के बाद उन इलाक़ों में जो कभी ग़ाना की सल्तनत में शामिल थे, कई छोटी-छोटी हुकूमतें क़ायम हो गईं। ये रियासतें वास्तव में ग़ाना की हुकूमत के अधीनस्थ थीं और अब ग़ाना के पतन के बाद सम्प्रभु (आज़ाद) हो गई थीं। उन ही में एक माली की रियासत भी थी। माली का इलाक़ा नाइजर-नदी की ऊपरी और मध्य घाटी पर स्थित था और रियासत की सीमाएँ नदी के दोनों ओर फैली हुई थीं। माली की प्राचीन सीमा लगभग वही थी जो आज माली-गणराज्य की है।

माली का शासक-वंश मुराबितीन-आन्दोलन के प्रारम्भिक काल में यानी ग्यारहवीं सदी ईस्वी के मध्य में मुसलमान हो चुका था। पहले मुसलमान शासक का नाम बरमन्दान था। माली का शासक-वंश पश्चिम अफ़्रीक़ा के सबसे बड़े क़बीले मनदिनगू से सम्बन्ध रखता था। इस वंश का पहला बड़ा शासक मारीजाता (1230 ई॰–1255 ई॰) है। उसने अपनी सल्तनत की सीमा पश्चिम में सिनिगल तक फैला ली थी। अब तक माली की राजधानी

जरीबा का शहर था, लेकिन मारीजाता ने न्यानी को, जो जरीबा के निकट ही था, राजधानी बनाया और अन्त तक यही माली की राजधानी रहा। बाद में यही शहर माली के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

मंसा मूसा

माली का सबसे प्रसिद्ध और सदाचारी व लोकप्रिय शासक मंसा मूसा (1307 ई०—1332 ई०) है। इसके काल में माली की सल्तनत अपने विकास की चरम-सीमा पर पहुँच गई। टिम्बकटू और गाव के मशहूर शहर फ़त्ह हुए और सल्तनत की सीमाएँ पूरब में गाव से पश्चिम में अटलांटिक महासागर तक और उत्तर में तफ़ाज़ह की नमक की खदानों से दक्षिण में तटीय जंगलों तक फैल गईं।

मंसा मूसा को सबसे ज़्यादा प्रसिद्धि उसके हज के सफ़र से मिली। यह सफ़र उसने 724 हि०/1324 ई० में किया था। यह सफ़र इतना भव्य और शानदार था कि उसके कारण मंसा मूसा की प्रसिद्धि न केवल इस्लामी दुनिया के एक बड़े हिस्से में फैल गई बल्कि ताजिरों (व्यापारियों) के ज़रीए यूरोप तक उसका नाम पहुँच गया। इस सफ़र में मंसा मूसा ने इतना अधिक सोना ख़र्च किया था कि मिस्र में सोने की क़ीमतें कई साल तक गिरी रहीं।

मंसा मूसा मक्का से एक अन्दलुसी (स्पेनिश) वास्तुविद अबू-इसहाक़ इबराहीम अस्साहिली को अपने साथ लाया, जिसने बादशाह के हुक्म से गाव और टिम्बकटू शहरों में पक्की ईंटों की दो ख़ूबसूरत मस्जिदें और टिम्बकटू में एक महल बनाया। माली के इलाक़े में उस समय तक पक्की ईंटों का प्रचलन नहीं हुआ था।

मंसा मूसा के ज़माने में माली के सम्बन्ध पहली बार दूसरे देशों से स्थापित हुए।[1] अतः मराकश (Morroco) के मरीन-वंश के सुल्तान

1. सम्बन्धों का यह सिलसिला मंसा मूसा के बाद भी जारी रहा। मारीजाता द्वितीय (1359 ई०—1374 ई०) ने 762 हि० में मरीन-वंश के शासक अबासालिम को जो तोहफ़े भेजे, उनमें एक ज़राफ़ा भी था जिसे देखने के लिए फ़ास (Faz) में हज़ारों लोग जमा हो गए थे। 1483 ई० और 1534 ई० में पुर्तगाल से भी दो राजनयिक माली आए। ये यूरोप के किसी देश के पहले राजनयिक सम्बन्ध थे।

अबुल-हसन से उसके अच्छे सम्बन्ध थे। मंसा मूसा दरवेश-स्वभाववाला और धर्मपरायण शासक था। उसके न्याय एवं इनसाफ़ के अनेक क़िस्से इतिहास की किताबों में मिलते हैं।

मंसा मूसा के बाद माली की सल्तनत का पतन शुरू हो गया। एक-एक करके सभी इलाक़े हाथ से निकल गए और 1545 ई॰ में शहर गाव के सूनग़ाई हुक्मरान ने माली की सल्तनत का ख़ातिमा कर दिया।

इब्ने-बतूता और माली

माली की सल्तनत के उत्थान-काल के आम हालात मालूम करने के लिए हमारे पास सबसे बड़ा माध्यम इब्ने-बतूता का सफ़रनामा (यात्रावृत्तान्त) है। इब्ने-बतूता 1352 ई॰ में माली आया था। उस समय मंसा मूसा के भाई सुलैमान-बिन-अबू-बक्र की हुकूमत थी। इब्ने-बतूता माली की सल्तनत में एक वर्ष से अधिक समय तक ठहरा, और इस बीच उसने राजधानी माली के अलावा गाव, तिगदा और टिम्बकटू की भी सैर की। इब्ने-बतूता ने माली की ख़ुशहाली और अमन-शान्ति की स्थिति की प्रशंसा की है। वहाँ के लोगों के बारे में वह लिखता है–

> "वे न्याय-प्रिय हैं और दूसरी क़ौमों के मुक़ाबले में ज़ुल्म-अत्याचार से नफ़रत करते हैं। सुल्तान मामूली-से जुर्म को भी माफ़ नहीं करता। देश में पूरी तरह अमन-शान्ति है। नागरिकों एवं विदेशी पर्यटकों को डाकुओं-लुटेरों से किसी प्रकार का ख़तरा नहीं है। ये लोग सफ़ैद नस्ल के लोगों की जायदाद पर कभी क़ब्ज़ा नहीं करते और उनकी मृत्यु पर उनके उत्तराधिकारियों को सौंप देते हैं। लोग नमाज़ पाबन्दी से पढ़ते हैं और नमाज़ बा-जमाअत (अर्थात् एक इमाम के पीछे सामूहिक रूप से) अदा करते हैं। अपने बच्चों को भी नमाज़ पढ़ने के लिए मस्जिद लाते हैं। मस्जिदों में नमाज़ के लिए इतनी भीड़ होती है कि यदि देर हो जाए तो अन्दर जगह नहीं मिल सकती।"

इब्ने-बतूता ने सूडानी नागरिकों की कुछ सामाजिक कुरीतियों का भी

उल्लेख किया है। उदाहरणतः "मुलाज़िम औरतें (कामकाजी महिलाएँ), लौंडियाँ (निजी नौकरानियाँ) और कम उम्र की बच्चियाँ हर एक के सामने नंगी घूमती हैं, यहाँ तक कि बादशाह की बच्चियाँ भी नंगी घूमती हैं। दरबार में बादशाह के सम्मान में सिर पर मिट्टी-धूल डालने का रिवाज है और लोग कुत्ते एवं गधे का गोश्त खा लेते हैं।

3. सूनग़ाई सल्तनत (1335 ई॰–1591 ई॰)

माली के पतन के बाद पन्दरहवीं सदी ईसवी में सूनग़ाई-क़बीले या सूँघाई-क़बीले का उत्थान हुआ। इस क़बीले का प्रमुख केन्द्र गाव का शहर था। यह शहर नाइजर-नदी के किनारे नाइजिरिया की राजधानी न्यामी के उत्तर-पश्चिम में वर्तमान माली की सीमाओं के अन्दर स्थित था। अरबी में इसे 'कोको' लिखा जाता है। मंसा मूसा ने जब गाव जीत लिया तो वह सूनग़ाई-क़बीले के दो शहज़ादों अली कोलीन और सुलैमान नार को बंधक के रूप में अपने साथ ले गया था। मंसा मूसा के उत्तराधिकारी ने उन्हें घूमने-फिरने एवं अन्य गतिविधियों की इजाज़त दे दी थी, जिससे फ़ायदा उठाकर ये दोनों शहज़ादे फ़रार हो गए और 1335 ई॰ में अली कोलीन ने गाव में आज़ाद हुकूमत बना ली।

सूनग़ाई की यह हुकूमत 1591 ई॰ तक क़ायम रही। एक सौ साल तक सूनग़ाई-शासक माली के हमलों का मुक़ाबला करते रहे और उनकी सत्ता गाव तक सीमित रही। इसके बाद उनमें एक शक्तिशाली शासक उभरा, जिसका नाम सुन्नी अली (1464 ई॰–1492 ई॰) है। उसने 1468 ई॰ में टिम्बकटू और 1473 ई॰ में जन्ना (Jenne) का मशहूर शहर जीतकर एक विस्तृत सल्तनत क़ायम कर ली।

अस्कीया महान (1492 ई॰–1528 ई॰)

सुन्नी अली के बाद सूनग़ाई-दरबार के एक सरदार मुहम्मद तूरी ने जो सोनिनके (Soninke) क़बीले से सम्बन्ध रखता था, गद्दी पर क़ब्ज़ा जमा लिया। मुहम्मद तूरी ने 'अस्कीया' की उपाधि ग्रहण कर ली जिसका अर्थ होता है—बादशाह। इतिहास में वह अस्कीया मुहम्मद प्रथम या अस्कीया

महान (1492 ई॰–1528 ई॰) के नाम से मशहूर है।

अस्कीया मुहम्मद अपने शासन के स्थिर एवं मज़बूत होने के बाद 1496 ई॰ में हज के लिए रवाना हुआ। पाँच सौ सवार, एक हज़ार प्यादे, और सफ़र के ख़र्च के लिए सोने के तीन लाख सिक्के उसके साथ थे। इसमें से एक तिहाई रक़म उसने पवित्र मक्का और मदीना के शहरों में जनकल्याण के कार्यों पर ख़र्च कर दी। वापसी में अस्कीया ने मिस्र के अब्बासी ख़लीफ़ा मुतवक्किल से सूडान-क्षेत्र की हुकूमत की सनद प्राप्त कर ली और वहीं कुछ दिन मशहूर आलिम (धार्मिक विद्वान) जलालुद्दीन सयूती की संगति में रहकर ज्ञान प्राप्त किया।

हज से वापसी के बाद अस्कीया मुहम्मद ने पश्चिम और दक्षिण की ओर अपनी सल्तनत को फैलाना शुरू किया। पूरब में उसने गोबैर, कानू, ज़ारिया और कितसीना की ग़ैर-मुस्लिम हावसा रियासतों को जीत लिया जो अब नाइजीरिया का एक हिस्सा हैं। इसके बाद उसने उत्तर के बर्बर क़बीलों ततरक़ा या तवारिग़ की ओर रुख़ किया जो हावसा की ख़ुशहाल बस्तियों पर छापे मारा करते थे। ख़ानाबदोश बर्बरों को रेगिस्तान की ओर भगा दिया और राज्य की सुरक्षा के लिए अगादस (Agades) के सरहदी इलाक़े में सोंघाई क़बीले को आबाद कर दिया।

अस्कीया मुहम्मद की यह सल्तनत काले लोगों की सबसे बड़ी सल्तनत थी। उसकी सीमाएँ ग़ाना और माली की सल्तनत से भी ज़्यादा विस्तृत थीं। अस्कीया मुहम्मद की सल्तनत दक्षिण के तटीय जंगलों को छोड़कर उस तमाम इलाक़े में फैली हुई थी, जो किसी ज़माने में फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीक़ा कहलाता था और जिसका क्षेत्रफल लगभग अट्ठारह लाख वर्ग मील था। सुलैमान क़ानूनी, इसमाईल सफ़वी, हुसैन बायक़रा, शैबाई ख़ान और सिकन्दर लोधी उसी के समकालीन थे।

अस्कीया मुहम्मद केवल एक बड़ा विजेता ही नहीं था बल्कि महान प्रशासनिक क्षमतावाला और बुद्धिमान शासक था। उसने शासन में पहली बार राजनीतिक, प्रशासनिक और फ़ौजी विभाग क़ायम किए और क़ाज़ी

(जज) नियुक्त किए। उसने देश को राज्यों (सूबों) में बाँटा और पुलिस की व्यवस्था की। उसने फ़ौज का अलग स्थायी विभाग क़ायम किया और नाइजर-नदी में उपयोग करने के लिए नावों का बेड़ा बनाया। ऐसा प्रतीत होता है कि हज के सफ़र के दौरान उसने अरब और मिस्र में हुकूमतों के राजनीतिक एवं प्रशासनिक ढाँचे का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया था, और अपने उस ज्ञान और तजरिबों से फ़ायदा उठाकर उसने सूडान की धरती पर सुधार कार्य किए।

अस्कीया मुहम्मद ने सूडान में उन ग़ैर-इस्लामी प्रभावों को समाप्त करने के लिए, जो मुसलमान हो जाने के बाद भी सूडानी नागरिकों में रह गए थे, यथाशक्ति प्रयास किया। उसने बिदअतों (वे ग़ैर-इस्लामी मान्यताएँ जो इस्लामी समझकर अपनाई गई थीं) और मुशरिकाना (बहुदेववादी) रिवाजों को समाप्त किया। इस्लाम के प्रचार-प्रसार की कोशिश की और प्रजा पर से टैक्स का भार कम किया। अस्कीया मुहम्मद चूँकि स्वयं आलिम था इसलिए उसने उलमा (विद्वानों) का खुलकर प्रोत्साहन किया और पश्चिमी सूडान के इतिहास में पहली बार उलमा को दरबार में प्रमुख पद प्राप्त हुए। मराकश का एक पर्यटक हसन अल-वज़ान फ़ासी, जिसने अस्कीया महान के शासन काल 1509 ई॰ में दो बार पश्चिमी सूडान का सफ़र किया था, लिखता है—

> "चिकित्सकों, क़ाज़ियों (जजों) और विद्वानों की बहुलता है। बादशाह उनके ख़र्च उदारतापूर्वक उठाता है। बाहरी देशों से जो किताबें आती हैं वे व्यापारियों के अन्य समानों के मुक़ाबले ज़्यादा क़ीमत प्राप्त करती हैं।"

अस्कीया मुहम्मद न केवल सूडान के इतिहास में सबसे बड़ा शासक गुज़रा है, बल्कि वह विश्व-इतिहास के महान शासकों में से एक है। उसके समकालीन हुक्मरानों में से सुलैमान महान के अलावा शायद कोई भी महानता में उसका मुक़ाबला नहीं कर सकता। इतिहासकारों ने उसे अस्कीया महान कहा है, जो हर प्रकार से उचित है।

अस्कीया महान के बाद सूनग़ाई की सल्तनत का पतन शुरू हो गया। सोलहवीं सदी ईस्वी के आख़िर में मराकश के शासक मंसूर ज़हबी ने सोने

के लालच में, जिसके लिए माली का इलाक़ा सदियों से मशहूर रहा है, सूडान पर चढ़ाई की और 1591 ई॰ में टिम्बकटू और राजधानी गाव जीतकर अस्कीया-वंश के शासन का अन्त कर दिया।

सभ्यता एवं संस्कृति

गाव के उत्थान का यह काल-खंड पश्चिमी अफ़्रीक़ा के इतिहास में कई दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस दौर में पश्चिमी सूडान में व्यापार को बड़ी तरक़्क़ी मिली, ज्ञान एवं साहित्य का विकास हुआ, बल्कि सूडान में ज्ञान एवं साहित्य तथा इस्लामी शिक्षाओं का पुनरुत्थान हुआ। जिस प्रकार माली की सल्तनत के उत्थान-काल की सामान्य परिस्थितियाँ जानने के लिए इब्ने-बतूता का यात्रावृत्तान्त (सफ़रनामा) सबसे बड़ा स्रोत है, उसी प्रकार मराकशी पर्यटक हसन अल-वज़ान फ़ासी की किताब उस ज़माने के हालात जानने का बहुत अच्छा साधन है। हसन अल-वज़ान ने, जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, अस्कीया महान के काल में दो बार सूडान की यात्रा की थी। हसन अल-वज़ान सूडान के बारे में लिखता है–

> "यहाँ सोने की प्रचुरता है, लेकिन नमक की बहुत कमी है। घोड़े भी बहुत कम होते हैं और अच्छी क़िस्म के घोड़े बाहर से आते हैं। बादशाह व्यापारियों को घोड़े की क़ीमत दिल खोलकर देता है। सिक्का सोने का होता है जिसपर कोई निशान या शब्द अंकित नहीं होते। कम क़ीमत के लिए सीपी इस्तेमाल की जाती है।"

टिम्बकटू के बारे में वह लिखता है–

> "यहाँ व्यापारियों और उद्योग-धंधेवालों की बहुत-सी दुकाने हैं और सूती कपड़ा बुना जाता है, सिवाय कामकाजी महिलाओं के सभी औरतें नक़ाब पहनती हैं। नागरिक, विशेष रूप से बाहरी नागरिक, बहुत दौलतमंद हैं। कुएँ बहुत अधिक संख्या में हैं। पानी मीठा है। नदियों का पानी नहरों के द्वारा शहर में जगह-जगह आता है। मकई, दूध, मक्खन और मवेशियों की बहुतायत है। नागरिक खुशमिज़ाज और नरम स्वभाव के हैं।"

शहर माली के सम्बन्ध में वह लिखता है–

"यहाँ की आबादी छह हज़ार से अधिक घरों की है। नागरिक धनी हैं। उलमा बहुत अधिक हैं और वे मस्जिदों में पढ़ाते हैं। यहाँ के नागरिक खुशमिज़ाज एवं हँसमुख हैं। सभ्यता-संस्कृति एवं उद्योग-धंधों में शेष सूडानी नागरिकों से बढ़कर हैं।"

राजधानी गाव के सम्बन्ध में वह लिखता है–

"यह शहर बग़ैर चहारदीवारी के है। सिवाय बादशाह और दरबारियों के शेष लोगों के घर साधारण हैं। व्यापारी बहुत धनी हैं। ग़ुलामों का बाज़ार पाया जाता है। उत्तरी अफ़्रीक़ा और यूरोप के कपड़ों की मांग है। गर्म मसाले की बड़ी क़ीमत है और सोना इस प्रचुरता से पाया जाता है कि जब लोग बाज़ार में बेच नहीं पाते तो वापस ले जाना पड़ता है।"

शहर जन्ना के सम्बन्ध में उसने लिखा है–

"यहाँ चावल, मछली, रूई और मवेशी की प्रचुरता है।"

अहमद बाबा

माली या पश्चिमी सूडान में टिम्बकटू और जन्ना ज्ञान के सबसे बड़े केन्द्र थे। टिम्बकटू में बौद्धिक वर्चस्व बर्बरों को प्राप्त था। और जन्ना में काली नस्ल के मंदन्गू नागरिकों को। यहाँ के उलमा (विद्वानों) और लेखकों में अहमद बाबा (963 हि॰/1556 ई॰–1036 हि॰/1627 ई॰) और अब्दुर्रहमान सअदी सबसे मशहूर हैं। अहमद बाबा टिम्बकटू के थे और नस्ल से बर्बर थे। अब्दुर्रहमान सअदी जन्ना के थे और मंदन्गू नस्ल के थे। अहमद बाबा लगभग पचास किताबों के लेखक थे जिनमें से एक किताब 'नील अल-इबतिहाज' छप चुकी है। इसमें उत्तरी अफ़्रीक़ा और सूडान के विद्वानों (उलमा) के हालात दर्ज हैं। उस ज़माने में माली और पश्चिमी सूडान में शिक्षा-दीक्षा कितनी आम एवं सुलभ हो गई थी, इसका अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि अहमद बाबा के निजी पुस्तकालय में सोलह सौ किताबें थीं और उनके भाइयों के जो पुस्तकालय अलग से थे उनमें और

अधिक किताबें थीं। अहमद बाबा को मराकशी आक्रमण के समय गिरफ़्तार करके मराकश पहुँचा दिया गया था। जहाँ कई साल प्रवास की परिस्थिति को झेलने के बाद 1607 ई॰ में वह पुनः टिम्बकटू वापस आए। आक्रमण के समय उनका पुस्तकालय तबाह हो गया था, जिसका उन्हें सारी उम्र ग़म एवं अफ़सोस रहा।

अब्दुर्रहमान सअदी (1596 ई॰–1656 ई॰) 'सूडान का इतिहास' के लेखक थे, जो 1655 ई॰ में लिखी गई थी। उस काल में जो किताबें लिखी गईं उनमें एक 'अल-फ़ताश' भी है जिसे 1519 ई॰ में महमूद अल-कअ़ती ने लिखना शुरू किया था और उनके पोते इब्नुल-मुख़तार ने 1665 ई॰ में पूरा किया। यह अस्कीया-वंश के इतिहास पर आधारित है। अस्कीया-महान के काल के एक और लेखक मुहम्मद अल-मग़ीली (Elmaghili) हैं। वे उत्तरी अफ़्रीक़ा के रहनेवाले थे और उत्तरी नाइजीरिया में बस गए थे। वे शासकों के अधिकारों एवं कर्त्तव्य पर आधारित एक किताब के लेखक थे।

माली-सल्तनत (627 हि॰/1230 ई॰–952 हि॰/1545 ई॰)

1. मारीजाता : (1230 ई॰–1255 ई॰)
2. मंसा औला : (1255 ई॰–1270 ई॰)
3. अबू-बक्र : (1270 ई॰–1285 ई॰)
4. साकोरा : (1285 ई॰–1300 ई॰)
5. अबू-बक्र : (1300 ई॰–1307 ई॰)
6. मंसा मूसा : (1307 ई॰–1332 ई॰)
7. मंसा मुग़ा : (1332 ई॰–1336 ई॰)
8. मंसा सुलैमान : (1336 ई॰–1359 ई॰)
9. मारीजाता द्वितीय : (1359 ई॰–1374 ई॰)
10. मंसा मूसा द्वितीयः (1374 ई॰–1387 ई॰)

माली के इस ख़ानदान ने यद्यपि 1545 ई॰ तक हुकूमत की, लेकिन सिलसिलेवार नाम सिर्फ़ उपर्युक्त बादशाहों के महफ़ूज़ हैं।

4. कानम की सल्तनत

सूडान-क्षेत्र की तीसरी बड़ी मुस्लिम सल्तनत कानम की थी। यह सल्तनत उस इलाक़े में क़ायम हुई थी जिसे अब चाड कहते हैं। इसकी राजधानी चाड-झील के किनारे स्थित थी। कानम की सल्तनत का प्रारम्भ नवीं सदी ईस्वी से होता है। प्रारम्भ के नौ शासक मूर्तिपूजक एवं प्रकृति-पूजक थे। इसके बाद शाही ख़ानदान मुसलमान हो गया। इस ख़ानदान के बादशाह हालाँकि नस्ल से बर्बर थे, लेकिन वे यमन के हिमयरी ख़ानदान से अपने सम्बन्ध का दावा करते थे और अपना वंश-वृक्ष यमन के इस्लाम-पूर्व मशहूर बादशाह सैफ़-बिन-ज़ीयज़न से मिलाते थे।

कानम का पहला मुसलमान शासक हूमे (Hume) या उमे था जिसने 1085 ई॰ से 1097 ई॰ तक शासन किया। बारहवीं सदी ईस्वी में कानम की फ़ौजों ने तूनिस (Tunisia) की मदद से सहारा-रेगिस्तान का बहुत बड़ा हिस्सा जीत लिया। तेरहवीं सदी ईस्वी में यह सल्तनत अपने चरमोत्कर्ष पर थी और पूरब में नील-नदी से लेकर पश्चिम में नाइजर-नदी तक तथा उत्तर में फ़ज़ान (लीबिया) से लेकर दक्षिण में पहाड़ी आदमावा तक फैल गई थी। तेरहवीं सदी के मध्य तक न केवल कानम का शासक-वर्ग बड़ी हद तक मुसलमान हो चुका था, बल्कि कानम के आम नागरिकों में भी इस्लाम फैल चुका था। अतः 1250 ई॰ के निकट कानम के मुसलमानों ने क़ाहिरा में एक मदरसा भी क़ायम कर लिया था, जहाँ फ़िक़्हे-मालिकी के अनुसार शिक्षा दी जाती थी। इस मदरसे की सूडान-क्षेत्र में दूर-दूर तक शोहरत थी और सूडानी मुसलमान इसकी आर्थिक मदद करते थे। हूमे के लड़के दूनामा (1097 ई॰–1150 ई॰) ने दो बार हज भी किया और तीसरे हज की यात्रा के दौरान क़ुलज़ुम-सागर में डूबकर मर गया।

कानम के शासक दूनामा-बिन-मुसलमा (1221 ई॰–1259 ई॰) के शासनकाल में कानम और तूनिस के बीच राजनयिक सम्बन्ध क़ायम हुए और दूनामा ने हफ़्सी सुल्तान मुस्तंसिर-बिल्लाह को तोहफ़े भी भेजे, जिनमें एक ज़राफ़ा भी शामिल था।

चौदहवीं सदी के अन्त में एक ग़ैर-मुस्लिम क़बीले 'बलाला' का कानम पर क़ब्ज़ा हो गया और कानम के शाही ख़ानदान को अपनी राजधानी जैमी छोड़नी पड़ी। यह ग़ैर-मुस्लिम क़बीला सत्तर वर्ष तक कानम पर क़ब्ज़ा जमाए रहा। इसके बाद कानम की सल्तनत का दूसरा नया दौर शुरू हुआ, जिसका उल्लेख आगे आएगा। इस नए दौर में कानम की सल्तनत ने बोरनो के नाम से प्रसिद्धि पाई। (जारी रखने के लिए देखें : अध्याय 35/3)

महत्वपूर्ण घटनाएँ

1042 ई॰ : अब्दुल्लाह-बिन-यासीन ने सिनिगाल-नदी के टापू में 'रबात' का निर्माण किया।

1054 ई॰ : अब्दुल्लाह-बिन-यासीन ने ग़ाना (Ghana) से औदग़स्त वापस छीन लिया।

1200 ई॰ : शहर जन्ना (माली) के बादशाह ने इस्लाम क़बूल किया।

1324 ई॰/724 हि॰ : मंसा मूसा की ऐतिहासिक हज-यात्रा।

1496 ई॰ : अस्कीया महान ने हज किया और इमाम जलालुद्दीन सुयूती से शिक्षा ग्रहण की।

अध्याय-9

पूर्वी अफ़्रीक़ा

1. हबशा और ज़ीलअ़

पूर्वी अफ़्रीक़ा के जिस इलाक़े में इस्लाम का प्रभाव सबसे पहले पहुँचा वह हबशा है, जिसे आजकल इथीओपिया (Ethiopia) कहते हैं। यहाँ इस्लाम का पैग़ाम मुहम्मद (सल्ल०) के ज़माने में ही पहुँच गया था, जब हबशा का बादशाह नजाशी इस्लाम ले आया था, और मक्का के इस्लाम-विरोधियों के सताए हुए मुहाजिरीन ने अकसूम-शहर (Aksum) में पनाह ली थी, जो उस ज़माने में हबशा की राजधानी थी। वर्तमान में यह शहर हबशा के उत्तर-पूर्व में इरीटिरिया की सीमा के निकट स्थित है। मुसलमानों की पहली कॉलोनी इसी शहर में क़ायम हुई।

इस्लाम के प्रारम्भिक काल में हबशा की सीमाएँ पूरब में समुद्र-तट तक फैली हुई थीं और इरीटिरिया के अतिरिक्त वह इलाक़ा भी जो अब उत्तरी सोमालिया कहलाता है, हबशा का ही इलाक़ा समझा जाता था। हबशा के इन समुद्र-तटीय इलाक़ों में अरब के लोग इस्लाम से पहले आबाद होना शुरू हो गए थे और इस्लाम के बाद सम्भवतः यही अरब लोग थे, जिन्होंने सबसे पहले इस्लाम क़बूल कर लिया और उनके माध्यम से हबशा के मूल निवासियों में इस्लाम फैलना शुरू हुआ। तेरहवीं सदी ईस्वी तक हबशा के निवासियों की एक बड़ी संख्या मुसलमान हो चुकी थी। अतः हम देखते हैं कि इस सदी में उत्तर-पूर्वी और दक्षिणी हबशा में मुसलमानों की सात रियासतें क़ायम हो चुकी थीं जो बड़ी हद तक आज़ाद थीं, परन्तु सुल्तान शुआ का नेतृत्व और अधीनता स्वीकार करती थीं। शुआ की रियासत के शासक अपनी वंशावली अरब के क़बीले मख़ज़ूम से जोड़ते थे। हबशा की मुसलमान रियासतों पर सुल्तान शुआ का यह आधिपत्य 1285 ई० में ख़त्म हो गया और एक दूसरी मुस्लिम रियासत इफ़ात (Ifat) के शासक

अ़ली-बिन-वलासीमा ने शुआ के आख़िरी सुल्तान को पराजित करके पूर्वी हबशा में इफ़ात का प्रभुत्व क़ायम किया।

इफ़ात का यह नया शासक, जिसके वंश का शासन 1285 ई॰–1445 ई॰ तक रहा, स्वयं को हज़रत अ़ली (रज़ि॰) के भाई हज़रत अक़ील बिन-अबू-तालिब (रज़ि॰) का वंशज होने का दावा करता था। इस काल में मुसलमानों और हबशा के ईसाई शासकों (जो नज्जाशी कहलाते थे) के बीच लड़ाइयों का एक लम्बा सिलसिला शुरू हो गया, जिसमें कभी मुसलमान जीत जाते थे, कभी ईसाई। इफ़ात के उन शासकों में सुल्तान सअदुद्दीन (मृत्यु 1415 ई॰) का नाम सबसे प्रमुख है। इस सुल्तान ने अपनी वीरता के कारण ऐसी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी कि हबशी मुसलमानों की लोक-कथाओं में उसका नाम आज भी मुहब्बत और प्यार से लिया जाता है। 1445 ई॰ में इफ़ात के सुल्तान बादले-बिन-सअदुद्दीन की हबशा के नज्जाशी से पराजय के बाद इफ़ात का पतन प्रारम्भ हो गया और इफ़ात की जगह एक दूसरे शासक-वंश ने ले ली, जो अदूल के शासक कहलाते थे।

अहमद जिरान (1525 ई॰–1543 ई॰)

अदूल का शहर पहले इफ़ात ही का एक हिस्सा था, बल्कि इफ़ात की राजधानी था, लेकिन यह शहर ईसाई हबशा के क़रीब होने के कारण ईसाइयों के हमले झेलता रहता था। इसलिए अदूल की नई हुकूमत ने 1520 ई॰ में राजधानी को 'हरार' स्थानान्तरित कर दिया, जो सुदूर पूर्व में स्थित है। अदूल की यह हुकूमत जिसे इतिहासकारों ने ज़ीलअ-सल्तनत भी लिखा, 1445 ई॰ से 1577 ई॰ तक क़ायम रही। उस ज़माने में बन्दरगाह ज़ीलअ जो वर्तमान जिबूती के क़रीब स्थित थी, हबशा की बन्दरगाह समझी जाती थी और ज़ीलअ-सल्तनत का महत्वपूर्ण व्यापारिक और बौद्धिक केन्द्र थी। ज़ीलअ में उस काल में कई प्रसिद्ध आ़लिम (विद्वान) एवं लेखक हुए हैं जिन्हें ज़ीलई लिखा जाता है।

ज़ीलअ़ या अदूल की इस सल्तनत में सबसे ज़्यादा प्रसिद्धि अहमद जिरान को प्राप्त हुई। अहमद जिरान, जो 1506 ई॰ के क़रीब पैदा हुआ, सोमाली वंश का था। सोमाली लोगों का सम्बन्ध उत्तर-पूर्वी 'हामी' नस्ल से

है, जिसके सदस्य 'गाला' और 'दनाक़ील' क़बीले हैं। यह नहीं मालूम कि उनका मूल देश कौन-सा था। बहरहाल यह तय है कि दक्षिणी अरब से हिजरत करके आनेवाले क़बीलों में सबसे आख़िर में सोमाली लोग हबशा में आए। यह भी कहा जाता है कि सोमाली क़बीले इस क्षेत्र में तेरहवीं सदी ईस्वी में हज़रे-मौत से आए थे। यह भी कहा जाता है कि सोमाली लोग यमन के हिमयरियों के शासनकाल ही में हबशा के तट पर बस गए थे।

सुल्तान अहमद जिरान-बिन-इबराहीम जब अदूल के तख़्त पर बैठा तो राजधानी 'हरार' जा चुकी थी। अदूल के सुल्तान उस समय हबशा के अधीनस्थ हो चुके थे, उन्हें टैक्स अदा करते थे लेकिन सुल्तान अहमद जिरान ने शासन की बागडोर अपने हाथ में लेते ही हबशा को ख़िराज (टैक्स) देने से इनकार कर दिया। 1529 ई॰ में अहमद जिरान ने ईसाई हबशा पर ज़बरदस्त जीत दर्ज की और दो साल बाद शुआ (Shoa) भी जीत लिया। अगले छह साल में वह वर्तमान हबशा के अधिकतर इलाक़े पर क़ब्ज़ा जमा चुका था। मुसलमानों की इस बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए हबशा के नजाशी ने पुर्तगालियों से मदद माँगी, जिन्होंने आशा अन्तरीप के रास्ते हिन्दुस्तान तक पहुँचने का समुद्री मार्ग खोजकर हिन्द-महासागर और अरब-सागर में लूटमार मचा रखी थी, पुर्तगाली तुरंत नजाशी की मदद को पहुँच गए और 1541 ई॰ में मशहूर नाविक वास्को डिगामा के लड़के के नेतृत्व में एक फ़ौज 'मस्सूअ' (Massawa) के पास उतार दी, जो आजकल इरीटेरीया की बन्दरगाह है। पुर्तगाली फ़ौज बन्दूक़ों एवं अगन्यस्त्र से लैस थी। ये हथियार चूँकि अहमद जिरान के पास नहीं थे, इसलिए उसने उसमानी तुर्कों से मदद माँगी, जो उस समय यमन पर क़ब्ज़ा जमा चुके थे। तुर्कों की बन्दूक़बन्द फ़ौज की मदद से अहमद जिरान ने 1542 ई॰ में पुर्तगालियों को बुरी तरह हराया और वास्को डिगामा का लड़का इस जंग में मारा गया। इसके बाद तुर्क-फ़ौज वापस चली गई। तुर्कों की वापसी से नजाशी ने फ़ायदा उठाया और अहमद जिरान की सल्तनत पर फिर हमला कर दिया। 1543 ई॰ में ताना-झील के किनारे ज़ायत्रा की लड़ाई में मुसलमानों की हार हुई और अहमद जिरान शहीद हो गया।

नूर-बिन-मुजाहिद

अहमद जिरान की शहादत से हबशा के मुसलमानों को भारी नुक़सान हुआ, लेकिन वे जल्द ही इस संकट से उबर गए। 1551 ई॰ में 'हरार' के शासक नूर-बिन-मुजाहिद का उत्थान हुआ। उस ज़माने में मुसलमान ईसाई हबशा (ईसाई अधिकृत हबशा) पर दो ओर से हमलावर हुए। उत्तर से तुर्कों ने हमला किया और 1557 ई॰ में 'मस्सूअ' पर क़ब्ज़ा कर लिया। दक्षिण से नूर-बिन-मुजाहिद ने हमला किया। तुर्क अपनी सफलता को स्थायी न कर सके और 1558 ई॰ में उन्हें जीता हुआ इलाक़ा छोड़ना पड़ा, लेकिन नूर-बिन-मुजाहिद ने 1559 ई॰ में नजाशी को करारा झटका देते हुए बुरी तरह पराजित किया। नजाशी युद्ध में मारा गया और नूर-बिन-मुजाहिद ने उसके कटे हुए सिर को अपनी फ़त्ह के एलान के लिए 'हरार' ले गया। नूर-बिन-मुजाहिद की 1567 ई॰ में मृत्यु हो गई। उसकी कब्र आज भी हबशा के मुसलमानों के लिए एक बड़ी यादगार है।

इसके बाद लगभग दो सौ साल तक हबशा की परिस्थितियों में कोई बड़ा बदलाव नहीं आया। मुहम्मद अली पाशा (1805 ई॰—1849 ई॰) और उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में जब सूडान पर मिस्र का क़ब्ज़ा हो गया तो मिस्री फ़ौज के दक्षिण की ओर मार्च के कारण नजाशी से मिस्र और सूडान का टकराव हो गया। 1876 ई॰ में नजाशी ने मिस्री फ़ौज को हरा दिया। इसके बाद जब महदी सूडानी ने मिस्री आधिपत्य को ख़त्म कर दिया तो सूडान और हबशा में टकराव हो गया। महदी के दरवेशों ने पश्चिमी हबशा पर गोंडार तक हमले शुरू कर दिए और मार्च 1889 ई॰ में एक लड़ाई में हबशा का राजा नजाशी मारा गया। आगे चलकर हबशा में मुसलमानों की शक्ति कमज़ोर पड़ती चली गई। यहाँ तक कि 1887 ई॰ में नजाशी का 'हरार' पर भी क़ब्ज़ा हो गया। अब हबशा में मुसलमानों का सियासी वर्चस्व समाप्त हो गया और वर्तमान हबशा गणराज्य, जिसे अंग्रेज़ी में इथीओपिया कहा जाता है, अस्तित्व में आया।

2. पूर्वी सूडान

आजकल जो देश सूडान कहलाता है वह उस विस्तृत और विशाल सूडान-क्षेत्र का पूर्वी भाग है जो अटलांटिक-महासागर से लाल-सागर तक फैला हुआ है और जिसका उत्तरी भाग महा-रेगिस्तान (सहारा) का हिस्सा है और दक्षिणी भाग में उपजाऊ ज़मीनें हैं। जिस प्रकार माली और उसके आसपास के क्षेत्र को 'पश्चिमी सूडान' कहा जाता है, उसी प्रकार सूडान को पूर्वी सूडान भी कहा जाता है।

वर्तमान सूडान का आधा उत्तरी भाग प्राचीनकाल में नौबिया कहलाता था। मिस्र की तरह नौबिया की ख़ुशहाली भी नील-नदी एवं उसकी सहायक नदियों पर आश्रित है और मिस्र की तरह नौबिया भी अति प्राचीन सभ्यताओं का गढ़ है। नौबिया की प्राचीन सभ्यता वास्तव में मिस्र की सभ्यता थी और उसका इतिहास पाँच हज़ार साल पुराना है। मिस्र का प्रभाव उत्तरी सूडान या नौबिया पर मिस्र की प्राचीन सल्तनत (2900 ई॰ पूर्व—2500 ई॰ पूर्व) के ज़माने ही से पड़ना शुरू हो गया था। उसके बाद ख़ुद नौबिया में 800 ई॰ पूर्व के आसपास 'नपाटा' (Napata) और 'मेरू' (Meroe) की सल्तनतें क़ायम हुईं जो 300 ई॰ तक मौजूद थीं। इन सल्तनतों के कालखंड में मिस्र पर भी नौबियावालों का क़ब्ज़ा हो गया था और उसकी उत्तरी सीमा रूम-सागर तक पहुँच गई थी। ख़रतूम और मिस्र के बीच अभी हाल ही में जो ख़ुदाई हुई है उससे उन प्राचीन सभ्यताओं के बहुत-से अवशेष मिले हैं, जो पिरामिडों (Pyramids), इबादतगाहों, महलों और मूर्तियों के रूप में हैं।

नापाटा (Napata) और मेरू (Meroe) के पतन के बाद सूडान में ईसाई धर्म का विकास हुआ। यद्यपि सूडानियों ने छठी सदी ईस्वी तक ईसाइयत को नहीं अपनाया था, लेकिन अगली कुछ सदियों में उत्तरी सूडान का बड़ा भाग ईसाई धर्म अपना चुका था। सूडान की ईसाई रियासतों में 'डंगोला' और 'एलवा' की हुकूमतें विशेष उल्लेखनीय हैं। ये सल्तनतें चौदहवीं सदी, बल्कि उसके बाद तक क़ायम रहीं। उसके बाद उनके खण्डहरों पर इस्लामी हुकूमतों की बुनियादें डाली गईं।

इस्लामी दौर

मुसलमानों और नौबियावालों के बीच लड़ाइयों का सिलसिला ख़िलाफ़ते-राशिदा के समय ही में शुरू हो गया था, लेकिन मुसलमान उस समय नौबिया पर क़ब्ज़ा नहीं कर सके थे। बाद की सदियों में कई बार नौबिया का उत्तरी भाग मुसलमानों के क़ब्ज़े में आया। मिस्र के अय्यूबी बादशाह और गुलाम-वंश के शासनकाल में यह क्षेत्र बड़ी हद तक मुसलमानों के प्रभाव-क्षेत्र में आ गया था।

सूडान में इस्लाम को वास्तविक वर्चस्व मिस्र के रास्ते नहीं, बल्कि लाल-सागर के रास्ते से प्राप्त हुआ। आठवीं सदी हिजरी में अरब-क़बीले बड़ी संख्या में लाल-सागर के रास्ते पूर्वी सूडान में दाख़िल हुए और 'नीले-नील' एवं 'उजले-नील' के मध्य सिनार के इलाक़े में बस गए। धीरे-धीरे इन अरब-प्रवासियों की संख्या बढ़ती चली गई। इनके स्थानीय काले नागरिकों के साथ विवाह-सम्बन्ध क़ायम हो गए, और एक समय ऐसा आया जब सिनार के इलाक़े में अरबों की जनसंख्या मूल निवासियों से बढ़ गई। यहाँ के सभी निवासी मुसलमान हो गए। पन्द्रहवीं सदी तक मुसलमानों का इस पूरे इलाक़े पर क़ब्ज़ा हो गया, जो बारह डिग्री अक्षांश के उत्तर में है और अब उत्तरी सूडान कहलाता है।

पन्द्रहवीं सदी में सूडान के इस भाग में दो शक्तिशाली मुस्लिम हुकूमतें अस्तित्व में आ गई। उनमें एक सिनार के फंज-बादशाहों (Fung) की हुकूमत थी और दूसरी सिनार के पश्चिम में 'दारफ़ौर' के बादशाहों की। फंज के शासक तूलान (1596 ई०—1603 ई०) के शासनकाल में, जो मुस्लिम-प्रशासित भारत के शहंशाह अकबर का समकालीन था, सिनार की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गई थी और बग़दाद एवं क़ाहिरा से विद्वान लोग सिनार पहुँचने लगे थे। सिनार की ऐतिहासिक जामा-मस्जिद जो आज भी मौजूद है, इसी अदनान के पोते के बेटे (परपोते) ने बनवाई थी। फंज-वंश के शासनकाल में पूरा उत्तरी सूडान इस्लाम क़बूल कर चुका था।

अट्ठारहवीं सदी में फंज-वंश का पतन हो गया और उसके बाद सूडान अशान्ति एवं गृह-युद्ध का शिकार हो गया, यहाँ तक कि उन्नीसवीं सदी में

मिस्री ख़दयू पूरे सूडान पर क़ाबिज़ हो गए। मिस्रियों ने ही ख़रतूम शहर की बुनियाद डाली जो इस समय सूडान की राजधानी है।

(इसके अगले क्रम के लिए देखें : अध्याय 34/3 और अध्याय 35/5)

3. ज़ंज की सल्तनत (975 ई॰–1498 ई॰)

अफ़्रीक़ा के पूर्वी तट से मुसलमानों का राजनीतिक सम्बन्ध पहली सदी हिजरी से स्थापित हो गया था। कहा जाता है कि 65 हि॰/684 ई॰ में दक्षिणी अरब में हज़्रे-मौत के इलाक़े से दो भाई सुलैमान और सईद एक समुद्री यात्रा पर निकले और उस जगह उतरे जहाँ अब ज़ंजिबार स्थित है। इन भाइयों ने अपने साथियों की मदद से अफ़्रीक़ा के पूर्वी तट पर कई बस्तियाँ बसाईं। इसके बाद यमन और हज़्रे-मौत से दो और दल आए और उन्होंने मुमबासा तक अफ़्रीक़ा का सम्पूर्ण पूर्वी तट जीत लिया।

975 ई॰ में प्रवासियों का एक और गरोह पूर्वी अफ़्रीक़ा आया लेकिन ये अरब नहीं, बल्कि ईरानी थे और दक्षिण ईरान से आए थे। इस गरोह के नेता हसन-बिन-अली और उसके छह भाई थे। कहा जाता है कि मुमबासा, पम्बा, जोहाना (क़मर टापू) और क्लोआ के शहर इन्हीं प्रवासियों ने बसाए थे। इन ईरानियों के वंशज आज भी पूर्वी अफ़्रीक़ा में मौजूद हैं और शीराज़ी कहलाते हैं।

शीराज़ियों ने पूर्वी अफ़्रीक़ा में जो सल्तनत क़ायम की वह ज़ंज की सल्तनत कहलाती है। यह सल्तनत 975 ई॰ से 1498 ई॰ तक क़ायम रही, इसके बाद पुर्तगालियों के प्रभाव में आ गई। ज़ंज की सल्तनत ठीक तरह से कोई संगठित एवं मज़बूत सल्तनत नहीं थी। यह एक कमज़ोर संघीय ढाँचा था जो विभिन्न शहरी रियासतों पर आधारित था, जिनके शासक हसन-बिन-अली की सन्तान में से थे। हर रियासत व्यावहारिक रूप से स्वतंत्र एवं सम्प्रभु थी। हालाँकि कभी-कभी वह क्लोआ (केन्द्रीय सत्ता) की अधीनता स्वीकार कर लेती थी । इन तटीय रियासतों में मक़दीशू (सोमालिया), मुमबासा (कीनिया), ज़ंजिबार, पम्बा, क्लोआ (तंज़ानिया), मोज़ंबिक़, सोफ़ाला और जोहाना (क़मर टापू) की रियासतें मुख्य थीं।

1498 ई॰ में पुर्तगाली नाविक वास्को डिगामा दक्षिणी अफ़्रीक़ा का चक्कर काटकर पूर्वी अफ़्रीक़ा के शहर मालंदी पहुँचा, वहाँ के सुल्तान ने उसकी मदद की और उस ज़माने के मशहूर मिस्री नाविक एवं इस कला से सम्बन्धित कई किताबों के रचयिता अहमद-बिन-माजिद को उसके साथ कर दिया, जिसने वास्को डिगामा को मालंदी से हिन्दुस्तान के शहर कालीकट पहुँचा दिया। इस प्रकार यूरोप से हिन्दुस्तान तक समुद्री मार्ग की खोज का ताज वास्को डिगामा के सिर पर रखा गया और पूरब में एक नए दौर का आरम्भ हुआ, जिसे हम पश्चिम के हाथों पूरब की लूट-खसोट का दौर कह सकते हैं।

पुर्तगालियों ने जल्द ही अपनी आक्रामक गतिविधियाँ शुरू कर दीं। उन्होंने पूर्वी अफ़्रीक़ा की रियासतों को अपनी अधीनस्थ रियासत बनाने की कोशिश की। उनका तरीक़ा यह था कि जो शहर (अथवा रियासत) ख़िराज न देते उसे बरबाद कर देते। अतः 1502 ई॰ में उन्होंने क्लोआ को ख़िराज देने पर मजबूर किया और तीन साल बाद क्लोआ और सोफ़ाला पर सीधे क़ब्ज़ा जमा लिया। उन्होंने 1507 ई॰ में मोजंबिक़ को अपने पूर्वी अफ़्रीक़ी अधिकृत क्षेत्र की राजधानी स्थल बना लिया। मुमबासा ने पुर्तगालियों के आगे हथियार नहीं डाले और दो सौ साल तक उनसे मुक़ाबला करते रहे। इस बीच पुर्तगालियों ने कई बार मुमबासा का विनाश किया और उसे ज़ला दिया। इस कठिन संघर्ष के कारण पुर्तगाली इतिहास में मुमबासा का नाम 'युद्ध का टापू' (Island of War) पड़ गया।

1587 ई॰ और 1589 ई॰ के बीच उसमानी नौसेना प्रमुख अमीर अली यहाँ के मुसलमानों की मदद को आया और उसने अस्थायी रूप से मुमबासा से पुर्तगालियों को निकाल दिया, लेकिन उस इलाक़े के पुर्तगालियों को पूर्णरूप से सत्ता से बेदख़ल करने का काम उमान के अरबवासियों ने किया, जिनका उल्लेख आगे आएगा।

इब्ने-बतूता ने 1331 ई॰ में ज़ंज-सल्तनत के कई शहरों का सफ़र किया था। उसके सफ़रनामे (यात्रा-वृत्तान्त) से हमें उन शहरों की आम ज़िन्दगी का अंदाज़ा होता है। मक़दिशू (सोमालिया) के सम्बन्ध में वह लिखता है—

"यह बहुत बड़ा शहर है। यहाँ एक प्रकार का विशेष कपड़ा बुना जाता है, जिसकी कोई मिसाल नहीं और यह मिस्र तक भेजा जाता है। यहाँ का सुल्तान 'शैख़' कहलाता है। लोग पाजामा के सम्बन्ध में नहीं जानते, वे लुँगी बाँधते हैं।"

वह क्लोआ के बारे में लिखता है–

"यह एक बड़ा तटीय शहर है। इमारतें लकड़ी की हैं और छतें गुम्बदनुमा हैं। यहाँ के लोग दीनदार (धर्मनिष्ठ) हैं और धार्मिकता आम है। लोग जिहाद पसन्द करते हैं।"[1]

मुमबासा के सम्बन्ध में वह लिखता है–

"यहाँ के लोग दीनदार और नेक हैं। यहाँ का मुख्य भोजन केला एवं मछली है। मस्जिदें लकड़ी की बनी हैं और बहुत मज़बूत हैं।"

पुर्तगालियों के आने के बाद सोलहवीं सदी में मुमबासा के हालात का सबसे अच्छा चित्रण एक पुर्तगाली पर्यटक (Duarte Barbosa) ने किया है। वह लिखता है–

"यह मुसलमानों का शहर है, जिसे मुमबासा कहते हैं। यह बहुत बड़ा और ख़ूबसूरत है। पत्थर के ऊँचे और सुन्दर मकान हैं, जिनपर रंग-रोग़न किया हुआ है। सड़कें बहुत अच्छी हैं। औरतें रेशमी कपड़े और सोने के गहने से लदी रहती हैं। यह बड़ा व्यापारिक केन्द्र है। बन्दरगाह में हमेशा कई जहाज़ लंगर डाले रहते हैं। मुमबासा में ज़रूरत के सामान पर्याप्त मात्रा में हैं। यहाँ की भेड़ें बड़ी अच्छी हैं, जिनकी पूँछें मोटी-मोटी होती हैं। गाय, बकरी और मुर्ग़ियाँ बहुत अधिक हैं। चावल और Millet की पैदावार बहुत अधिक है। मीठी और खट्टी नारंगी की प्रचुरता है। नींबू और अनार भी अच्छे होते हैं। इंजीर और हर प्रकार की सब्ज़ी पैदा होती है और पानी बहुत अच्छा है।" (इसके अगले क्रम के लिए देखिए अध्याय 35/4)

1. सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में जब पुर्तगाली यहाँ आए तो क्लोआ में मस्जिदों की संख्या तीन सौ थी। (इंसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटानिका-अध्याय-क्लोआ)

अध्याय-10

सुदूर पूर्व

इस्लाम के प्रचार-प्रसार का दौर

तेरहवीं और चौदहवीं सदी ईस्वी इस्लामी इतिहास में बड़ा महत्त्व रखती हैं। पहली सदी हिजरी (सातवीं सदी ईस्वी) के बाद इस्लाम का फैलाव और प्रचार-प्रसार जितना तेरहवीं-चौदहवीं सदी ईस्वी में हुआ उतना किसी और कालखंड में नहीं हुआ। उसी कालखंड में मंगोलों ने इस्लाम क़बूल किया और मुसलमानों का प्रभावक्षेत्र साइबेरिया से रूस एवं मध्य यूरोप तक फैल गया। उसी कालखंड में अफ़्रीक़ा में महा-रेगिस्तान सहारा और उसके दक्षिणी भागों में इस्लाम फैला। यही वह कालखंड है जिसमें सम्पूर्ण भारत-पाक उपमहाद्वीप मुसलमानों की छत्रछाया में आया और पाकिस्तान के इलाक़ों में इस्लाम का फैलाव हुआ। और यही वे सदियाँ हैं जिनमें मलेशिया एवं इंडोनेशिया के विस्तृत भूभाग में इस्लाम फैला। तेरहवीं और चौदहवीं सदी ईस्वी का कालखंड केवल इस आधार पर उल्लेखनीय नहीं है कि इस कालखंड में मुसलमान राजनीति के मैदान में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गए थे और एशिया, यूरोप एवं अफ़्रीक़ा के जितने विशाल भूभाग पर उन्हें सत्ता प्राप्त हो गई थी उतने विशाल भूभाग पर इससे पहले उन्हें सत्ता प्राप्त नहीं हुई थी न बाद में, बल्कि यह कालखंड इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि इसमें इस्लाम का प्रचार-प्रसार बहुत अधिक हुआ। जो देश मुसलमानों की सत्ता के अधीन आए, वहाँ की एक बड़ी जनसंख्या ने इस्लाम क़बूल कर लिया और वे आज भी मुसलमान हैं। पश्चिमी अफ़्रीक़ा, पाकिस्तान, मलेशिया और इंडोनेशिया इस्लाम की उन शानदार एवं शान्तिपूर्ण विजयों की स्पष्ट मिसालें हैं।

मलाया प्रायद्वीप एशिया महाद्वीप का सबसे दक्षिणी किनारा है। मलाया के पश्चिम, दक्षिण और पूरब में समुद्र के पार टापुओं का एक सिलसिला है। इन टापुओं की संख्या तीन हज़ार है। यद्यपि इनमें से अधिकतर छोटे-छोटे द्वीप हैं, परन्तु इनमें चार द्वीप क्षेत्रफल एवं जनसंख्या के आधार पर दुनिया

के सबसे बड़े द्वीप गिने जाते हैं । इन बड़े द्वीपों के नाम जावा, सुमात्रा, कलीमंतान और सुलावेसी हैं। द्वीपों की यह धरती इंडोनेशिया के नाम से पुकारी जाती है। मलाया और इंडोनेशिया इस्लामी दुनिया के सुदूर पूर्वी क्षेत्र हैं। ये दोनों देश भी बांग्लादेश की तरह शेष इस्लामी दुनिया से कटे हुए हैं। इनके और इस्लामी दुनिया के बीच समुद्र के अलावा भारत, बर्मा और स्याम (थाईलैण्ड) के देश बाधक हैं।

सुदूर पूर्व के इस भूभाग में सुमात्रा एवं जावा की सभ्यता एवं इतिहास बहुत पुराना है। जिस कालखंड में ईरान एवं इराक़ में सलजूकियों की महान हुकूमतें क़ायम थीं (बारहवीं सदी ईस्वी) उसी कालखंड में इंडोनेशिया में 'श्रीविजय' नामक सत्ता अपने चरम पर थी और उसका प्रभाव मलाया तक फैला हुआ था। यह बौद्धों की सत्ता थी और उस कालखंड में इंडोनेशिया वासी या तो बौद्धमत के अनुयायी थे या हिन्दू धर्म के।

तेरहवीं सदी ईस्वी में श्रीविजय की सल्तनत के पतन के बाद जावा में 'मचापहत' की हिन्दू सल्तनत क़ायम हुई, जो 1292 ई॰ से 1428 ई॰ तक क़ायम रही और अपने क्षेत्रफल के आधार पर श्रीविजय की सल्तनत के बराबर थी। इसी सल्तनत के समय में इंडोनेशिया एवं मलाया में इस्लाम फैलना शुरू हुआ। जिस प्रकार भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्रों एवं पाकिस्तान के इलाक़े में औलिया-अल्लाह एवं बुज़ुर्गानि-दीन (सूफ़ी-संत) ने अपनी धर्म-प्रचार की कोशिशों से इस्लाम का प्रचार-प्रसार किया, इसी प्रकार मलाया और इंडोनेशिया में भी इस्लाम का फैलाव बुज़ुर्गानि-दीन की कोशिशों का नतीजा है। ये बुज़ुर्ग या तो अरब थे या भारतीय गुजरात के रहनेवाले मुसलमान व्यापारी।

इन धर्म-प्रचारकों में एक मलिक इबराहीम हैं। उन्होंने 1391 ई॰ के क़रीब जावा में इस्लाम के प्रचार का काम शुरू किया। मलिक इबराहीम गुजरात के एक व्यवसायी थे। पूर्वी जावा की बन्दरगाह ग्रिसूक के हिन्दू राजा ने एक बार उनसे इलाज कराया और जब वह अच्छा हो गया तो उसने इस्लाम क़बूल कर लिया। मलिक इबराहीम ने राजा का इस्लामी नाम 'रावत-रहमत' रखा। मलिक इबराहीम का 1419 ई॰ में देहान्त हो गया।

ग्रिस्क में उनकी क़ब्र आज भी मौजूद है। मलिक इबराहीम 'मौलाना मग़रिबी' (पश्चिमी मौलाना) के नाम से भी मशहूर हैं। वे और रावत-रहमत जावा के उन नौ मशहूर वलियों में गिने जाते हैं जो 'सुनान' की उपाधि से मशहूर हैं और जिन्होंने इस द्वीप में इस्लाम को फैलाया। उनमें पहले वली मलिक इबराहीम हैं और दूसरे 'रावन-रहमत'।

जावा में पहली मस्जिद दिमाक नामक स्थान पर बनाई गई थी। इस मस्जिद से तब्लीग़ी जमाअतें (धर्म-प्रचारकों की टुकड़ियाँ) जावा के विभिन्न इलाक़ों में भेजी जाती थीं। जहाँ लोग मुसलमान हो जाते वहाँ मस्जिद और मदरसा क़ायम कर लेते। धर्म-प्रचार का यह सिलसिला सोलहवीं सदी के मध्य तक जारी रहा। यहाँ तक कि इंडोनेशिया के वासियों की अधिकतर जनसंख्या मुसलमान हो गई और देश में लगभग बीस मुस्लिम रियासतें क़ायम हो गईं। इन रियासतों के शासक जो सुल्तान कहलाते थे, स्वयं भी इस्लाम के प्रचार-प्रसार के काम से गहरी दिलचस्पी रखते थे। कई शासक तो ऐसे थे कि उन्होंने तख़्तो-ताज छोड़कर ख़ुद को इस्लाम के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित कर दिया था। उन भले शासकों में पश्चिमी जावा के इलाक़े बामतन के सुल्तान पातेह-हल्ला का नाम बहुत मशहूर है। उन्होंने तख़्तो-ताज छोड़कर 1552 ई० से 1570 ई० के दौरान, अपनी मृत्यु तक अपना शेष अट्ठारह वर्षीय जीवन इस्लाम के प्रचार-प्रसार में लगाया। अतः उनकी गिनती जावा के नौ औलिया में होती है। पातेह-हल्ला के लड़के सुल्तान हसनुद्दीन ने भी अपने बाप के पद-चिह्नों पर चलते हुए आख़िर में ख़ुद को इस्लाम के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित कर दिया था। इस प्रकार इन शासकों ने इस्लाम से अपनी गहरी मुहब्बत की ऐसी मिसाल क़ायम की कि जिसका उदाहरण इस्लामी इतिहास में कम मिलेगा।

इंडोनेशिया में इस्लाम सबसे पहले सुमात्रा के उत्तरी भागों में फैला। 1292 ई० में जब इटलीवासी पर्यटक मार्को पोलो 'समुद्र पसाये' से गुज़रा तो यहाँ के लोग मुसलमान हो चुके थे। इसके बाद इस्लाम फैलता गया, और पन्द्रहवीं सदी में सुमात्रा के अधिकतर लोग मुसलमान हो चुके थे।

जावा के नौ औलिया

सुमात्रा के बाद चौदहवीं सदी में जावा में इस्लाम का फैलाव हुआ। जावा में जिन नौ बुज़ुर्गों ने इस्लाम के प्रचार-प्रसार में मुख्य रूप से भाग लिया वे ये हैं–

1. मलिक इबराहीम
2. रावन-रहमत, जिनकी क़ब्र सोराबाया के क़रीब निम्पल की पहाड़ी पर है और वे सुनान निम्पल के नाम से मशहूर हैं।
3. मख़दूम इबराहीम जिन्हें सुनान-बोनांग भी कहा जाता है। यह रादन-रहमत के लड़के थे।
4. रावन-पाको, जो सुनान गिरी के नाम से मशहूर हैं।
5. फ़तूहुल्लाह, जो सुनान गिनिंग जाती भी कहलाते हैं।
6. सुनान-क़ुद्स, जिनकी क़ब्र समीरांग के निकट है।
7. सुनान मौर्या
8. सुनान दरजात
9. सुनान कालीजागा

सुनान इंडोनेशिया की भाषा में वली (पीर, बुज़ुर्ग, सूफ़ी) को कहते हैं।

कलीमंतान द्वीप (बोर्निओ) में पन्द्रहवीं सदी के अन्त में इस्लाम का प्रचार-प्रसार शुरू हुआ। पहले तटीय प्रदेश के लोग मुसलमान हुए, फिर भीतरी इलाक़ों में इस्लाम फैला। यहाँ के राजाओं ने भी इस्लाम के प्रचार-प्रसार में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया।

इसके बाद सुलावेसी द्वीप या सेलबीज़ में इस्लाम फैला। पहले मकासर और बर्गी के लोग मुसलमान हुए फिर मिनहासा के। इसके बाद मकासर और सुलावेसी के धर्म-प्रचारकों ने आसपास के द्वीपों में इस्लाम फैलाया।

मालोका द्वीप-समूह में इस्लाम का प्रचार-प्रसार पन्द्रहवीं सदी में हुआ और धीरे-धीरे सभी द्वीपों में इस्लाम फैल गया।

मलाया प्रायद्वीप में इस्लाम चौदहवीं सदी में फैला।

समुद्र पसाए

इंडोनेशिया आधुनिक दौर से पहले राजनीतिक रूप से कभी एक नहीं था। श्रीविजय और मचापहत की सल्तनतों का भी उन सभी इलाक़ों पर अधिकार नहीं था जो आज इंडोनेशिया में शामिल हैं। इसलिए इंडोनेशिया का इतिहास उन विभिन्न हुकूमतों के इतिहास पर आधारित है, जो विभिन्न द्वीपों और इलाक़ों में क़ायम होती रहीं। इस्लाम फैल जाने के बाद भी यही स्थिति रही। एक-एक द्वीप में कई-कई स्वतंत्र राज्य होते थे। यहाँ उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण राज्यों का इतिहास पेश किया जाता है।

इंडोनेशिया में पहला मुस्लिम राज्य सुमात्रा में क़ायम हुआ। सुमात्रा के उत्तरी प्रांत आचेह के बादशाह को तेरहवीं सदी के अन्त में एक धर्म-प्रचारक मौलाना बुरहानुद्दीन ने मुसलमान बनाया। आचेह की राजधानी चूँकि समुद्र पसाये का शहर था, इसलिए यहाँ की सत्ता सल्तनत समुद्र पसाये कहलाती है। समुद्र पसाये के राजा जावा की मचापहत-सल्तनत के अधीनस्थ थे, लेकिन 1350 ई॰ में समुद्र पसाये ने पूर्ण आज़ादी प्राप्त कर ली। समुद्र पसाये का पहला मुसलमान शासक मलिक अल-सालेह है, जिसका 1297 ई॰ में देहान्त हुआ। उसे मौलाना बुरहानुद्दीन ने मुसलमान बनाया था और मलिक अल-सालेह उसका इस्लामी नाम था।

मलिक अल-सालेह के बाद उसका बेटा सुल्तान मुहम्मद (1297 ई॰–1326 ई॰) गद्दी पर बैठा। वह पहला बादशाह है जो सुल्तान कहलाया। बादशाह बनने के बाद उसने 'मलिक अल-ताहिर' की उपाधि धारण की। बाद में समुद्र पसाये के सभी बादशाह इसी उपाधि को धारण करते रहे। सुल्तान मुहम्मद सूफ़ी-स्वभाव का इनसान था।

सुल्तान मुहम्मद के बाद उसका लड़का सुल्तान अहमद (1326 ई॰–1345 ई॰) गद्दी पर बैठा, जो मलिक अल-ताहिर द्वितीय कहलाता है। उसके शासनकाल में समुद्र पसाये-सल्तनत में इस्लाम बड़ी तेज़ी से फैला। उसके शासनकाल में कई मदरसे भी स्थापित हुए और ज्ञान एवं कला को संरक्षण मिला।

समुद्र-पसाये का सबसे प्रमुख शासक सुल्तान अहमद का बेटा ज़ैनुल-आबिदीन (1345 ई॰–1405 ई॰) है, जो मलिक अल-ताहिर तृतीय कहलाता है। उसने सल्तनत मचापहत की अधीनता अस्वीकार कर दी और

समुद्र पसाये को पूर्णतः एक आज़ाद सल्तनत बना दिया। इस द्वीप का नाम 'सुमात्रा' भी उसी के शासनकाल में पड़ा। सुल्तान ज़ैनुल-आबिदीन मलिक अल-ताहिर तृतीय के ज़माने में व्यापार को बड़ी तरक़्क़ी मिली और देश ख़ुशहाल हो गया। मराकश का पर्यटक इब्ने-बतूता इसी सुल्तान के शासनकाल में चीन जाते समय और वहाँ से वापस होते समय समुद्र पसाये में ठहरा था। इब्ने-बतूता ने लिखा है—

> "शहर समुद्र पसाये बहुत बड़ा है। इसके चारों ओर लकड़ी की फ़सील (चहारदीवारी) और लकड़ी के ही बुर्ज बने हुए हैं। बादशाह मलिक अल-ताहिर विद्वान, योग्य और बड़ा दानशील है। शाफ़िई-विचारधारा (चार इमामों में से एक) की फ़िक़्ह (धर्म-विधान) पर अमल करता है। विद्वानों (आलिमों) से बहुत मुहब्बत करता है और उसकी सभा में हमेशा ज्ञान एवं योग्यता पर ही चर्चा होती रहती है। जिहाद भी अकसर करता रहता है। यहाँ के वासी शाफ़िई-विचारधारा के हैं, जिहाद के बड़े शौक़ीन हैं, विधर्मियों पर इन्हें वर्चस्व प्राप्त है, और आसपास के विधर्मी उनको जिज़्या अदा करते हैं। बादशाह बहुत ही सुशील एवं सादगी-पसन्द है और जुमा की नमाज़ के लिए पैदल मस्जिद तक आता है।"

सुल्तान ज़ैनुल-आबिदीन के बाद सल्तनत समुद्र पसाये का पतन हो गया और 1435 ई॰ में उसकी आज़ादी ख़त्म हो गई। अब समुद्र पसाये 'मलक्का' की बढ़ती हुई नई ताक़त के प्रभाव में आ गया।

मलक्का की सल्तनत (1396 ई॰–1511 ई॰)

जावा में जब मचापहत की हिन्दू सल्तनत का पतन हो गया तो राज-परिवार के पन्द्रह सौ लोग मलाया के शहर मलक्का में बस गए थे, जो किसी ज़माने में मचापहत की सल्तनत का ही एक अंग था। मलाया प्रायद्वीप में चौदहवीं सदी ईस्वी से इस्लाम फैलना शुरू हो गया था और मलक्का में अरब और मुसलमान व्यापारियों की बस्तियाँ भी मौजूद थीं। उन मुसलमानों के सम्पर्क में आकर और उनसे प्रभावित होकर राज-परिवार के कई लोग मुसलमान हो गए। उनमें युवराज परमेश्वर भी था, जो मलक्का की सल्तनत

का संस्थापक समझा जाता है। उसने इस्लाम क़बूल करने के बाद अपना नाम बदलकर इस्कंदर शाह रखा। इस्कंदर शाह ने 1396 ई॰ से 1414 ई॰ तक शासन किया। उसके काल में मलाया में इस्लाम के प्रभाव तेज़ी से फैले। इस्कन्दर शाह ने स्याम-देश के मुक़ाबले में चीन से सहायता ली। स्याम की फ़ौजें मलाया पर हमले करती रहती थीं। चीन की मदद से उसने स्याम के हमलों को रोक दिया। इस्कन्दर शाह के बाद उसके उत्तराधिकारी भी इसी पॉलिसी पर चलते रहे।

इस्कन्दर शाह के उत्तराधिकारी और बेटे मुहम्मद सिकन्दर शाह (1414 ई॰–1424 ई॰) के काल में समुद्री बेड़े को विकसित किया गया। बादशाह ने अपने युवराज राजा मुहम्मद शाह की शादी समुद्र पसाये की राजकुमारी से करके दोनों देशों को एकजुट कर दिया।

मलक्का के राज-परिवार ने यद्यपि इस्लाम क़बूल कर लिया था, लेकिन वे अभी तक ख़ुद को राजा और श्रीमहाराज कहलाते थे, जो श्रीविजय के शासकों की उपाधि थी। मुज़फ़्फ़र शाह (1445 ई॰–1458 ई॰) मलक्का का पहला बादशाह है जिसने सुल्तान की उपाधि धारण की।

मुज़फ़्फ़र शाह के उत्तराधिकारी सुल्तान मंसूर शाह (1458 ई॰–1477 ई॰) का दौर मलक्का सल्तनत का स्वर्ण-काल कहा जाता है। इस दौर में मलक्का की सल्तनत अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। मलाया प्रायद्वीप को बर्मा की सीमा तक जीत लिया गया। मध्य सुमात्रा को भी अपनी सल्तनत में मिला लिया गया। इन सफलताओं के कारण मंसूर शाह के नौसेना कमांडर 'हांगतूआह' (Hangtuah) ने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की, जिसे मलाया के मुसलमान 'दूसरा ख़ालिद' (ख़ालिद-बिन-वलीद रज़ि॰ इस्लामी इतिहास के महान विजेता हैं) कहते हैं। मंसूर एक योग्य एवं बुद्धिमान शासक था। उसके काल में न केवल मलाया के अधिकतर लोगों ने इस्लाम क़बूल कर लिया, बल्कि मलाया के धर्म-प्रचारकों ने उत्तरी बोर्निओ में भी इस्लाम का प्रचार-प्रसार किया।

मंसूर शाह के शासनकाल में मलक्का बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र बन गया था। कहा जाता है कि इस शहर की आबादी दस लाख के क़रीब थी। मंसूर शाह के शासनकाल में मलाया में पूरी तरह इस्लाम छा गया था। शासन

चलाने के लिए इस्लामी क़ानून संकलित किए गए और मलाई भाषा के लिए अरबी लिपि का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। राजा परमेश्वर के काल में महाभारत एवं रामायण के क़िस्से देश में प्रचलित थे। अब उनकी जगह इस्लामी इतिहास के बहादुरों की दास्तानें लिखी गईं या अरबी से अनुवाद की गईं। शासन का प्रबंध सुल्तान के चार बड़े पदाधिकारी और आठ छोटे ऑफ़िसरों के ज़िम्मे था। चाँदी और सोने के सिक्के प्रचलित थे। अधीनस्थ राज्यों से ख़िराज (Tax) के रूप में सोना लिया जाता था।

मंसूर शाह का उत्तराधिकारी सुल्तान अलाउद्दीन शाह (1477 ई॰—1488 ई॰) एक सन्त-स्वभाव का और योग्य विद्वान शासक था। अन्त में वह सल्तनत की ज़िम्मेदारी तयागकर हज के लिए मक्का चला गया। उसका उत्तराधिकारी महमूद शाह (1488 ई॰—1511 ई॰) कमज़ोर और अयोग्य शासक साबित हुआ। उसके शासनकाल में पुर्तगालियों ने, जो 1492 ई॰ में भारत का समुद्री मार्ग खोज चुके थे, भारत के पूर्वी द्वीपों तक छापे मारना शुरू कर दिए। उनके एक नाविक अलबुक़ुर्क़ ने 1511 ई॰ में मलक्का पर क़ब्ज़ा कर लिया और अपनी परम्परा के अनुसार शहर को जलाकर राख कर दिया। महमूद शाह सुमात्रा चला गया और वहीं 1528 ई॰ में मर गया।

(अगले क्रम के लिए देखें : अध्याय-26)

मलक्का के बादशाह (1403 ई॰—1511 ई॰)

1. परमेश्वर इस्कंदर शाह —	(1403 ई॰—1424 ई॰)
2. श्री महाराज इब्ने-इस्कंदर शाह —	(1424 ई॰—1444 ई॰)
3. राजा इबराहीम इब्ने-श्री महाराज —	(1444 ई॰—1446 ई॰)
4. राजा क़ासिम मुज़फ़्फ़र शाह —	(1446 ई॰—1459 ई॰)
5. मंसूर शाह इब्ने-मुज़फ़्फ़र शाह —	(1459 ई॰—1477 ई॰)
6. अलाउद्दीन रायात शाह इब्ने-मंसूर शाह —	(1477 ई॰—1488 ई॰)
7. महमूद शाह —	(1488 ई॰—1511 ई॰)

(उपर्युक्त सन ईस्वी डी॰जी॰ ई॰ हाल की अंग्रेज़ी किताब : 'दक्षिण पूर्वी एशिया का इतिहास', मुद्रित : लंदन, वर्ष-1964 ई॰ पर आधारित हैं।)

अध्याय-11

दिल्ली की सल्तनत

(602 हि॰/1206 ई॰–816 हि॰/1413 ई॰)

1. गुलाम-वंश (602 हि॰/1206 ई॰–689 हि॰/1290 ई॰)

जिस ज़माने में मिस्र एवं शाम (सीरिया) में गुलाम-वंश की सत्ता क़ायम हुई, उससे लगभग पचास वर्ष पहले पाकिस्तान एवं उत्तरी भारत में मुसलमानों की सत्ता क़ायम हो चुकी थी। संयोग की बात है कि मिस्र की सत्ता की तरह यह सत्ता भी गुलामों की थी। इस शासन का संस्थापक शिहाबुद्दीन ग़ौरी का एक गुलाम क़ुतुबुद्दीन ऐबक था। मिस्र के गुलाम वंश की तरह दिल्ली के गुलाम बादशाह भी तुर्क-नस्ल के थे।

क़ुतुबुद्दीन ऐबक

क़ुतुबुद्दीन ऐबक (1206 ई॰–1210 ई॰) को इस्लामी इतिहास में बड़ी अहमियत हासिल है। ऐबक एक तुर्क-गुलाम था। नीशापुर में उसने शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की थी। शक्ल एवं सूरत से वह अच्छा नहीं था, इसलिए जब शिहाबुद्दीन ग़ौरी ने बहुत-से गुलाम ख़रीदे तो ऐबक की कुरूपता के कारण नहीं ख़रीदा। ऐबक ने इसपर सुल्तान से कहा, "आपने जहाँ बहुत -से गुलाम अपने लिए ख़रीदे हैं, वहाँ मुझे ख़ुदा के लिए ख़रीद लीजिए।" सुल्तान उसकी बात से बहुत ख़ुश हुआ और क़ुतुबुद्दीन ऐबक को भी ख़रीद लिया।

क़ुतुबुद्दीन ने अपनी योग्यता एवं बुद्धिमानी के ज़रिए बहुत जल्द तरक़्क़ी कर ली। ख़्वारिज़्म शाह से ख़ुरासान में शिहाबुद्दीन ग़ौरी की जो लड़ाइयाँ हुईं उनमें ऐबक ने बड़ी बहादुरी का प्रदर्शन किया। वह भारत की लड़ाइयों में भी सुल्तान के साथ था। दिल्ली से बनारस तक का इलाक़ा उसी । 1192 ई॰ में सुल्तान शिहाबुद्दीन ने उसकी योग्यता एवं क्षमता

को देखते हुए पाकिस्तान एवं भारत में उसे अपना प्रतिनिधि बनाया, और जब सुल्तान की मृत्यु हो गई तो 1206 ई॰ में लाहौर में वह एक सम्प्रभु (आज़ाद) बादशाह की हैसियत से गद्दी पर बैठा।

क़ुतुबुद्दीन ऐबक ने बादशाह की हैसियत से मात्र चार साल शासन किया, परन्तु यदि उसकी सूबेदारी की अवधि भी जोड़ दी जाए तो उसने भारतीय उपमहाद्वीप में लगभग अट्ठारह साल शासन किया। सूबेदार की हैसियत से उसकी राजधानी दिल्ली थी, परन्तु बादशाह बनने के बाद वह अधिकतर लाहौर में रहा और यहीं उसकी मृत्यु हुई। उसकी क़ब्र लाहौर में आज भी मौजूद है।

क़ुतुबुद्दीन ऐबक एक न्यायप्रिय बादशाह था। उसकी दानशीलता के कारण लोग उसे 'लखबख़्श' कहते थे। उसने दिल्ली में 'क़ुव्वतुल-इस्लाम' नामक एक विशाल एवं भव्य मस्जिद बनवाई, जिसके खण्डहर आज भी मौजूद हैं। दिल्ली का मशहूर 'क़ुतुब-मीनार' उसी मस्जिद का मीनार है। उसका निर्माण कार्य क़ुतुबुद्दीन के शासनकाल में प्रारम्भ हुआ था, परन्तु वह बनकर तैयार हुआ उसके उत्तराधिकारी इलतुतमिश के शासनकाल में।

इलतुतमिश

क़ुतुबुद्दीन ऐबक के बाद उसका एक ग़ुलाम इलतुतमिश (1211 ई॰–1236 ई॰) उसका उत्तराधिकरी हुआ। इलतुतमिश ने लगभग 26 वर्ष शासन किया। उसके शासनकाल में दक्षिण की ओर भपलसा और उज्जैन फ़तूह हुए। इलतुतमिश का ही ज़माना था, जब चंगेज़ ख़ाँ ने मध्य एशिया एवं ईरान पर हमला किया, परन्तु ये वहशी मंगोल सिंधु-नदी पार करके पाक-भारत पर हमला करने का साहस नहीं कर सके, क्योंकि इलतुतमिश ने यहाँ एक मज़बूत सत्ता क़ायम कर ली थी।

क़ुतुबुद्दीन ऐबक जिस प्रकार भारत में इस्लामी शासन का संस्थापक है, उसी प्रकार इलतुतमिश को यह गौरव प्राप्त है कि उसने नई इस्लामी सल्तनत की बुनियादें मज़बूत कर लीं।

इलतुतमिश बड़ा नेक बादशाह था। वह ज्ञान एवं साहित्य को प्रोत्साहन

देनेवाला भी था। इनसाफ़ का उसे बड़ा ख़याल रहता था। उसने आदेश दे रखा था कि जो उत्पीड़ित (मज़लूम) हो वह पीले कपड़े पहने, ताकि वह उन्हें देखकर ही पहचान ले और उनके साथ इनसाफ़ करे। इसके अतिरिक्त इलतुतमिश ने अपने महल के बाहर मुख्यद्वार पर घंटे लटका रखे थे, ताकि अत्याचार-पीड़ित व्यक्ति उन्हें बजाकर बादशाह से इनसाफ़ की गुहार कर सकें।

इलतुतमिश के बाद उसकी लड़की रज़िया सुल्ताना (1236 ई॰–1240 ई॰) ने तीन साल तक शासन किया। इस्लामी इतिहास में यह पहला मौक़ा था कि एक औरत आज़ाद एवं सम्प्रभु शासक हुई।

रज़िया बड़ी समझदार और योग्य औरत थी। सुल्तान इलतुतमिश के उन्नीस बेटे थे, परन्तु वह उन सबसे अधिक रज़िया से ख़ुश रहता था और कहा करता था कि मर्द सिर्फ़ रज़िया है। परन्तु इस्लाम में चूँकि औरत की ज़िम्मेदारी घरेलू कामकाज है और शासन की ज़िम्मेदारी मर्दों पर डाली गई है, इसलिए सरदारों ने उसकी सत्ता को नापसन्द किया और उसके ख़िलाफ़ हो गए। ख़ुद उसके भाई उसके मुक़ाबले पर आ गए और वह एक लड़ाई में मारी गई।

रज़िया के बाद कई साल हंगामे रहे, जिनके दौरान उसके भाई बहराम और मसऊद गद्दी पर बैठे। अन्ततः सरदारों ने उसके भाई नासिरुद्दीन महमूद (1246 ई॰–1266 ई॰) को अपना बादशाह चुन लिया। नासिरुद्दीन बड़ा सीधा और नेक बादशाह था। सल्तनत के ख़ज़ाने को प्रजा की अमानत समझता था और ख़ुद क़ुरआन मजीद लिखकर अपनी आजीविका अर्जित करता था। वह एक आबिद (उपासक) और सन्त-स्वभाव का बादशाह था और शासन के कार्य के लिए ज़्यादा उपयुक्त नहीं था। नासिरुद्दीन को ख़ुद इस बात का एहसास था। वह चूँकि नेकदिल था और चाहता था कि शासन सुचारू रूप से चले, इसलिए उसने इलतुतमिश के एक ग़ुलाम ग़ियासुद्दीन बलबन को, जो पंजाब का सूबेदार रह चुका था, अपना प्रधानमंत्री बनाकर सल्तनत का सारा प्रबंध उसके हवाले कर दिया और ख़ुद अल्लाह की इबादत में लीन हो गया। नासिरुद्दीन ने बलबन को आदेश दे रखा था कि तुम कोई

ऐसा काम न करना जिससे ख़ुदा के सामने मेरी रुस्वाई हो।

ग़ियासुद्दीन बलबन ने बीस साल तक नासिरुद्दीन के प्रधानमंत्री के रूप में शासन किया और जब सुल्तान की मृत्यु हो गई तो सरदारों ने उसे बादशाह बना लिया। बादशाह के रूप में बलबन ने बीस साल और शासन किया।

बलबन

बलबन (1266 ई॰—1286 ई॰) ग़ुलाम-वंश का सबसे मशहूर और महान शासक हुआ है। बादशाह बनने से पहले वह शराब पिया करता था, परन्तु जब बादशाह बन गया तो उसने शराब से तौबा कर ली। नमाज़ का ऐसा पाबन्द हुआ कि तहज्जुद (रात में उठकर पढ़ी जानेवाली नमाज़) तक की नमाज़ को छोड़ता नहीं था। वह विद्वानों और नेक लोगों की संगति में रहने लगा।

बलबन के शासनकाल में ईरान और उससे लगे हुए देशों में मंगोलों का प्रभाव बढ़ गया था। बग़दाद को तबाह करने के बाद वे पश्चिम में शाम (सीरिया) और मिस्र पर और पूरब में पाकिस्तान पर लगातार हमले करने लगे। बलबन ने उन हमलों को रोकने के लिए एक शक्तिशाली फ़ौज तैयार की और उस फ़ौज की मदद से उसने मंगोलों को बार-बार हराया। मुल्तान के गवर्नर शेर ख़ाँ (1246 ई॰—1268 ई॰) और मुहम्मद सुल्तान (1268 ई॰—1284 ई॰) ने मंगोलों के हमलों को दबाने में बड़ा नाम कमाया। मुहम्मद सुल्तान बलबन का बेटा था। जिस प्रकार मिस्र के ग़ुलाम-वंश के शासकों ने मंगोलों से मिस्र को तबाह होने से बचाया, उसी प्रकार दिल्ली के ग़ुलाम-वंश के बादशाहों ने और विशेषकर बलबन ने पाकिस्तान और भारत को तबाह होने से बचाया।

बलबन के शासनकाल में इस्लामी दुनिया के उन हिस्सों के लोगों ने, जिनपर मंगोलों का अधिकार हो गया था, हज़ारों की संख्या में दिल्ली में आकर शरण ली। केवल उसके दरबार में ही पन्द्रह बादशाहों एवं शहज़ादों ने शरण ली थी।

बलबन एक न्यायप्रिय और प्रजापालक बादशाह था। उसके शासन में बड़ी सुख-शान्ति थी और कोई सरकारी कर्मचारी डर के कारण प्रजा पर अत्याचार नहीं कर सकता था। एक बार बदायूँ के गवर्नर ने एक नौकर को क़त्ल कर दिया। नौकर की पत्नी ने बलबन को इसकी सूचना दे दी। बलबन ने गवर्नर को अपने पास बुलवाकर क़त्ल करा दिया और उसकी लाश को बदायूँ-शहर के मुख्य द्वार पर लटका दिया, ताकि उसे देखकर लोग कमज़ोरों पर अत्याचार न करें।

इसी प्रकार एक सरदार हैबत ख़ाँ को, जो बादशाह का घनिष्ट मित्र था, बलबन ने एक ग़रीब आदमी को क़त्ल करने के जुर्म में पाँच सौ कोड़े लगवाए और उसके बाद उसे मक़तूल के वारिसों के हवाले कर दिया और उनको अधिकार दिया कि होश आने के बाद वे उसे जिस प्रकार चाहें क़तल कर दें। आख़िरकार हैबत ख़ाँ के घरवालों ने मक़तूल की पत्नी को बीस हज़ार रुपये देकर उसकी जान बचवाई। बलबन की इस कठोरता का नतीजा यह हुआ कि शासन के बड़े-से-बड़े पदाधिकारी भी प्रजा पर अत्याचार नहीं कर सकते थे।

बलबन बादशाहत और शासन के सम्बन्ध में एक स्पष्ट दृष्टिकोण रखता था। वंश-परम्परा तथा शरीअत (इस्लामी धर्म-विधान) एवं राजनीति से सम्बन्धित उसके कुछ दृष्टिकोणों पर आपत्ति की जा सकती है, परन्तु कुल मिलाकर वह शरीअत की बालादस्ती (सर्वोच्चता) का क़ायल था। एक बादशाह के लिए प्रजा का विश्वास जीतना उसकी नज़र में बहुत ज़रूरी था। अतः वह प्रजा की स्थिति से अवगत रहता और अपने पदाधिकारियों पर कड़ी निगरानी रखता था। वह दक्षिण की ओर अपनी सल्तनत को बड़ी आसानी से विस्तार दे सकता था, परन्तु उसका कहना था कि दूसरों के देश पर क़ब्ज़ा करने से अच्छा यह है कि अपनी सल्तनत को मज़बूत, सुदृढ़ एवं स्थिर बनाया जाए और बादशाह के रूप में अपने कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक निर्वाह किया जाए। उसने अपने सरदारों के बीच फैली शराबख़ोरी और जुए जैसी बुरी लत को पूर्णतः समाप्त किया।

इतिहासकारों ने लिखा है कि बलबन के पदाधिकारी भी बड़े ईमानदार,

दानशील और न्यायप्रिय थे। उनमें अलाउद्दीन किश्ली ख़ाँ, एमादुल-मुल्क और दिल्ली के कोतवाल फ़ख़रुद्दीन विशेष रूप से न्यायप्रिय एवं प्रजा पालक की हैसियत से मशहूर थे। वे दान देने और भलाई के कामों में एक-दूसरे से आगे निकल जाने की कोशिश करते रहते थे। सारांश यह कि आन्तरिक सुख-शान्ति, मंगोलों के हमलों से देश की सुरक्षा और न्याय एवं इनसाफ़, बलबन के ऐसे कारनामे हैं जिनके कारण उसका नाम भारत-पाक उपमहाद्वीप के महानतम शासकों में गिना जाता है। बलबन मिस्र के शासक बैबरस और मराकश के याक़ूब मरीनी का समकालीन था। वह अपनी बुद्धिमत्ता, प्रजापालकता और इनसाफ़ एवं न्याय में उनमें से किसी से कम नहीं था। हक़ीक़त यह है कि ये तीनों शासक उस ज़माने में दुनिया के सबसे बड़े शासक थे।

बलबन का सबसे योग्य लड़का मुहम्मद सुल्तान मंगोलों के मुक़ाबले में शहीद हो चुका था और दूसरा लड़का बग़रा ख़ाँ बलबन की मृत्यु के बाद बंगाल का शासक था, इसलिए बलबन के बाद उसका सतरह वर्षीय लड़का केक़बाद दिल्ली में उसका उत्तराधिकारी बना। परन्तु केक़बाद बाप के पद-चिह्नों पर नहीं चल सका और जल्द ही भोग-विलास की ज़िन्दगी में लिप्त हो गया। जब देश के हालात बिगड़ने लगे तो पंजाब के गवर्नर जलालुद्दीन फ़ीरोज़ ख़िलजी (689 हि॰/1290 ई॰–695 हि॰/1296 ई॰) ने दिल्ली के तख़्त पर क़ब्ज़ा करके ख़िलजी-वंश के शासन की बुनियाद डाली।

2. ख़िलजी-वंश (689 हि॰/1290 ई॰–720 हि॰/1320 ई॰)

जलालुद्दीन ख़िलजी

ख़िलजी-वंश भी गुलाम-वंश की तरह तुर्क-नस्ल का था, परन्तु अफ़ग़ानिस्तान में एक लम्बी अवधि तक रहने के कारण तुर्कों की विशेषता खो चुका था और पठानों के तौर-तरीक़े अपना लिए थे।

जलालुद्दीन ख़िलजी ने कुल सात साल शासन किया। वह बड़ा नेक शासक था। बादशाह बनने से पहले वह पंजाब का सूबेदार था। यद्यपि उसने सीमावर्ती क्षेत्र के रक्षक के रूप में मंगोलों के हमले रोकने में बड़ी वीरता एवं

बहादुरी का परिचय दिया था, लेकिन ख़ून-ख़राबे से उसे स्वभावतः नफ़रत थी। वह कहा करता था–

"यदि बादशाही मार-काट और विरोधियों की हत्या करने एवं क़ैद करने का नाम है तो मैं ऐसा बादशाह नहीं। मैं इस्लाम के पैग़म्बर (मुहम्मद सल्ल॰) की शरीअत के ख़िलाफ़ एक काम भी नहीं कर सकता।"

इतिहासकारों ने लिखा है कि उसके शासन-काल में देश में खुशहाली थी, और कोई उत्पीड़ित (मज़लूम) ऐसा न था जिसके साथ इनसाफ़ न किया गया हो । परन्तु उस नेकदिल शासक को उसके लोभी, ईर्ष्यालु एवं पदलोलुप भतीजे अलाउद्दीन ने धोके से क़त्ल करके दिल्ली की गद्दी पर क़ब्ज़ा कर लिया।

अलाउद्दीन ख़िलजी (1299 ई॰–1319 ई॰) शासक बन गया। उसके शासन-काल में दिल्ली की इस्लामी सल्तनत अपने उत्थान के चरम को पहुँच गई। नासिरुद्दीन महमूद और बलबन के शासन-काल में विजयों एवं सीमा विस्तार का सिलसिला रुक गया था और सरकार का सारा ध्यान मंगोलों के हमलों को रोकने पर था। अलाउद्दीन के ज़माने में मंगोलों का ख़तरा बहुत हद तक कम हो गया था, इसलिए उसने अब नए क्षेत्र जीतने की ओर अपना ध्यान आकृष्ट किया। उसकी फौजों ने सबसे पहले मालवा, गुजरात और राजपुताना को जीता, उसके बाद एक नव-मुस्लिम सिपहसालार मलिक काफ़ूर के नेतृत्व में नर्मदा-नदी को पार करके उसकी फ़ौजें दक्कन में प्रवेश कर गईं और 1311 ई॰ तक रासकुमारी तक सारा इलाक़ा जीत लिया। इस प्रकार कश्मीर को छोड़कर सम्पूर्ण पाकिस्तान-भारत पर इस्लामी सत्ता क़ायम हो गई।

अलाउद्दीन चरित्र एवं स्वभाव में इलतुतमिश या बलबन की तरह नहीं था। वह शराब पीता था एवं नाच-गाने का रसिया था। लोगों को ज़रा-ज़रा से जुर्म पर बड़ी सख़्त सज़ाएँ देता था, परन्तु इन सभी बुरी आदतों के बावजूद उसने सल्तनत का प्रबंध बहुत सुचारू रूप से चलाया। इस दृष्टि से वह न तो बलबन से कम था और न इलतुतमिश से। उसने हर वस्तु का

मूल्य निर्धारण कर दिया था और कोई व्यक्ति निर्धारित मूल्य से ज़्यादा क़ीमत नहीं वुसूल कर सकता था। उसके इस प्रबंध का नतीजा यह निकला कि सल्तनत में हर चीज़ सस्ती हो गई और लोग बादशाह को दुआएँ देने लगे।

अलाउद्दीन ख़िलजी के ज़माने में प्रजा के सभी वर्ग (निम्न वर्ग, मध्य वर्ग, उच्च वर्ग) में चारित्रिक सुधार हुआ। यद्यपि बादशाह ख़ुद शराब पीता था, परन्तु सल्तनत में शराब पर पूर्ण प्रतिबंध था। शराब पीने एवं जुए के लिए कठोर दण्ड का प्रावधान था। इधर हुकूमत की ओर से कठोर निगरानी थी, उधर मशहूर सूफ़ी (सन्त) हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया और उनके अनुयायियों का इस्लामी प्रवचन एवं समाज-सुधार कार्यक्रम जारी था। सरकार और सूफ़ी-सन्त दोनों के प्रयासों का नतीजा यह हुआ कि लोगों ने जुआ, शराब और सूदख़ोरी छोड़ दी और झूठ बोलना एवं नाप-तौल में डंडी मारना बन्द कर दिया।

अलाउद्दीन एक अनपढ़ बादशाह था, परन्तु इसके बाद भी वह शासन और उसकी समस्याओं को समझने की असाधारण क्षमता रखता था। यदि वह पढ़ा-लिखा होता तो शायद उपमहाद्वीप के इतिहास में अपनी मिसाल आप होता।

अलाउद्दीन ख़िलजी के शासन-काल में इस्लामी सल्तनत में और विशेष रूप से दिल्ली में बुज़ुर्गाने-दीन (सूफ़ी-संत), उलमा (विद्वान) शायरों एवं अन्य क्षेत्रों के विशेषज्ञों की जितनी बड़ी संख्या जमा हो गई थी, उतनी दिल्ली के किसी बादशाह के शासनकाल में जमा नहीं हुई थी। इतिहासकार फ़िरिश्ता ने 46 ऐसे प्रमुख विद्वानों के नाम लिखे हैं जो दिल्ली में मौजूद थे। उस दौर के बुज़ुर्गाने-दीन में निज़ामुद्दीन औलिया (दिल्ली), शैख़ रुकनुद्दीन (मुल्तान) और शायरों में अमीर ख़ुसरो एवं मीर हसन संजरी सबसे प्रमुख हैं। ये दोनों शायर अलाउद्दीन के दरबार से सम्बद्ध थे। तारीख़े-फ़िरिश्ता के लेखक ने यह भी लिखा है कि उस दौर में जितनी अधिक संख्या में मस्जिदें, तालाब, सरायें, ख़ानक़ाहें और क़िले बनाए गए उतने किसी और बादशाह के शासन-काल में नहीं बनाए गए। अलाउद्दीन ने मस्जिद 'क़ुव्वतुल-इस्लाम'

का विस्तार किया, सत्तर एकड़ पर फैला 'हौज़े-अलाई' बनवाया और दिल्ली से लगा हुआ एक नया शहर 'सीरी' के नाम से बसाया। बादशाह मस्जिद 'क़ुव्वतुल-इस्लाम' के लिए क़ुतुब-मीनार से भी ऊँची मीनार बनवाना चाहता था, परन्तु यह मीनार अधूरा रह गया। उसका डेढ़ फुट ऊँचा खण्डहर आज भी मौजूद है।

अलाउद्दीन का बेटा क़ुतुबुद्दीन मुबारक शाह (716 हि०/1316 ई०–720 हि०/1320 ई०) अपने बाप का अयोग्य उत्तराधिकारी साबित हुआ। उसके काल में एक हिन्दू ने, जिसे मुबारक शाह ने ख़ुसरो ख़ान की उपाधि दी थी, शासन की सारी बागडोर अपने हाथ में ले ली थी और अन्ततः मुबारक शाह को भी क़त्ल करवा दिया था। इन परिस्थितियों में मुल्तान और दीपालपुर के सूबेदार ग़ाज़ी मलिक ने दिल्ली पर हमला करके ख़ुसरो ख़ान को पराजित किया। ख़िलजी-वंश का चूँकि कोई राजकुमार बचा नहीं था और ख़ुसरो ख़ान ने सभी को क़त्ल करवा दिया था, इसलिए दरबारियों ने ग़ाज़ी मलिक को बादशाह चुन लिया, और इस प्रकार वह ग़ियासुद्दीन तुग़लक के नाम से दिल्ली की गद्दी पर बैठा। इस प्रकार ख़िलजी-वंश की हुकूमत ख़त्म हो गई और तुग़लक-वंश की हुकूमत प्रारम्भ हुई। यह वंश भी पिछले शासकों की तरह तुर्क-नस्ल से था।

3. तुग़लक़-वंश (720 हि०/1321 ई०–816 हि०/1413 ई०)

ग़ियासुद्दीन तुग़लक़

ग़ियासुद्दीन तुग़लक़ (1321 ई०–1325 ई०) ने मात्र चार साल शासन किया। परन्तु इन चार सालों में उसने इतने बड़े-बड़े काम किए जो बहुत-से बादशाह पचास साल में भी न कर सके। ग़ियासुद्दीन बादशाह बनने से पहले दीपालपुर और मुल्तान का सूबेदार था। ये सरहद के इलाक़े थे और उस समय मंगोलों के हमलों को रोकने की ज़िम्मेदारी मुल्तान के सूबेदार पर हुआ करती थी। ग़ियासुद्दीन तुग़लक ने भी अपनी सूबेदारी के काल में यह कर्त्तव्य पूरा किया। उसने 29 (उनतीस) लड़ाइयों में मंगोलों को पराजित किया और इस प्रकार पश्चिमी भारत को जो अब पाकिस्तान है, तबाह होने

से बचा लिया। अपने इन कारनामों के कारण वह 'ग़ाज़ी मलिक' कहलाता था।

बादशाह बनने के बाद उसने दक्कन और दक्षिणी भारत की हिन्दू रियासतों को, जो अब तक सिर्फ़ अधीनस्थ (ख़िराज देनेवाली) रियासतें थीं, ख़त्म करके दिल्ली की सल्तनत में मिला लिया, और इस प्रकार केन्द्रीय सत्ता को और अधिक मज़बूती प्रदान की। ग़ियासुद्दीन ने प्रजा के साथ बड़ा अच्छा व्यवहार किया। उसने आदेश दिया कि लोगों से टैक्स वुसूल करने में नरमी की जाए। किसानों पर से टैक्स का भार इतना कम कर दिया कि जल्दी ही वे ख़ुशहाल हो गए। उसने सिंचाई के लिए बहुत-सी नहरें खुदवाईं, और बाग़-बग़ीचे लगवाए। वीरान और बंजर ज़मीनें उपजाऊ हो गईं और देश की उपज बढ़ गई।

एक इतिहासकार लिखता है—

"उसके शासन-काल में लुटेरे पासबान (रखवाले) बन गए। उन्होंने कमानें बेच डालीं और तलवारों को तोड़कर कृषि के औज़ार बना लिए।"

ग़ियासुद्दीन इनाम देने में न्याय से काम लेता था और मात्र उन लोगों को इनाम देता था जो उसके वास्तविक पात्र होते थे। वह दूसरे बादशाहों की तरह ज़रा-ज़रा-सी बात पर लाखों रुपये ख़र्च नहीं करता था। वह थोड़ा देता था, पर उसके दरबार से पानेवालों की संख्या अधिक थी, और वह बार-बार देता था।

ग़ियासुद्दीन बड़ा धर्मनिष्ठ बादशाह था। नमाज़ जमाअत के साथ पढ़ता था। उसके दरबार में कोई व्यक्ति शराब नहीं पी सकता था। उसके शासन-काल में प्रजा जितनी ख़ुश थी उतनी कम बादशाहों के ज़माने में ख़ुश रही होगी।

मुहम्मद तुग़लक़

ग़ियासुद्दीन का बेटा मुहम्मद तुग़लक़ (1325 ई०–1351 ई०) जो बादशाह बनने से पहले 'जूना ख़ाँ' और 'उलुग़ ख़ाँ' की उपाधियों से जाना

जाता था, एक बड़ा आलिम-फ़ाज़िल और बुद्धिमान बादशाह था। वह बेहतरीन ख़त्तात (सुलेखक, Calligrapher) और ज्ञान एवं साहित्य को प्रोत्साहन देनेवाला था। उसके शासन के प्रारम्भिक दस साल अमन-शान्ति एवं ख़ुशहाली के थे। उस ज़माने में दिल्ली की सल्तनत चरमोत्कर्ष पर थी। उसी ज़माने में मुहम्मद तुग़लक 1326 ई॰ में अपनी राजधानी दिल्ली से दौलताबाद ले गया, परन्तु जब उसे लोगों की कठिनाइयों का एहसास हुआ, तब दस साल बाद 1337 ई॰ में अपने पूर्व निर्णय को निरस्त करते हुए पुनः दिल्ली को ही अपनी राजधानी बना लिया। 1330 ई॰ में उसने ताँबे का सिक्का चलाकर अपनी मौलिक एवं सुधारवादी सोच का परिचय दिया, परन्तु अपने इस मौलिक प्रयोग में भी उसे नुक़सान का सामना करना पड़ा और अन्ततः यह फ़ैसला भी वापस लेना पड़ा।

1328 ई॰ में ईरान को ईलख़ानियों के अत्याचार से छुटकारा दिलाने के लिए एक बहुत बड़ी सेना गठित कर ली, परन्तु जब उसे मालूम हुआ कि सुल्तान अबू-सईद के आने के बाद वहाँ के हालात बेहतर हो गए हैं, तब उसने हमले का इरादा छोड़ दिया। 1335 ई॰ के बाद देश बग़ावतों एवं लगातार आनेवाले अकालों का शिकार हो गया। सुल्तान ने खेती को तरक़्क़ी देने और प्रजा को सुविधाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से कई प्रयास किए। लेकिन उसके स्वभाव में जल्दबाज़ी और कठोरता थी, ये कठोरता कभी-कभी अत्याचार का रूप धारण कर लेती थी, जिसके कारण हालात बिगड़ते चले गए। मुहम्मद तुग़लक़ एक जगह की बग़ावत को दबाता तो दूसरी जगह बग़ावत हो जाती। सबसे पहले बंगाल पर केन्द्रीय सत्ता की पकड़ ढीली पड़ी। 1335 ई॰ में भारत के दक्षिण पूर्वी तट 'मअबर' में एक आज़ाद मुस्लिम सत्ता क़ायम हो गई। 1336 ई॰ में दक्षिण भारत में विजयनगर में एक शक्तिशाली हिन्दू सत्ता क़ायम हो गई। 1347 ई॰ में दक्कन भी दिल्ली की सत्ता से आज़ाद हो गया, और एक व्यक्ति अलाउद्दीन गंगू ने दौलताबाद में बहमनी सत्ता की बुनियाद डाली। अन्ततः मुहम्मद तुग़लक़ सिंध की बग़ावत को कुचलने में संघर्षरत था कि उसकी मृत्यु हो गई।

मुहम्मद तुग़लक़ के सम्बन्ध में इतिहासकारों ने लिखा है कि वह

विरोधाभासी व्यक्तित्व रखता था। कुछ लोगों ने उसे दीवाना (सनकी) भी कहा है, परन्तु अब इतिहासकारों का यह विचार है कि वह अपने समय का अतिबुद्धिमान, योग्य और प्रजापालक शासक था। वह अपने ज़माने से आगे की सोच रखता था। हाँ, उसके व्यक्तित्व में कुछ त्रुटियाँ थीं। कुछ तो अपनी उन कमियों के कारण और कुछ अनुकूल परिस्थिति न होने के कारण वह अपने हर प्रयोग एवं योजनाओं में असफल रहा। मशहूर पर्यटक इब्ने-बतूता उसके शासन-काल में भारत आया था। उसने उस काल के हालात, रीति-रिवाज और दरबार के नियम-क़ायदे एवं रस्म के बारे में रोचक जानकारी उपलब्ध कराई है।

फ़ीरोज़ शाह तुग़लक़

मुहम्मद तुग़लक़ के बाद उसका चचेरा भाई फ़ीरोज़ तुग़लक़ (1351 ई॰–1388 ई॰) गद्दी पर बैठा।

फ़ीरोज़ शाह तुग़लक़ ख़ून-ख़राबे को नापसन्द करता था। इसलिए उसने सल्तनत के उन प्रान्तों को, जो मुहम्मद तुग़लक़ के शासन-काल में हाथ से निकल गए थे, पुनः दिल्ली की सल्तनत में शामिल करने का प्रयास नहीं किया। बंगाल को दिल्ली की सल्तनत का अधीनस्थ बनाने के लिए जो लड़ाई लड़ी गई उसमें एक लाख अस्सी हज़ार आदमी मारे गए थे। इसका फ़ीरोज़ शाह के दिल पर गहरा असर पड़ा। वह लाशों को देख-देखकर बहुत रोया और उसने हमेशा के लिए तौबा कर ली कि सल्तनत के विस्तार के लिए युद्ध कभी नहीं करेगा। इसी कारण कुछ इतिहासकार फ़ीरोज़ शाह को एक कमज़ोर शासक कहते हैं। दक्कन और दक्षिण भारतीय क्षेत्र हाथ से निकल जाने के बाद भी वह एक ऐसी विस्तृत सल्तनत का शासक था, जो पूरब में बंगाल से लेकर पश्चिम में ख़ैबर दर्रे एवं सिंध तक और उत्तर में हिमालय की तराई से दक्षिण में नर्मदा-नदी तक फैली हुई थी। उसने प्रयास किया कि अपनी सल्तनत में प्रजा को ज़्यादा-से-ज़्यादा सुख-सुविधा पहुँचाए, और इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि वह अपने इस उद्देश्य में बड़ी हद तक सफल हुआ। उसने प्रजा को जिस प्रकार आराम पहुँचाया

और जनकल्याण के जितने काम किए, उनकी मिसाल इस उपमहाद्वीप के इतिहास में बहुत कम नज़र आती है। इतना ही नहीं, विश्व-इतिहास में भी ऐसी गिनी-चुनी ही मिसालें मिलेंगी।

जनकल्याण के काम

फ़ीरोज़ शाह ने अपनी सल्तनत में तीस नहरें निकालीं। चालीस मस्जिदें और बीस ख़ानक़ाहें बनवाईं । तीस बड़े-बड़े मदरसे स्थापित किए। एक सौ सरायें बनवाईं। सिंचाई के लिए तीस बड़े-बड़े तालाब बनवाए। एक सौ अस्पताल बनवाए जिनमें मुफ़्त इलाज होता था। एक सौ सार्वजनिक स्नानगृह बनवाए और विभिन्न नदियों पर डेढ़ सौ पुल बनवाए।

जनकल्याण के इन कामों के अतिरिक्त फ़ीरोज़ शाह ने लगभग दो सौ शहर एवं बस्तियाँ बसाईं। जौनपुर, फ़ीरोज़पुर और होशियारपुर जैसे शहर उसी के बसाए हुए हैं जो आज भी मौजूद हैं।

बादशाह को खेती और बाग़ लगवाने का बहुत शौक़ था। उसने सिर्फ़ दिल्ली के आसपास बारह सौ बाग़ लगवाए। नहरों के कारण ऐसे रेगिस्तान जहाँ जानवरों को भी पानी बड़ी मुश्किल से मिलता था, वहाँ खेत लहलहाने लगे और बाग़ लग गए।

फ़ीरोज़ शाह बहुत अच्छा बादशाह था। उसने जनकल्याण के कामों के अतिरिक्त और भी बड़े अच्छे-अच्छे काम किए। उसने अपनी सल्तनत में सभी विद्वानों, ग़रीबों के वज़ीफ़े (भत्ते) निर्धारित कर दिए। उसने प्रयास किया कि उसकी सल्तनत में कोई व्यक्ति बेकार न रहे, इसलिए उसने सबके लिए समान रूप से रोज़गार के अवसर उपलब्ध कराए।

फ़ीरोज़ शाह ने वे सभी अनुचित टैक्स जो पूर्व बादशाहों ने लगाए थे, उठा लिए। उसने अपराधियों को ऐसी क्रूर सज़ाएँ देना बन्द कर दीं जो शरीअत के ख़िलाफ़ थीं। वह सोने-चाँदी के बर्तनों का उपयोग नहीं करता था और न ही रेशमी कपड़े पहनता था। इसलिए कि इस्लाम में मर्दों के लिए उनका उपयोग वर्जित है। उसने अपने महल में सजावट के लिए सजीव चित्रों को हटाकर प्राकृतिक दृश्यवाले चित्र लगवाए। ये सभी सुधार उसने

इस्लामी शिक्षाओं को सामने रखकर किए।

इस नेक बादशाह ने देश पर अड़तीस साल शासन किया। उसके शासनकाल में देश बड़ा ख़ुशहाल हो गया था और सस्तेपन का यह हाल था कि दो आने में एक मन गेहूँ और एक आने में एक मन जौ मिलता था। उस दौर के सस्तेपन को देखकर लोग अलाउद्दीन ख़िलजी का ज़माना भूल गए। फ़ीरोज़ शाह के दौर की यही ख़ूबियाँ थीं जिनके कारण उसके ज़माने में बहुत-से ग़ैर-मुस्लिम मुसलमान हो गए।

फ़ीरोज़ शाह के दौर में यदि हमें कोई ख़राबी नज़र आती है तो वह इस्लामी दृष्टिकोण से यह है कि उस ज़माने में क़ुरआन एवं सुन्नत पर अमल कमज़ोर हो गया था और इस्लाम एक रस्मो-रिवाज एवं परम्परा का मज़हब बन गया था। बिदअत (इस्लाम में अपनी ओर से नई बात पैदा करना), पीरपरस्ती (पुरोहितवाद) और क़ब्रपरस्ती (अर्थात् बुज़ुर्ग-पीर की क़ब्र की इस नियत से ज़ियारत करना कि वे कुछ बना-बिगाड़ सकते हैं) का बोलबाला हो गया था और ख़ुद बादशाह भी इन कमज़ोरियों का शिकार हो गया था। उस दौर में इस्लामी शरीअत का सबसे बड़ा प्रतिनिधि एक सरदार तातार ख़ाँ था। उसने बादशाह को शरीअत का पाबन्द बनाए रखने की भरपूर कोशिश की परन्तु उसकी मृत्यु के बाद बादशाह पर से यह दबाव ख़त्म हो गया।

तैमूर का हमला

फ़ीरोज़ तुग़लक़ की मृत्यु के बाद देश गृह-युद्ध और आपसी फूट का शिकार हो गया। छह साल की अवधि में तीन व्यक्ति गद्दी पर बैठे और उतारे गए। चौथा शासक महमूद तुग़लक़ इस वंश का अंतिम शासक था। छह साल के गृह-युद्ध ने सल्तनत की बुनियादें हिला दी थीं। इसी लिए जब 1398 ई० में तैमूर ने भारत पर हमला किया तो उसका मुक़ाबला करनेवाली कोई ताक़त नहीं थी। तैमूर ने दिल्ली की फ़ौज को पराजित करके दिल्ली पर क़ब्ज़ा कर लिया। इस्फ़हान और बग़दाद की तरह यहाँ भी क़त्लेआम किया और शहर की ईंट-से-ईंट बजा दी। दुनिया का यह महान् शहर जो फ़ीरोज़ तुग़लक़ के शासनकाल में चरमोत्कर्ष पर था, मलबे के एक ढेर में बदल

गया। कई शानदार इमारतें ढहा दी गईं, जिनमें ग़ियासुद्दीन का बनवाया हुआ महान क़िला भी शामिल था। आज उस क़िले को सिर्फ़ खण्डहर के रूप में देखा जा सकता है। तैमूर के हमले ने सल्तनत की बची-खुची साख भी ख़त्म कर दी और देश के विभिन्न सूबों (प्रान्तों) में सूबेदारों ने अपनी आज़ाद सरकारें बना लीं।

महमूद तुग़लक़ कुछ अवधि तक ख़िज़र ख़ाँ से लड़ता रहा जिसे तैमूर ने पंजाब का सूबेदार नियुक्त किया था और जो खुद को भारत में तैमूर और उसके उत्तराधिकारी शाहरुख़ का प्रतिनिधि समझता था। 1412 ई॰ में महमूद तुग़लक़ की मृत्यु हो गई और 1414 ई॰ में ख़िज़र ख़ाँ ने दिल्ली पर क़ब्ज़ा करके अपनी सत्ता क़ायम कर ली। यह सत्ता सैयदों की सत्ता कहलाती है, क्योंकि ख़िज़र ख़ाँ आले-रसूल (मुहम्मद सल्ल॰ का वंशज) होने का दावेदार था। यह शासन 1451 ई॰ तक चला और उसमें कुल चार शासक हुए। ख़िज़र ख़ाँ के क़ब्ज़े में दिल्ली और आसपास के इलाक़े के अतिरिक्त पंजाब भी था। परन्तु उसके बाद ये इलाक़े भी हाथ से निकल गए और अन्तिम सैयद शासक अलाउद्दीन आलम शाह मात्र दिल्ली का बादशाह था। 1451 ई॰ में एक पठान सरदार बहलोल लोधी ने दिल्ली पर क़ब्ज़ा करके लोधी-वंश की सत्ता की बुनियाद डाली।

दिल्ली-सल्तनत (602 हि॰/1206 ई॰–816 हि॰/1413 ई॰)

गुलाम-वंश

1. क़ुतुबुद्दीन ऐबक : (602 हि॰/1206 ई॰–607 हि॰/1210 ई॰)
2. आराम शाह : (607 हि॰/1210 ई॰–607 हि॰/1211 ई॰)
3. इलतुतमिश : (607 हि॰/1211 ई॰–633 हि॰/1236 ई॰)
4. रुकनुद्दीन : (633 हि॰/1236 ई॰–634 हि॰/1236 ई॰)
5. रज़िया सुल्ताना : (634 हि॰/1236 ई॰–637 हि॰/1240 ई॰)
6. मुइज़्ज़ुद्दीन बहराम : (637 हि॰/1240 ई॰–639 हि॰/1242 ई॰)
7. अलाउद्दीन मसऊद : (639 हि॰/1242 ई॰–644 हि॰/1246 ई॰)

8. नासिरुद्दीन महमूद : (644 हि॰/1246 ई॰—664 हि॰/1266 ई॰)

9. ग़ियासुद्दीन बलबन : (664 हि॰/1266 ई॰—686 हि॰/1287 ई॰)

10. मुइज़्जुद्दीन कैक़बाद : (684 हि॰/1287 ई॰—689 हि॰/1290 ई॰)

ख़िलजी-वंश

11. जलालुद्दीन : (689 हि॰/1290 ई॰—695 हि॰/1296 ई॰)

12. अलाउद्दीन : (695 हि॰/1296 ई॰—715 हि॰/1316 ई॰)

13. शिहाबुद्दीन : (715 हि॰/1316 ई॰—716 हि॰/1316 ई॰)

14. क़ुतुबुद्दीन मुबारक : (716 हि॰/1316 ई॰—720 हि॰/1320 ई॰)

तुग़लक़-वंश

15. ग़ियासुद्दीन : (720 हि॰/1320 ई॰—725 हि॰/1325 ई॰)

16. मुहम्मद तुग़लक़ : (725 हि॰/1325 ई॰—752 हि॰/1351 ई॰)

17. फ़ीरोज़ शाह : (752 हि॰/1351 ई॰—790 हि॰/1388 ई॰)

18. ग़ियासुद्दीन द्वितीय : (790 हि॰/1388 ई॰—791 हि॰/1389 ई॰)

19. अबू-बक्र : (791 हि॰/1389 ई॰—792 हि॰/1390 ई॰)

20. नासिरुद्दीन मुहम्मद : (792 हि॰/1390 ई॰—795 हि॰/1394 ई॰)

21. महमूद शाह : (795 हि॰/1394 ई॰—816 हि॰/1413 ई॰)

दिल्ली की सल्तनत के ऐतिहासिक घटना-क्रम (Chronology) के लिए देखिए अध्याय-13 का अन्तिम भाग।

अध्याय-12

भारत में इस्लामी सभ्यता

दिल्ली की सल्तनत दो सौ साल से ज़्यादा क़ायम रही और लगभग एक सौ अस्सी साल इसके चरमोत्कर्ष के थे। पाक-भारत के इतिहास में अब तक ऐसी हुकूमत क़ायम नहीं हुई थी, जो इस दिल्ली सल्तनत जितनी बड़ी हो और इतनी लम्बी अवधि तक क़ायम रही हो। मुसलमानों से पहले जब हिन्दुओं की हुकूमत थी तो उनकी सबसे बड़ी हुकूमत राजा अशोक के ज़माने में क़ायम हुई थी। यह 'मौर्य-साम्राज्य' के नाम से प्रसिद्ध है। यह सल्तनत क्षेत्रफल की दृष्टि से दिल्ली की सल्तनत के बराबर थी, परन्तु मौर्य-साम्राज्य का सत्तर-अस्सी वर्ष बाद पतन हो गया। इसलिए यह गौरव मुसलमानों ही को प्राप्त है कि इस उपमहाद्वीप की सबसे बड़ी और सबसे स्थायी हुकूमत उन्होंने ही क़ायम की।

दिल्ली

दिल्ली के बादशाहों के ज़माने में देश को बड़ी तरक़्क़ी दी गई। फ़ीरोज़पुर, जौनपुर और कई नए शहर बसाए गए। मुल्तान, उच्छ, दीपालपुर और लाहौर, जो अब पाकिस्तान में हैं, का और अधिक विकास किया गया। दिल्ली जो पहले मामूली-सी बस्ती थी, देश का सबसे बड़ा शहर बन गया। यहाँ क़ुव्वतुल-इस्लाम और जहाँपनाह नामक दो बड़ी जामा-मस्जिदें थीं। हौज़े-शम्सी और हौज़े-ख़ास नाम के दो बड़े तालाब थे। इनमें से एक तालाब दो मील लम्बा और एक मील चौड़ा था। शहर के लोग इन तालाबों का पानी पीते थे और इनके किनारे सैर करते थे। ग़ियासुद्दीन तुग़लक़ ने यहाँ एक क़िला बनवाया था, जो उस ज़माने में सबसे बड़ा क़िला था। बाद में इस क़िले को तैमूर ने तबाह कर दिया। अब उसके खण्डहर शेष बचे हैं। दिल्ली का वह भाग जो फीरोज़शाह ने आबाद किया था, फ़ीरोज़ाबाद कहलाता था। यह अपनी इमारतों एव ख़ूबसूरती के कारण पूरे शहर से विशिष्ट नज़र आता था। शहर की आबादी दस मील तक लगातार फैली हुई थी।

शहर में एक हज़ार मदरसे थे जिनमें फ़ीरोज़शाही मदरसा इतना बड़ा और सुंदर था कि उस ज़माने का एक इतिहासकार लिखता है, "जो कोई बाहर से इस मदरसे में आता, यही समझता कि स्वर्ग में आ गया हूँ।" दिल्ली की एक और देखने योग्य चीज़ वहाँ का घड़ियाल (घण्टा-घड़ी) था। अन्दलुस (स्पेन) की चर्चा के समय तुलैतिला की पनघड़ियों का उल्लेख आ चुका है, ठीक वैसा ही एक घड़ियाल फ़ीरोज़ शाह ने फ़ीरोज़ाबाद में बनवाया था। इस घड़ियाल से नमाज़ों का वक़्त, रोज़ा खोलने का वक़्त, छाया की स्थिति और रात-दिन के घंटे का हाल मालूम होता था। लोग झुंड-के-झुंड आकर इसे देखा करते थे।

केवल फ़ीरोज़ाबाद में आठ ऐसी मस्जिदें थीं जिनमें दस हज़ार आदमी नमाज़ पढ़ सकते थे। इब्ने-बतूता ने, जो मुहम्मद तुग़लक़ के ज़माने में दिल्ली आया था, शहर के हालात बड़े विस्तार से लिखे हैं। वह लिखता है—

"यह महान शहर इमारतों की ख़ूबसूरती और मज़बूती की दृष्टि से बेमिसाल है। सम्पूर्ण पूर्वी देशों में कोई शहर इसके मुक़ाबले का नहीं। बड़ा विशाल एवं विस्तृत शहर है, और सारा शहर आबाद है। अस्ल में यह चार शहरों का एक समूह है। एक हिन्दुओं के ज़माने का शहर है, दूसरा सीरी है, जिसे राजधानी भी कहते हैं। अलाउद्दीन ख़िलजी इसी शहर (सीरी) में रहता था। तीसरा तुग़लक़ाबाद है जिसे ग़ियासुद्दीन तुग़लक़ ने आबाद किया था और चौथा शहर जहाँपनाह है जिसमें मुहम्मद शाह तुग़लक़ रहता है। बादशाह का इरादा था कि चारों शहरों के गिर्द चहारदीवारी बना दे। उसने बनाना शुरू भी कर दिया था, लेकिन ख़र्च ज़्यादा देखकर अधूरा छोड़ दिया।

दिल्ली की चहारदीवारी ऐसी मज़बूत है कि दुनिया-भर में इसकी कोई मिसाल नहीं। इसकी चौड़ाई ग्यारह हाथ है। चहारदीवारी के ऊपर कई घुड़सवार और प्यादा सैनिक सारे शहर के चारों ओर घूम सकते हैं। चहारदीवारी के नीचे का हिस्सा पत्थर का बना हुआ है, ऊपर का हिस्सा पक्की ईंट का। बुर्ज की संख्या अधिक है, और ये

क़रीब-क़रीब हैं। शहर के कुल अट्ठाईस दरवाज़े हैं। चहारदीवारी के अन्दर कोठरियाँ और मकान बने हुए हैं, जिनमें चौकीदार और दरवाज़ों के सुरक्षाकर्मी रहते हैं। मिंजनीक़ (पत्थर फैंकने की तोप) और लड़ाई का दूसरा सामान भी इन कोठरियों में रखा जाता है। शहर की ओर इन गोदामों में रौशनदान हैं, जिनसे रौशनी आती है। चहारदीवारी के अन्दर अनाज के गोदाम भी हैं, जिनमें अनाज सालों तक सुरक्षित रहता है, यहाँ तक कि उनका रंग भी नहीं बदलता।"

इब्ने-बतूता ने दिल्ली की इमारतों का उल्लेख करते हुए क़ुतुब-मीनार के बारे में भी लिखा है जिसकी, उसके विचार से, इस्लामी दुनिया में कोई मिसाल नहीं। वह लिखता है कि यह मीनार लाल पत्थरों से बना हुआ है, पत्थरों पर नक्काशी की गई है और सबसे ऊपर की मंज़िल पर जो छतरी है वह शुद्ध संगे-मरमर की है।

यह हाल मुहम्मद तुग़लक़ की दिल्ली का था। बाद में फ़ीरोज़ शाह तुग़लक़ के ज़माने में यह शहर और विस्तृत हो गया तथा इसकी आबादी भी काफ़ी बढ़ गई। इब्ने-बतूता ने दिल्ली-सल्तनत के अन्य शहरों के बारे में भी उपयोगी जानकारियाँ दी हैं। उदाहरणत—

"सिंध में लाहरी बन्दर ख़ूबसूरत और दौलतमंद शहर है। यह एक बड़ी बन्दरगाह है। यमन और ईरान के व्यापारी यहाँ बहुत अधिक संख्या में आबाद हैं। सिंधु-नदी क़रीब ही समुद्र में गिरती है।

भक्खर बहुत ख़ूबसूरत शहर है। हांसी एक ख़ूबसूरत और मज़बूत शहर है। यहाँ बड़ी-बड़ी इमारतें हैं और शहर की चहारदीवारी बहुत ऊँची है। क़न्नौज बहुत बड़ा शहर है। यहाँ का क़िला बड़ा मज़बूत है, शहर की चहारदीवारी ऊँची है। यह शहर शकर की पैदावार के लिए मशहूर है। यहाँ से शकर दिल्ली भेजी जाती है। चंदेरी एक बड़ा शहर है। यहाँ बाज़ारों में बहुत भीड़ रहती है। धार मालवा का सबसे बड़ा शहर है। यहाँ से दिल्ली तक सड़क के किनारे मील के पत्थर लगे हुए हैं, जिनपर दूरी लिखी हुई है। उज्जैन एक ख़ूबसूरत

शहर है और इमारतें ऊँची हैं। दौलताबाद बहुत बड़ा शहर है। दिल्ली का मुक़ाबला करता है। इस शहर के हिन्दू जवाहरात का व्यापार करते हैं और बहुत धनी हैं। ख़म्बायत एक बन्दरगाह है। दूसरे शहरों की अपेक्षा मज़बूत और ख़ूबसूरत है। इमारतें और मस्जिदें बहुत अच्छी हैं। यहाँ के अधिकतर नागरिक विदेशी व्यापारी हैं, जो आलीशान महल और बड़ी-बड़ी मस्जिदें बनवाते हैं। कालीकट बहुत बड़ी बन्दरगाह है। चीन, जावा, श्रीलंका, यमन और ईरान के व्यापारी यहाँ आते हैं। दुनिया के अन्य देशों के व्यापारी भी यहाँ आते हैं। यह दुनिया की बड़ी बन्दरगाहों में से एक है।"

सड़कें

सल्तनत के सभी बड़े-बड़े शहरों के बीच सड़कें बनी हुई थीं। दिल्ली से दौलताबाद तक जो सड़क बनी हुई थी वह सबसे शानदार थी। इस सड़क के दोनों ओर पेड़ लगे हुए थे। पर्यटक इब्ने-बतूता इस सड़क से गुज़रा था। वह लिखता है—

"यदि मुसाफ़िर इस सड़क पर यात्रा करता तो लगता बाग़ की सैर कर रहा है। हर मील पर डाक की चौकियाँ थीं। हर चौकी पर ज़रूरत का सामान इतनी पर्याप्त मात्रा में मिलता था कि मुसाफ़िर समझता था कि इस चालीस दिन के सफ़र में सड़क पर नहीं बल्कि बाज़ारों में घूम रहा है। हर मंज़िल पर बादशाह के उतरने एवं विश्राम करने के लिए एक मकान बना हुआ है और साधारण मुसाफ़िरों के लिए भी ठहरने की जगह है। निर्धन मुसाफ़िरों को सभी चीज़ें मुफ़्त मिलती हैं, अतः उन्हें रास्ते का सामान ले जाने की कोई ज़रूरत नहीं।"

डाक दो प्रकार की थी। एक घोड़े की जिसकी चौकियाँ चार-चार मील पर थीं। और दूसरी पैदल संदेशवाहकों की जिसकी दो-दो मील पर तीन चौकियाँ होती थीं। हर चौकी पर संदेशवाहक तैयार रहते थे। उनके पास दो गज़ लम्बा एक डंडा होता था, जिसके सिरे पर ताम्बे के घुंघरू बंधे होते थे।

संदेशवाहक पूरी ताक़त से दौड़ता था और उसके घुंघरू की आवाज़ सुनकर दूसरी चौकी का संदेशवाहक तैयार हो जाता था और उससे डाक लेकर तुरंत अगली चौकी की ओर दौड़ जाता था।

दिल्ली-सल्तनत का ज़माना सीमा-विस्तार और सल्तनत को मज़बूत बनाने एवं मंगोलों के हमले रोकने का ज़माना था। नया-नया देश था, इसलिए मुसलमानों का सारा ध्यान सल्तनत की मज़बूती, सुरक्षा और इस्लाम के प्रसार पर रहा। इसलिए इस ज़माने में बड़े-बड़े लेखक-साहित्यकार पैदा नहीं हुए, परन्तु उस ज़माने में कई औलिया-अल्लाह (सूफ़ी-सन्त) हुए हैं जो इस्लाम के विद्वान भी थे और जिन्होंने इस्लाम का इस देश में प्रचार-प्रसार किया।

बुज़ुर्गाने-दीन (सूफ़ी-सन्त)

उनमें सबसे पहले बुज़ुर्ग मुईनुद्दीन चिश्ती (रह०) (537 हि०/1141 ई०—623 हि०/1235 ई०) हैं। वे सजिस्तान में पैदा हुए थे। नीशापुर, हरात, समरक़न्द, तबरीज़, इस्फ़हान और बग़दाद आदि की सैर करने के बाद वे मुल्तान आए। यहाँ उन्होंने स्थानीय भाषा सीखी। इसके बाद वे शिहाबुद्दीन मुहम्मद ग़ौरी के शासनकाल में 561 हि० में अजमेर आए और यहीं बस गए। सुल्तान इलतुतमिश के शासनकाल में इनका देहान्त हुआ। मुईनुद्दीन चिश्ती (रह०) ने मुसलमानों के चरित्र और आचरण में सुधार किया और कई ग़ैर-मुस्लिमों ने इनके द्वारा पेश की गई इस्लाम की व्यावहारिक व्याख्या से प्रभावित होकर इस्लाम ग्रहण कर लिया।

उस ज़माने के दूसरे बुज़ुर्ग बाबा फ़रीद गंजशकर (569 हि०/1174 ई०—664 हि०/1265 ई०) हैं। बाबा फ़रीद मुल्तान के निकट पैदा हुए थे। शिक्षा-दीक्षा के बाद वे अजोधन में, जो अब पाक पट्टन कहलाता है, स्थायी रूप से बस गए। यहाँ के लोग कठोर स्वभाव के एवं अंधविश्वासी थे, लेकिन बाबा फ़रीद की शिक्षाओं से ठीक हो गए। उनकी कोशिशों से पंजाब के कई बड़े-बड़े क़बीले मुसलमान हो गए। बाबा फ़रीद शैख़ मुईनुद्दीन अजमेरी के ख़लीफ़ा (आध्यात्मिक उत्तराधिकारी अथवा शिष्य) थे।

तीसरे बड़े बुज़ुर्ग ख़्वाजा निज़ामुद्दीन हैं जो निज़ामुद्दीन औलिया के नाम से मशहूर हैं। वे 634 हि॰/1238 ई॰ में बदायूँ (उत्तर प्रदेश) में पैदा हुए। वे बाबा फ़रीद के ख़लीफ़ा थे। उन्होंने दिल्ली को अपना केन्द्र बनाया और यहाँ से मुसलमानों की इस्लाह (सुधार) का काम शुरू किया। उनका 725 हि॰/1325 ई॰ में देहान्त हुआ।

"उनकी कोशिशों से मुसलमान इबादत एवं नेक कामों की ओर प्रवृत्त हुए। जिन लोगों को जुआ, शराब, सूदख़ोरी की लत लग गई थी, उन्होंने इन बुराइयों को छोड़ दिया। इसी प्रकार झूठ बोलना और कम तौलना आदि बुराई भी समाप्त हो गई।"

निज़ामुद्दीन औलिया ने अपने ख़लीफ़ाओं (शिष्यों) को देश के विभिन्न भागों में भेजा। वे जहाँ गए उन्होंने मुसलमानों का सुधार किया और इस्लाम का प्रचार-प्रसार किया।

इन तीन बुज़ुर्गों के अतिरिक्त भारत और पाकिस्तान में उस ज़माने में और भी कई बड़े-बड़े बुज़ुर्ग गुज़रे हैं। जैसे, दिल्ली में क़ुतुबुद्दीन बख़्तियार काकी (582 हि॰/1186 ई॰–633 हि॰/1235 ई॰), मुल्तान में बहाउद्दीन ज़करिय्या (578 हि॰/1182 ई॰–666 हि॰/1267 ई॰) और शैख़ रुकनुद्दीन (मृत्यु 735 हि॰/1334 ई॰), उच्छ में मख़दूम जहानियाँ (707 हि॰/1308 ई॰–785 हि॰/1384 ई॰), बिहार में शर्फ़ुद्दीन यह्या मनेरी (661 हि॰/1263 ई॰–782 हि॰/1380 ई॰), बंगाल में शैख़ जलालुद्दीन सिलहटी (मृत्यु 741 हि॰/1340 ई॰) और नूर क़ुतुब आलम (मृत्यु 813 हि॰/1410 ई॰) और दक्कन (गुलबर्गा) में हज़रत गेसूदराज़ (721 हि॰/1321 ई॰–825 हि॰/1422 ई॰)।

इन बुज़ुर्गों का बादशाहों पर बड़ा प्रभाव था। इलतुतमिश, नासिरुद्दीन महमूद, बलबन और फ़ीरोज़ शाह उनकी हिदायत सुनते थे और उनपर अमल करते थे, जिसके कारण वे न्याय-इनसाफ़ और प्रजा की भलाई के लिए प्रेरित होते थे।

ये बुज़ुर्ग कितनी बेबाकी एवं निर्भीकता से बादशाहों को नसीहत करते

थे इसका अन्दाज़ा सैयद नूरुद्दीन मुबारक ग़ज़नवी के उस वाज़ (उपदेश) से हो सकता है जो उन्होंने इलतुतमिश के समाने दिया था। सैयद नूरुद्दीन शैख़ुल-इस्लाम के पद पर थे और वे हमेशा बादशाह के साथ रहते थे। एक बार अपने एक अभिभाषण में उन्होंने बादशाह के कर्त्तव्य बताने के बाद कहा—

"यदि बादशाह प्रत्येक दिन हज़ार रकअत नमाज़ें पढ़ता रहे, सारी उम्र रोज़े रखता रहे, गुनाहों से बचता रहे, ख़ज़ाने को सच्चाई के रास्ते पर ख़र्च करता रहे, परन्तु वह दीन (इस्लाम) की हिमायत न करे, शरीअत के आदेशों का अनुपालन न करे, देश में अच्छे कामों को प्रोत्साहन और बुरे कामों की रोक-थाम न करे और न्याय-इनसाफ़ से काम न ले तो उसकी जगह नरक के अतिरिक्त कहीं नहीं होगी। इसके विपरीत यदि बादशाह इन बातों पर अमल करे तो चाहे व्यक्तिगत रूप से उसमें कई ख़राबियाँ मौजूद हों, परन्तु अन्ततः उसे इसका अच्छा बदला मिलेगा और वह स्वर्ग में जाएगा।"

वास्तविकता यह है कि बादशाहों को सही रास्ते पर रखने में और उन्हें उनके कर्त्तव्य याद दिलाने में इन धार्मिक उपदेशकों की बड़ी भूमिका है। उनके कारण दिल्ली की सल्तनत अपने ज़माने में दुनिया की एक आदर्श हुकूमत बन गई थी। अतः उस ज़माने के प्रसिद्ध इतिहासकार ज़ियाउद्दीन बरनी ने लिखा है—

"इन उपदेशकों-बुज़ुर्गों के कारण अल्लाह की कृपा हमेशा बरसती रहती और अल्लाह के बन्दे सही रास्ते से हटने न पाते। ... दरबारी, पदाधिकारी एवं धनी लोग दानशीलता एवं पुण्य कामों में एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते। यदि एक दरबारी के बारे में पता चल जाता कि उसके यहाँ भोज में उसके दस्तरख़ान पर हर रोज़ पाँच सौ आदमी खाना खाते हैं तो दूसरा दरबारी एक हज़ार भूखे लोगों को अपने दस्तरख़ान पर बैठाता। यदि एक व्यक्ति दो सौ विधवाओं को दान देता तो दूसरा व्यक्ति चार सौ विधवाओं को। यदि एक चार सौ रुपये दान में देता तो दूसरा उससे भी आगे बढ़ने की

कोशिश करता। केवल भलाई के कामों में ही वे ऐसी प्रतिद्वंद्विता करते थे।''

इन बुज़ुर्गों की कोशिशों से ही भारतीय उपमहाद्वीप में इस्लाम फैला।

ज्ञान एवं साहित्य

दिल्ली-सल्तनत के ज़माने में दीनी उलूम (धार्मिक ज्ञान), इतिहास, काव्य एवं साहित्य ने भी तरक़्क़ी पाई। यद्यपि ज्ञान एवं साहित्य के मैदान में अमीर ख़ुसरो के अतिरिक्त अन्य विद्वान एवं साहित्यकार उतने उच्च कोटि के नहीं थे जितने उच्च कोटि के विद्वान बग़दाद की तबाही से पहले इस्लामी दुनिया में पाए जाते थे, परन्तु फिर भी कई विद्वान एवं साहित्यकार ज्ञान के मैदान में अपनी एक अलग पहचान रखते हैं। उनमें कुछ तुर्किस्तान और ख़ुरासान से आए थे और कुछ यहीं पैदा हुए। उस काल में इस्लामी पुस्तकें प्रायः अरबी भाषा में लिखी जाती थीं और साहित्य-इतिहास एवं काव्य की भाषा फ़ारिसी थी। उस दौर के विद्वानों में इमाम रज़ीउद्दीन सनआनी (577 हि॰/1182 ई॰–650 हि॰/1252 ई॰) का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वे लाहौर में पैदा हुए थे। फिर अरब चले गए। वे अपने ज़माने के बहुत बड़े मुहद्दिस (हदीसशास्त्री) और फ़क़ीह (धर्मशास्त्री) थे। उनके द्वारा संकलित की गई हदीसों का संकलन 'मशारिक़ुल-अनवार' सदियों तक इस्लामी दुनिया के दीनी मदरसों में पढ़ाया जाता रहा। इमाम सनआनी की मृत्यु बग़दाद में हुई और मक्का में दफ़न किए गए।

उस दौर के ज्ञान के इतिहास में ख़ाने-आज़म तातार ख़ाँ का नाम नहीं भुलाया जा सकता। वे मुहम्मद तुग़लक़ और फ़ीरोज़ शाह के शासनकाल के श्रेष्ठतम सिपहसालार और हाकिम थे। फ़ीरोज़ शाह के शासनकाल में बादशाह के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व उन्हीं का था। वे अपने समय के महान विद्वान थे। उन्होंने ख़ुद तो कोई किताब नहीं लिखी, परन्तु उनकी निगरानी एवं दिशा-निर्देश में दो ऐसी बृहत् पुस्तकें संपादित की गईं जो इस्लामी हिन्द के बौद्धिक इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। उनमें एक 'तफ़्सीरे-तातारख़ानी' और दूसरी 'फ़तावा-तातारख़ानी' है। दोनों किताबें

कई-कई खण्डों में हैं।

उस काल में अनेक इतिहास-ग्रंथ भी लिखे गए। उनमें क़ाज़ी मिन्हाजुद्दीन की 'तबक़ाते-नासिरी' और ज़ियाउद्दीन बरनी की 'तारीख़े-फ़ीरोज़ शाही' बहुत प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण इतिहास-ग्रंथ है। ये दोनों पुस्तकें फ़ारिसी भाषा में लिखी गई हैं। क़ाज़ी मिन्हाजुद्दीन जो क़ाज़ी मिन्हाज सिराज के नाम से प्रसिद्ध हैं, इलतुतमिश और नासिरुद्दीन महमूद के शासनकाल में थे और उन्होंने अपनी पुस्तक का नाम नासिरुद्दीन के नाम पर 'तबक़ाते-नासिरी' रखा। यह एक विश्व-इतिहास है, परन्तु इसका सबसे प्रमुख भाग वह है जो ग़ौरी-वंश एवं ग़ुलाम-वंश के इतिहास से सम्बन्धित है। यह किताब 658 हि॰/1260 ई॰ में तैयार हुई थी। ज़ियाउद्दीन बरनी का सम्बन्ध तुग़लक़-काल से है। उन्होंने अपनी किताब 'तारीख़े-फ़ीरोज़ शाही' सुल्तान फ़ीरोज़ शाह के शासन के छठे वर्ष में पूरी की। यह बलबन के काल से फ़ीरोज़ शाह के प्रारम्भिक काल तक का इतिहास है। 'तारीख़े-फ़ीरोज़ शाही' को हम दुनिया के सर्वोत्तम इतिहास-ग्रंथों के समकक्ष रख सकते हैं। एक लेखक के कथनानुसार इस किताब में इतिहास-लेखन मात्र घटनाओं को सूचीबद्ध करने तक सीमित नहीं रहा है, बल्कि इतिहास-लेखन की कला एवं विद्या के गुण से परिपूर्ण है।[1] 'तारीख़े-फ़ीरोज़शाही' का उर्दू अनुवाद भी अब उपलब्ध है।

उस काल की किताबों में फ़ख़्रे-मुदब्बिर की 'आदाबुल-हर्ब' इस आधर पर उल्लेखनीय है कि उसमें शासन-प्रणाली, युद्ध-रणनीति एवं सामरिक हथियारों पर चर्चा की गई है और इस विषय पर फ़ारिसी भाषा की श्रेष्ठ किताबों में गिनी जाती है। फ़ख़्रे-मुदब्बिर सुल्तान इलतुतमिश के शासनकाल में थे। उन्होंने एक इतिहास की पुस्तक भी लिखी है जो 'तारीख़े-फ़ख़रुद्दीन मुबारकशाह' कहलाती है।

फ़ीरोज़ शाह तुग़लक़ की किताब, 'फ़ुतुहाते-फ़ीरोज़ शाही' उस काल की एक प्रतिनिधि रचना है, जिससे फ़ीरोज़ शाह के राजनीतिक दृष्टिकोण की जानकारी मिलती है और जिसमें उसने अपने सुधार-कार्य की रोचक चर्चा की है।

1. शेख़ मुहम्मद इकराम : आबे-कौसर

उस काल के साहित्यकारों में मुहम्मद औफ़ी (1171 ई॰–1242 ई॰) का नाम सर्वोपरि है। वे फ़ारिसी कवियों से सम्बन्धित एक पुस्तक 'लुबाबुल-अलबाब' के लेखक हैं। यह फ़ारिसी कवियों पर लिखी गई प्राचीनतम पुस्तकों में सबसे अहम पुस्तक है। मुहम्मद औफ़ी की दूसरी प्रमुख किताब 'जवामिउल-हिकायात' है। यह किताब साहित्यिक रूप में ऐतिहासिक कहानियों पर आधारित है और फ़ारिसी भाषा की उत्कृष्ट रचनाओं में गिनी जाती है।

उस काल के एक और प्रमुख लेखक ज़िया नख़शबी (मृत्यु 1350 ई॰) हैं। वे कई किताबों के रचयिता हैं। एक तसव्वुफ़ (सूफ़ीवाद) के विषय पर 'सिलकुस-सुलुक' है और दूसरी 'तूतीनामा' है। यह किताब संस्कृत से अनूदित है। अपनी उत्कृष्टता के कारण इसका तुर्की, जर्मन और अंग्रेज़ी भाषाओं में अनुवाद हो गया है। उर्दू में इसका अनुवाद 'तोता कहानी' के नाम से हुआ है।

अमीर हसन संजरी या सिजज़ी (651 हि॰/1257 ई॰–738 हि॰/1336 ई॰) दिल्ली-सल्तनत के काल के शायरों(कवियों) में अमीर ख़ुसरो के बाद सबसे बड़े शायर हुए हैं। परन्तु उनकी शायरी से ज़्यादा लोकप्रिय उनकी किताब 'फ़वाइदुल-फ़ुवाद' हुई। यह हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया के उपदेशों का प्रामाणिक संग्रह है। इसके बारे में अमीर ख़ुसरो कहा करते थे कि काश! हसन मेरी सारी रचनाएँ ले लेते और उनके बदले में यह किताब मुझे दे देते।

फ़ीरोज़ शाह के ज़माने में संस्कृत से भी फ़ारिसी में कई किताबों के अनुवाद किए गए और चिकित्सा-विज्ञान में एक महत्त्वपूर्ण किताब 'तिब्बे-फ़ीरोज़ शाही' लिखी गई। अन्त में हम उस काल के महानतम साहित्यिक व्यक्तित्व की चर्चा करते हैं। ये अमीर ख़ुसरो थे।

अमीर ख़ुसरो देहलवी (651 हि॰/1253 ई॰–725 हि॰/1324 ई॰)

अमीर ख़ुसरो गुणों एवं प्रतिभाओं का संगम थे। गद्य एवं पद्य में उन्होंने लगभग एक सौ किताबें लिखीं। वे फ़ारिसी भाषा के प्रथम पंक्ति के शायरों में गिने जाते हैं। ख़म्सा-निज़ामी का जवाब उनसे अच्छा किसी ने नहीं लिखा। उन पाँच मस्नवियों (लंबी कविताओं) के नाम 'मतलउल-अनवार'

'शीरीं व ख़ुसरो', मजनूँ व लैला, आईना-ए-सिकन्दरी' और 'हश्त-बेहिश्त' (आठ स्वर्ग) हैं। कुछ मस्नवियों में जैसे 'क़िरान-सादैन', 'मिफ़ताहुल-मफ़तूह', 'नोहसिपहर' (नौ आसमान) और 'तुग़लक़नामा' में अमीर ख़ुसरो ने अपने काल की ऐतिहासिक घटनाओं का भी उल्लेख किया है। और उनमें उस ज़माने की समाजी व्यवस्था से सम्बन्धित उपयोगी सूचनाएँ मिलती हैं। नस्र (गद्य) 'ख़ज़ाइनुल-मफ़तूह एक ऐतिहासिक पुस्तक है। 'अफ़-ज़लुल-फ़वाइद' में निज़ामुद्दीन औलिया के मलफ़ूज़ात (उपदेश) संकलित किए हैं, और 'एजाज़े-ख़ुसरिवी' नामक उनकी रचना फ़ारिसी भाषा में इंशा (ललित निबंध) पर आधारित है। अमीर ख़ुसरो संगीत के भी विशेषज्ञ थे। कहा जाता है कि सितार (वाद्ययंत्र) की मौजूदा शक्ल उन्हीं की बनाई हुई है। अमीर ख़ुसरो फ़ारिसी के अतिरिक्त अरबी, तुर्की, संस्कृत और हिन्दी भी जानते थे, परन्तु हिन्दी में उन दोहों एवं पहेलियों के अतिरिक्त जो उनकी रचनाएँ बताई जाती हैं, उनका और कोई विशेष काम अनुपलब्ध है। उनका बलबन और अलाउद्दीन ख़िलजी के दरबार से सम्बन्ध था।

दिल्ली-सल्तनत के पतन के बाद

हम देख चुके हैं कि जब भी किसी क्षेत्र में बड़ी सल्तनत का पतन हुआ तो उसकी जगह छोटी-छोटी हुकूमतों ने ले ली। जब बग़दाद में अब्बासी ख़िलाफ़त का पतन हुआ तो उस विस्तृत क्षेत्र में, जो अब्बासी ख़िलाफ़त में शामिल था, कई हुकूमतें क़ायम हो गई थीं। इसी प्रकार जब अन्दलुस (स्पेन) में उमवी सल्तनत का ख़ातिमा हुआ तो देश कई छोटी-छोटी हुकूमतों में बँट गया। यही हाल पाक-भारत का भी हुआ। दिल्ली की महान केन्द्रीय हुकूमत कमज़ोर पड़ गई तो जगह-जगह आज़ाद हुकूमतें क़ायम हो गईं, परन्तु भारतीय उपमहाद्वीप बहुत बड़ा भूभाग है, इसलिए यहाँ जो आज़ाद हुकूमतें क़ायम हुईं, वे अन्दलुस (स्पेन) की छोटी हुकूमतों जैसी छोटी नहीं थीं। उनमें दक्कन की बहमनी हुकूमत तो अपनी विशालता में अन्दलुस की उमवी हुकूमत से कम नहीं थी। बंगाल और गुजरात की हुकूमतें भी लगभग बहमनी सल्तनत के बराबर थीं।

1. कश्मीर (740 हि॰/1339 ई॰–995 हि॰/1586 ई॰)

इन हुकूमतों में हम सबसे पहले कश्मीर की चर्चा करेंगे। कश्मीर दिल्ली-सल्तनत में कभी सम्मिलित नहीं रहा। यहाँ सैकड़ों साल से हिन्दुओं की हुकूमत थी। कश्मीर में मुसलमानों की हुकूमत चौदहवीं शताब्दी से आरम्भ हुई। उस समय दिल्ली में मुहम्मद-बिन-तुग़लक़ शासक था। इस मुस्लिम हुकूमत का संस्थापक शहमीर हुआ है। शहमीर ने, जिसकी उपाधि शम्सुद्दीन थी, 1339 ई॰–1342 ई॰ तक कुल तीन साल तक शासन किया। बाद में जिस प्रकार भारत और पाकिस्तान में मुसलमान बुज़ुर्गों की कोशिशों से इस्लाम फैला उसी प्रकार कश्मीर में भी सैयद अली हमदानी (1314 ई॰–1384 ई॰) और दूसरे बुज़ुर्गों की कोशिशों से इस्लाम फैला। लोगों ने हज़ारों की संख्या में इस्लाम क़बूल कर लिया और इस प्रकार कश्मीर

की घाटी के अधिकतर लोग इस्लाम ले आए और यह इलाक़ा इस्लामी दुनिया का एक हिस्सा बन गया।

ज़ैनुल-आबिदीन

कश्मीर के बादशाहों में ज़ैनुल-आबिदीन (823 हि॰/1420 ई॰–874 हि॰/1470 ई॰) सबसे मशहूर और नेक बादशाह हुआ है। वह हरात के तैमूर-वंश के शासक शाहरुख़ (1404 ई॰–1447 ई॰) और तुर्की के उसमानी शासक मुहम्मद फ़ातेह (1451 ई॰–1481 ई॰) का समकालीन था। ज़ैनुल-आबिदीन ने ग़ियासुद्दीन तुग़लक़ और फ़ीरोज़ तुग़लक़ की तरह किसानों का लगान बहुत कम कर दिया था, और कश्मीर की घाटी में कई नहरें निकालीं, जिनके कारण पैदावार में वृद्धि हो गई और देश में ख़ुशहाली आ गई।

ज़ैनुल-आबिदीन जब शहज़ादा था तो वह तैमूर के शासनकाल में समरक़न्द गया था। समरक़न्द उस ज़माने में उद्योग-धन्धों और ज्ञान तथा साहित्य का केन्द्र था। इसलिए ज़ैनुल-आबिदीन ने बादशाह बनने के बाद अपनी राजधानी को समरक़ंद की तरह विकसित करने का प्रयास किया। उसने समरक़न्द से बहुत-से कारीगर बुलवाए जिन्होंने कश्मीर में क़ालीन बनाने, कागज़-निर्माण और अन्य उद्योग की बुनियाद डाली।

कश्मीर आजकल अपने फलों और विशेष रूप से सेबों एवं नाशपातियों के कारण बहुत प्रसिद्ध है। ज़ैनुल-आबिदीन से पहले ये फल कश्मीर में नहीं होते थे। इस बादशाह ने फलों के बीज ख़ुरासान एवं मावराउन-नहर से मँगवाकर कश्मीर में उनकी खेती शुरू करवाई। इसलिए आज कश्मीर अपने जिन फलों और फूलों के कारण प्रसिद्ध है, वह ज़ैनुल-आबिदीन के प्रयासों का परिणाम है।

ज़ैनुल-आबिदीन बड़ा दीनदार (धर्मपरायण) और सहिष्णु बादशाह था। उसने हिन्दुओं के साथ बड़ा अच्छा व्यवहार किया। पिछले बादशाहों ने उनके कई मंदिर तुड़वा दिए थे, ज़ैनुल-आबिदीन ने उन्हें पुनः बनवाया और कश्मीर से जो हिन्दू ज़ुल्म के क़ारण बाहर चले गए थे, उन्हें वापस कश्मीर बुलवाया।

ज़ैनुल-आबिदीन फ़ारिसी, अरबी और संस्कृत भी जानता था। उसके शासनकाल में अरबी और संस्कृत की कई किताबों का अनुवाद फ़ारिसी में किया गया, तथा कश्मीरी भाषा में पहली बार किताबें लिखी गईं। श्रीनगर की जामा मस्जिद ज़ैनुल-आबिदीन ही की बनवाई हुई है। इसके अतिरिक्त उसने झेलम-नदी पर कई पुल बनवाए और सम्पूर्ण कश्मीर में सड़के और सरायें (विश्राम-गृह) निर्मित कराईं। ज़ैनुल-आबिदीन कश्मीर में बडह-शाह के नाम से मशहूर है और उसके अच्छे कामों के कारण आज भी लोग उसका नाम इज़्ज़त से लेते हैं।

कश्मीर की आज़ाद इस्लामी हुकूमत लगभग ढाई सौ साल तक क़ायम रही। उसके बाद 1587 ई॰ में कश्मीर पर दिल्ली के मुग़ल बादशाह अकबर ने, जिसका उल्लेख आगे आएगा, क़ब्ज़ा कर लिया। इस प्रकार यह क्षेत्र दिल्ली की मुग़ल-सल्तनत का एक प्रान्त बन गया।

कश्मीर के मुस्लिम शासक

(1) शहमीर-वंशं (740 हि॰/1339 ई॰—947 हि॰/1540 ई॰)

1. सुल्तान शम्सुद्दीन	(1339 ई॰—1342 ई॰)
2. सुल्तान जमशेद	(1342 ई॰—1343 ई॰)
3. सुल्तान अलाउद्दीन	(1343 ई॰—1354 ई॰)
4.सुल्तान शिहाबुद्दीन	(1354 ई॰—1373 ई॰)
5. सुल्तान क़ुतुबुद्दीन	(1373 ई॰—1389 ई॰)
6. सुल्तान सिकन्दर	(1389 ई॰—1413 ई॰)
7. सुल्तान अली शाह	(1413 ई॰—1420 ई॰)
8. सुल्तान ज़ैनुल-आबिदीन	(1420 ई॰—1470 ई॰)
9. सुल्तान हैदर शाह	(1470 ई॰—1472 ई॰)
10. शाही शाह हसन	(1472 ई॰—1484 ई॰)
11. सुल्तान मुहम्मद शाह प्रथम	(1484 ई॰—1486 ई॰)

12. फ़तूह शाह (पहली बार) (1486 ई॰—1493 ई॰)

13. मुहम्मद शाह (दूसरी बार) (1493 ई॰—1505 ई॰)

14. फ़तूह शाह (दूसरी बार) (1505 ई॰—1514 ई॰)

15. मुहम्मद शाह (तीसरी बार) (1514 ई॰—1515 ई॰)

16. फ़तूह शाह (तीसरी बार) (1515 ई॰—1517 ई॰)

17. मुहम्मद शाह (चौथी बार) (1517 ई॰—1528 ई॰)

18. इबराहीम शाह प्रथम (1528 ई॰—1529 ई॰)

19. नाज़ुक शाह (1529 ई॰—1530 ई॰)

20. मुहम्मद शाह (पाँचवीं बार) (1530 ई॰—1537 ई॰)

मुहम्मद शाह के शासनकाल में काशग़र के शहज़ादा मिर्ज़ा हैदर दोग़लात ने, जो बाबर का मौसेरा भाई था, लद्दाख़ की ओर से 1533 ई॰ में ज़ौजीला-दर्रे के रास्ते कश्मीर पर हमला किया।

21. सुल्तान शम्सुद्दीन (1537 ई॰—1540 ई॰)

1540 ई॰ में मिर्ज़ा हैदर दोग़लात ने हुमायूँ की ओर से, जबकि वह भारत से भाग निकलने के प्रयास में था, कश्मीर पर क़ब्ज़ा करके शहमीर-वंश की हुकूमत का अन्त कर दिया और 1551 ई॰ तक कश्मीर पर शासन किया। मिर्ज़ा हैदर दोग़लात का शासनकाल कश्मीर का महत्त्वपूर्ण काल समझा जाता है। वह सुलेखन-कला, चित्रकारी एवं संगीत में माहिर था। वह तुर्की भाषा में शायरी करता था। 'तारीख़े-रशीद' नामक पुस्तक, जो काशग़र के मंगोल-शासकों का इतिहास है, का लेखक भी वही था।

2. चेक-वंश के शासक (1563 ई॰-1587 ई॰)

1. सुल्तान हुसैन शाह — (1563 ई॰—1570 ई॰)
2. सुल्तान अली शाह — (1570 ई॰—1578 ई॰)
3. सुल्तान यूसुफ़ शाह — (1578 ई॰—1586 ई॰)
4. सुल्तान याक़ूब शाह — (1586 ई॰—1587 ई॰)

यूसुफ़ शाह ने शहंशाह अकबर की मदद से 1580 ई॰ में कश्मीर की गद्दी पर पुनः अधिकार जमा लिया था, परन्तु जब उसने अकबर के आदेश का उल्लंघन किया तो अकबर ने कश्मीर पर 995 हि॰/1587 ई॰ में अधिकार कर लिया।

(कश्मीर के शासकों की ताजपोशी और मृत्यु की तिथियों के सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है। उपर्युक्त तिथियाँ मुहिब्बुल-हसन की किताब 'कश्मीर : बादशाहों के काल में' से ली गई हैं।)

2. दक्कन की बहमनी हुकूमत (748 हि॰/1347 ई॰–934 हि॰/1527 ई॰)

हम पढ़ चुके हैं कि दक्कन और दक्षिण भारत का इलाक़ा अलाउद्दीन ख़िलजी के समय जीता गया था, परन्तु दक्कन की विजय के चालीस साल बाद मुहम्मद तुग़लक़ के शासनकाल में यह इलाक़ा दिल्ली-सल्तनत से अलग हो गया और यहाँ दो आज़ाद हुकूमतें क़ायम हो गईं। एक दक्कन की बहमनी सल्तनत और दूसरी दक्षिण भारत की विजय नगर। इनमें विजय नगर की हुकूमत शुद्ध रूप से हिन्दू हुकूमत थी, परन्तु बहमनी सल्तनत मुस्लिम हुकूमत थी। बहमनी सल्तनत का संस्थापक अलाउद्दीन हसन गंगू (1347 ई॰–1358 ई॰) था।

दिल्ली-सल्तनत के पतन के बाद जो आज़ाद हुकूमतें क़ायम हुईं, उनमें सबसे पहली और सबसे शक्तिशाली हुकूमत यही थी। बहमनी सल्तनत की राजधानी पहले गुलबर्गा थी, फिर बीदर हो गई।

इस वंश में कई योग्य शासक हुए हैं। उनमें एक मुहम्मद शाह प्रथम (1359 ई॰–1374 ई॰) था। मुहम्मद शाह अपने पिता के बाद गद्दी पर बैठा। वह बड़ा ही योग्य और प्रजापालक बादशाह था। उस काल में विजय नगर के नाम से दक्षिण भारत में बड़ी शक्तिशाली हुकूमत थी। यह हिन्दू हुकूमत थी और दिल्ली-सल्तनत के पतन के बाद स्थापित हुई थी। मुहम्मद शाह के शासनकाल में विजय नगर के राजा ने बहमनी सल्तनत पर आक्रमण करके एक सीमांत क्षेत्र पर आठ सौ मुसलमानों को, जिनमें औरतें भी थीं, मार डाला था। जब बादशाह को यह ख़बर मिली तो उसने विजय

नगर पर हमला कर दिया और प्रतिशोध के जोश में हज़ारों हिन्दू मर्द-औरतों को क़त्ल कर डाला। मुहम्मद शाह का यह कृत्य इस्लामी शिक्षाओं के ख़िलाफ़ था, परन्तु बादशाह चूँकि दीनदार (धर्मपरायण) था, इसलिए बाद में अपनी ग़लती पर शर्मिन्दा हुआ और यह प्रण कर लिया कि अब भविष्य में सिवाय लड़ाई के मैदान के किसी को भी क़त्ल नहीं करूँगा, न क़ैदियों को और न औरतों-बच्चों को। पहले मुहम्मद शाह शराब भी पीता था। उस ज़माने में एक बुज़ुर्ग शैख़ ज़ैनुल-आबिदीन थे, उन्होंने सिर्फ़ इस कारण बादशाह के हाथ पर बैअत नहीं की कि वह शराब पीता था। इसपर बादशाह ने क्रोध में आकर उन्हें देश-निकाला दे दिया। बाद में बादशाह अपनी इस हरकत पर शर्मिन्दा हुआ और शैख़ ज़ैनुल-आबिदीन को वापस बुला लिया। लेकिन शैख़ इस शर्त पर आने के लिए तैयार हुए कि सुल्तान इस्लामी शरीअत (विधान) पर अमल करे, शराब न पिए, सल्तनत में पूर्णतः शराबबन्दी कर दी जाए, आलिमों और अपने इलाक़ाई गवर्नरों को आदेश दे कि वे इस्लाम की 'भलाई का आदेश देना एवं बुराई से रोकना' जैसी शिक्षाओं पर अमल करें। बादशाह ने उनकी शर्तों को क़बूल किया और वे ख़ुश होकर पुनः वापस आ गए।

मुहम्मद शाह ने गद्दी पर बैठने के बाद अपना सारा ख़ज़ाना जिसमें चार सौ मन सोना और सात सौ मन चाँदी थी, अपनी माँ के हाथ मक्का भिजवा दिया था, ताकि वहाँ ग़रीबों में बाँट दिया जाए, परन्तु इसके बावजूद जब वह मरा तो उसके ख़ज़ाने में इतनी दौलत थी कि किसी बहमनी बादशाह के शासनकाल में नहीं हुई।

मुहम्मद शाह प्रथम का एक और उल्लेखनीय काम, अपने नाम का सिक्का जारी करना है। अब तक दक्कन में हिन्दू राजाओं के नाम के सिक्के प्रचलित थे। मुहम्मद शाह पहला बादशाह है जिसने बहमनी सिक्के चलाए। कहा जा सकता है कि बहमनी सल्तनत के इस बादशाह का दौर उमवी सल्तनत के अब्दुल-मलिक के दौर से मिलता-जुलता है।

महमूद गावाँ

बहमनी वंश में और भी कई अच्छे बादशाह हुए हैं, परन्तु इस संक्षिप्त इतिहास में सबका उल्लेख सम्भव नहीं है। हम यहाँ बहमनी सल्तनत के एक वज़ीर (मंत्री) महमूद गावाँ का उल्लेख करते हैं जो मुहम्मद शाह तृतीय (1463 ई॰–1482 ई॰) का प्रधानमंत्री था। महमूद गावाँ के काल में बहमनी सल्तनत चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई थी। उसने भूमि-सुधार में उल्लेखनीय योगदान दिया। कृषि-भूमि की पैमाइश करवाकर न्यायसंगत टैक्स लागू किया। सल्तनत की शासन-व्यवस्था को ठीक किया और फ़ौजों को तरक़्क़ी दी। उसका जीवन सादा था और वह विद्वानों की संगति में रहता था। उसके पुस्तकालय में कई हज़ार पुस्तकें थीं। महमूद गावाँ ने बीदर में एक विशाल मदरसा भी बनवाया था, जिसके खण्डहर आज भी देखे जा सकते हैं। वह गणित एवं चिकित्सा के क्षेत्र का विशेषज्ञ समझा जाता था। उसने दो किताबें भी लिखीं, परन्तु इस योग्य एवं विद्वान प्रधानमंत्री को बादशाह ने दरबार के कुछ ईर्ष्यालु लोगों की बातों में आकर क़त्ल करवा दिया। महमूद गावाँ बारह वर्ष से अधिक समय तक प्रधानमंत्री रहा। उसके बाद बहमनी सल्तनत का पतन प्रारम्भ हो गया और वह निम्न आज़ाद हुकूमतों में बँट गई–

1. आदिल शाही बीजापुर – (895 हि॰/1490 ई॰–1097 हि॰/1686 ई॰)
2. निज़ाम शाही अहमद नगर – (895 हि॰/1490 ई॰–1043 हि॰/1633 ई॰)
3. कुतुब शाही गोलकुंडा – (918 हि॰/1512 ई॰–1098 हि॰/1687 ई॰)
4. बरीद शाही बीदर – (894 हि॰/1487 ई॰–1018 हि॰/1619 ई॰)
5. इमाद शाही बरार – (895 हि॰/1490 ई॰–980 हि॰/1574 ई॰)

इमाद शाही हुकूमत 1574 ई॰ में अहमद नगर की हुकूमत में और बरीद शाही हुकूमत 1619 ई॰ में बीजापुर की हुकूमत में शामिल कर ली गई। शेष तीन हुकूमतें मुग़ल-सल्तनत में शामिल कर ली गईं।

(देखें : अध्याय-20)

दक्कन की सभ्यता-संस्कृति

दक्कन की इन छोटी-छोटी रियासतों के ज़माने में अहमद नगर, बीजापुर, गोलकुंडा, हैदराबाद और बुरहानपुर के शहर आबाद हुए, और दक्कन में मुस्लिम सभ्यता-संस्कृति की बुनियादें और ज़्यादा गहरी हो गईं। वास्तुकला ने तरक़्क़ी पाई, ज्ञान और साहित्य का विकास हुआ। दक्कनी भाषा के रूप में उर्दू साहित्य पहली बार पैदा हुआ। हबशी ग़ुलामों ने उपमहाद्वीप में पहली बार स्पष्ट राजनीतिक योगदान दिया, और उनमें कुछ ऐसे लोग भी हुए जिनका नाम उपमहाद्वीप के इतिहास में कभी भुलाया नहीं जा सकेगा।

इन रियासतों के राजनीतिक इतिहास की एक अहम घटना तालीकोटा की जंग है। मुहम्मद तुग़लक़ के शासनकाल के अन्त में हिन्दुओं ने दक्षिण भारत में एक आज़ाद रियासत क़ायम कर ली थी, जिसे विजय नगर की सल्तनत कहा जाता है। विजय नगर की सल्तनत क्षेत्रफल, जनसंख्या और शक्ति में बहमनी सल्तनत के समकक्ष थी। इन दोनों में सीमा को लेकर हमेशा विवाद एवं लड़ाइयाँ होती रहती थीं, जिनमें प्रायः बहमनी हुकूमत का वर्चस्व रहता था, परन्तु जब बहमनी सल्तनत पाँच हिस्सों में बँट गई तो ये छोटी-छोटी रियासतें विजय नगर के सामने कमज़ोर पड़ गईं और विजय नगर इनपर हावी होने लगा। विजय नगर के राजा रामराज ने अली आदिल शाह के आमंत्रण एवं सहयोग से 1559 ई॰ और 1562 ई॰ में दो बार अहमद नगर का घेराव किया। इन आक्रमणों में हिन्दुओं ने मुसलमानों पर बहुत अत्याचार किए। मस्जिदों को अपवित्र किया और अपने सहयोगी बीजापुरवासियों से धोखा करके उनसे भी अपमान का व्यवहार किया। इस कारण दक्कन के मुसलमानों में विजय नगर के विरुद्ध क्रोध की भावना पैदा हुई और गोलकुंडा के शासक इबराहीम क़ुतुब शाह की अगुवाई में अहमद नगर, बीजापुर, गोलकुंडा और बीदर की चार रियासतों ने विजय नगर के ख़िलाफ़ संयुक्त कार्रवाई की। कृष्णा नदी के तट पर तालीकोटा के मैदान में जनवरी 1565 ई॰ में संयुक्त मुस्लिम रियासतों की फ़ौजों ने विजय नगर की फ़ौजों को निर्णायक शिकस्त दी। राजा रामराज इस युद्ध में मारा गया। विजय नगर

का शहर बरबाद कर दिया गया और विजय नगर की सल्तनत ख़त्म कर दी गई। विजय नगर के इलाक़े बीजापुर और गोलकुंडा में शामिल कर लिए गए।

बहमनी सुल्तान (गुलबर्ग, बीदर) (745 हि॰/1347 ई॰–934 हि॰/1527 ई॰)

1. अलाउद्दीन हसन शाह गंगू – (745 हि॰/1347 ई॰–759 हि॰/1358 ई॰)
2. मुहम्मद शाह प्रथम – (759 हि॰/1358 ई॰–776 हि॰/1375 ई॰)
3. मुजाहिद शाह – (776 हि॰/1375 ई॰–780 हि॰/1378 ई॰)
4. दाऊद शाह – (780 हि॰/1378 ई॰)
5. महमूद शाह प्रथम – (780 हि॰/1378 ई॰–800 हि॰/1397 ई॰)
6. ग़ियासुद्दीन – (800 हि॰/1397 ई॰)
7. शम्सुद्दीन – (800 हि॰/1397 ई॰)
8. फ़ीरोज़ शाह – (800 हि॰/1397 ई॰–825 हि॰/1422 ई॰)
9. अहमद शाह वली – (825 हि॰/1422 ई॰–838 हि॰/1435 ई॰)
10. अलाउद्दीन शाह द्वितीय – (838 हि॰/1435 ई॰–862 हि॰/1457 ई॰)
11. हुमायूँ शाह ज़ालिम – (862 हि॰/1457 ई॰–865 हि॰/1461 ई॰)
12. निज़ाम शाह – (865 हि॰/1461 ई॰–867 हि॰/1463 ई॰)
13. मुहम्मद शाह – (867 हि॰/1463 ई॰–887 हि॰/1482 ई॰)
14. महमूद शाह द्वितीय – (887 हि॰/1482 ई॰–924 हि॰/1518 ई॰)
15. अहमद शाह द्वितीय – (924 हि॰/1518 ई॰–927 हि॰/1520 ई॰)
16. अलाउद्दीन शाह तृतीय – (927 हि॰/1520 ई॰–928 हि॰/1522 ई॰)
17. वलीउल्लाह – (928 हि॰/1522 ई॰–931 हि॰/1525 ई॰)
18. कलीमुल्लाह – (931 हि॰/1525 ई॰–934 हि॰/1527 ई॰)

बीजापुर के आदिल शाही सुल्तान

(895 हि॰/1489 ई॰–1097 हि॰/1685 ई॰)

1. यूसुफ़ आदिल शाह – (895 हि॰/1489 ई॰–916 हि॰/1510 ई॰)
2. इसमाईल आदिल शाह – (916 हि॰/1510 ई॰–941 हि॰/1534 ई॰)
3. इबराहीम आदिल शाह – (941 हि॰/1534 ई॰–965 हि॰/1557 ई॰)
4. अली आदिल शाह प्रथम – (965 हि॰/1557 ई॰–988 हि॰/1580 ई॰)
5. इबराहीम आदिल शाह द्वितीय –(988 हि॰/1580 ई॰–1038 हि॰/1628 ई॰)
6. मुहम्मद आदिल शाह – (1038 हि॰/1628 ई॰–1067 हि॰/1656 ई॰)
7. अली आदिल शाह द्वितीय – (1067 हि॰/1656 ई॰–1082 हि॰/1671 ई॰)
8. सिकन्दर आदिल शाह – (1082 हि॰/1671 ई॰–1097 हि॰/1685 ई॰)

निज़ाम शाही सुल्तान (896 हि॰/1490 ई॰–1043 हि॰/1633 ई॰)

1. अहमद निज़ाम शाह – (896 हि॰/1490 ई॰–914 हि॰/1508 ई॰)
2. बुरहान निज़ाम शाह – (914 हि॰/1508 ई॰–961 हि॰/1553 ई॰)
3. हुसैन निज़ाम शाह – (961 हि॰/1553 ई॰–972 हि॰/1565 ई॰)
4. मुर्तज़ा निज़ाम शाह – (972 हि॰/1565 ई॰–996 हि॰/1588 ई॰)
5. मीरां हुसैन निज़ाम शाह – (996 हि॰/1588 ई॰–997 हि॰/1588 ई॰)
6. इसमाईल निज़ाम शाह– (997 हि॰/1588 ई॰–999 हि॰/1590 ई॰)
7. बुरहान निज़ाम शाह द्वितीय – (999 हि॰/1590 ई॰–1003 हि॰/1594 ई॰)
8. इबराहीम निज़ाम शाह – (1003 हि॰/1594 ई॰–1004 हि॰/1595 ई॰)
9. बहादुर निज़ाम शाह – (1004 हि॰/1595 ई॰–1005 हि॰/1596 ई॰)
10. अहमद ग़ासिब – (1005 हि॰/1596 ई॰–1012 हि॰/1603 ई॰)
11. मुर्तज़ा निज़ाम शाह द्वितीय – (1012 हि॰/1603 ई॰–1040 हि॰/1630 ई॰)
12. हुसैन निज़ाम शाह द्वितीय – (1040 हि॰/1630 ई॰–1043 हि॰/1633 ई॰)

गोलकुंडा के क़ुतुब शाही सुल्तान

(924 हि॰/1518 ई॰—1098 हि॰/1684 ई॰)

1. सुल्तान क़ुली क़ुतुब शाह — (924 हि॰/1518 ई॰—950 हि॰/1543 ई॰)
2. जमशेद क़ुली क़ुतुब शाह — (950 हि॰/1543 ई॰—957 हि॰/1550 ई॰)
3. सुब्हान क़ुली क़ुतुब शाह — (957 हि॰/1550 ई॰)
4. इबराहीम क़ुली क़ुतुब शाह — (957 हि॰/1550 ई॰—988 हि॰/1580 ई॰)
5. मुहम्मद क़ुली क़ुतुब शाह — (988 हि॰/1580 ई॰—1020 हि॰/1611 ई॰)
6. मुहम्मद क़ुतुब शाह — (1020 हि॰/1611 ई॰—1035 हि॰/1625 ई॰)
7. अब्दुल्लाह क़ुतुब शाह — (1035 हि॰/1625 ई॰—1084 हि॰/1672 ई॰)
8. अबुल-हसन ताना शाह — (1084 हि॰/1672 ई॰—1098 हि॰/1686 ई॰)

3. बंगाल (1338 ई॰–1576 ई॰)

बंगाल मुहम्मद तुग़लक़ के शासनकाल में 1338 ई॰ में दिल्ली-सल्तनत से आज़ाद हो गया था। प्रारम्भ में यहाँ के तीन सूबेदारों ने तीन हुकूमतें बना ली थीं। ये हुकूमतें पूर्वी बंगाल, उत्तरी बंगाल और पश्चिमी बंगाल की थीं। पूर्वी बंगाल की हुकूमत का संस्थापक फ़ख़रुद्दीन मुबारक शाह (739 हि॰/1338 ई॰—751 हि॰/1350 ई॰) था। इब्ने-बतूता उसी काल में बंगाल आया था, और पूर्वी बंगाल की राजधानी सोनारगाँव एवं सिलहट तक गया था। सोनारगाँव ढाका के निकट था। इब्ने-बतूता ने बंगाल की उपजाऊ धरती और वहाँ के सस्तेपन की बड़ी प्रशंसा की है। लिखता है—

"दुनिया में कोई देश बंगाल जैसा सस्ता नहीं।"

फ़ख़रुद्दीन मुबारक शाह के सम्बन्ध में उसने लिखा है, "वह बड़ा विद्वान बादशाह है और परदेसियों एवं सूफ़ियों से मुहब्बत रखता है।"

इलियास शाही वंश (1343 ई॰–1487 ई॰)

1343 ई॰ में शम्सुद्दीन इलियास शाह ने उत्तरी और पश्चिमी बंगाल की हुकूमतों का गठजोड़ बना लिया और फ़ख़रुद्दीन मुबारक शाह के बाद पूर्वी बंगाल पर क़ब्ज़ा भी कर लिया। इलियास शाही वंश ने, जिसकी बुनियाद शम्सुद्दीन इलियास शाह ने डाली थी, 1487 ई॰ तक बंगाल पर हुकूमत की। सिर्फ़ 1441 ई॰ से 1442 ई॰ तक की संक्षिप्त अवधि में एक स्थानीय हिन्दू राजा 'गणेश' के नवमुस्लिम पुत्र जादो ने सुल्तान जलालुद्दीन के नाम से बंगाल की गद्दी पर क़ब्ज़ा जमा लिया था। शम्सुद्दीन इलियास शाह के बेटे सिकन्दर शाह के शासनकाल में फ़ीरोज़ तुग़लक़ ने दो बार बंगाल पर क़ब्ज़ा करने का असफल प्रयास किया। अन्ततः फ़ीरोज़ और सिकन्दर में समझौता हो गया, जिसके तहत बंगाल ने दिल्ली की अधीनता स्वीकार कर ली और दिल्ली की हुकूमत ने भी बंगाल की खुदमुख़तार हैसियत (सम्प्रभुता) मान ली।

इलियास शाही वंश में सिकन्दर के बेटे ग़ियासुद्दीन आज़म शाह (1389 ई॰–1409 ई॰) को बंगाल के इतिहास में बड़ी अहमियत हासिल है। वह एक न्यायप्रिय, ज्ञान एवं कला का पोषक शासक था। उसने हाफ़िज़ शीराज़ी को बंगाल बुलाने का प्रयास किया। इसी वंश के एक शासक रुकनुद्दीन बारीक शाह को हबशियों को जमा करने का बहुत शौक़ था और उसकी फ़ौज एवं महल में लगभग आठ हज़ार हबशी नौकर थे। इन हबशियों का बारीक शाह के उत्तराधिकारियों के शासनकाल में इतना प्रभाव बढ़ गया कि 1487 ई॰ में उन्होंने बंगाल की हुकूमत पर क़ब्ज़ा करके इलियासशाही वंश के शासन का अन्त कर दिया। हबशियों की यह हुकूमत 1487 ई॰ से 1493 ई॰ तक रही। इसके बाद उनके एक वज़ीर (मंत्री) सैयद हुसैन ने हबशियों को बेदख़ल कर दिया और खुद अलाउद्दीन हुसैन शाह के नाम से बंगाल की गद्दी पर विराजमान हो गया। इस प्रकार उसने हुसैन शाही वंश की बुनियाद डाली, जिसका शासनकाल बंगाल के इतिहास में स्वर्ण काल कहलाता है।

हुसैन शाही वंश (1493 ई॰–1538 ई॰)

अलाउद्दीन हुसैन शाह (1493 ई॰–1519 ई॰) और उसके बेटे नुसरत शाह (1519 ई॰–1533 ई॰) का शासनकाल बंगाल के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रगति का काल है। उस काल में बिहार, उड़ीसा और असम का एक भाग भी बंगाल की हुकूमत के अधीन आ गया था। लखनौती जिसका दूसरा नाम गौड़ है, बंगाल की राजधानी था। इस शहर और अन्य स्थानों में मस्जिदें एवं शानदार इमारतें बनाई गईं जो बंगाल की वास्तुकला का सुन्दर नमूना हैं। आलिमों (विद्वानों) को प्रोत्साहन दिया गया और जनकल्याण के काम किए गए।

एक चीनी पर्यटक उस समय के बंगाल के सम्बन्ध में लिखता है, "यहाँ पैदावार प्रचुर मात्रा में होती है और जनसंख्या भी अधिक है। मुस्लिम नागरिकों की संख्या अधिक है, वे ईमानदार एवं दानशील हैं।" नुसरत शाह के आदेश से संस्कृत में लिखित प्रसिद्ध महाभारत का बंगाली भाषा में अनुवाद किया गया। उसी के शासनकाल में बंगाली भाषा में पहली बार किताबें लिखी गईं। हुसैन शाह और नुसरत शाह ने हिन्दुओं के साथ बहुत अच्छा व्यवहार किया। अतः उस काल का एक हिन्दू शायर (कवि) लिखता है, "नुसरत शाह का बाप एक महान बादशाह था और देश पर एक दूसरे 'राम' की तरह हुकूमत करता था।"

1538 ई॰ में बंगाल पर शेर शाह सूरी ने क़ब्ज़ा कर लिया। सूरी-वंश की यह हुकूमत 962 हि॰/1555 ई॰ तक क़ायम रही। उसके बाद कराई पठान बंगाल पर क़ाबिज़ हो गए जिनसे 1576 ई॰ में अकबर ने बंगाल छीन लिया और उसे दिल्ली की मुग़ल-सल्तनत का एक सूबा (प्रान्त) बना दिया।

बंगाल के सुल्तान

1. इलियास शाही वंश (742 हि॰/1342 ई॰–892 हि॰/1487 ई॰)

1. हाजी शम्सुद्दीन इलियास शाह – (742 हि॰/1342 ई॰–759 हि॰/1357 ई॰)

2. सिकन्दर शाह – (759 हि॰/1357 ई॰–791 हि॰/1389 ई॰)

3. ग़ियासुद्दीन आज़म शाह – (791 हि॰/1389 ई॰–812 हि॰/1409 ई॰)

4. सुल्तानुस्सलातीन – (812 हि॰/1409 ई॰ ....)

5. सुल्तान शम्सुद्दीन – (..................–817 हि॰/1414 ई॰)

1. राजा गणेश – (817 हि॰/1414 ई॰)

2. जादो (सुल्तान जलालुद्दीन–गणेश का पुत्र) – (817 हि॰/1414 ई॰–835 हि॰/1431 ई॰)

3. शम्सुद्दीन अहमद (जलालुद्दीन का पुत्र) – (835 हि॰/1431 ई॰–846 हि॰/1442 ई॰)

6. नासिरुद्दीन महमूद शाह – (846 हि॰/1442 ई॰–865 हि॰/1460 ई॰)

7. रुकनुद्दीन बारीक शाह – (865 हि॰/1460 ई॰–879 हि॰/1474 ई॰)

8. शम्सुद्दीन फ़ैरोज़ – (879 हि॰/1474 ई॰–886 हि॰/1481 ई॰)

9. जलालुद्दीन फ़तूह – (886 हि॰/1481 ई॰–892 हि॰/1487 ई॰)

हबशियों की हुकूमत (892 हि॰/1487 ई॰–898 हि॰/1493 ई॰)

2. हुसैन शाही वंश – (898 हि॰/1493 ई॰–945 हि॰/1538 ई॰)

1. अलाउद्दीन हुसैन शाह – (898 हि॰/1493 ई॰–925 हि॰/1519 ई॰)

2. नुसरत शाह – (925 हि॰/1519 ई॰–939 हि॰/1532 ई॰)

3. अलाउद्दीन फ़ीरोज़ – (939 हि॰/1532 ई॰–940 हि॰21533 ई॰)

4. ग़ियासुद्दीन महमूद – (940 हि॰ 1533 ई॰–945 हि॰/1538 ई॰)

4. सिंध (1336 ई॰–1591 ई॰)

सिंध का इलाक़ा बहुत पहले ही अरबों के समय में इस्लामी ख़िलाफ़त का एक हिस्सा बन गया था। ख़िलाफ़त के बिखराव के बाद यहाँ स्थानीय हुकूमतें क़ायम हो गईं। इनमें कुछ मुस्लिम हुकूमतें थीं और कुछ ग़ैर-मुस्लिम हुकूमतें। महमूद ग़ज़नवी और मुहम्मद ग़ौरी के शासनकाल में सिंध ग़ज़नी

की हुकूमत के अधीन रहा और जब कुतुबुद्दीन ऐबक ने अपनी आज़ाद हुकूमत बना ली तो सिंध लाहौर की केन्द्रीय हुकूमत का एक सूबा (प्रान्त) बन गया।

नासिरुद्दीन क़बाचा

कुतुबुद्दीन के बाद एक गुलाम नासिरुद्दीन क़बाचा ने, जो सिंध का सूबेदार था, यहाँ अपनी आज़ाद हुकूमत क़ायम कर ली। क़बाचा की सल्तनत मुल्तान और उच्छ (बहावलपुर) तक फैली हुई थी। उच्छ (बहावलपुर) नगर उसकी राजधानी थी। क़बाचा ने सतरह वर्ष (1210 ई॰—1227 ई॰) हुकूमत की। वह ज्ञान एवं साहित्य का पोषक था। उसके शासनकाल के एक प्रसिद्ध लेखक 'औफ़ी' ने उसके एक वज़ीर (मंत्री) के नाम पर 'जवामिउल-हिकायात' के नाम से एक रोचक पुस्तक की रचना की। फ़ारिसी भाषा में लिखी गई यह पुस्तक चार खण्डों में है। इसमें ऐसी ऐतिहासिक घटनाएँ क़िस्से-कहानियों के रूप में संकलित की गई हैं जो वीरता, दानशीलता, बादशाहों की बुद्धिमत्ता आदि से सम्बन्धित हैं। औफ़ी ने फ़ारिसी भाषा के शायरों (कवियों) की जीवनी पर भी एक पुस्तक लिखी है।

उसी ज़माने में 'चचनामा' के नाम से सिंध का एक इतिहास लिखा गया। फ़ारिसी भाषा में लिखी यह पुस्तक सिंध का प्राचीन इतिहास मानी जाती है।

क़बाचा ने उच्छ (बहावलपुर) में एक विशाल मदरसा भी बनवाया था। उस मदरसे में उस ज़माने के एक मशहूर आलिम (विद्वान) क़ाज़ी मिनहाज सिराज शिक्षा दिया करते थे। क़ाज़ी मिनहाज बाद में दिल्ली चले गए और वहाँ नासिरुद्दीन महमूद के शासनकाल में दिल्ली के बादशाहों का इतिहास लिखा, जिसका नाम 'तबक़ाते-नासिरी' है।

क़बाचा की हुकूमत को इलतुतमिश ने ख़त्म कर दिया। उसके बाद सिंध दिल्ली-सल्तनत का एक सूबा (प्रान्त) बन गया। जब दिल्ली-सल्तनत का पतन हुआ तब सिंध में पुनः एक आज़ाद हुकूमत अस्तित्व में आ गई। यह आज़ाद हुकूमत सुम्मा-राजपूतों की थी और लगभग ढाई सौ साल (1336

ई॰– 1591 ई॰) तक चली। अब ठट्ठ नगर सिंध की राजधानी था, परन्तु अब मुल्तान सिंध की हुकूमत के अधीन नहीं रहा। वहाँ भी एक आज़ाद हुकूमत स्थापित हो चुकी थी।

सुम्मा-वंश में कई अच्छे बादशाह हुए, परन्तु उनमें जाम निज़ामुद्दीन (1461 ई॰–1519 ई॰) सबसे मशहूर और नेक बादशाह था। उसे न्याय और इनसाफ़ का बड़ा ख़याल रहता था और उसके शासनकाल में प्रजा सुख-शान्ति एवं ख़ुशहाली का जीवन व्यतीत करती थी। वह बड़ा व्यवहार-कुशल एवं अच्छे आचरण का था। उसने मुल्क को चोर-लुटेरों से पाक किया। आलिम (विद्वान), धर्म-उपदेशक एवं निर्धन लोग उसके शासन में सुख-चैन से रहते थे। फ़ौज संतुष्ट और प्रजा ख़ुशहाल थी।

जाम निज़ामुद्दीन किसी मुस्लिम इलाक़े पर आक्रमण करना पसंद नहीं करता था। उसके शासनकाल में मुहम्मद (सल्ल॰) की सुन्नतों का चलन बिलकुल आम हो गया था। लोग नमाज़ जमाअत से पढ़ते थे, यदि कभी जमाअत छूट जाती तो शर्मिन्दा होते थे।

वह प्रायः बौद्धिक विचार-गोष्ठियों में व्यस्त रहता था। अल्लामा दवानी ने, जो ईरान के मशहूर विद्वान थे, जाम निज़ामुद्दीन की इल्म-दोस्ती एवं सरपरस्ती का हाल सुनकर शीराज़ से सिंध आना चाहा, जाम निज़ामुद्दीन ने भी उनका प्रोत्साहन किया और यात्रा-ख़र्च भिजवाया, परन्तु इस बीच मौलाना जलालुद्दीन दवानी का देहान्त हो गया। फिर भी जाम निज़ामुद्दीन के शासनकाल में ईरान से कई विद्वान सिंध आए।

जाम निज़ामुद्दीन के बेटे जाम फ़ीरोज़ (915 हि॰/1509 ई॰–926 हि॰/1520 ई॰) के काल में क़ंधार के शासक शाहबेग़ अरग़ौन ने जाम फ़ीरोज़ को हराकर सिंध पर क़ब्ज़ा कर लिया और सुम्मा-वंश के शासन का अन्त कर दिया। सुम्मा-शासकों की उपाधि 'जाम' थी।

सिंध पर अरग़ौन-वंश की हुकूमत 1520 ई॰ से 1556 ई॰ तक रही। इसके बाद तरख़ान-वंश की हुकूमत क़ायम हुई, जो 1591 ई॰ तक चली। 1591 ई॰ में सिंध पर अकबर का क़ब्ज़ा हो गया।

सुम्मा-वंश ने 737 हि॰/1336 ई॰ से 926 हि॰/1520 ई॰ तक सिंध पर हुकूमत की। इस अवधि में निम्न तेरह शासक गद्दी पर बैठे जो जाम कहलाते थे—

जाम उमर, जाम जूना, जाम बांबीया, जाम तमाची, जाम सलाहुद्दीन, जाम अली शेर, जाम करन, जाम फ़त्ह ख़ाँ, जाम तुग़लक़, जाम सिकन्दर, जाम संजर, जाम निज़ामुद्दीन (866 हि॰/1461 ई॰—915 हि॰/1509 ई॰) और जाम फ़ीरोज़ (915 हि॰/1509 ई॰—926 हि॰/1520 ई॰)।

फ़ीरोज़ तुग़लक़ जाम जूना और जाम बांबीया को दिल्ली ले गया था। उसके बाद उसने जाम तमाची को सिंध में गवर्नर नियुक्त कर दिया, परन्तु फ़ीरोज़ की मृत्यु के बाद सिंध दिल्ली के आधिपत्य से मुक्त हो गया।

अरग़ौन-वंश में शाहबेग अरग़ौन (1520 ई॰—1524 ई॰) और मिर्ज़ा हुसैन अरग़ौन (1524 ई॰—1556 ई॰) मात्र दो ही शासक हुए।

तरख़ान-वंश में तीन शासक हुए : मिर्ज़ा मुहम्मद ईसा तरख़ान (1556 ई॰—1567 ई॰), मिर्ज़ा मुहम्मद बाक़ी तरख़ान (1567 ई॰—1585 ई॰) और मिर्ज़ा जानीबेग तरख़ान (1585 ई॰—1591 ई॰)। अकबर के सिपहसालार अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना ने जानीबेग के समय में सिंध को फ़त्ह किया था।

5. मुल्तान (1438 ई॰—1527 ई॰)

पाकिस्तान की आज़ाद हुकूमतों में एक मुल्तान की हुकूमत भी थी। मुल्तान पाकिस्तान में मुसलमानों का एक प्राचीन केन्द्र है। सिंध की तरह मुल्तान में भी मुहम्मद-बिन-क़ासिम के समय ही से मुसलमानों की हुकूमत क़ायम हो चुकी थी। दिल्ली के सुल्तानों के शासनकाल में इस शहर का बड़ा उत्थान हुआ। यहाँ बड़े-बड़े औलिया हुए हैं, जिन्होंने एक ओर मुसलमानों के नैतिक जीवन को सुधारा और दूसरी ओर ग़ैर-मुस्लिमों में इस्लाम का प्रचार-प्रसार किया। मुल्तान के बुज़ुर्गों में हज़रत बहाउद्दीन ज़करिया और हज़रत रुक्ने-आलम बहुत प्रसिद्ध हैं। हज़रत अमीर ख़ुसरो, जिनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है, वे भी कई साल इस शहर में रहे। मुल्तान की प्रशंसा करते हुए उन्होंने फ़ारिसी में एक शेर कहा है। जिसका भावार्थ है—

"हमारा मुल्तान इज़्ज़त में जन्नत के बराबर है। यहाँ आहिस्ता पाँव रखो, क्योंकि यहाँ फ़िरिश्ते ज़मीन पर सजदा करते हैं।"

मुल्तान उस ज़माने में बहुत बड़ी फ़ौजी छावनी भी था। मंगोलों के हमलों को यहाँ से रोका जाता था। बलबन का लड़का सुल्तान मुहम्मद यहाँ कई बर्षों तक हाकिम रहा है और मंगोलों के हमलों को रोकता रहा। यह शहज़ादा बहुत ही योग्य और अच्छे आचरण का था। वह मुल्तान को दिल्ली की भाँति एक बौद्धिक केन्द्र बनाना चाहता था। अमीर ख़ुसरो को उसी ने मुल्तान बुलाया था। वह ईरान से शैख़ सअदी को भी मुल्तान बुलाना चाहता था, परन्तु वे बुढ़ापे के कारण नहीं आ सके। यह एक ऐसा समर्थ एवं योग्य शहज़ादा था, जिसने भारत-पकिस्तान को मंगोंलों की बर्बरता से कई सालों तक बचाए रखा और विद्वानों एवं साहित्य-सेवियों की सेवा करता रहा। एक युद्ध में मंगोलों को पराजित करने के बाद वह नमाज़ पढ़ रहा था कि अचानक दो हज़ार मंगोल फ़ौजों ने जो कहीं छुपे हुए थे, निकलकर हमला कर दिया। सुल्तान को एक तीर लगा और वह शहीद हो गया। इसी कारण उसे 'सुल्तान शहीद' भी कहा जाता है। नासिरुद्दीन महमूद के काल में सुल्तान के सूबेदार शेर ख़ाँ ने भी मंगोलों के ख़िलाफ़ लड़ाइयों में बड़ा नाम कमाया। उसने चालीस बार मंगोलों को हराया।

मुल्तान के हाकिमों में ग़ियासुद्दीन तुग़लक़ भी बहुत मशहूर है। दिल्ली का बादशाह बनने से पहले, जब वह मुल्तान का सूबेदार (हाकिम) था, उसने मंगोलों के ख़िलाफ़ उनतीस लड़ाइयाँ लड़ीं और सबमें विजयी रहा। उसके नाम से ही मंगोल डरते थे और उसका मुक़ाबला करने से बचते थे। वह ग़ज़नी और हरात तक जाकर उनका पीछा करता था।

हुसैन लंगाह

दिल्ली-सल्तनत के पतन के बाद लगभग नव्वे वर्षों तक मुल्तान में आज़ाद हुकूमत क़ायम रही। इस हुकूमत का सबसे मशहूर शासक शाह हुसैन लंगाह (874 हि०–904 हि०) हुआ है। उसने तीस वर्षों तक सफल शासन का संचालन किया। वह भी विद्वानों का आदर करनेवाला एवं उन्हें प्रोत्साहन देनेवाला था। उसके समय की एक रोचक घटना का उल्लेख

मिलता है। शाह हुसैन ने एक बार अपना एक दूत इसलिए गुजरात भेजा, ताकि वह गुजरात भ्रमण करके वहाँ के वास्तुशिल्प का अध्ययन करे और मुल्तान में भी वैसी ही इमारतें बनाने में सहयोग करे। जब यह दूत वापस आया, तब उसने कहा, "अहमदाबाद की इमारतों की तारीफ़ में ज़बान गूंगी है। यदि मुल्तान की सल्तनत की कुल वार्षिक आय भी ख़र्च कर दी जाए तो शायद ही वैसी इमारतें बन पाएँ।" बादशाह को यह सुनकर बड़ा दुख हुआ। उसने बड़ी हसरत से कहा, "मैं बादशाह कहलाता हूँ, क़ियामत के दिन मुझसे भी बादशाहों के साथ पूछताछ होगी, परन्तु मैं बादशाहों जैसे काम करने में असमर्थ हूँ।"

इसपर उसके मंत्री ने कहा, "अफ़सोस की कोई बात नहीं। हर देश की एक अलग पहचान होती है। गुजरात देश उपजाऊ है और हमारा देश मुल्तान इनसान की उपज करता है। यहाँ के बुज़ुर्ग (महात्मा) जहाँ जाते हैं, वहाँ उनकी इज़्ज़त होती है।" मंत्री ने अपनी बातों के क्रम में बहाउद्दीन ज़करिया मुल्तानी और अन्य बुज़ुर्गों का उदाहरण भी पेश किया। मंत्री की बातें सुनकर बादशाह अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

हुसैन लंगाह के बाद मुल्तान की हुकूमत कमज़ोर हो गई और 1527 ई॰ में मुग़ल-बादशाह बाबर ने उसपर अधिकार कर लिया। मुल्तान की हुकूमत पहली आज़ाद हुकूमत थी जो दिल्ली की मुग़ल-सल्तनत में शामिल हुई।

6. गुजरात (798 हि॰/1396 ई॰–980 हि॰/1572 ई॰)

गुजरात में मुसलमान सबसे पहले महमूद ग़ज़नवी के समय में आए। इसके बाद शिहाबुद्दीन ग़ौरी के समय में कई असफल आक्रमण हुए। गुजरात को सबसे पहले 1297 ई॰ में अलाउद्दीन ख़िलजी ने जीता और दिल्ली-सल्तनत में शामिल कर लिया। इसके बाद एक सौ चार (104) सालों तक गुजरात दिल्ली-सल्तनत का एक प्रान्त रहा। तैमूर के हमले के बाद जब दिल्ली-सल्तनत कमज़ोर हो गई तो 1401 ई॰ में यहाँ के सूबेदार ने एक आज़ाद हुकूमत बना ली। यह हुकूमत एक सौ सत्रह (117) सालों तक चली।

अहमदाबाद

गुजरात बहुत ही उपजाऊ और घनी आबादीवाला प्रान्त था। यहाँ पौने दो सौ साल की अवधि में कई बादशाह हुए, जिन्होंने देश को बड़ी तरक़्क़ी दी, उनमें एक अहमद शाह (1411 ई॰ से 1441 ई॰) था। अहमदाबाद का प्रसिद्ध शहर उसी ने बसाया था। उस ज़माने में अहमदाबाद में 300 मुहल्ले थे और हर मुहल्ले में एक मस्जिद और एक बाज़ार था। इस शहर के बाज़ारों में इतनी जगह होती थी कि बाज़ारों की सड़कों में दस गाड़ियाँ एक साथ गुज़र सकती थीं। शहर की इमारतें अधिकतर ईंट-चूने से बनी थीं। जब शहर बन गया तो बादशाह ने शहर के मकान और दुकानें लोगों को मुफ़्त दे दीं। अहमदाबाद उस समय से आज तक गुजरात का सबसे बड़ा शहर है।

अहमद शाह ने गुजरात की हुकूमत का बहुत विस्तार किया। जूनागढ़ और सूरत फ़तह किए। वह जब कोई इलाक़ा जीतता था तो हर शहर में एक मस्जिद, एक सराय (विश्राम-गृह) और एक मदरसा (स्कूल) ज़रूर बनवाता था। अहमद शाह की न्यायप्रियता का एक क़िस्सा बहुत मशहूर है। उसके दामाद ने एक निर्दोष व्यक्ति को क़त्ल कर दिया। अहमद शाह को जब इसकी सूचना मिली तब उसने अपने दामाद को क़त्ल के जुर्म में सूली पर चढ़ाने का आदेश दे दिया। जब लोगों ने कहा कि आप अपने दामाद की ओर से 'ख़ूँबहा' (इस्लामी विधान के अनुसार क़त्ल के बदले आर्थिक दण्ड) भी दे सकते थे तो उसने कहा, "इस प्रकार प्रजा के ख़ून को शासक-वर्ग और शहज़ादे जाइज़ समझ लेंगे। अपने ख़ज़ाने से 'ख़ूँबहा' देते रहेंगे और ख़ून करते रहेंगे। शरीअत (इस्लामी विधान) का मंशा यह नहीं है।

महमूद बेगड़ा

अहमद शाह यद्यपि बहुत अच्छा बादशाह था, परन्तु गुजरात का सबसे मशहूर बादशाह महमूद बेगड़ा (1458 ई॰–1511 ई॰) हुआ है। उसने 52 साल तक हुकूमत की और अपने शासल-काल में गुजरात के समुद्र-तटों से समुद्री लुटेरों का सफ़ाया कर दिया। उसने कई शहर आबाद किए। बड़े विवेक से शासन किया और किसी पर अत्याचार नहीं होने दिया। वह इस्लाम

का पाबन्द था, लज्जाशील इतना था कि पराई औरतें जब उसके सामने आतीं तो अपने पाँव भी ढँक लेता था। वह वादे का पाबन्द था। उसकी प्रसिद्धि की चर्चा यूरोप तक होने लगी थी। दिल्ली के बादशाह सिकन्दर लोधी ने उसे तोहफ़े भेजे।

महमूद बेगड़ा मुस्लिम हुकूमतों से लड़ना अथवा अपने पड़ोसियों की कमज़ोरी से फ़ायदा उठाना ठीक नहीं समझता था। एक बार जब मालवा के बादशाह महमूद ख़िलजी की मृत्यु हुई तब उसके दरबारियों ने सुझाव दिया कि मालवा पर क़ब्ज़ा कर लिया जाए, परन्तु उसने यह कहकर इनकार कर दिया कि, "इस्लाम में यह जाइज़ (वैध) नहीं है कि मुसलमान मुसलमान से लड़े और एक पड़ोसी देश दूसरे की कमज़ोरी से फ़ायदा उठाकर उसपर चढ़ दौड़े।"

इसी प्रकार एक बार लोगों ने सिंध पर क़ब्ज़ा करने का मशवरा दिया तो उसने यह कहकर सबका मुँह बन्द कर दिया कि हमारी माँ सिंध की रहनेवाली हैं और हमें यह शोभा नहीं देता कि अपने ननिहाल पर हमला करें।

महमूद बेगड़ा ने यात्रियों के लिए सरायें (विश्राम-गृह), विद्यार्थियों के लिए मदरसे और मुसलमानों के लिए मस्जिदें बनवाईं। उसका दरबार विद्वानों से भरा रहता था।

महमूद बेगड़ा कश्मीर के ज़ैनुल-आबिदीन (1420 ई॰–1472 ई॰), सिंध के जाम निज़ामुद्दीन (1460 ई॰–1509 ई॰), बंगाल के हुसैन शाह (1493 ई॰–1519 ई॰), और बहमनी सल्तनत के महमूद गावाँ (मृत्यु–1481 ई॰) का समकालीन था, और अपनी योग्यता एवं क्षमता में किसी से कम नहीं था। उसी ज़माने में दिल्ली में सिकन्दर लोधी, क़ुस्तनतीनिया में मुहम्मद फ़ातेह और हरात में सुल्तान हुसैन बायक़रा सत्तासीन थे।

गुजरात पर 1573 ई॰ में मुग़लों ने क़ब्ज़ा करके उसे अपनी सल्तनत में शामिल कर लिया।

गुजरात के सुल्तान

1. मुज़फ़्फ़र शाह – (798 हि./1396 ई.–814 हि./1411 ई.)
2. अहमद शाह प्रथम – (814 हि./1411 ई.–846 हि./1442 ई.)
3. मुहम्मद शाह प्रथम – (846 हि./1442 ई.–855 हि./1451 ई.)
4. कुतुबुद्दीन – (855 हि./1451 ई.–863 हि./1458 ई.)
5. दाऊद शाह – (863 हि./1458 ई.)
6. महमूद शाह बेगड़ा – (863 हि./1458 ई.–917 हि./1511 ई.)
7. मुज़फ़्फ़र शाह द्वितीय – (917 हि./1511 ई.–932 हि./1526 ई.)
8. सिकन्दर शाह – (932 हि./1526 ई.–932 हि./1526 ई.)
9. सुल्तान महमूद शाह द्वितीय – (932 हि./1526 ई.)
10. बहादुर शाह – (932 हि./1526 ई.–943 हि./1537 ई.)
11. मुहम्मद शाह द्वितीय – (943 हि./1537 ई.)
12. महमूद शाह तृतीय – (943 हि./1537 ई.–962 हि./1554 ई.)
13. अहमद शाह द्वितीय – (962 हि.–1554 ई./969 हि.–1562 ई.)
14. मुज़फ़्फ़र शाह तृतीय – (969 हि./1562 ई.–980 हि./1572 ई.)

7. मालवा (794 हि./1392 ई.–937 हि./1531 ई.)

भारत में नर्मदा-नदी के उत्तर, राजपूताना के दक्षिण और गुजरात के पश्चिम में जो इलाक़ा है वह मालवा के नाम से मशहूर है। यहाँ की ज़मीन बहुत उपजाऊ है और भोपाल, उज्जैन एवं इन्दौर यहाँ के मशहूर शहर हैं।

मालवा 1310 ई. में अलाउद्दीन ख़िलजी के शासन-काल में दिल्ली-सल्तनत में शामिल हुआ था। नव्वे साल बाद 1401 ई. में यहाँ के सूबेदार ने आज़ाद हुकूमत बना ली, जो 1531 ई. तक चली। इस डेढ़ सौ साल की अवधि में मालवा ने बड़ी तरक़्क़ी की और इसकी राजधानी माण्डू अपनी शानो-शौकत में उपमहाद्वीप के बेहतरीन शहरों में से हो गया।

महमूद ख़िलजी

मालवा के बादशाहों में महमूद ख़िलजी (1436 ई.–1469 ई.) बड़ा नामवाला हुआ है। उसके शासनकाल में मालवा की सल्तनत अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। होशंगाबाद, उज्जैन, माण्डू और चंदवरी उसकी सल्तनत में शामिल थे। महमूद ख़िलजी बड़ा अच्छा सिपहसालार था। उसने पूरा देश जीतने की कोशिश की। इसी कोशिश में उसने गुजरात, दक्कन और दिल्ली तक हमले किए परन्तु चूँकि ये सभी हुकूमतें शक्तिशाली थीं, इसलिए सफल न हो सका।

महमूद ख़िलजी का सम्पूर्ण जीवन लड़ाइयों में व्यतीत हुआ, परन्तु उसका शासनकाल सुख-शान्ति एवं क़ानून-व्यवस्था की दृष्टि से भी बेमिसाल है। वह खुद एक बड़ा लेखक था और प्रजा का भी ख़याल रखता था। उसने बड़े-बड़े अनुदान देकर विद्वानों को मालवा बुलाया। जगह-जगह मदरसे बनवाए जिनके कारण इतिहासकारों ने लिखा है कि मालवा उसके समय में शीराज़ एवं समरक़न्द के समकक्ष आ गया। उसने मालवा में लंगर खोल रखे थे, जिनसे ग़रीबों को खाना मिलता था। उसके शासन-काल में तीन सौ मस्जिदें बनाई गईं, जिनमें माण्डू की जामा-मस्जिद बड़ी शानदार है। उसने क़ानून-व्यवस्था को इस प्रकार सुदृढ़ किया कि सल्तनत से चोरी-चकारी का ख़ातिमा हो गया। यदि कभी किसी व्यापारी का माल चोरी हो जाता तो व्यापारी को अपने ख़ज़ाने से तुरंत मुआवज़ा दिलवाता। बाद में तुरंत उस क्षेत्र के सुरक्षाकर्मियों से वुसूल कर लेता। आदमी-तो-आदमी उसके शासनकाल में हिंसक पशु भी इनसानों को नुक़सान नहीं पहुँचा सकते थे। मालवा का इलाक़ा घने जंगलों से भरा पड़ा था। वहाँ शेर, चीते और अन्य हिंसक पशु की बहुतायत है। एक दिन किसी हिंसक पशु ने एक मुसाफ़िर को मार डाला। उसकी माँ की शिकायत पर सुल्तान ने जंगल के सारे हिंसक पशुओं को मार डालने का आदेश दे दिया, जिसका नतीजा यह हुआ कि उस ज़माने में मालवा से हिंसक पशु ख़त्म कर दिए गए थे।

महमूद ख़िलजी ने एक अस्पताल भी बनवाया था, जिसमें विभिन्न रोगों के इलाज के लिए अलग-अलग विभाग थे। इस अस्पताल में कई बाग़ीचे

थे। इसी में एक पागलख़ाना भी था। महमूद ख़िलजी गुजरात के महमूद बेगड़ा का समकालीन था। उसकी मृत्यु के 62 वर्ष बाद 1531 ई॰ में मालवा पर गुजरात का अधिकार हो गया।

मालवा के सुल्तान (794 हि॰/1392 ई॰–937 हि॰/1531 ई॰)

(1) ग़ौरी-वंश (794 हि॰/1392 ई॰–839 हि॰/1436 ई॰)

1. दिलावर ख़ाँ ग़ौरी – (794 हि॰/1392 ई॰–808 हि॰/1405 ई॰)
2. होशंग शाह – (808 हि॰/1405 ई॰–838 हि॰/1435 ई॰)
3. मुहम्मद शाह – (838 हि॰/1435 ई॰–839 हि॰/1436 ई॰)
4. मसऊद – (839 हि॰/1436 ई॰–839 हि॰/1436 ई॰)

(2) ख़िलजी-वंश (839 हि॰/1436 ई॰–937 हि॰/1531 ई॰)

1. महमूद ख़िलजी प्रथम – (839 हि॰/1436 ई॰–873 हि॰/1469 ई॰)
2. ग़ियासुद्दीन ख़िलजी – (873 हि॰/1469 ई॰–905 हि॰/1500 ई॰)
3. नासिरुद्दीन ख़िलजी – (905 हि॰/1500 ई॰–916 हि॰/1510 ई॰)
4. महमूद ख़िलजी द्वितीय – (916 हि॰/1510 ई॰–937 हि॰/1531 ई॰)

937 हि॰/1531 ई॰ में मालवा पर गुजरात के बहादुर शाह का क़ब्ज़ा हो गया जो 941 हि॰ तक जारी रहा। उसके बाद मालवा ने कुछ वर्षों के बाद पुनः स्वाधीनता प्राप्त कर ली। 949 हि॰ में शेर शाह ने मालवा को दिल्ली की सूरी-सल्तनत में शामिल कर लिया। सूरी-साम्राज्य के पतन के बाद 961 हि॰/1554 ई॰ में मालवा का सूरी-हाकिम शुजाअ ख़ाँ आज़ाद हो गया। उसके लड़के बाज़ बहादुर के ज़माने में (968 हि॰/1560 ई॰) में अकबर ने मालवा को मुग़ल-साम्राज्य का अंग बना लिया।

8. जौनपुर (796 हि॰/1394 ई॰–881 हि॰/1476 ई॰)

फ़िरोज़ शाह तुग़लक़ के शासनकाल में जो शहर बसाए गए उनमें जौनपुर को सबसे ज़्यादा प्रसिद्धि मिली। इस शहर के निर्माण की बुनियाद 760 हि॰/1359 ई॰ में रखी गई थी।

जौनपुर की आज़ाद रियासत का संस्थापक मलिक सरवर (796 हि॰/1394 ई॰–802 हि॰/1399 ई॰) था, जिसे महमूद तुग़लक़ ने अवध से बिहार तक पूर्वी प्रान्तों का हाकिम नियुक्त किया था और उसे 'मलिक अशरक़' (पूरब का बादशाह) की उपाधि दी थी। तैमूर के हमले के बाद अन्य सूबेदारों की तरह उसने भी दिल्ली से अलग होकर आज़ाद हुकूमत का एलान कर दिया। जौनपुर की इस हुकूमत को शरक़ी सल्तनत भी कहते हैं।

जौनपुर के बादशाहों में सबसे मशहूर इबराहीम शाह शरक़ी (804 हि॰/1402 ई॰–840 हि॰/1436 ई॰) हुआ है। उसके शासनकाल में जौनपूर की रियासत यमुना-नदी के किनारे से बंगाल तक फैल गई थी। इबराहीम शरक़ी ज्ञान एवं साहित्य का भी बड़ा प्रेमी तथा संरक्षक था। जब तैमूर के हमले के बाद दिल्ली उजड़ गई तो वहाँ के बहुत-से विद्वानों एवं साहित्यकारों ने जौनपुर का रुख़ किया और इबराहीम शरक़ी ने उनके भत्ते निर्धारित करके उन्हें आर्थिक सहायता पहुँचाई। शरक़ी बादशाहों के द्वारा बुद्धिजीवियों को संरक्षण दिए जाने के कारण जौनपुर जल्द ही ज्ञान का एक बड़ा केन्द्र बन गया। उसकी यह इल्मी हैसियत तीन सौ साल तक क़ायम रही। मुग़ल बादशाह शाहजहाँ जौनपुर को 'हिन्द का शीराज़' कहा करता था। मशहूर शासक शेर शाह ने इसी शहर में शिक्षा प्राप्त की थी। शरक़ी सल्तनत के काल में यहाँ के सबसे प्रमुख विद्वान क़ाज़ी शिहाबुद्दीन दौलताबादी (मृत्यु-1445 ई॰) थे। इबराहीम शरक़ी उनका बड़ा सम्मान एवं आदर करता था। वे कई पुस्तकों के रचयिता थे।

इबराहीम शरक़ी ने जौनपुर को कई सुन्दर इमारतों से भी सजाया। उनमें अटाला-मस्जिद बहुत मशहूर है और इस्लामी हिन्द की सुन्दर इमारतों में गिनी जाती है।

हुसैन शाह शरक़ी इस सल्तनत का अन्तिम बादशाह था। उसके काल में 1476 ई॰ में बहलोल लोधी ने जौनपुर पर क़ब्ज़ा करके शरक़ी शासन का अन्त कर दिया। हुसैन शाह शरक़ी संगीतज्ञ था और इस कला में उसके कई योगदान हैं।

शरक़ी-सुल्तान (जौनपुर) (796 हि॰/1394 ई॰–881 हि॰/1476 ई॰)

1. मलिक सरवर ख़ुवाजाजहाँ – (796 हि॰/1394 ई॰–802 हि॰/1399 ई॰)
2. मुबारक शाह शरक़ी – (802 हि॰/1399 ई॰–804 हि॰/1402 ई॰)
3. इबराहीम शाह शरक़ी – (804 हि॰/1402 ई॰–840 हि॰/1436 ई॰)
4. महमूद शाह शरक़ी – (840 हि॰/1436 ई॰–862 हि॰/1458 ई॰)
5. मुहम्मद शाह शरक़ी – (862 हि॰/1458 ई॰–862 हि॰/1458 ई॰)
6. हुसैन शाह शरक़ी – (862 हि॰/1458 ई॰–881 हि॰/1476 ई॰)

9. लोधी-सल्तनत (855 हि॰/1451 ई॰–932 हि॰/1526 ई॰)

हम दिल्ली-सल्तनत की चर्चा के अन्तर्गत पढ़ चुके हैं कि 1412 ई॰ में सुल्तान महमूद तुग़लक़ की मृत्यु के बाद दिल्ली में कई साल तक अशान्ति रही और सैयदों का ख़ानदान मज़बूत एवं स्थिर हुकूमत क़ायम करने में सफल नहीं हो सका, परन्तु 1451 ई॰ में लाहौर और सरहिन्द के पठान सूबेदार बहलोल लोधी (1451 ई॰–1489 ई॰) ने दिल्ली पर क़ब्ज़ा करके एक बार फिर मज़बूत-स्थिर हुकूमत क़ायम कर दी। उसने जौनपुर भी जीत लिया, जहाँ एक आज़ाद हुकूमत सत्तासीन थी। दिल्ली की यह लोधी-सल्तनत यद्यपि जौनपुर से मुल्तान तक फैली हुई थी, परन्तु दिल्ली की केन्द्रीय हुकूमत के सामने बहुत छोटी थी। उसकी हैसियत उन सभी स्थानीय हुकूमतों की भाँति ही थी जिनका हाल हमने अभी पढ़ा है—वे सभी सिर्फ़ एक प्रान्तीय हुकूमतें थीं।

सिकन्दर लोधी

लोधी-वंश में सबसे ज़्यादा प्रसिद्धि बहलोल के लड़के सिकन्दर लोधी (1489 ई॰–1517 ई॰) को प्राप्त हुई। उसी ने आगरा-शहर की बुनियाद डाली। उसके ज़माने में आगरा का नाम सिकन्दराबाद था। शहर बस जाने के बाद सिकन्दर लोधी ने दिल्ली के बजाय आगरा ही को अपनी राजधानी बना लिया।

सिकन्दर लोधी के स्वभाव में बड़ी सादगी थी। वह शाही लिबास में

विशेष सजावट पसन्द नहीं करता था। वह हर वक़्त सल्तनत की व्यवस्था एवं प्रजा की ख़ुशहाली के प्रयासों में व्यस्त रहता था। जाड़े में कपड़े, शाल आदि ग़रीबों में बाँटा करता तथा निर्धन-ग़रीबों को खाना खिलाता था। हर छह माह बाद निर्धन-असहाय लोगों की सूची उसके समक्ष प्रस्तुत की जाती थी। वह उस सूची के अनुसार निर्धनों को छह महीने के लिए भत्ते देने का आदेश दिया करता था। इस प्रकार सिकन्दर लोधी ने निर्धनता को दूर करने के लिए वही उपाय किए जो दिल्ली-सल्तनत के अच्छे बादशाहों ने किए थे।

सिकन्दर लोधी के जीवन की एक घटना ऐसी है जिससे पता चलता है कि बादशाह के स्वभाव में नेकी एवं शुचिता की भावना कूट-कूटकर भरी थी। घटना इस प्रकार है कि एक बार वह अपने भाई बारीक शाह से युद्ध कर रहा था। ठीक लड़ाई के बीच एक क़लन्दर (दीवाना व्यक्ति) ने उसका हाथ पकड़कर कहा कि तेरी जीत निश्चित है। इसपर बादशाह ने झुंझलाकर हाथ छुड़ा लिया और कहा, "जब लड़ाई में दोनों ओर मुसलमान हों तो किसी एक की जीत की कामना नहीं करनी चाहिए, बल्कि यह कहना चाहिए कि जिस चीज़ में इस्लाम की भलाई हो वही हो।" सिकन्दर लोधी की यह घटना ठीक उस प्रकार की है, जैसा हमने मलिक शाह सलजूक़ी के हालात में पढ़ी है।

बहमनी सल्तनत एक बुज़ुर्ग शैख़ ज़ैनुद्दीन मुहम्मद शाह बहमनी को बुरी बातों से बचाते रहते और शरीअत पर चलने को मजबूर करते थे। मियाँ अब्दुल्लाह भी इसी तरह के बुज़ुर्ग थे। इससे मालूम होता है कि न्यायप्रिय विद्वान-आलिम हुकूमतों और बादशाहों का सुधार करते और बादशाहों को अन्याय से रोकते थे।

सिकन्दर लोधी के स्वभाव में क्रोध का तत्व पाया जाता था जिसके कारण वह प्रजा की ग़लतियों पर कठोर दण्ड दिया करता था, परन्तु वफ़ादार और अच्छे लोगों के साथ उसका सुलूक भी अच्छा होता था।

सिकन्दर के शासनकाल में हिन्दुओं ने पहली बार फ़ारिसी पढ़ने में रुचि ली और उसने उन हिन्दुओं को सरकारी नौकरियाँ दीं। उसके काल में संस्कृत की पुस्तकों का फ़ारिसी में अनुवाद हुआ।

सिकन्दर के बाद उसका लड़का इबराहीम लोधी (1517 ई॰–1526 ई॰) गद्दी पर बैठा। यह अयोग्य एवं अक्षम राजा था। इसे दिल्ली के निकट पानीपत के मैदान में काबुल के मुग़ल-बादशाह बाबर ने हराकर 1526 ई॰ में दिल्ली पर अधिकार कर लिया।

लोधी-सुल्तान (दिल्ली) (855 हि॰/1451 ई॰–932 हि॰/1526 ई॰)

1. बहलोल लोधी – (855 ई॰/1451 ई॰–894 हि॰/1489 ई॰)
2. सिकन्दर लोधी – (894 ई॰/1489 ई॰–923 हि॰/1517 ई॰)
3. इबराहीम लोधी – (923 ई॰/1517 ई॰–932 हि॰/1526 ई॰)

10. उपमहाद्वीप की संस्कृति

दिल्ली-सल्तनत के कमज़ोर पड़ने से यद्यपि भारत-पाक उपमहाद्वीप में मुसलमानों की राजनीतिक एकजुटता को कुछ नुक़सान पहुँचा, परन्तु जगह-जगह आज़ाद हुकूमतों की स्थापना से सबसे बड़ा फ़ायदा यह हुआ कि इस्लामी सभ्यता-संस्कृति उपमहाद्वीप के हर हिस्से तक पहुँच गई। श्रीनगर, जौनपुर, ठट्ठ, अहमदाबाद, माण्डू, आगरा, बीदर, बीजापुर और अहमद नगर जैसे नए शहर अस्तित्व में आए। यहाँ बड़ी-बड़ी सुन्दर इमारतें बनाई गईं और ये शहर ज्ञान-साहित्य, उद्योग-धंधे का केन्द्र बन गए।

वास्तुकला ने बड़ी तरक़्क़ी की। हैदराबाद में चारमीनार और लख-मस्जिद बनाई गई। बीदर में महमूद गावाँ का मदरसा निर्मित हुआ, जो अभी तक मौजूद है। बीजापुर में इबराहीम आदिल शाह का मक़बरा बना, जिसका गुम्बद दुनिया में सबसे बड़ा गुम्बद है। अहमदाबाद और जौनपुर तो अपनी मस्जिदों की सुन्दरता में तमाम शहरों पर बाज़ी ले गए। इसके अतिरिक्त ठट्ठ, माण्डू और लखनौती में भी सुन्दर इमारतें बनीं।

ज्ञान एवं साहित्य

उस दौर के बुज़ुर्गों में सैयद मुहम्मद गेसूदराज़ (721 हि॰/1321 ई॰–825 हि॰/1422 ई॰) का नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है कि वे एक सौ पच्चीस से अधिक किताबों के रचयिता थे। गेसूदराज़ दिल्ली पर तैमूर के

हमले के बाद गुलबर्गा (दक्कन) चले गए थे, जो बहमनी हुकूमत की पहली राजधानी था। यहाँ फ़ीरोज़ शाह बहमनी ने उनका स्वागत किया। उनका देहावसान गुलबर्गा ही में हुआ। सैयद गेसूदराज़ ने अरबी, फ़ारिसी और दक्कनी भाषा में किताबें लिखीं। 'तसव्वुफ़' (सूफ़ीइज़्म) की मशहूर किताबों पर टीका (व्याख्या) लिखी। दक्कन में उनके प्रयासों से इस्लाम का प्रचार-प्रसार हुआ।

गुजरात में अली-बिन-अहमद मुहाइमी (777 हि॰/1374 ई॰–835 हि॰/1431 ई॰) का नाम उल्लेखनीय है। वैसे तो वे कई किताबों के रचयिता हैं परन्तु उनकी लिखी हुई क़ुरआन की तफ़सीर (टीका) 'तबसीरुर्रहमान' बहुत अहम है और भारत में अरबी की बेहतरीन तफ़सीरों में गिनी जाती है।

गुजरात के एक और बड़े विद्वान शाह वजीहुद्दीन गुजराती (911 हि॰/1505 ई॰–998 हि॰/1590 ई॰) हैं, जिन्होंने लगभग तीन सौ किताबें लिखीं, परन्तु उनमें अधिकतर महत्वपूर्ण किताबों के फ़ुटनोट, भाष्य एवं पाठ्य-पुस्तकें हैं।

गुजरात के एक और अन्य विद्वान मुहम्मद ताहिर पटनी (913 हि॰/1507 ई॰–987 हि॰/1578 ई॰) हुए हैं। उन्होंने हदीस और हदीस के उद्धृत-कर्ता की शृंखला पर शोध करके किताबें लिखीं। 'मजमउ-बिहारिल अनवार' उनकी सबसे मशहूर किताब है। यह किताब हदीस के क्षेत्र में शब्दकोष की हैसियत रखती है। इसके कारण मुहम्मद ताहिर पटनी सम्पूर्ण अरब दुनिया में ख्याति रखते हैं।

जौनपुर के विद्वानों में क़ाज़ी शिहाब दौलताबादी (मृत्यु-849 हि॰/1445 ई॰) का नाम सबसे प्रमुख है। वे दौलताबाद में पैदा हुए, परन्तु जीवन का अधिकतर भाग जौनपुर में गुज़ारा, जहाँ वे पुस्तकों के संकलन एवं लेखन में व्यस्त रहे। सुल्तान इबराहीम शरक़ी उनकी बड़ी इज़्ज़त करता था, और उन्हें जौनपुर का क़ाज़ी (जज) नियुक्त किया था। उन्होंने फ़िक़्ह (इस्लामी विधान), तफ़सीर (क़ुरआन-भाष्य) और इल्मे-कलाम (तर्कशास्त्र) पर किताबें लिखीं, परन्तु उन्हें प्रसिद्धि अरबी व्याकरण पर लिखी किताबों से मिली। उनके फ़तवों (इस्लामी विधान के अनुसार दिए गए फ़ैसलों) का संग्रह

'फ़तावा-ए-इबराहीम शाही' कहलाता है।

जौनपुर के एक और विद्वान मुल्ला मुहम्मद जौनपुरी (मृत्यु—910 हि॰/1516 ई॰) हैं। वे बहुत बड़े आलिमे-दीन (इस्लाम के बड़े विद्वान) थे। शरीअत के पाबन्द थे और मुसलमानों के सुधार के मामले में इंक़िलाबी विचार रखते थे, लेकिन जब उन्होंने ख़ुद को महदी (मुस्लिम अवधारणा के अनुसार अन्तिम दौर में महदी एक महान सुधारक के रूप में दुनिया में आएँगे) होने का दावा किया तो उलमा की ओर से उनका प्रबल विरोध हुआ और जगह-जगह से भगाए जाने लगे। उनका निधन अफ़ग़ानिस्तान के शहर फ़राह में हुआ। यदि वे ख़ुद के महदी होने का दावा न करते तो वे एक बड़े सुधारक साबित हो सकते थे। बाद में उनके अनुयायियों ने एक अलग सम्प्रदाय का रूप ले लिया, जो महदवी सम्प्रदाय कहलाता है। अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के नेता बहादुर यारजंग मुल्ला मुहम्मद जौनपुरी के श्रद्धालुओं में से थे।

बुरहानपुर के अली मुत्तक़ी (मृत्यु-885 हि॰/1480 ई॰) की गिनती इस्लामी हिन्द के प्रमुख मुहद्दिसों (हदीस के विद्वानों) में होती है। वे अरब चले गए थे और वहीं आबाद हो गए। अली मुत्तक़ी लगभग एक सौ किताबों के लेखक थे, परन्तु उन्हें प्रसिद्धि 'कंज़ुल-उम्माल' नामक पुस्तक के कारण मिली जो हदीसों का बेमिसाल संग्रह है, और एक विशेष क्रम में संकलित की गई है। यह किताब अरबी भाषा में आठ खण्डों में है। इसके कारण अली मुत्तक़ी को सम्पूर्ण इस्लामी जगत् में प्रसिद्धि मिली।

दिल्ली के विद्वानों में शैख़ अब्दुल्लाह तलम्बी (मृत्यु—932 हि॰/1516 ई॰) का नाम उल्लेखनीय है। वे मुल्तान के रहनेवाले थे, परन्तु दिल्ली में सिकन्दर लोधी के समय में आकर बस गए थे। वे भारत-पाक उपमहाद्वीप के पहले विद्वान हैं जिन्होंने दर्शनशास्त्र एवं तर्कशास्त्र पर किताबें लिखीं। सिकन्दर लोधी ने उन्हें 'मलिकुल-उलमा' (अर्थात विद्वानों का सम्राट) की उपाधि दी। वह दो टुक और हक़ बात कहनेवालों में से थे।

अन्त में उस काल के महान इतिहासकार हिन्दू शाह फ़िरिश्ता (960

हि॰/1552 ई॰—1031 हि॰/1622 ई॰) का उल्लेख आवश्यक है। फ़िरिश्ता का पूरा नाम मुल्ला मुहम्मद क़ासिम हिन्दू शाह है और उपनाम फ़िरिश्ता है। वे मूलतः ईरानी थे और बचपन में ही अहमद नगर आ गए थे। इसके बाद वे बीजापुर चले गए। वहाँ इबराहीम अदिल शाह द्वितीय के यहाँ नौकरी कर ली। उन्होंने अपनी मशहूर किताब 'तारीख़े-फ़िरिश्ता' इबराहीम आदिल शाह द्वितीय के आदेश पर लिखी। यह उपमहाद्वीप के बेहतरीन इतिहासों में गिनी जाती है। इसमें महमूद ग़ज़नवी से अकबर की मृत्यु तक उत्तर भारत का और बहमनी हुकूमत की स्थापना से अपने समय तक सभी प्रान्तीय शासकों के इतिहास का वर्णन किया गया है। इस किताब का वह भाग जो दक्कन से सम्बन्धित है विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इसमें बहुत-सी आँखों-देखी घटनाओं का उल्लेख है। पुस्तक के प्रारम्भिक भाग में हिन्दू धर्म की मान्यताओं और इस्लाम से पहले का संक्षिप्त इतिहास भी लिख दिया गया है। फ़िरिश्ता ने चिकित्सा के क्षेत्र में भी एक पुस्तक "इख़्तियाराते-क़ासिमी" के नाम से लिखी है।

स्थानीय भाषाओं ने भी इस काल में उन्नति की। सुल्तान ज़ैनुल-आबिदीन के शासनकाल में पहली बार मुसलमानों ने कश्मीरी भाषा में और हुसैन शाह एवं नुसरत शाह के ज़माने में बंगाली भाषा में किताबें लिखनी शुरू कीं। इसी प्रकार दक्कन में वहाँ की स्थानीय भाषा में किताबें लिखी गईं। यही वह भाषा है जिसने बाद में उर्दू भाषा का रूप लिया।

दिल्ली-सल्तनत के पतन के बाद छोटी हुकूमतों की यह समयावधि 1400 ई॰ से 1600 ई॰ तक लगभग दो सौ साल रही। इसके बाद दिल्ली में पुनः एक मज़बूत केन्द्रीय हुकूमत क़ायम हो गई। यह हुकूमत जो तैमूरी सल्तनत या मुग़ल-सल्तनत के नाम से मशहूर है, मावराउन-नह्र से निकले एक तैमूरी शहज़ादे बाबर ने क़ायम की थी। बाद में बाबर के उत्तराधिकारियों ने इस सल्तनत को इतना विस्तार दिया कि उपर्युक्त सभी छोटी-छोटी हुकूमतें इसका एक अंग बन गईं।

(अगले क्रम के लिए देखें : अध्याय-19)

प्रमुख घटनाएँ

1206 ई॰ (24 जून) – लाहौर में क़ुतुबुद्दीन ऐबक की गद्दीनशीनी

1231 ई॰ – ग्वालियर की फ़तूह।

- 1234 ई॰ – मालवा की फ़तूह।
- 1286 ई॰ – मंगोलों ने लाहौर को तहस-नहस किया। मुल्तान का शासक सुल्तान मुहम्मद मुक़ाबला करते हुए शहीद हो गया और मंगोल अमीर ख़ुसरो को पकड़कर ले गए।

1296 ई॰ – एलचपुर पर क़ब्ज़ा एवं देवगीर (दक्कन) ने अधीनता स्वीकार की।

- 697 हि॰/1298 ई॰ – गुजरात की फ़तूह।

1299 ई॰ – मंगालों ने दिल्ली का घेराव किया।

- 1301 ई॰ (11 जुलाई) – राजपुताना फ़तूह हुआ।
- 1303 ई॰ – चितौड़ फ़तूह हुआ। मंगोलों ने दूसरी बार दिल्ली का घेराव किया।

1305 ई॰ – मालवा की दोबारा विजय।

1309 ई॰ – वरंगल (तेलंगाना) फ़तूह हुआ। राजा ने अलाउद्दीन को कोहिनूर-हीरा पेश किया।

1311 ई॰ – मलिक काफ़ूर ने मदुराई और रासकुमारी तक दक्षिण भारत में विजय प्राप्त की।

- 1323 ई॰ – वरंगल पुनः फ़तूह हुआ। उड़ीसा ने अधीनता स्वीकार की।

1326 ई॰ – दौलताबाद को राजधानी बनाने की घोषणा।

1359 ई॰ – जौनपुर बसाया गया।

- 1362 ई॰ – कांगड़ा की विजय।
- 1398-99 ई॰ तैमूर का भारत पर हमला।
- 1425 ई॰ – वरंगल का बहमनी सल्तनत में विलय।

- 1481 ई॰ (05 अप्रैल) – महमूद गावाँ की हत्या।
- 1498 ई॰ (19 मई॰) – वास्को डिगामा कालिकट पहुँचा।
- 1500 ई॰ – वास्को डिगामा ने कालिकट के मुसलमान व्यापारियों के जहाज़ जला दिए और जामा-मस्जिद को आग लगा दी।
- 1508 ई॰ – चोली की समुद्री जंग में गुजराती और मिस्री बेड़े ने पुर्तगालियों को पराजित किया, परन्तु अगले साल पुर्तगाली जीत गए, और महमूद बेगड़ा ने देव की बन्दरगाह उन्हें दे दी।
- 1510 ई॰ – पुर्तगालियों ने बीजापुर से गोवा बन्दरगाह छीन लिया। मुस्लिम आबादी क़त्ल कर दी गई।
- 1526 ई॰ (21 अप्रैल) – पानीपत की पहली जंग। बाबर ने इबराहीम लोधी को पराजित करके दिल्ली पर क़ब्ज़ा किया।
- 1565 ई॰ (जनवरी) – तालीकोटा की जंग में दक्कन के मुसलमानों ने विजय नगर के राजा को पराजित करके विजय नगर पर क़ब्ज़ा कर लिया।

अध्याय-14

तलवार के धनी उसमानी तुर्क

(687 हि॰/1288 ई॰–918 हि॰/1512 ई॰)

प्रारम्भिक काल

जिस काल में भारत-पाक इलाक़े में ग़ियासुद्दीन बलवन और अलाउद्दीन ख़िलजी शासन कर रहे थे। उस समय एशिया-माइनर में, जिसे अनातोलिया में एक महान सल्तनत की बुनियादें मज़बूत हो रही थीं। यह आले-उसमान की सल्तनत थी, जिसे सल्तनते-उसमानिया या दौलते-उसमानिया (Otoman Empire) भी कहते हैं, क्योंकि इसके संस्थापक का नाम उसमान ख़ाँ था। यह सल्तनत अपने उत्कर्ष के काल में विस्तार की दृष्टि से अरबों की सल्तनत का मुक़ाबला करती थी। स्थायित्व एवं स्थिरता की दृष्टि से इस्लामी इतिहास की यह सबसे मज़बूत सल्तनत साबित हुई।

उसमानी वंश मूलतः तुर्क था। उनकी हुकूमत क़ायम होने का क़िस्सा बड़ा रोचक है। हलाकू ख़ाँ के समय में जब बग़दाद पर मंगोलों ने क़ब्ज़ा कर लिया तो कुछ वर्ष बाद उनकी एक फ़ौज अनातोलिया पर क़ब्ज़ा करती हुई अंक़रा-शहर के निकट पहुँच गई। यहाँ क़ौनिया के सलजूक़ी सुल्तान ने उनका मुक़ाबला किया। उस समय जबकि दोनों पक्ष युद्धरत थे, ख़ानाबदोश तुर्कों का एक समूह, जिसका सरदार अरतग़रल था, यहाँ से गुज़रा। अरतग़रल ने देखा कि एक फ़ौज संख्या में अधिक है और दूसरी कम। अरतग़रल के पास केवल 444 सवार थे, परन्तु वह कमज़ोर फ़ौज की मदद के लिए बढ़ा और इतना तीव्र आक्रमण किया कि शक्तिशाली फ़ौज को पराजित होना पड़ा और वह भाग खड़ी हुई। यह शक्तिशाली फ़ौज मंगोलो की थी और कमज़ोर फ़ौज सलजूक़ियों की थी।

उसमान ख़ाँ

अरतग़रल की इस बहादुरी एवं सहयोग के बदले में सुल्तान अलाउद्दीन

सलजूक़ी ने उसे एक जागीर दे दी। कुछ वर्षों बाद 1288 ई॰ में अरतग़रल की मृत्यु हो गई और उसका लड़का उसमान ख़ाँ (1288 ई॰–1326 ई॰) उसका उत्तराधिकारी हुआ। 1300 ई॰ में क़ौनिया की सलजूक़ी हुकूमत को मंगोलों ने ख़त्म कर दिया और सुल्तान अलाउद्दीन जंग में मारा गया। अब उसमान ख़ाँ ने एक स्वतंत्र सत्ता क़ायम कर ली, जो उसके नाम पर उसमानी सल्तनत कहलाती है।

उसमान ख़ाँ की जागीर की सीमा क़ुस्तनतीनिया की बाज़नतीनी सल्तनत से मिली हुई थी। यह वही बाज़नतीनी सत्ता थी जो अरबों के समय में रूमी सल्तनत के नाम से मशहूर थी, और जिसे अलप अरसलान और मलिक शाह के ज़माने में सलजूक़ियों ने अधीन बना लिया था। अब यह बाज़नतीनी सल्तनत बहुत कमज़ोर और छोटी हो गई थी, परन्तु फिर भी उसमान ख़ाँ की जागीर के मुक़ाबले में बहुत बड़ी और ताक़तवर थी। बाजनतीनी क़िलेदार उसमान ख़ाँ की जागीर पर हमले करते रहते थे, जिसके कारण दोनों पक्षों में लड़ाइयाँ शुरू हो गईं। उसमान ख़ाँ ने इन लड़ाइयों में बड़ी वीरता एवं बुद्धिमानी का परिचय दिया, और बहुत-से इलाक़े जीत लिए जिनमें बरूसा का मशहूर शहर भी शामिल है। बरूसा की जीत के बाद उसमान की मृत्यु हो गई।

उसमान ख़ाँ बड़ा बहादुर और बुद्धिमान शासक था। प्रजा के साथ न्याय एवं इनसाफ़ करता था। उसका जीवन सादा था। उसने ख़ज़ाना भरने में कभी विश्वास नहीं किया। माले-ग़नीमत (युद्ध में जीते हुए धन) को, अनाथों और निर्धनों का हिस्सा निकालने के बाद, सिपाहियों में बाँट देता था। वह दानशील, दयालु और मेहमान-नवाज़ था। उसकी इन्हीं ख़ूबियों के कारण तुर्क आज भी उसका नाम इज़्ज़त से लेते हैं। उसके बाद यह परम्परा चल पड़ी कि जब कोई बादशाह सत्तासीन होता तो उसमान की तलवार उसकी कमर से बाँधी जाती थी और यह दुआ की जाती थी कि ख़ुदा इसमें भी उसमान जैसे गुण पैदा कर दे। उसमानी सल्तनत की राजधानी 'असकी-शहर' थी। उसके बाद बरूसा उनकी राजधानी हो गई।

कहते हैं कि उस्मान ने एक सपना देखा था : "एक विशाल वृक्ष उसके

बग़ल से प्रकट हुआ जो बढ़ता चला गया, यहाँ तक कि उसकी शाखाएँ जल और थल पर छा गईं। वृक्ष की जड़ से निकलकर दुनिया की चार बड़ी नदियाँ बह रही थीं और चार बड़े-बड़े पहाड़ उसकी शाखाओं को सम्भाले हुए थे। इसके बाद अत्यन्त तेज़ हवाएँ चलने लगीं और उस वृक्ष की पत्तियों का रुख़ एक विशाल एवं सुन्दर शहर की ओर हो गया। यह शहर एक ऐसी जगह था, जहाँ दो समुद्र और दो महादेश मिलते थे और एक अंगूठी की तरह दिखाई देता था। उसमान उस अंगूठी को पहनना चाहता था कि उसकी आँख खुल गई।"

उसमान के इस सपने को बहुत अच्छा समझा गया और बाद में लोगों ने उसका अर्थ यह बताया कि चार नदियाँ दजला, फ़ुरात, नील और डेन्यूब थीं, और चार पहाड़ तूर, बलक़ान, क़ाफ़ और अतलस के पहाड़ थे। बाद में उसमान के उत्तराधिकारियों ने उसमानी सल्तनत का विस्तार इन नदियों और पहाड़ों तक कर लिया तो यही समझा गया कि उसमान का वह सपना सच्चा था और उसकी सल्तनत के विस्तार की ओर संकेत करनेवाली भविष्यवाणी थी। सपने में जिस शहर की चर्चा की गई है वह क़ुस्तनतीनिया का शहर था जिसे उसमान नहीं जीत सका था। बाद में यह शहर उसमानी सल्तनत का अंग बन गया।

उसमान के बाद उसके उत्तराधिकारियों में बड़े-बड़े बादशाह हुए जिन्होंने उसके सपने को सच्चा कर दिखाया। इस्लामी इतिहास में किसी वंश का शासन इतनी लम्बी अवधि तक नहीं रहा, जितना उसमानी वंश का रहा, और न किसी वंश में उसमानी वंश के बराबर योग्य शासक हुए। इन बादशाहों की सूची बहुत लम्बी है, इसलिए हम इस संक्षिप्त इतिहास में केवल कुछ प्रसिद्ध बादशाहों का उल्लेख करेंगे।

आर ख़ाँ

उसमान ख़ाँ के बाद उसका लड़का आर ख़ाँ (1326 ई०–1359 ई०) बादशाह हुआ। उसका काल दो कारणों से प्रसिद्ध है। एक तो यह कि उसके शासनकाल में मुसलमानों ने पहली बार पूर्वी यूरोप में क़दम रखा। बाद में तुर्कों ने यूरोप में जो सफलता प्राप्त की, उसकी बुनियाद आर ख़ाँ के

शासनकाल में ही रखी गई थी। आर ख़ाँ की प्रसिद्धि का दूसरा कारण यह है कि उसके काल में नई फ़ौज की एक संगठन के रूप में स्थापना की गई। यह फ़ौज दुनिया की पहली सुव्यवस्थित फ़ौज कही जाती है। यह पैदल फ़ौज थी और इस फ़ौज का प्रशिक्षण इतना अच्छा किया गया था कि दुनिया की कोई फ़ौज इसके मुक़ाबले में जमकर लड़ नहीं सकती थी। तुर्कों ने जितनी सफलता प्राप्त की उनमें सबसे ज़्यादा भूमिका इसी फ़ौज की थी। आर ख़ाँ ही के शासनकाल में उसमानियों ने अपना पहला सिक्का जारी किया।

एशिया और यूरोप के बीच एक पतला समुद्र है, जो दरदानियाल कहलाता है। इस समुद्र के दूसरी ओर यूरोप का जो हिस्सा है वह गीलीपोली कहलाता है। यहाँ से समुद्र को पार करना चूँकि आसान है, इसलिए हर हमलावर यूरोप से एशिया या एशिया से यूरोप आते-जाते समय इसी मार्ग का चयन करता है। गीलीपोली आर ख़ाँ ही के शासनकाल में मुसलमानों के क़ब्ज़े में आया। इसके बाद गीलीपोली से सटे हुए इलाक़े पर भी आर ख़ाँ का क़ब्ज़ा हो गया। आर ख़ाँ की जब मृत्यु हुई, तब उसमानी सल्तनत का क्षेत्रफल उसमान ख़ाँ के ज़माने से तीन गुणा अधिक हो गया था।

आर ख़ाँ भी अपने पिता की तरह सादा जीवन व्यतीत करता था। उसने अपनी सल्तनत में मस्जिदें, मदरसे और जनकल्याण से सम्बन्धित इमारतें बनवाईं। राजधानी बरूसा में एक आलीशान मस्जिद, एक विशाल मदरसा और एक चिकित्सालय बनवाया। वह पहला उसमानी बादशाह है, जिसने ज्ञान एवं कला को भरपूर प्रोत्साहन दिया। बड़े-बड़े उलमा (विद्वान) उसकी संगति में रहते थे। वह निर्धन लोगों को भोजन अपने हाथ से बाँटता था।

मुराद प्रथम

आर ख़ाँ के बाद उसका लड़का मुराद प्रथम (1359 ई॰–1389 ई॰) गद्दी पर बैठा। मुराद भी योग्यता एवं क्षमता में अपने बाप-दादा की तरह था। साम्राज्य-विस्तार एवं युद्धों में सफलता के मामले में तो वह उनसे भी आगे बढ़ गया। यूरोप में बाज़नतीनी इलाक़ों से मिले हुए बुल्ग़ारिया, सर्विया और जोसीना के इलाक़े थे, जहाँ अलग-अलग हुकूमतें क़ायम थीं। 791 हि॰/1389 ई॰ में कोबा नामक स्थान पर मुराद ने बलक़ान की ईसाई

रियासतों की संयुक्त फ़ौज को पराजित किया। उसके बाद मुराद ने उन सभी हुकूमतों को या तो जीत लिया या अपना अधीन बना लिया। मुराद ने एशिया में भी कई इलाक़े जीत लिए। उसके शासनकाल में उसमानी सल्तनत का क्षेत्रफल एक लाख वर्ग मील हो गया था, अर्थात आर ख़ाँ के ज़माने से पाँच गुणा ज़्यादा। तुर्कों का लाल-हिलाली झंडा उसी शासनकाल में शुरू हुआ।

बायज़ीद यल्दरम

मुराद के बाद उसका लड़का बायज़ीद (1389 ई॰–1402 ई॰) शासक हुआ। उसने पहली बार 'सुल्तान' की उपाधि धारण की। बायज़ीद अपने बाप की तरह फ़ौजी योग्यता में निपुण था, परन्तु उसमें एक बुरी आदत पैदा हो गई थी और वह यह थी कि वह शराब पीने लगा था। शराब की यह आदत उसकी एक ईसाई पत्नी के कारण पैदा हुई थी। बायज़ीद पहला उसमानी शासक है जिसने शराब पी। उससे पहले जो बादशाह हुए अर्थात उसमान ख़ाँ, आर ख़ाँ और मुराद ख़ाँ, इनमें से कोई भी शराब नहीं पीता था।

बायज़ीद को यद्यपि शराब की लत लग गई थी, परन्तु जंग के मैदान में वह शेर की भाँति अपने दुश्मनों पर हमला करता था, और अपने तेज़ हमलों के कारण 'यल्दरम' अर्थात बिजली कहलाता था। 1396 ई॰ में उसने नकोपोलस के मैदान में यूरोप की संयुक्त फ़ौजों को हराया और सल्तनत को दूर-दूर तक फैलाया। इसी प्रकार उसने पूरब में अनातोलिया का बड़ा भूभाग जीत लिया। वह यूरोप में और आगे जाने की योजना बना रहा था कि दुर्भाग्य से समरक़न्द के मशहूर बादशाह अमीर तैमूर ने, जिसका उल्लेख पीछे हो चुका है, उसके मुल्क पर हमला कर दिया। अंगोरा नामक स्थान पर दोनों का मुक़ाबला हुआ और बायज़ीद इस जंग में हार गया एवं क़ैद कर लिया गया।

बायज़ीद की पराजय के बाद ऐसा लगता था कि अब उसमानी सल्तनत ख़त्म हो जाएगी परन्तु उसके लड़के मुहम्मद प्रथम ने (1413 ई॰–1421 ई॰) कुछ सालों में ही खोई हुई सल्तनत पुनः प्राप्त कर ली। इस दृष्टि से हम उसे उसमानी सल्तनत का दूसरा संस्थापक कह सकते हैं। सुल्तान मुहम्मद प्रथम

बहुत ही उदार-हृदय, न्याय-प्रिय और वादे का पाबन्द शासक था। उसने साहित्य को प्रोत्साहन दिया। उसका शासनकाल यद्यपि बहुत संक्षिप्त था, परन्तु उसमानियों में शायरी एवं साहित्य में अभिरुचि उसी के काल में शुरू हुई। उसे तुर्की के इतिहास में मुहम्मद 'चल्पी' के नाम से याद किया जाता है। चल्पी शब्द तुर्की में आलिम (विद्वान) एवं नेक लोगों के लिए प्रयोग किया जाता है। बरूसा की मस्जिद के इमाम सुलैमान चल्पी (मृत्यु-825 हि॰/1422 ई॰) ने अपनी यादगार कविता 'मौलद' जो मुहम्मद (सल्ल॰) से सम्बन्धित है, मुहम्मद प्रथम के काल में 812 हि॰/1410 ई॰ में लिखी। यह नज़्म (कविता) इतनी लोकप्रिय हुई कि साढ़े पाँच सौ साल बाद आज भी तुर्की में धार्मिक समारोहों में बड़े अदब एवं शौक़ से पढ़ी जाती है।

मुराद द्वितीय

सुल्तान मुहम्मद प्रथम के बाद उसका बड़ा लड़का मुराद द्वितीय (1421 ई॰–1451 ई॰) अट्ठारह वर्ष की उम्र में गद्दी पर बैठा। नवयुवक होने के बावजूद मुराद द्वितीय एक समझदार और मज़बूत शासक साबित हुआ। तैमूरी हमले के बाद अनातोलिया की जो रियासतें (गरमियान, क़स्तमूनी, मंतशा, सारिद ख़ाँ और हमीद) आज़ाद हो गई थीं, उन्हें उसने फिर अधीनता स्वीकार करने पर विवश कर दिया। यूरोप में उसने 833 हि॰/1430 ई॰ में सालोनिका को जीत लिया। 848 हि॰/1444 ई॰ में मुराद द्वितीय ने वार्ना नामक स्थान पर और 852 हि॰/1448 ई॰ में कासोवा नामक स्थान पर यूरोप की संयुक्त ईसाई फ़ौजों को पराजित किया। इन जंगों के नतीजे में सर्विया और बोसनिया की रियासतें पूरी तरह अधीन बना ली गईं और यूनान के दक्षिणी भाग में मोरिया प्रायद्वीप भी अधीन बना लिया गया। मुराद द्वितीय न्याय और इनसाफ़ एवं सदाचरण के मामले में अपने पूर्वजों से भी आगे बढ़ गया। उसके दुश्मन भी उसकी प्रशंसा करते थे। वह जब कोई देश जीतता तो सबसे पहले वहाँ मस्जिदें, सराय (विश्राम-गृह) दवाख़ाने और मदरसे बनवाता। हर वर्ष एक हज़ार अशरफ़ियाँ सादात (हज़रत अली रज़ि॰ के वंशज) को भेंट स्वरूप देता, और ढाई हज़ार अशरफ़ियाँ मक्का, मदीना एवं बैतुल-मक़दिस के दीनदार लोगों के लिए भेजता।

मुहम्मद फ़ातेह

मुराद द्वितीय के बाद उसका लड़का मुहम्मद फ़ातेह (1451 ई०–1481 ई०) गद्दी पर बैठा। मुहम्मद फ़ातेह अपने कारनामों के कारण सबपर बाज़ी ले गया। उसका सबसे बड़ा कारनामा क़ुस्तनतीनिया (Constantinopol) की जीत है। तुर्क-फ़ौजों ने यूनान, बुल्गारिया, सर्बिया आदि जिन देशों को जीत लिया था, वे सब क़ुस्तनतीनिया से आगे हैं। क़ुस्तनतीनिया का बाज़नतीनी बादशाह तुर्कों को ख़िराज (टैक्स) देता था, परन्तु शहर पर अभी तक मुसलमानों का क़ब्ज़ा नहीं हुआ था। रूम के सम्राट की इस राजधानी पर क़ब्ज़ा करने की क़ोशिश मुसलमानों ने सबसे पहले अमीर मुआविया (रज़ि०) के समय में की थी। इसके बाद अरबों और तुर्कों ने और भी कई बार हमले किए थे, परन्तु रूमियों की वीरता या अपनी ही आन्तरिक कमज़ोरी के कारण अभी तक सफल नहीं हो सके थे। यह गर्व उसमानी सुल्तान मुहम्मद फ़ातेह के भाग्य में लिखा था। मुहम्मद फ़ातेह ने 54 दिनों की घेराबन्दी के बाद 20 जुमादल-ऊला 857 हि० (29 मई 1453 ई०) को क़ुस्तनतीनिया पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार रूमियों की ग्यारह सौ साल पुरानी सल्तनत ईरान की सासानी सल्तनत की तरह हमेशा के लिए ख़त्म हो गई। इस विजय के बाद मुहम्मद (सल्ल०) की वह भविष्यवाणी पूरी हो गई जिसमें आप (सल्ल०) ने फ़रमाया था, "अल्लाह ने मुझे क़ैसर एवं किसरा की हुकूमतों की कुंजियाँ दे दी हैं।

ईरान के सम्राटों की सत्ता का अन्त ख़ुलफ़ा-ए-राशिदीन ही के काल में हो गया था और क़ैसर की सत्ता का मुहम्मद फ़ातेह ने अन्त कर दिया। इस विजय के कारण इतिहास में उसे फ़ातेह (विजेता) के नाम से याद किया जाता है।

मुहम्मद फ़ातेह ने क़ुस्तनतीनिया की विजय के अलावा और भी कई सफलताएँ प्राप्त कीं। सर्बिया, बोस्निया और यूनान जो अब तक अधीनता स्वीकार करनेवाली आज़ाद रियासतें थीं और टैक्स देती थीं, मुहम्मद फ़ातेह ने उन्हें अपनी हुकूमत का अंग बनाकर तुर्की का प्रान्त बना दिया। इनके अतिरिक्त उत्तर में क्रीमिया का इलाक़ा और पूरब में तराबुज़ों एवं स्नूप की

हुकूमतों को भी जीत लिया।

समुद्री बेड़ा

मुहम्मद फ़ातेह पहला उसमानी शासक है जिसने समुद्री शक्ति को बहुत विकसित किया। सल्तनत के दोनों हिस्सों के बीच चूँकि समुद्र था इसलिए बिना समुद्री शक्ति के सल्तनत को क़ायम रखना बड़ा कठिन था। फ़ौजों को पूरब से पश्चिम अथवा पश्चिम से पूरब की ओर ले जाने के लिए तुर्कों को हमेशा वेनिस और जनेवा की ईसाई हुकूमतों के सौदागरों से जहाज़ लेने पड़ते थे। मुहम्मद फ़ातेह ने अपना समुद्री बेड़ा तैयार करके इस कमी को दूर कर दिया। तुर्कों के समुद्री बेड़े ने कई टापुओं पर भी क़ब्ज़ा किया। क्रीमिया का दूर-दराज़ इलाक़ा समुद्री फ़ौज ने ही जीता था। अन्त में मुहम्मद फ़ातेह ने इटली पर हमला किया था। यह हमला भी समुद्री फ़ौज ने किया था, जिसका सरदार क्रीमिया का विजेता अहमद पाशा था। अहमद पाशा ने इटली और ओट्रांटों जीत लिया, परन्तु इसी अवधि में मुहम्मद फ़ातेह की मृत्यु हो गई और यह मुहिम सफल नहीं हो सकी।

मुहम्मद फ़ातेह पहला उसमानी शासक है जिसकी प्रसिद्धि दुनिया में दूर-दूर तक फैल गई। अब तक जो शासक हुए थे उनकी सल्तनत ज़्यादा विस्तृत नहीं थी। उसमान ख़ाँ के शासनकाल में तो सल्तनत का क्षेत्रफल मात्र साढ़े-सात हज़ार वर्ग मील था, अर्थात ग़रनाता (स्पेन) की बनी अहमर की हुकूमत का आधा या मुल्तान की हुसैन लंगाह की हुकूमत के क्षेत्रफल के बराबर। आर ख़ाँ के शासनकाल में इसका विस्तार अन्दलुस (स्पेन) की उमैया-वंश की हुकूमत के बराबर हो गया था, परन्तु मुहम्मद फ़ातेह के ज़माने में उसमानी सल्तनत का विस्तार भारत के शेर शाह की सल्तनत के बराबर हो गया था और उस काल में पूरी इस्लामी दुनिया एवं यूरोप में इतनी बड़ी हुकूमत किसी की नहीं थी। ईरान की सफ़वी हुकूमत अभी क़ायम नहीं हुई थी। भारतीय उप-महाद्वीप दिल्ली-सल्तनत के पतन के बाद छोटी-छोटी हुकूमतों में बँटा हुआ था और मावराउन-नहर (Tranxoxania) में तैमूरी शहज़ादे आपसी लड़ाइयों में उलझे हुए थे। केवल मिस्र एवं शाम (सीरिया) की हुकूमत ऐसी थीं, जो उसमानी सल्तनत का कुछ मुक़ाबला कर सकती

थीं। मुहम्मद फ़ातेह कश्मीर के ज़ैनुल-आबिदीन (1420 ई.–1470 ई.), गुजरात के महमूद बेगड़ा (1458 ई.–1511 ई.), सिंध के जाम-निज़ामुद्दीन (1461 ई.–1509 ई.) और मालवा के महमूद ख़िलजी (1436 ई.–1469 ई.) का समकालीन था। महमूद गावाँ (मृत्यु-1481 ई.) उस काल में बहमनी सल्तनत का प्रधानमंत्री था।

क़ानूननामा

मुहम्मद फ़ातेह केवल अपने साम्राज्य-विस्तार एवं युद्ध में सफलता के कारण ही प्रसिद्ध नहीं है, बल्कि शासन-व्यवस्था एवं अपनी विलक्षण प्रतिभा के कारण भी प्रसिद्ध है। उसने पहली बार उसमानी सल्तनत के लिए एक संविधान तैयार करवाया, और बाद में वर्तमान शताब्दी तक उसके बनाए हुए क़ानून पर अमल होता रहा। एक प्रकार से वह उसमानी तुर्कों में भारत के शेर शाह एवं अकबर जैसा मक़ाम रखता है, परन्तु उसका बनाया हुआ एक क़ानून बहुत निंदनीय है। उसके क़ानून में था कि जब कोई बादशाह गद्दी पर बैठे तो वह अपने भाइयों को क़त्ल करा दे। बादशाहत अथवा राजशाही में एक बड़ी ख़राबी यह होती है कि बाप के मर जाने के बाद सल्तनत के लिए भाइयों में लड़ाइयाँ शुरू हो जाती हैं और जो शक्तिशाली होता है, बादशाह बन जाता है। उसके बाद पुनः सत्ता-संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है जिसमें हज़ारों निर्दोष लोग मारे जाते हैं। मुहम्मद फ़ातेह ने इसी ख़ून-ख़राबे को रोकने के लिए यह क़ानून बनाया था। इस क़ानून का परिणाम यह हुआ कि सल्तनत के इतिहास में शहज़ादों की लड़ाइयाँ ख़त्म हो गईं, परन्तु फिर भी मुहम्मद फ़ातेह का यह क़ानून ज़ालिमाना माना जाएगा।

मुहम्मद फ़ातेह ज्ञान एवं कला का भी बड़ा संरक्षक था। उसके दरबार से तीस शायरों (कवियों) को भत्ते मिलते थे। वह ख़ुरासान के मौलाना जामी को तोहफ़े भेजा करता था। उसने सल्तनत में बहुत अधिक मस्जिदें, अस्पताल और मदरसे बनवाए।

मुहम्मद फ़ातेह युद्ध एवं प्रबन्धन-कौशल और समझदारी में यद्यपि अपने पूर्वजों से आगे तो नज़र आता है, परन्तु वह आचरण एवं चरित्र के मामले में आर ख़ाँ, मुराद प्रथम या मुराद द्वितीय के समकक्ष नहीं था वह यद्यपि

स्वभावतः ज़ालिम नहीं था, परन्तु उसके मिज़ाज में सख़्ती एवं कठोरता थी। वह अपना विरोध सहन नहीं कर सकता था। बड़े-बड़े प्रमुख लोगों को मामूली शिकायतों पर बिना छानबीन किए क़त्ल करवा देता था। हालाँकि उसने क़ानूननामा बनवाया था और हुकूमत को क़ानून का पाबन्द बनाया था, परन्तु वह एक तानाशाह की तरह काम करता था। सलाह-मशवरे को, जो उसके पूर्वजों का उसूल था, तनिक महत्व नहीं देता था।

मुहम्मद फ़ातेह के बाद उसका लड़का बायज़ीद द्वितीय (1481 ई॰–1512 ई॰) गद्दी पर बैठा। उसने तीस साल शासन किया। उसके शासनकाल में युद्ध कम हुए और कोई बड़ी घटना नहीं घटी। वह एक शान्तिप्रिय और ज्ञान एवं साहित्य का प्रेमी शासक था।

प्रमुख घटनाएँ

699 हि॰/1300 ई॰ – उसमान ख़ाँ के स्वतंत्र शासन का आरम्भ।

726 हि॰/1326 ई॰ – बरूसा और नाइकोमीडिया की जीत।

730 हि॰/1330 ई॰ – नाइबिया की जीत।

755 हि॰/1354 ई॰ – गीलीपोली की जीत। उसमानी तुर्कों ने पहली बार यूरोप में विजय का झंडा गाड़ा।

764 हि॰/1363 ई॰ – फ़िल्पोपोलिस की जीत।

783 हि॰ – मनास्तर की जीत।

787 हि॰/1385 ई॰ – सूफ़िया (बुल्ग़ारिया) की जीत।

791 हि॰/1389 ई॰ (15 जून) – प्रथम कोसोवा युद्ध में मुराद प्रथम ने ईसाई लश्कर को परास्त किया।

795 हि॰/1393 ई॰ – उत्तरी बुल्ग़ारिया पर तुर्कों का क़ब्ज़ा।

795-96 हि॰/1393-1394 ई॰ – सबोरस, समसून और अमासिया पर विजय।

798 हि॰/1396 ई॰ (24 सितम्बर) – निकोपोलिस की जंग। बायज़ीद ने संयुक्त ईसाई फ़ौज को परास्त किया।

800 हि॰/1397 ई॰ – यूनान की जीत।

804 हि॰/1402 ई॰ (20 जुलाई) – अंगोरा की जंग। तैमूर ने बायज़ीद को हराया।

833 हि॰/1430 ई॰ – सालोनिका पर विजय।

844 हि॰/1440 ई॰ – सर्विया पर विजय।

846 हि॰/1442 ई॰ – बेलग्राद का पहला घेराव।

847 हि॰/1443 ई॰ – नैश की जंग में तुर्कों की पराजय। सर्विया हाथ से निकल गया।

848 हि॰/1444 ई॰ (26 रजब/10 नवम्बर) – प्रथम वार्ना-युद्ध में हंगरी की पराजय। सर्बिया और बोस्निया पर तुर्कों का अधिकार।

852 हि॰/1448 ई॰ (18 शाबान/17 अक्तूबर) – हंगरी की कोसोवा के दूसरे युद्ध में पराजय।

857 ई॰/1453 ई॰ (26 रबीउल-अव्वल) – क़ुस्तनतीनिया का घेराव, (20 जुमादल-ऊला/29 मई) शहर फ़तह हो गया।

1456 ई॰ – बेलग्राद का असफल घेराव।

865 हि॰/1461 ई॰ – तराबज़ून पर विजय।

1473 ई॰ – अर्जनजान के निकट उतलुकबेली की जंग में मुहम्मद फ़ातेह ने औज़ून हसन को पराजित किया।

880 हि॰/1475 ई॰ – क्रीमिया पर विजय, व्लाचीया ने अधीनता स्वीकार की।

1478 ई॰ – अलबानिया पर विजय।

885 हि॰/1480 ई॰ – रोड्स की असफल मुहिम, ओट्रांटो (इटली) पर विजय।

900 हि॰/1495 ई॰ – रूस के पहले राजनयिक का इस्तंबोल में आगमन।

905 हि॰/1499 ई॰ – कमाल रईस ने वेनिस के बेड़े को परास्त करके लिपांटो पर अधिकार कर लिया।

(2)

मुसलमानों के उत्थान का दूसरा दौर

(918 हि॰/1512 ई॰–1118 हि॰/1707 ई॰)

(मुसलमानों के उत्थान के दूसरे दौर के इस भाग में लगभग 1512 ई॰ से 1707 ई॰ तक के काल-खण्ड का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। अफ़्रीक़ा एवं सुदूर पूर्व के इतिहास में निर्धारित अवधि की पाबन्दी नहीं की गई है, बल्कि पाठक की सुविधा के लिए घटनाओं की क्रमबद्धता को बनाए रखा गया है। यह दौर, जिसपर आगे चर्चा की गई है, मुसलमानों के उत्थान का अन्तिम दौर है। सतरहवीं शताब्दी अन्तिम शताब्दी है जिसमें मुसलमानों को यूरोप एवं अन्य ग़ैर-मुस्लिम दुनिया पर राजनीतिक वर्चस्व प्राप्त रहा। बौद्धिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में अब यूरोप ने पूरी तरह श्रेष्ठता प्राप्त कर ली थी और सतरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उन्हें राजनीतिक एवं सामरिक दृष्टि से भी श्रेष्ठता प्राप्त होनी शुरू हो गई थी। अट्ठारहवीं शताब्दी से मुसलमानों का पूर्णतः पतन प्रारम्भ हो जाता है।)

अध्याय-15

उसमानी तुर्क दुनिया की सबसे बड़ी ताक़त बन गए

(918 हि॰/1512 ई॰–1115 हि॰/1703 ई॰)

बायज़ीद द्वितीय का काल शन्तिपूर्ण रहा। उसके काल में उसमानी सल्तनत की सीमा का भी कोई विशेष विस्तार नहीं हुआ, परन्तु उसके उत्तराधिकारियों ने उसमानी सल्तनत को कुछ ही वर्षों में दुनिया की सबसे बड़ी और शक्तिशाली सल्तनत बना दिया। बायज़ीद द्वितीय के बाद उसका लड़का सलीम प्रथम (918 हि॰/1512 ई॰–926 हि॰/1520 ई॰) सत्तासीन हुआ। सलीम प्रथम का काल उसमानी सल्तनत का सवर्णिम युग माना जाता है। उसके काल से उसमानी सल्तनत अपनी नीति के आधार पर एक नया मोड़ लेती है। अब तक उसमानी तुर्कों के आक्रमणों का रुख़ यूरोप की ओर था, पूरब की मुसलमान हुकूमतों से उनकी बहुत कम लड़ाइयाँ होती थीं। परन्तु सलीम ने यूरोप की बजाय पूरब का रुख़ किया।

चालदरान की जंग

उस ज़माने में ईरान में शाह इसमाईल सफ़वी का शासन था और मिस्र एवं सीरिया पर ग़ुलाम-वंश का शासन था। मिस्र और ईरान की इन हुकूमतों ने उसमानी तुर्कों के ख़िलाफ़ एक गठबंधन कर लिया था। उन्होंने कई बाग़ी उसमानी शहज़ादों को पनाह भी दे रखी थी। उनमें और उसमानी तुर्कों में सीमा पर कभी-कभी झड़पें भी हुआ करती थीं। इन्हीं सब कारणों से सलीम ने दोनों हुकूमतों को ख़त्म कर देने का इरादा कर लिया। शायद वह यह समझता था कि जब तक उसमानी सल्तनत के पड़ोस में ईरान एवं मिस्र जैसी शक्तिशाली विरोधी हुकूमतें मौजूद रहेंगी, मुसलमान यूरोप की ओर कार्रवाई नहीं कर सकेंगे।

सलीम ने सर्वप्रथम इसमाईल सफ़वी को चालदरान के मैदान में परास्त करके 1514 ई॰ में उसकी राजधानी तबरीज़ पर क़ब्ज़ा कर लिया। सलीम चाहता था कि सम्पूर्ण ईरान जीतकर सफ़वी हुकूमत को ख़त्म कर दिया जाए, परन्तु उसकी फ़ौजों ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया और सलीम को वापस होना पड़ा। ईरान की मुहिम से वापस आकर सलीम ने मिस्र का रुख़ किया।

मिस्र की फ़तूह

1514 ई॰ में हलब के पास मरज दाबिक़ की जंग में सलीम ने गुलाम-वंश के शासकों को पराजित करके सीरिया एवं फ़लस्तीन पर क़ब्ज़ा कर लिया। इसके बाद वह मिस्र की ओर बढ़ा। क़ाहिरा के निकट 'रिदानिया' नामक स्थान पर 1517 ई॰ में दूसरी बड़ी जंग हुई और सलीम गुलाम-वंश के शासकों को परास्त करके क़ाहिरा में प्रवेश कर गया। हिजाज़ (अरब का इलाक़ा) पर चूँकि मिस्र की प्रभुता थी, इसलिए मिस्र पर उसमानी क़ब्ज़ा हो जाने के बाद हिजाज़ के गवर्नर ने मक्का एवं मदीना की कुंजियाँ सलीम को भेज दीं, और उसमानियों की अधीनता स्वीकार कर ली। मिस्र से वापसी पर सलीम, अब्बासी ख़लीफ़ा मुतवक्किल तृतीय को अपने साथ इस्तंबूल ले गया। मुतवक्किल ने मुहम्मद (सल्ल॰) की निशानियाँ अलम (झंडा), तलवार और मुबारक चादर, जो विभिन्न ख़लीफ़ाओं के पास ख़िलाफ़त के निशान के रूप में चली आ रही थीं, सलीम के हवाले कर दीं। कहा जाता है कि इस्तंबूल में एक बड़े समारोह में मुतवक्किल ने स्वेच्छा से ख़िलाफ़त सलीम को सौंप दी। इस प्रकार ख़िलाफ़त उसमानी तुर्कों में आ गई।

मिस्र से वापस आकर सलीम एक नई मुहिम की तैयारी कर रहा था कि उसकी मृत्यु हो गई। सलीम ने मात्र आठ साल शासन किया, परन्तु इस अल्प अवधि में उसने उसमानी सल्तनत का क्षेत्रफल दो गुना कर दिया। अब उसमानी तुर्क निस्संदेह दुनिया की सबसे बड़ी ताक़त बन गए थे। सलीम एक महान विजेता और उच्च कोटि का सिपहसालार था। उसकी प्रबंधकीय प्रतिभा से भी इनकार नहीं किया जा सकता। मुहम्मद फ़ातेह और सुलैमान क़ानूनी के साथ उसकी गिनती तीन सबसे बड़े उसमानी सुल्तानों में की

जाती है। वह एक अच्छा शायर भी था। तुर्की और फ़ारिसी दोनों भाषाओं में वह शायरी करता था, परन्तु वह अपने मिज़ाज (स्वभाव) की कठोरता के मामले में मुहम्मद फ़ातेह से भी बाज़ी ले गया था। इसी कारण तुर्की में उसे 'यावूज़' (Yavoz) अर्थात कठोर स्वभाववाला कहा जाता है। क़ाहिरा और अन्य स्थानों में उसके द्वारा किया गया जन-संहार उसके दामन पर बदनुमा धब्बे की तरह है। उसने अपने कई मंत्रियों को छोटी-छोटी बात पर क़त्ल करा दिया। पूर्वी तुर्की में कई हज़ार लोग उसके आदेश से बग़ावत के आरोप में क़त्ल कर दिए गए। उसके ज़माने में अन्दलुस (स्पेन) के मुसलमानों पर ईसाई बहुत अत्याचार कर रहे थे। सलीम ने उसके जवाब में उसमानी सल्तनत की ईसाई आबादी का जन-संहार कराना चाहा, परन्तु जिस प्रकार सिकन्दर लोधी के सामने मुल्ला अब्दुल्लाह तलंबी ने आगे आकर हिन्दुओं को जन-संहार से बचाया था, उसी प्रकार यहाँ भी शैख़ुल-इस्लाम अली जमाली ने यह कहकर कि ज़िम्मी को इस्लामी रियासत में क़त्ल करने की इजाज़त शरीअत नहीं देती, सुल्तान सलीम को अपना विचार बदलने पर विवश कर दिया। इस प्रकार इस्लाम के श्रेष्ठ सिद्धान्तों के कारण न केवल लाखों निर्दोष ईसाइयों की जानें बच गईं, बल्कि ख़ुद सलीम भी एक बड़े ज़ुल्म से बच गया। यह घटना शैख़ुल-इस्लाम अली जमाली के असाधारण साहस और उनकी सदाचारिता की मिसाल है। सलीम को, जो तनिक विरोध करने पर मंत्रियों तक को क़त्ल करा देता था, अपने फ़ैसले से रोकना मामूली बात नहीं थी। शैख़ुल-इस्लाम ने यह काम अपनी जान को ख़तरे में डालकर किया। यह घटना इस बात का भी प्रमाण है कि सलीम की नज़र में उलमा (विद्वानों) का कितना सम्मान था।

सुलैमान आज़म

देश-विजय

सलीम प्रथम के बाद उसका लड़का सुलैमान (1520 ई.–1566 ई.) 26 वर्ष की उम्र में गद्दी पर बैठा। उसके काल में उसमानी सल्तनत अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। उसमानी सुल्तानों में वह सबसे बड़ा और सबसे

महान शासक हुआ है। उसमानी वंश में उसे वही स्थान प्राप्त है जो सलजूक़ी सल्तनत में मलिक शाह को और तैमूरी सल्तनत (मुग़ल-सल्तनत) में औरंगज़ेब को प्राप्त है। उसे सुलैमान आज़म (या सुलैमान महान) कहा जाता है जिसमें कोई अतिश्योक्ति नहीं। यूरोपवाले उसे ज़ीशान (शानवाला) की उपाधि से याद करते थे, परन्तु तुर्क उसे सुलैमान क़ानूनी कहना पसन्द करते हैं।

सुलैमान ने 1521 ई॰ में बेलग्राद शहर पर अधिकार किया। उसके अगले साल रोड्स टापू को ईसाई सरदारों से छीन लिया। ये दोनों वे स्थान थे जिन्हें जीतने में मुहम्मद फ़ातेह असफल रहा था। 1526 ई॰ में सुलैमान ने मुहाच के युद्ध में हंगरी की फ़ौज को परास्त करके बुडापेस्ट पर क़ब्ज़ा कर लिया। सुलैमान ने 1529 ई॰ में ऑस्ट्रिया की राजधानी वियाना का घेराव किया, परन्तु भारी तोपें न होने के कारण घेराव सफल न हो सका। 1532 ई॰ में सुलैमान के फ़ौजी दस्तों ने ऑस्ट्रिया एवं जर्मनी में प्रवेश करके दूर-दूर तक छापे मारे और यूरोप की संयुक्त शक्ति को परास्त करके, जिसका नेतृत्व यूरोप का सबसे बड़ा शासक चार्ल्स पंचम् कर रहा था, 1533 ई॰ में ऑस्ट्रिया को समझौता करने और ख़िराज (Tax) देने पर मजबूर कर दिया।

पूरब में सुलैमान ने 1534 ई॰ में ईरानियों से बग़दाद छीन लिया और इराक़ को उसमानी सल्तनत का एक अलग प्रान्त बना लिया। ईरान से युद्ध के दौरान उसमानी फ़ौजें इस्फ़हान तक पहुँच गई थीं और आज़रबाइजान एवं आरमीनिया पर भी क़ब्ज़ा कर लिया था। 1538 ई॰ में यमन और अद्न पर उसमानी शासन क़ायम हो गया तथा तराबुलुस (Tripoli) एवं अल-जज़ायर (Algiers) उसमानी सल्तनत में शामिल हो गए। तूनिस (Tunisia) पर नौसेना-अध्यक्ष ख़ैरुद्दीन बारबरूसा ने 1534 ई॰ में अधिकार कर लिया था, परन्तु चार्ल्स पंचम् ने पुनः उसे छीन लिया था, और यह क्षेत्र सुलैमान के बाद उसमानी सल्तनत में शामिल हुआ।

ख़ैरुद्दीन बारबरूसा (888/1483 ई॰–953 हि॰/1546 ई॰)

सुलैमान के काल में उसमानी तुर्कों की समुद्री सैन्य शक्ति भी चरम

सीमा पर पहुँच गई थी। उसमानी समुद्री बेड़े ने न केवल ऐज़न-सागर के द्वीपों को जीत लिया था, बल्कि इटली, फ्रांस और स्पेन के तटीय प्रदेशों तक छापे मारे। हिन्द-महासागर में तुर्कों ने पूर्वी अफ्रीक़ा के तटों और भारत में गुजरात तक कार्रवाई की। ये कार्रवाइयाँ पुर्तगालियों के ख़िलाफ़ थीं, जो भारत का समुद्री मार्ग मालूम करने के बाद अफ्रीक़ा और एशिया के देशों में लूटमार और अत्याचार करते रहते थे। ख़ैरुद्दीन बारबरूसा, प्याला पाशा (मृत्यु—985 हि॰/1578 ई॰), पीरी रईस (मृत्यु—959 हि॰/1552 ई॰) तूर ग़ौर (मृत्यु—1565 ई॰) सदी अली (मृत्यु—970 हि॰/1562 ई॰) उस काल के प्रसिद्ध नाविक एवं नौसेना के प्रमुख थे।

ख़ैरुद्दीन बारबरूसा तुर्कों का सबसे बड़ा नौसेना-प्रमुख था। उस काल में रूम-सागर में वेनिस, जेनेवा और स्पेन की समुद्री सैन्य शक्ति बहुत बढ़ी हुई थी। लेकिन ख़ैरुद्दीन पाशा ने उन देशों के संयुक्त समुद्री बेड़े को 1538 ई॰ में प्रीविसा के प्रसिद्ध समुद्री युद्ध में पराजित किया। ख़ैरुद्दीन ने फ्रांस के शहर तूलून पर भी अधिकार कर लिया था और उसने स्पेन के तटीय क्षेत्रों को कई बार लूटा और उसने वहाँ से सत्तर हज़ार उत्पीड़ित मुसलमानों को निकालकर उत्तरी अफ्रीक़ा पहुँचाया। अल-जज़ायर (Algiers) ख़ैरुद्दीन के प्रयास ही से उसमानी सल्तनत का अंग बना।

ख़ैरुद्दीन पाशा की क़ब्र राजधानी इस्तंबूल के निकट बासफ़ोरस-सागर के तट पर है। उसकी मृत्यु के बाद जब भी कोई समुद्री बेड़ा लड़ाई पर जाता तो क़ब्र के निकट से सलामी देता हुआ गुज़रता था।

सुलैमान महान की सैन्य सफलताएँ इस कारण भी बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं कि उसने ऐसे काल में अपनी सल्तनत का विस्तार किया जब यूरोप में जागृति आ चुकी थी और वहाँ बड़ी-बड़ी एवं शक्तिशाली हुकूमतें स्थापित हो चुकी थीं। फ्रांस का बादशाह फ्रांसिस, इंग्लैण्ड की महारानी एलीज़ाबेथ और स्पेन का शासक चार्ल्स पंचम् उस काल में यूरोप के सबसे बड़े और शक्तिशाली शासक समझे जाते थे। सुलैमान ने उन सबके होते हुए अपनी सल्तनत का विस्तार किया। वह मध्य यूरोप पर भी विजय-पताका फहराना चाहता था और इसी उद्देश्य से उसने ऑस्ट्रिया की राजधानी वियेना पर घेराव डाला

था। वियेना को तो सुलैमान जीत नहीं सका, परन्तु ऑस्ट्रिया को ख़िराज (टैक्स) देने पर विवश कर दिया, हालाँकि स्पेन का सम्राट चार्ल्स पंचम् स्वयं मुक़ाबला कर रहा था।

सुलैमान की प्रशिक्षित फ़ौजें आधुनिक हथियारों से लैस थीं और इतनी शक्तिशाली थीं कि सुलैमान उनके द्वारा यूरोप का बहुत बड़ा भूभाग जीत सकता था, परन्तु ईरान से झड़पों के कारण वह ऐसा न कर सका। जब कभी वह यूरोप का रुख़ करता था, ईरानी पूरब से उसमानी सल्तनत पर हमला कर देते और सुलैमान को यूरोप की ओर से ध्यान हटाकर ईरानियों के मुक़ाबले में आना पड़ता था। यूरोप की हुकूमतों ने ईरान से मैत्री सम्बन्ध बना रखे थे। वे उसे उसमानी सल्तनत के ख़िलाफ़ उकसाती रहती थीं। ऑस्ट्रिया का एक राजदूत कहा करता था :

> "हमारी पूर्ण तबाही (अथवा पराजय) और उसमानी सल्तनत के मध्य ईरान बाधक है।"

सुलैमान महान जितना अपनी सैनिक-सफलता एवं विजयों के कारण प्रसिद्ध है उतना ही अपनी प्रशासनिक क्षमता एवं सदाचारण के कारण भी याद किया जाता है। उसने मुहम्मद फ़ातेह के बनाए हुए क़ानूनों में संशोधन किए और कई नए-नए क़ानूनों को लागू भी किया। इन नए क़ानूनों के कारण वह तुर्कों में सुलैमान क़ानूनी के नाम से प्रसिद्ध है। उसने कृषि के क्षेत्र में जो सुधार किए उनके कारण किसानों की हालत यूरोपवालों से बहुत अच्छी हो गई। किसानों की ख़ुशहाली को देखकर ऑस्ट्रिया एवं हंगरी के हज़ारों किसान अपना देश छोड़कर उसमानी सल्तनत में आबाद हो गए थे।

सुलैमान महान फ़ारिसी एवं तुर्की भाषा का कवि भी था और एक रोज़नामचे का लेखक भी। उसमें वह प्रमुख घटनाओं को लिखता रहता था।

करनामे

सुलैमान महान ने ज्ञान एवं साहित्य को उसमानी वंश में सबसे अधिक प्रोत्साहन दिया। फ़ज़ूली एवं बाक़ी, जो तुर्की भाषा के अग्रणी कवियों में गिने जाते हैं, उसी के समकालीन थे। अबू-सऊद आफ़ंदी और इबराहीम हलबी

उस ज़माने के मशहूर आलिम (विद्वान) थे जिन्होंने क़ानून बनाने में सुलैमान की बड़ी मदद की। उसके शासनकाल में बहुत-से मदरसे एवं पुस्तकालय स्थापित हुए।

ज्ञान एवं साहित्य की भाँति सुलैमान के शासनकाल में वास्तुकला का भी बड़ा विकास हुआ और बड़ी संख्या में इमारतें बनीं जिसकी मिसाल नहीं मिलती। उस ज़माने के महान वास्तुविद् सनान ने तीन सौ से अधिक इमारतें बनाईं। उनमें मस्जिदें, महल, बाग़, सरायें (विश्राम-गृह), पुल, मदरसे और चिकित्सालय सब सम्मिलित हैं। ये निर्माण-कार्य सल्तनत के लगभग सभी प्रमुख शहरों में किए गए। उस काल की सबसे सुन्दर इमारत 'जामे-सुलैमानिया' है जो इस्तंबूल की सबसे सुन्दर मस्जिद समझी जाती है।

सुलैमान महान को न्याय एवं इनसाफ़ का बड़ा ख़याल रहता था और इनसाफ़ के मामले में वह किसी को छूट देने के लिए तैयार नहीं था। उसके दामाद फ़रहाद पाशा की घटना उसकी न्यायप्रियता का जीवंत उदाहरण है। फ़रहाद पाशा एक प्रान्त का गवर्नर था। वह वहाँ लोगों पर अत्याचार करता था एवं उनसे रिश्वत भी लेता था। बादशाह को जब इसका पता चला तब उसने फ़रहाद पाशा को तुरंत पद्च्युत् कर दिया। बाद में फ़रहाद पाशा की पत्नी जो सुलैमान की बेटी थी, ने बड़ी विनती की तब पुनः उसे गवर्नर बना दिया गया। लेकिन जब फ़रहाद ने फिर वैसी ही आदतें अपना लीं तो सुलैमान ने न सिर्फ़ उसे निष्कासित कर दिया, बल्कि उसका क़त्ल भी करा दिया।

परन्तु इन सभी गुणों-विशेषताओं के बाद भी सुलैमान महान वह उच्च स्थान न प्राप्त कर सका जो खुलफ़ा-ए-राशिदीन अथवा उमर-बिन-अब्दुल-अज़ीज़ का था, बल्कि हम उसे नूरुद्दीन, सलाहुद्दीन और औरंगज़ेब जैसी महान हस्तियों के समकक्ष भी नहीं रख सकते।

नूरुद्दीन, सलाहुद्दीन और औरंगज़ेब ऐसे काम नहीं कर सकते थे, वे हर फ़ैसला छानबीन एवं शोध के बाद करते थे। बैतुल-माल में से निर्धारित वेतन लेते थे। हाँ, सुलैमान को हारून-रशीद, मामून-रशीद, मलिक शाह सलजूक़ी और शाहजहाँ जैसे बादशाहों के समकक्ष रखा जा सकता है जो

अच्छे बादशाहों की श्रेणी में थे। वह एक बादशाह था, लोकतांत्रिक तरीक़े से चुना हुआ शासक नहीं था। अपनी इच्छा के अनुसार फ़ैसले करता था। हर मामले को अदालत में पेश करना ज़रूरी नहीं समझता था। यही कारण है कि उसने लोगों के बहकावे में आकर मात्र सन्देह के आधार पर अपने एक लड़के मुस्तफ़ा और अपने सबसे अच्छे प्रधानमंत्री इबराहीम को क़त्ल करवा दिया।

सुलैमान महान शेर शाह और अकबर जैसे शासकों का समकालीन था। परन्तु इसके बावजूद वह अपने ज़माने का सबसे बड़ा शासक था। शेर शाह की सल्तनत छोटी थी और उसने मात्र चार साल शासन किया। अकबर ने ज़रूर एक बड़ी सल्तनत क़ायम की, जो शक्तिशाली भी थी, परन्तु सुलैमान की ज़िन्दगी में अकबर की हुकूमत का पूरा उत्थान नहीं होने पाया था। इस प्रकार सुलैमान अपनी ज़िन्दगी में दुनिया का सबसे बड़ा शासक रहा।

सुलैमान महान के शासनकाल के प्रशासकों-गवर्नरों में ख़ुसरो बेग (मृत्यु-948 हि०/1542 ई०) को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता जो 924 हि० से 948 हि० अर्थात 24 साल तक बोसनिया के प्रशासक रहे। उन्होंने बोसनिया और उसमानिया सल्तनत के दूसरे हिस्सों में तीन सौ से अधिक मस्जिदें, मदरसे, स्नानागार और छतदार बाज़ार (शॉपिंग-कॉम्पलेक्स) बनवाए। नेकी और भलाई के कामों में प्रचुरता के कारण तुर्क उन्हें एक वली (ईशपरायण संरक्षक) समझते थे। बोसनिया के शहर सरायेवो में, जिसे उनके व्यक्तित्व से बहुत लाभ पहुँचा, आज भी उनका मज़ार श्रद्धालुओं के लिए ज़ियारतगाह है।

मुहम्मद पाशा सोक़ूलली

सुलैमान क़ानूनी के बाद उसमानी वंश में कुछ समय के लिए योग्य एवं प्रतिभाशाली बादशाहों का क्रम समाप्त हो गया। उसका लड़का सलीम द्वितीय (1566 ई०–1574 ई०) गद्दी पर बैठा। वह शासन करने की योग्यता से वंचित था, परन्तु सौभाग्यवश उसे एक योग्य प्रधानमंत्री मिल गया था जिसका नाम मुहम्मद पाशा सोक़ूलली था। वह सुलैमान के शासनकाल से ही प्रधानमंत्री के पद पर था और उसने 1564 ई० से 1578 ई० तक लगभग

चौदह साल एक वास्तविक शासक की भाँति शासन किया। उसके काल में 1570 ई॰ में क़बरस (साइप्रस) और 1574 ई॰ में तूनिस (Tunisia) जीते गए। और 1577 ई॰ में जब पुर्तगालियों ने मराकश (Morocco) पर हमला किया तो मराकश के सुल्तान के मदद माँगने पर अल-जज़ायर (Algiers) के उसमानी गवर्नर (प्रशासक) रमज़ान पाशा ने फ़ॉस (Fas) पहुँचकर पुर्तगालियों को पराजित किया और मराकश को अपनी सुरक्षा में ले लिया।

मुहम्मद पाशा सोकूलली के काल की एक दुखद घटना लिपांटो की समुद्री जंग है। इस जंग में यूरोप की संयुक्त समुद्री सेना ने, जो क़बरस को तुर्कों से छीनने के लिए आ रही थी, 1571 ई॰ में तुर्कों की लगभग समपूर्ण समुद्री सैन्य शक्ति एवं समुद्री बेड़े को तबाह कर दिया। इस जंग में तुर्कों के लगभग दो सौ जहाज़ या तो नष्ट हो गए या पकड़ लिए गए और बीस हज़ार तुर्क-सैनिक शहीद हो गए। इस पराजय के बाद जब वेनिस का राजदूत सोकूलली पाशा से मिला तब पाशा ने उससे कहा, "तुमने हमारा बेड़ा नष्ट करके केवल हमारी दाढ़ी काट दी है जो फिर उग आएगी, परन्तु हमने क़बरस जीतकर तुम्हारी बाँह काट दी है जो फिर जोड़ी नहीं जा सकती।"

इस जंग के बाद सोकूलली पाशा ने औलूज अली रईस को क़ुल्जे अली पाशा का नाम देकर नया नौसेना-अध्यक्ष बनाया और उसे नया समुद्री बेड़ा तैयार करने का आदेश दिया। इस अवसर पर नए नौसेना-अध्यक्ष ने मुहम्मद पाशा सोकूलली से कहा :

> "पाशा! हमारी सल्तनत एक ऐसी सल्तनत है कि यदि वह चाहे कि सभी युद्धपोत चाँदी के, रस्सियाँ रेशम की और बादबान ज़री का काम किए रेशमी कपड़ों की बना दी जाएँ, तो यह भी सम्भव है।"

अतः कुछ ही महीनों के अन्दर दो सौ जहाज़ बनकर तैयार हो गए और रूम-सागर में पूर्व की भाँति फिर से उसमानी बेड़े का वर्चस्व स्थापित हो गया। तूनिस (Tunisia) को लिपांटो की जंग के बाद ही क़ुल्जे-अली रईस ने फ़तह कर लिया। सुमात्रा के मुसलमान हुक्मरान के मदद माँगने पर पुर्तगालियों के विरुद्ध एक समुद्री मुहिम भी इस घटना के बाद ही भेजी गई।

(विस्तार के लिए देखें अध्याय–26) वास्तव में उसमानी सल्तनत अपने उत्थान के चरमोत्कर्ष पर सुलैमान क़ानूनी के काल में नहीं बल्कि मुहम्मद पाशा सोकूलली के काल में पहुँची। मुहम्मद सोकूलली पाशा 1578 ई॰ में दरबारी साज़िशों का शिकार होकर मार डाला गया।

मुराद चतुर्थ

मुहम्मद सोकूलली के बाद सल्तनत में बिगाड़ आना प्रारम्भ हो गया। रिश्वतख़ोरी और भ्रष्टाचार का चलन हो गया। दरबारी साज़िशें शुरू हो गईं और हुकूमत के कामों में औरतों का हस्तक्षेप बढ़ गया। लगभग सत्तर वर्ष तक यही स्थिति रही। इस अवधि में मुराद चतुर्थ (1623 ई॰–1640 ई॰) के अतिरिक्त कोई योग्य हुक्मरान पैदा नहीं हुआ। मुराद चतुर्थ बारह वर्ष की उम्र में गद्दी पर बैठा था। अल्पायु होने के कारण प्रशासनिक कामों की देखरेख उसकी माँ करती थी। जो वालिदा सुल्ताना माह पैकर के नाम से प्रसिद्ध थीं। उसने मुराद के अल्पायु के समय में बड़ी बुद्धिमानी से हुकूमत की। मुराद ने सत्तासीन होने के आठ वर्ष बाद सल्तनत का कार्यभार ख़ुद सम्भाला। मुराद ने सल्तनत में कई सुधार एवं विकास के कार्य किए परन्तु वह मात्र आठ वर्ष ही हुकूमत कर सका। उसकी सल्तनत में पुनः बुराइयाँ सिर उठाने लगीं, परन्तु जल्द ही एक व्यक्ति मुहम्मद कोपरीली (1656 ई॰–1661 ई॰) ने स्थिति को सम्भाल लिया।

मुहम्मद कोपरीली एक मामूली व्यक्ति था। वह सुल्तान के रसोईघर का एक क़र्मचारी था। वह भी शेर शाह एवं अल-मंसूर की तरह विशेष प्रतिभावान था। अनपढ़ था, परन्तु अपनी योग्यता एवं क्षमता के बल पर दिमश्क़ (Damascus) एवं तराबुलुस (Tripoli) के गवर्नर के पद तक पहुँचा। फिर जब उसमानी सल्तनत अस्थिर हो गई तो सुल्तान ने उसे प्रधानमंत्री बनाकर पूर्ण प्रशासनिक प्रभार उसे सौंप दिया। मुहम्मद कोपरीली पाँच वर्ष तक प्रधानमंत्री के पद पर रहा। लेकिन उसने इस अल्प अवधि में ही सुल्तनत की हालत को सुधारकर उसमें नई जान फूँक दी।

अहमद कोपरीली

मुहम्मद कोपरीली के बाद उसका लड़का अहमद कोपरीली (1661 ई॰–1676 ई॰) प्रधानमंत्री बना। जिस समय वह प्रधानमंत्री के पद पर बैठा उस समय उसकी उम्र मात्र 29 वर्ष थी। पिता ने उसे अपनी निगरानी में प्रशासनिक प्रशिक्षण दिया था।

अहमद कोपरीली अपने पिता से भी अधिक योग्य साबित हुआ। उसके काल में जो कारनामे हुए, उनके आधार पर उसे उसमानी सल्तनत का सबसे महान प्रधानमंत्री समझा जाता है।

अहमद कोपरली का स्वभाव एवं अख़लाक़ बहुत अच्छा था। उसकी ख़ूबियों के कारण लोग उसके प्रशंसक एवं दीवाने रहते थे। वह इस्लामी शरीअत के आदेशों की पाबन्दी बड़ी सख़्ती से करता था। उसकी ज़िन्दगी इस्लामी ज़िन्दगी के अनुरूप एवं अनुक्रणीय ज़िन्दगी थी। हम जानते हैं कि हुक्मरान में जो गुण होते हैं उनका प्रभाव प्रशासनिक पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों पर और दूसरे लोगों पर अवश्य पड़ता है। वे अपने-आपको हुक्मरान के तर्ज़ पर ढालने की कोशिश करने लगते हैं। यही हाल अहमद कोपरीली का था। उसके गुणों का प्रभाव सल्तनत के अन्य मंत्रियों एवं पदाधिकारियों पर भी पड़ा और उन्होंने अपना सुधार किया।

अहमद कोपरीली पन्द्रह वर्षों तक प्रधानमंत्री के पद पर रहा। इस अवधि में उसे कई युद्धों में भाग लेना पड़ा। यह वह समय था जब यूरोप का विकास बड़ी तेज़ी से हो रहा था। अब वे ज्ञान-साहित्य के क्षेत्र में मुसलमानों से आगे निकल गए थे। सभ्यता-संस्कृति के आधार पर भी वे मुसलमानों के समकक्ष होने लगे थे। रूस, पोलैण्ड, फ़्रांस, ब्रिटेन और ऑस्ट्रीया में शक्तिशाली हुकूमतें स्थापित हो गई थीं और विज्ञान की तरक़्क़ी के कारण यूरोपवाले ऐसे-ऐसे हथियार इस्तेमाल करने लगे थे जो अब उसमानी सल्तनत एवं अन्य मुसलमानों के पास नहीं थे। उनकी फ़ौजों का सांगठनिक ढाँचा भी अब उसमानी तुर्कों से बेहतर हो गया था। उसमानी तुर्कों ने सुलैमान महान के बाद से सैन्य-क्षेत्र में कोई विशेष तरक़्क़ी नहीं की

थी। वे अब तक पुराने हथियारों से ही लैस थे। इसके कारण उसमानी फ़ौज को यूरोप की फ़ौज पर अब तक जो श्रेष्ठता थी, वह समाप्त हो चुकी थी।

सैन्य सफलता

अहमद कोपरीली को पोलैण्ड, ऑस्ट्रीया और फ्रांस से युद्ध करना पड़ा, और इन युद्धों में उसे उन्हीं कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। यही कारण है कि अहमद कोपरीली को दो युद्धों में हार का मुँह देखना पड़ा। उनमें एक युद्ध 'सेन्टगोथर्ड' के युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। सेंटगोथर्ड ऑस्ट्रीया में है। 1664 ई॰ में ऑस्ट्रीया एवं फ्रांस की संयुक्त सेना से तुर्कों की जंग इसी स्थान पर हुई, जिसमें तुर्कों को पराजित होना पड़ा, हालांकि तुर्क-सेना की संख्या बहुत अधिक थी। बहरहाल इन पराजयों का उसमानी सल्तनत पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ा। अहमद कोपरीली ने दो लड़ाइयाँ हारने के बावजूद पोलैण्ड से पोडोलिया का प्रान्त छीन लिया और ऑस्ट्रीया से भी कई ज़िले वापस ले लिए और आस्ट्रीया को युद्ध की क्षतिपूर्ति भी देने को मजबूर किया। उसने रूस के यूक्रेन-क्षेत्र पर भी उसमानी आधिपत्य स्थापित किया। समुद्री अभियानों में अहमद कोपरीली का सबसे बड़ा कारनामा क्रीट-द्वीप की विजय है। उस द्वीप पर 1669 ई॰ में तुर्कों का क़ब्ज़ा हुआ। उसके काल में जो भी सैन्य सफलताएँ प्राप्त हुईं वे उसमानी सल्तनत की सैन्य क्षेत्र में एक प्रकार से अन्तिम सफलताएँ थीं। इन सफलताओं के बाद उसमानी सल्तनत का भूभागीय विस्तार नहीं हुआ।

इन सैन्य सफलताओं के अतिरिक्त अहमद कोपरीली ने जो आन्तरिक सुधार के काम किए उनके कारण उसका सम्मान और बढ़ गया। उसने देश के अन्दर शान्ति-व्यवस्था स्थापित की, प्रजा पर से टैक्स का भार कम किया, अत्याचारी जागीरदारों से जनता को मुक्ति दिलाई। सल्तनत की अर्थव्यवस्था को इतना सुदृढ़ किया कि शाही ख़ज़ाना भर गया। अहमद कोपरीली अपने पिता के विपरीत बड़ा दयालु स्वभाव का था। उसने ये सभी सुधार-कार्य बिना किसी बल-प्रयोग के न्याय के आधार पर किए। उसने प्रजा के सभी वर्गों को संतुष्ट करने का प्रयास किया। ईसाइयों पर से गिरजाघर निर्माण का प्रतिबंध समाप्त कर दिया, जिससे ईसाई बहुत ख़ुश हुए। अहमद कोपरीली

वादे का बड़ा पक्का था। ज्ञान और तकनीक का बड़ा संरक्षक था। इस कारण तुर्क उसे 'अहमद फ़ाज़िल' भी कहते हैं।

1676 ई॰ में यह महान प्रधानमंत्री जो दिल्ली के मुग़ल-बादशाह औरंगज़ेब का समकालीन था, इस दुनिया से चल बसा। मृत्यु के समय उसकी उम्र 41 साल थी पन्द्रह वर्ष की अल्प अवधि में उसने जो कारनामे किए वह इतिहास में हमेशा यादगार रहेंगे।

वियेना का घेराव

अहमद कोपरीली के बाद एक व्यक्ति क़ुरह मुस्तफ़ा प्रधानमंत्री हुआ, परन्तु उस व्यकति में शासन करने की क्षमता नहीं थी। उसने 1683 ई॰ में वियेना का घेराव किया परन्तु असफल रहा। यूरोप की हुकूमतें ऐसे ही मौक़े की प्रतीक्षा कर रही थीं कि जिससे तुर्कों की कोई कमज़ोरी सामने आए। वियेना के घेराव की असफलता से यह मौक़ा उनको मिल गया। अतः रूस, ऑस्ट्रीया, वेनिस और पोलैण्ड ने मिलकर उसमानी सल्तनत पर हर ओर से आक्रमण कर दिया। तुर्क कई साल तक उनका मुक़ाबला करते रहे, परन्तु अन्ततः उन्हें पराजय का मुँह देखना पड़ा और 1699 ई॰ में कार्लोविट्ज़ नामक स्थान पर एक समझौता हुआ, जिसके आधार पर हंगरी तुर्कों के हाथ से निकल गया।

कार्लोविट्ज़-संधि के बाद तुर्कों के उत्थान का काल समाप्त हो गया।

उसमानी सल्तनत (687 हि॰/1288 ई॰–1342 हि॰/1924 ई॰)

उत्थान-काल (687 हि॰/1288 ई॰–1110 हि॰/1699 ई॰)

1. उसमान ख़ाँ प्रथम – (687 हि॰/1288 ई॰–726 हि॰/1326 ई॰)
2. ओर ख़ाँ – (726 हि॰/1326 ई॰–760 हि॰/1359 ई॰)
3. मुराद प्रथम – (760 हि॰/1359 ई॰–791 हि॰/1389 ई॰)
4. बायज़ीद प्रथम – (791 हि॰/1389 ई॰–805 हि॰/1402 ई॰)
5. मुहम्मद प्रथम – (816 हि॰/1413 ई॰–824 हि॰/1421 ई॰)
6. मुराद द्वितीय – (824 हि॰/1421 ई॰–855 हि॰/1451 ई॰)

7. मुहम्मद फ़ातेह – (855 हि॰/1451 ई॰–886 हि॰/1481 ई॰)

8. बायज़ीद द्वितीय – (886 हि॰/1481 ई॰–918 हि॰/1512 ई॰)

9. सलीम प्रथम – (918 हि॰/1512 ई॰–926 हि॰/1520 ई॰)

10. सुलैमान महान – (926 हि॰/1520 ई॰–974 हि॰/1566 ई॰)

11. सलीम द्वितीय – (974 हि॰/1566 ई॰–982 हि॰/1574 ई॰)

12. मुराद तृतीय – (982 हि॰/1574 ई॰–1004 हि॰/1595 ई॰)

13. मुहम्मद तृतीय – (1004 हि॰/1595 ई॰–1012 हि॰/1603 ई॰)

14. अहमद प्रथम – (1012 हि॰/1603 ई॰–1026 हि॰/1617 ई॰)

15. मुस्तफ़ा प्रथम – (1026 हि॰/1617 ई॰–1026 हि॰/1618 ई॰)

16. उसमान द्वितीय – (1026 हि॰/1618 ई॰–1032 हि॰/1623 ई॰)

17. मुराद चतुर्थ – (1032 हि॰/1623 ई॰–1050 हि॰/1640 ई॰)

18. इबराहीम – (1050 हि॰/1640 ई॰–1058 हि॰/1648 ई॰)

19. मुहम्मद चतुर्थ – (1058 हि॰/1648 ई॰–1099 हि॰/1687 ई॰)

20. सुलैमान द्वितीय – (1099 हि॰/1687 ई॰–1103 हि॰/1691 ई॰)

21. अहमद द्वितीय – (1103 हि॰/1691 ई॰–1106 हि॰/1695 ई॰)

22. मुस्तफ़ा द्वितीय – (1106 हि॰/1695 ई॰–1115 हि॰/1703 ई॰)

प्रमुख घटनाएँ

- 920 हि॰/1514 ई॰ – 2 रजब (24 अगस्त) को सलीम ने इसमाईल सफ़वी को चालदरान की जंग में पराजित किया।
- 922 हि॰/1516 ई॰ – हलब के पास मर्जदाबिक़ की जंग में सलील ने ममलूकों (मिस्र के ग़ुलाम-वंश) को पराजित किया। फिर 29 ज़िल-हिज्जा (22 जनवरी) को क़ाहिरा के पास अदानिया की जंग में पराजित किया।
- 923 हि॰/1518 ई॰ – अब्बासी ख़िलाफ़त का अन्त और उसमानी ख़िलाफ़त का आरम्भ।

- 927 हि॰/1521 ई॰ – 25 रमज़ान/ 29 अगस्त को बेलग्राद की फ़तूह, वेनिस टैक्सदाता बना।
- 929 हि॰/1522 ई॰ – 6 सफ़र/25 दिसम्बर को पाँच माह की घेराबन्दी के बाद एलाड्स फ़तूह हुआ।
- 932 हि॰/1526 ई॰ – 28 अगस्त को सुलैमान ने मोहाकज़-जंग में पराजित करके हंगरी पर क़ब्ज़ा कर लिया।
- 937 हि॰/1529 ई॰ – वियेना का पहला घेराव।
- 941 हि॰/1534 ई॰ – तबरीज़ पर सुलैमान का क़ब्ज़ा। 31 दिसम्बर को बग़दाद फ़तूह।
- 945 हि॰/1538 ई॰ – अदन पर तुर्कों का क़ब्ज़ा। प्रोवीसिया की समुद्री जंग में ख़ैरुद्दीन बारबरूसा ने यूरोप के संयुक्त बेड़े को पराजित किया। (सितम्बर)
- 954 हि॰/1547 ई॰ – ऑस्ट्रीया टैक्सदाता बना।
- 967 हि॰/1560 ई॰ – 14 मई को हरबा की समुद्री जंग में प्याला पाशा ने यूरोपीय बेड़े को पराजित किया।
- 973 हि॰/1565 ई॰ – माल्टा पर तुर्कों का हमला।
- 1571 ई॰ – 17 अक्तूबर को क़बरस पर तुर्कों का क़ब्ज़ा। लपांटो की जंग में तुर्की बेड़ा तबाह।
- 982 हि॰/1574 ई॰ – तूनिस पर तुर्कों का क़ब्ज़ा।
- 1583 ई॰ – दाग़िस्तान की फ़तूह।
- 1622 ई॰ – तुर्की में पहले ब्रिटानी राजदूत टामस रो का आगमण।
- 1623 ई॰ – बग़दाद पर ईरान का क़ब्ज़ा।
- 1635 ई॰ – अरीवान (आरमीनिया) पर तुर्कों का क़ब्ज़ा।
- 1638 ई॰ – बग़दाद ईरानियों से वापस ले लिया गया। (दिसम्बर)
- 1075 हि॰/1664 ई॰ – सेंट गोथर्ड की जंग में ऑस्ट्रीया ने तुर्कों को

पराजित किया। यह तुर्कों की पहली बड़ी पराजय थी।

- 1089 हि॰/1668 ई॰ – क्रीट पर तुर्कों का क़ब्ज़ा।
- 1672 ई॰ – पोडोलिया की फ़तूह।
- 1683 ई॰ – वियेना का दूसरा घेराव।
- 1098 हि॰/1687 ई॰ – 12 अगस्त को मुहाकज़ की दूसरी जंग, हंगरी तुर्कों के हाथ से निकल गया।
- 1696 ई॰ – रूस ने ओज़ोफ़ तुर्कों से छीन लिया।
- 1697 ई॰ – ज़ंता की जंग में तुर्कों की पराजय।
- 1110 हि॰/1699 ई॰ – 24 रजब/26 जनवरी को समझौता कार्लोविट्ज़ के अनुसार तुर्कों को हंगरी और कुछ अन्य क्षेत्रों पर ईसाई क़ब्ज़ा स्वीकार करना पड़ा।

अध्याय-16

मिल्लते-इस्लामिया का दिल—इस्तंबूल

1. शासन-व्यवस्था

उसमानी सल्तनत की शक्ति और स्थिरता का सबसे बड़ा क़ारण यह था कि इसकी राजनीतिक, प्रशासनिक एवं सैनिक व्यवस्था ठोस बुनियादों पर क़ायम थी। हालाँकि उस ज़माने की परम्परा के अनुसार उसमानी सल्तनत भी वंशानुगत उत्तराधिकार के आधार पर चलती थी। कोई लोकतांत्रिक व्यवस्था नहीं थी जिसके कारण कई बादशाह तानाशाह की तरह शासन करते थे, परन्तु वे सल्तनत के क़ानून के पाबन्द रहते थे। इस क़ानून के अनुसार बादशाह के बाद प्रधानमंत्री का स्थान था जिसे तुर्की में 'सदरे-आज़म' कहा जाता था। इसके बाद शैख़ुल-इस्लाम का पद था। शैख़ुल-इस्लाम दीनी (धार्मिक) मामलों की निगरानी के अतिरिक्त इस बात का भी ज़िम्मेदार था कि क़ानून इस्लामी शरीअत के अनुसार लागू किए जाएँ। अतः हुकूमत महत्वपूर्ण फ़ैसले करने से पूर्व शैख़ुल-इस्लाम की मंज़ूरी हासिल करती थी। इसके उदाहरण उसमानी सल्तनत के इतिहास में मौजूद हैं कि यदि कोई फ़ैसला शैख़ुल-इस्लाम के फ़तवे के विपरीत होता था, तो उसपर अमल नहीं किया जाता था। इस प्रकार उसमानी सल्तनत में बादशाह की स्वेच्छाचारिता में एक हद तक कमी आ गई थी।

क़ानून-नामा

क़ानून-नामा के अनुसार मुहम्मद फ़ातेह के बाद सबसे बड़ा लड़का गद्दी पर बैठ सकता था और गद्दी पर बैठते समय अपने सभी भाइयों को क़त्ल करा देता था। परन्तु सुल्तान अहमद प्रथम (1603 ई॰—1617 ई॰) के ज़माने में यह क़ानून बदल दिया गया और यह तय हुआ कि ख़ानदान का

सबसे वरिष्ठ (अधिक उम्र का) शहज़ादा बादशाह की मृत्यु के बाद गद्दी पर बैठे तथा अन्य शहज़ादों को उसके जीवनकाल तक गद्दी प्राप्त करने का अधिकार नहीं होगा। इन स्पष्ट क़ानूनों के कारण उसमानी सल्तनत में बादशाह के मरने के बाद शहज़ादों के बीच गृह-युद्ध और ख़ून-ख़राबा देखने को नहीं मिलता, जैसा कि अन्य मुस्लिम मुल्कों के इतिहास में देखा जा सकता है।

मुहम्मद फ़ातेह के क़ानून-नामे के अनुसार सल्तनत की बुनियाद चार स्तम्भों पर क़ायम थी–

(1) मंत्री-परिषद (2) फ़ौज के क़ाज़ी (3) न्यायपालिका (4) वित्तविभाग।

मंत्री-परिषद् में मंत्रियों की संख्या प्रायः सात हुआ करती थी–

(1) क़ाज़ी-ए-अस्कर अर्थात न्यायमंत्री (2) दफ़्तरदार अर्थात लेखामंत्री (3) निशानचीं अर्थात वित्तमंत्री (4) कप्तान पाशा (नौसेना-अध्यक्ष) (5) यनीचरी आग़ा (प्रतिरक्षामंत्री) (6) रईसुल-कुत्ताब (चीफ़ सेक्रेट्री), (7) मंत्री सदरे-आज़म अर्थात् प्रधानमंत्री

विभिन्न पदों पर काम करनेवाले लोगों को बाक़ायदा प्रशिक्षण दिया जाता था। प्रशिक्षण प्रायः शाही महल के एक भाग में दिया जाता था, जिसे 'अंदरून' कहा जाता था। पदाधिकारियों को प्रोन्नति के लिए एक प्रक्रिया से गुज़रना पड़ता था। सुलैमान क़ानूनी के ज़माने तक बादशाह स्वयं अपनी इच्छा से किसी व्यक्ति को प्रोन्नति देकर उच्च पद पर नहीं बैठा सकता था। परन्तु सुलैमान के बाद यह परम्परा समाप्त हो गई, और यह बात भी सल्तनत के पतन का एक कारण बनी।

बादशाह को प्रशासनिक मामले में सलाह देने के लिए एक कमिटी क़ायम थी जिसे 'दीवान' कहा जाता था। सभी मंत्री उस कमिटी के सदस्य होते थे। 'दीवान' की बैठक शाही महल 'तोपक़ापी सराय' के एक कमरे में आयोजित होती थी। बाद में इस कमरे का नाम भी दीवान पड़ गया। बैठक छुट्टी के दिनों के अतिरिक्त प्रत्येक दिन सुबह से तीसरे पहर तक चलती थी। शुरू में दीवान की अध्यक्षता बादशाह करता था, लेकिन बाद में

प्रधानमंत्री अध्यक्षता करने लगा और बादशाह ने बैठक में आना छोड़ दिया, और वह एक जालीदार खिड़की के पीछे बैठकर बैठक की कार्रवाई सुनने लगा। सुलैमान क़ानूनी के बाद यह तरीक़ा भी ख़त्म हो गया। और बादशाह ने बैठक में आना बिलकुल छोड़ दिया। 'क़ौजी बे' ने दीवान से बादशाह की इस अनुपस्थिति को सल्तनत के पतन के कारणों में से एक बताया है।

मुहम्मद फ़ातेह के बाद अब्दुल-मजीद के काल तक उसमानी सुल्तान 'तोपक़ापू सराय' में रहते थे। अब्दुल-मजीद 1269 हि०/1853 ई० में नवनिर्मित 'दोलमा-बाग़चे' नामी महल में, जो बासफ़ोरस-सागर के किनारे स्थित था, शिफ़्ट हो गया। सदरे-आज़म (प्रधानमंत्री) जिस मकान में रहता था, उसे पहले 'पाशा क़ापोशी' (पाशा का दरवाज़ा) कहा जाता था, बाद में उसे 'बाबे-आली' कहने लगे और यह नाम अन्तिम समय तक प्रचलित रहा। आगे चलकर बाबे-आली से तात्पर्य उसमानी सल्तनत हो गया।

प्रशासनिक व्यवस्था

प्रशासनिक दृष्टि से उसमानी सल्तनत में दो प्रकार के इलाक़े थे। एक वह जो प्रत्यक्ष रूप से उसमानी सल्तनत के अधीन होते थे और दूसरे मातहतवाले इलाक़े। क़ुरम (क्रीमिया), अफ़लाक़ (विलाचिया) बोग़दान (मोल्डाविया), अपरदेल (ट्रांस्लवानिया) यमन और हिजाज़ मातहतीवाली रियासतों की हैसियत रखते थे। इन मातहतीवाली रियासतों के स्थानीय हाकिमों को उसमानी उपाधि दी जाती थी और कभी-कभी उनमें उसमानी प्रतिनिधि भी रहते थे। हिजाज़ के अतिरिक्त ये सभी मातहतीवाले इलाक़े केन्द्रीय सरकार को ख़राज (टैक्स) देते थे, लेकिन हिजाज़ का पूरा बजट उसमानी सल्तनत ख़ुद प्रदान करती थी। वहाँ के हाकिम को 'शरीफ़' कहा जाता था। और उसकी नियुक्ति ख़ानदाने-रिसालत (मुहम्मद सल्ल० के ख़ानदान) में से होती थी। जो इलाक़े सीधे केन्द्रीय हुकूमत के अधीन थे वहाँ के हाकिम को वाली कहा जाता था। यूरोप के अधिकृत इलाक़े रोमीली कहलाते थे और उसका वाली 'बेग लरबे' कहलाता था। उसका मुख्यालय प्रायः अदरना होता था। इसी प्रकार एशिया-माइनर को अनातोलिया का नाम दिया गया था उसका वाली भी बेग लरबे कहलाता था। अनातोलिया के बेग

लरबे का मुख्यालय ताहिया था। क़ाज़ी-ए-असकर भी दो होते थे। एक रोमीली का और दूसरा अनातोलिया का। ये दोनों अपने-अपने इलाक़ों की अदालतों के प्रधान होते थे।

थलसेना और नौसेना

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है उसमानी दीवान या मंत्रीपरिषद् में फ़ौजों को भी प्रतिनिधित्व दिया गया था। 'यनीचरी' की फ़ौज का प्रतिनिधित्व यनीचरी आग़ा और नौसेना का प्रतिनिधित्व कप्तान पाशा या नौसेना-अध्यक्ष करता था। तुर्कों की थलसेना दुनिया की सबसे शक्तिशाली फ़ौज थी। इसमें विभिन्न विभाग थे। सबसे प्रमुख यनीचरी के पैदल-दस्ते थे जिसे दुनिया की पहली स्थायी फ़ौज माना जाता है। इसे बाक़ायदा तनख़्वाह मिलती थी और वह फ़ौजी बैरकों में रहती थी। इसे प्रशिक्षण भी दिया जाता था। प्रारम्भ में यनीचरी-फ़ौज में वैसे नौजवान भर्ती किए जाते थे जो ईसाइयों से ख़िराज के रूप में लिए जाते थे, फिर उनका प्रशिक्षण इस्लामी वातावरण में होता था। ईसाई आबादी के बच्चों को फ़ौज में भर्ती के इस तरीक़े को देवशरमा कहा जाता था। यनीचरी की फ़ौज तरक़्क़ी करके बड़े-बड़े पदों पर पहुँच सकते थे। शुरू-शुरू में सुल्तान स्वयं भी यनीचरी-सिपाही की हैसियत रखता था और लाईन में खड़े होकर तनख़्वाह प्राप्त करता था। थलसेना के अन्य विभाग थे—घुड़सवार, रज़ाकार सिपाही, आकिंजी या छापामार दस्ते एवं जागीरदारों की बेक़ायदा फ़ौज, जिन्हें ज़रूरत के समय बुलाया जाता था।

तुर्की नौसेना भी अपने ज़माने की प्रमुख शक्तिशाली नौसेना थी। अपने उत्थान काल में तुर्की नौसेना के पास तीन सौ जहाज़ थे। ये जहाज़ अपने आकार-प्रकार एवं विशेषताओं के आधार पर विशेष नामों जैसे—क़ाल्यून, क़ादरग़ा, क़ालींद, बाशतरदा और चेकीतरी से जाने जाते थे। क़ाल्यून उनमें सबसे बड़ा होता था और बादबान से चलता था। इसके दोनों किनारों पर तोपें लगी होती थीं और हर जहाज़ में दो हज़ार सिपाही एवं मल्लाह होते थे। नौसेना-अध्यक्ष को कप्तान-दरिया या कप्तान पाशा कहा जाता था। उससे कनिष्ठ पदाधिकारियों को रईस कहा जाता था।

यह थी प्रशासनिक व्यवस्था जो उसमानी सल्तनत की शक्ति एवं स्थिरता का कारण थी। इस्लामी दुनिया के अन्य भागों में हुकूमतें इतनी ठोस बुनियादों पर क़ायम नहीं थीं। यही कारण है कि वे जल्दी ख़त्म हो जाती थीं। परन्तु उसमानी सल्तनत अपनी ठोस शासन-व्यवस्था के कारण लगभग छह सौ साल क़ायम रही। मुसलमानों की कोई सल्तनत इनती लम्बी अवधि तक क़ायम नहीं रही।

हर इस्लामी मुल्क की तरह उसमानी सल्तनत में ग़ैर-मुस्लिम प्रजा के साथ अच्छा सुलूक किया जाता था। उन्हें पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त थी और उनसे सिर्फ़ जिज़या लिया जाता था। इसके बदले उन्हें जान-माल की सुरक्षा प्राप्त थी। और वे फ़ौजी सेवा से मुक्त रहते थे।

उद्योग-धंधे के क्षेत्र में उसमानी सल्तनत आत्म-निर्भर थी। यूरोप से विलासिता की चीज़ों के अतिरिक्त कोई चीज़ आयात नहीं की जाती थी। क़ालीन निर्माण एवं चीनी मिट्टी के बर्तन के उद्योग उसमानी सल्तनत के उल्लेखनीय उद्योग थे। इस काल में चित्रकला का भी विकास हुआ। परन्तु जिस कला में तुर्कों ने श्रेष्ठता प्राप्त की वह थी 'फन्ने-ख़त्ताती' (सुलेखन-कला, Calligraphy) अहमद शम्सुद्दीन क़ुरह हिसारी (1468 ई॰–1556 ई॰) सुलैमान क़ानूनी के काल के सबसे बड़े 'ख़त्तात' थे। सुलैमानिया और अन्य इमारतों पर उनके हाथ के लिखे हुए कतबे (शिला-लेख) आज भी देखे जा सकते हैं।

2. ख़िलाफ़त का मुख्यालय (राजधानी)–इस्तंबूल

महान शायर इक़बाल ने इस्तंबूल को, जिसका पुराना नाम क़ुस्तुनतुनिया (Constantinople) है, मिल्लते-इस्लामिया का दिल कहा है। इस्तंबूल को आज मिल्लते-इस्लामिया का दिल कहना सही हो या न हो, परन्तु उसमानी तुर्कों के ज़माने में यह शहर वास्तव में इस्लामी दुनिया का दिल था। इस शहर को मुसलमानों ने कई सौ साल की कोशिशों के बाद फ़त्ह किया था और जब यह फ़त्ह हो गया तो लगभग पाँच सौ साल तक इस्लामी दुनिया की सबसे शक्तिशाली सल्तनत की राजधानी बना रहा। उसमानी तुर्कों के

उत्थान के काल में यूरोप की बड़ी-बड़ी शक्तिशाली हुकूमतें इसकी श्रेष्ठता के आगे नतमस्तक रहीं, और जब उसमानी सल्तनत का पतन प्रारम्भ हुआ तो यह ढाई सौ साल तक यूरोप के हमलों से इस्लामी दुनिया की सुरक्षा का सबसे बड़ा केन्द्र बना रहा।

उसमान ख़ाँ के ज़माने में जब उसमानी तुर्कों ने अपनी छोटी-सी जागीर को बढ़ाकर एक रियासत का रूप दिया तो उन्होंने बरूसा को अपनी राजधानी बनाया, जो अनातोलिया के उत्तर-पश्चिमी भाग में स्थित है। 1361 ई॰ तक बरूसा ही उसमानियों की राजधानी रही। इसके बाद अदरना, (एडरयानोपल) जो यूरोप में है, राजधानी बनी, परन्तु बरूसा से उसमानी बादशाहों की दिलचस्पी ख़त्म नहीं हुई और वे इस ख़ूबसूरत शहर को, जो एक हरी-भरी पहाड़ी के दामन में आबाद है, बराबर तरक़्क़ी देते रहे। यहाँ उन्होंने मस्जिदें बनाईं, मदरसे और अस्पताल स्थापित किए, यहाँ तक कि मरने के बाद बहुत-से बादशाहों ने यहीं दफ़न होना भी पसंद किया। उसमानियों के उस दौर की बनाई हुई ख़ूबसूरत यादगारें आज भी इस शहर में मौजूद हैं। बरूसा से उसमानियों की यह दिलचस्पी 1451 ई तक बनी रही। इस साल मुहम्मद फ़ातेह ने क़ुस्तनतीनिया फ़त्ह करके उसे राजधानी घोषित किया। तब से 1924 ई॰ तक यानी पौने पाँच सौ साल इसकी यह हैसियत बरक़रार रही। उस ज़माने में इस शहर ने ऐसी तरक़्क़ी की कि सल्तनते-उसमानिया के सभी शहरों की चमक इसके आगे फीकी पड़ गई। इस्तंबूल आज भी तुर्की का सबसे बड़ा शहर है।

इस्तंबूल समुद्र की एक खाड़ी के किनारे, जो 'शाख़े-ज़रीन' कहलाती है, बड़ी ख़ूबसूरत जगह आबाद है। यहाँ तक कहा जाता है कि दुनिया में इससे ज़्यादा ख़ूबसूरत जगह नहीं है। जब यह शहर तुर्कों के क़ब्ज़े में आ गया तो उन्होंने इसके हर क्षेत्र में इसका विकास किया। मस्जिदें, मदरसे, अस्पताल, विश्राम-गृह, महल एवं अन्य आवश्यक इमारतें बहुत अधिक संख्या में बनाई गईं। ये इमारतें इतनी ख़ूबसूरत हैं कि पर्यटक आज भी कहते हैं कि प्राकृतिक सौंदर्य एवं मानव-तकनीक का इतना सुन्दर समायोजन और कहीं नहीं पाया जाता है। एक पर्यटक ने इस शहर का भ्रमण करने के बाद

लिखा—"यहाँ अभूतपूर्व प्राकृतिक सौंदर्य एवं मानव-तकनीक ने मिल-जुलकर शहर का रूप निखारा है। यहाँ क़ुदरत की अनुकम्पा एवं इनसान की कारीगरी जेब व गिरेबान की तरह एक दूसरे के क़रीब हैं। क़दम-क़दम पर बाग़-बग़ीचे ऐसा रंग जमा रहे हैं कि इसकी मिसाल बहुत कम मुल्कों में मिलेगी। और जब यादगार इमारतों का जाइज़ा लिया जाए, तब भी सोचना पड़ता है कि ऐसे शाहकार और किस जगह देखे जा सकते हैं। (यूरोपनामा-1, हकीम मुहम्मद सईद, पृ॰ 169-170)

इस्तंबूल की दर्शनीय ऐतिहासिक इमारतों में एक 'अयासूफ़िया' है। यह मुसलमानों से पहले रूमी-काल की इमारत है। पहले यह गिरजाघर के रूप में थी। मुहम्मद फ़ातेह ने शहर फ़तूह करने के बाद इसे मस्जिद में बदल दिया, और इसमें चार नोकदार मीनार लगाकर इसकी सुन्दरता में चार चाँद लगा दिए। ये ख़ूबसूरत नोकदार मीनार उसमानियों के वास्तुशिल्प की प्रमुख विशेषता है। आजकल इस इमारत में मस्जिद नहीं, अजाइबघर (म्यूज़ियम) है। मुहम्मद फ़ातेह ने शहर में मदरसे और अस्पताल भी बनवाए और दो बड़ी मस्जिदें भी बनवाईं जो जामे-अय्यूब एवं जामे-फ़ातेह कहलाती हैं। जामे-अय्यूब मशहूर सहाबी हज़रत अबू-अय्यूब अनसारी की याद में बनाई गई थी जो अमीर मुआविया (रज़ि॰) के ज़माने में क़ुस्तुनतुनिया के घेराव के समय इंतिक़ाल कर गए थे।

सनान

सुलैमान महान के ज़माने में इस्तंबूल अपने चरम पर पहुँच गया था, परन्तु शहर को सुन्दर इमारतों से सजाने में 'ख़ुवाजा सनान' (895 हि॰/1589 ई॰–986 हि॰/1678 ई॰) का बड़ा महत्वपूर्ण योगदान है। सनान बहुत प्रतिभावान थे। वे एक फ़ौजी होने के अतिरिक्त महान इंजीनियर भी थे। सुलैमान महान के ज़माने में उन्होंने बेलग्राद, रोड्स और हंगरी की फ़तूह में हिस्सा लिया, इसके बाद बादशाह ने उन्हें भवन-निर्माण के विभाग का चीफ़ बना दिया। अतः उन्होंने अपने ज़माने में तीन सौ से ज़्यादा इमारतें बनाईं, जिनका ब्यौरा निम्नलिखित है।

1. मस्जिदें – 131

2. मदरसे – 55

3. दारुल-क़ुरआन (वह जगह जहाँ क़ुरआन सिखाया जाता है।) – 7

4. अस्पताल – 3

5. मुसाफ़िर के लिए विश्राम-गृह – 13

6. सार्वजनिक मेस – 16

7. पुल – 8

8. छतदार नहरें – 7

9. हमाम (स्नानागार) – 33

10. महल – 34

11. वित्तीय भवन – 3

12. मक़बरे – 19

ये इमारतें यद्यपि पूरी सल्तनत में बनाई गई थीं परन्तु इनमें से अधिकतर राजधानी इस्तंबूल में बनाई गईं। सनान की बनाई हुई सबसे शानदार इमारत जामे-सुलैमानिया है जो इस्तंबूल की सबसे बड़ी एवं ख़ूबसूरत मस्जिद है और उसमानी वास्तुशिल्प का सबसे अच्छा नमूना है। ख़ुवाजा सनान को इस मस्जिद को बनाने का बड़ा गर्व था। वे कहते थे, "इस मस्जिद की तामीर से पहले मेरी हैसियत एक नौसिखिया की थी, परन्तु इस मस्जिद का निर्माण पूर्ण होने के बाद मैं अनुभव करता हूँ कि मैंने अपनी कला में निपुणता प्राप्त कर ली है। और अब वास्तव में मुझे वास्तुशिल्पकार कहा जा सकता है।" सनान के शिष्य भी बड़े योग्य साबित हुए। उनका सबसे अच्छा शिष्य यूसुफ़ भारत-पाक उपमहाद्वीप आ गया था। और यहाँ उसने अकबर के ज़माने में लाहौर, दिल्ली एवं आगरा में शानदार इमारतें बनाईं।

इस्तंबूल का बड़ा बाज़ार भी सुलैमान महान के ज़माने का है। यद्यपि इस बाज़ार की बुनियाद मुहम्मद फ़ातेह ने डाली थी परन्तु यह सुलैमान महान के काल में पूर्णतः बनकर तैयार हुआ। यह सम्पूर्ण बाज़ार छतदार है – आज

के ज़माने में ऐसे बाज़ारों को मार्केटिंग काम्पलेक्स कहा जाता है। यहाँ छोटी-बड़ी पाँच हज़ार दुकानें हैं जिनमें मामूली चीज़ों से लेकर बहुमूल्य और नायाब चीज़ें भी मिल सकती हैं। यह अपनी क़िस्म का दुनिया में सबसे बड़ा बाज़ार है और अपनी मोहकता एवं सुन्दरता के लिए सारी दुनिया में प्रसिद्ध है। जो पर्यटक भी इस्तंबूल आता है इस बाज़ार को ज़रूर देखता है। बाज़ार का नाम 'कपाली चारशी' है।

सुलैमान के बाद भी शहर में ख़ूबसूरत इमारतों का निर्माण हुआ। उनमें जामे-सुल्तान अहमद और 'बीनी-जामे' उल्लेखनीय हैं। जामे-सुल्तान अहमद ख़्वाजा सनान के एक शिष्य मुहम्मद आग़ा की बनाई हुई है और उसकी विशेषता यह है कि उसमें चार नहीं, छह मीनार हैं। इस मस्जिद में चूँकि नीले रंग के बहुत-सारे नक़्शे हैं और इस रंग का व्यापक इस्तेमाल हुआ, इसलिए उसे नीली मस्जिद भी कहा जाता है। 'बीनी-जामे' सुल्तान मुराद चतुर्थ की माँ की बनवाई हुई है। इस मस्जिद के केवल दो मीनार हैं परन्तु गुम्बद कई हैं। मस्जिद की प्रमुख विशेषता यह है कि नमाज़ी मस्जिद के आख़िरी किनारे में भी नमाज़ अदा कर रहा हो तब भी उसे इमाम की आवाज़ उसी प्रकार सुनाई देती है जिस तरह पहली सफ़ (पंक्ति) में खड़े होनेवालों को सुनाई देती है।

इस्तंबूल की ख़ूबसूरती और उसमानी सल्तनत की शक्ति एवं ठाट-बाट ने तुर्कों के अन्दर यह भावना पैदा कर दी थी कि दुनिया में कोई क़ौम उनका मुक़ाबला नहीं कर सकती और न दुनिया का कोई शहर इस्तंबूल का मुक़ाबला कर सकता है। एक बार सुल्ताने-आज़म ने अपने नौसेनाध्यक्ष सैयद अली को पुर्तगालियों को निकालने के लिए फ़ारिस की खाड़ी के इलाक़े में भेजा। पुर्तगालियों को पराजित करने के बाद उसके जहाज़ तूफ़ान में फंस गए और वह बड़ी मुश्किल से गुजरात के तट पर पहुँचा। वहाँ से सैयद अली अहमदाबाद, आगरा, दिल्ली, लाहौर, काबुल और ईरान होता हुआ इस्तंबूल पहुँचा। ईरान में वहाँ के बादशाह 'तहमासप सफ़वी' से भी उसकी मुलाक़ात हुई। बादशाह ने यह जानकर कि सैयद अली ने दुनिया के एक बड़े भूभाग की सैर की है, उससे पूछा, "बताओ तुम्हें कौन-सा शहर सबसे ज़्यादा पसन्द

है?" सैयद अली के लिए यह बड़ा कठिन प्रश्न था, क्योंकि ईरान एवं तुर्की पुराने प्रतिद्वंदी थे। ऐसी स्थिति में इस्तंबूल की प्रशंसा करना अपनी जान जोखिम में डालना था, परन्तु सैयद अली ने इसके बाद भी बड़ी निर्भीकता से उत्तर दिया, "मुझे इस्तंबूल सबसे ज़्यादा पसन्द है।"

"क्यों पसन्द है?" बादशाह ने फिर पूछा।

"इसलिए कि सारी दुनिया में कोई शहर इस्तंबूल की तरह नहीं, और न ही तुर्कों के मुल्क की तरह कोई दूसरा मुल्क है, न तुर्क-फ़ौज की तरह कोई फ़ौज है। हमारे बादशाह का भी मुक़ाबला कोई दूसरा बादशाह नहीं कर सकता।"

मुहम्मद फ़ातेह के ज़माने में इस्तंबूल की आबादी एक लाख थी, परन्तु सतरहवीं शताब्दी में शहर की आबादी पन्द्रह लाख तक पहुँच गई थी।

3. ज्ञान एवं साहित्य

इस्तंबूल केवल अपनी आबादी और सुन्दर इमारतों के कारण ही सर्वोत्कृष्ट नहीं था, बल्कि यह शहर उसमानी सल्तनत में ज्ञान एवं साहित्य का भी बड़ा केन्द्र बन गया था। सोलहवीं एवं सतरहवीं शताब्दी में विशेषकर इस्लामी दुनिया की बौद्धिक ज़िन्दगी में इसे वही हैसियत प्राप्त हो गई थी जो इससे पहले की दो सदियों में क़ाहिरा और हरात को प्राप्त थी। उसमानी बादशाहों ने हर बड़े शहर में मदरसे बनाए थे। इस्तंबूल में तो मदरसों की संख्या अनगिनत थी। जामे-फ़ातेह और जामे-सुलैमानिया मस्जिदों के साथ जो मदरसे बनाए गए थे, वे अपने समय की शिक्षा के सबसे बड़े संस्थान थे। उसमानी बादशाहों का यह नियम था कि वे जब कोई बड़ी मस्जिद बनवाते तो उसके साथ ही अस्पतालों, मदरसों एवं पुस्तकालयों के लिए भी भवन बनवाते थे। इस प्रकार इन सभी भवनों के समूह को 'कुल्लिया' कहा जाता था। इस्तंबूल, अदिरना एवं रमासिया में ये कुल्लिये अभी तक मौजूद हैं। अदिरना एवं रमासिया के कुल्लिये बायज़ीद द्वितीय के ज़माने में बनाए गए थे। उस ज़माने में भारत के मुस्लिम-काल में भी कई महान विद्वान पैदा हुए, परन्तु वे दिल्ली, लाहौर, आगरा और दूसरे शहरों में फैले थे। इसके

विपरीत उसमानी सल्तनत के विद्वान एवं धर्म-गुरुओं की अधिकतम संख्या इस्तंबूल में जमा हो गई थी।

ग़ज़नवी एवं सलजूक़ी काल से तुर्कों ने इस्लामी दुनिया के कई हिस्सों में बड़ी-बड़ी हुकूमतें क़ायम कीं, परन्तु उन्होंने अब तक हर जगह अरबी एवं फ़ारिसी भाषा की सरपरस्ती की थी। मध्य एशिया के तैमूरी बादशाहों के दौर में यद्यपि अली शेर नवाई और बाबर जैसे तुर्की भाषा के महान लेखक हुए, परन्तु प्रोत्साहन उन्होंने फ़ारिसी भाषा ही को दी। अनातोलिया में सलजूक़ियों के पतन के बाद जब विभिन्न तुर्क-रियासतें क़ायम हुई तो उनमें से एक फ़रामान की रियासत थी। इस रियासत के हुक्मरान ओग़लू मुहम्मद ने 1277 ई॰ में पहली बार तुर्की को सरकारी भाषा का दर्जा दिया। उसके बाद उसमानी काल में भी तुर्की को यही दर्जा प्राप्त था। पहले बरूसा उसके बाद अदिरना एवं इस्तंबूल तुर्की साहित्य के विकास के केन्द्र रहे। यहाँ तुर्की भाषा के शायरों एवं लेखकों को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। तुर्की के साथ-साथ उसमानी सल्तनत में अरबी एवं फ़ारिसी का प्रचलन भी बाक़ी रहा। धार्मिक एवं बौद्धिक किताबें अधिकतर अरबी में एवं ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा साहित्यिक किताबें अधिकतर तुर्की में लिखी जाती थीं। शायरी तुर्की एवं फ़ारिसी दोनों में की जाती थी। यही कारण है कि उस दौर में तुर्की के अधिकतर बड़े लेखक तीनों भाषा पर पूर्ण अधिकार रखते थे। कई लेखकों ने तो तीनों भाषाओं में किताबें भी लिखीं। सुल्तान सलीम प्रथम तुर्की के अतिरिक्त फ़ारिसी का भी अच्छा शायर था।

तुर्क-विद्वानों में सम्भवतः सबसे महान विद्वान शम्सुद्दीन मुहम्मद फ़न्नारी (751 हि॰–834 हि॰) हुए हैं। ये मुल्ला फ़न्नारी के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। वे तुर्की के पहले शैख़ुल-इस्लाम हैं। इस पद पर उन्हें सुल्तान मुराद द्वितीय ने नियुक्त किया था। तफ़सीर, फ़िक़्ह एवं मंतिक़ (तर्कशास्त्र) पर उन्होंने अरबी में कई किताबें लिखीं। उनके निजी पुस्तकालय में दस हज़ार किताबें थीं।

हाजी बैरम वली (753 हि॰/1352 ई॰–833 हि॰/1429 ई॰) मुल्ला फ़न्नारी के समकालीन थे। मुल्ला फ़न्नारी का मुख्यालय बरूसा था तो हाजी

बैरम वली का अनक़रा। वे तसव्वुफ़ के बैरामिया-सिलसिले के संस्थापक थे और तुर्की के प्रमुख सूफ़ी-संत में गिने जाते हैं। वे मेहनत-मज़दूरी करके अपनी आजीविका चलाते थे और दानशीलता के प्रचारक थे। उन्होंने पूरी ज़िन्दगी शरीअत के अनुसार गुज़ारी, परन्तु उनके बाद उनके कई मुरीद (शिष्य) गुमराह हो गए।

मशहूर विद्वान आक़ शम्सुद्दीन (1389 ई॰–1458 ई॰) हाजी बैरम के मुरीद थे। धार्मिक विषयों एवं चिकित्सा-विज्ञान पर उन्होंने कई किताबें लिखीं। इस्तंबूल की फ़त्ह के बाद उन्होंने ही मशहूर सहाबी हज़रत अबू-अय्यूब अनसारी की क़ब्र की निशानदही की थी। उन्हें भी तुर्की के सूफ़ी-संत में गिना जाता है।

ख़िज़्र बेग (810 हि॰/1407 ई॰–863 हि॰/1458 ई॰) एक प्रमुख विद्वान एवं शायर थे और उन्हें यह श्रेष्ठता प्राप्त है कि वे इस्तंबूल के प्रथम क़ाज़ी थे।

मुल्ला ख़ुसरो (मृत्यु-1480 ई॰) ख़िज़्र बेग के बाद इस्तंबूल के दूसरे क़ाज़ी और शैख़ुल-इस्लाम थे। फ़िक़्ह में उनकी दो किताबें 'दुर्रुल-हुक्काम' एवं 'मिरक़ात' बहुत अहम हैं। बाद में इनपर कई टीकाएँ एवं भाष्य लिखे गए।

कमाल पाशाज़ादा

प्रारम्भिक काल के लेखकों में सबसे प्रमुख व्यक्ति कमाल पाशाज़ादा (873 हि॰/1468 ई॰–941 हि॰/1535 ई॰) हैं जो इब्ने-कमाल के नाम से भी मशहूर हैं। कमाल पाशाज़ादा अरबी, फ़ारिसी एवं तुर्की में लगभग तीन सौ किताबों के रचयिता थे। वे एक बाकमाल शायर भी थे। सुलैमान क़ानूनी के ज़माने में वे शैख़ुल-इस्लाम बना दिए गए थे। वे कई प्रतिभाओं के धनी थे। तफ़सीर, हदीस, फ़िक़्ह, इतिहास, साहित्य एवं काव्य के क्षेत्र में पारंगत थे, और इन सभी विषयों पर उन्होंने किताबें लिखीं, परन्तु जिस किताब ने उन्हें तुर्की साहित्य-जगत् में उच्च स्थान दिलाया वह थी तारीख़े-आले-उसमान (उसमान-वंश का इतिहास)। इस पुस्तक में 886 हि॰ से 933 हि॰ तक

उसमानी सल्तनत का इतिहास वर्णित है। यह इतनी प्रमुख किताब है कि इसके कारण कमाल पाशाज़ादा को उसमानी क्लासिकी काल के पाँच सबसे बड़े इतिहासकारों में पहला स्थान प्राप्त है। उन्होंने मिस्र के इतिहासकार तफ़री बरदी के द्वारा रचित इतिहास का तुर्की में अनुवाद भी किया। साहित्य के क्षेत्र में उनकी रचना 'निगारिस्तान' विशेष उल्लेखनीय है। यह फ़ारिसी भाषा में है और शैख़ सअदी की 'गुलिस्तान' की शैली में लिखी गई है।

इबराहीम हलबी (मृत्यु-956 हि॰/1549 ई॰) सुलैमान क़ानूनी के काल के प्रमुख फ़क़ीह हैं। सुलैमान क़ानूनी के काल में क़ानून का संग्रह उन्हीं का संकलित किया हुआ था। उनकी किताब 'मुलतक़ीउल-बहूर' (अरबी) उसमानी सल्तनत में हनफ़ी मसलक (हनफ़ी विचारधारा) की प्रामाणिक एवं लोकप्रिय किताब थी। इबराहीम हलबी मशहूर सूफ़ी चिन्तक इब्ने-अरबी के विरोधी थे और उन्होंने उनके खण्डन में कई किताबें लिखीं।

अबू-सऊद

सुलैमान क़ानूनी के काल में सबसे महान विद्वान अबू-सऊद आफ़न्दी (896 हि॰/1490 ई॰–982 हि॰/1574 ई॰) हुए हैं। वे 952 हि॰/1545 ई॰ से अपनी मृत्यु तक शैख़ुल-इस्लाम के पद पर रहे। उनका सबसे बड़ा कारनामा उसमानी सल्तनत के क़ानून एवं शासन-व्यवस्था को इस्लामी शरीअत के अनुरूप ढालना है। उनके फ़तवे उस काल की आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थिति मालूम करने का एक अहम ज़रिया हैं। अबू-सऊद आफ़न्दी ने तुर्की, अरबी एवं फ़ारिसी तीनों भाषाओं में लिखा। उनकी तफ़सीरे-क़ुरआन 'इरशादुल-अक़्लिस-सलीम' एक शोधपरक तफ़सीर है। वे शायर भी थे। उन्होंने अपने पैतृक शहर एवं इस्तंबूल में कई मस्जिदें, मदरसे, पुल, सबीलें (प्याऊ) और हम्माम (स्नानागार) बनवाए।

पन्द्रहवीं शताब्दी के एक प्रमुख विद्वान बदरुद्दीन-बिन-क़ाज़ी समावना (760 हि॰/1358 ई॰–819 हि॰/1416 ई॰) भी हैं। वे लगभग पचास किताबों के रचयिता थे, जिनमें अधिकतर फ़िक़्ह पर और कुछ तसव्वुफ़ पर हैं। तसव्वुफ़ में उनकी सबसे अहम किताब 'वारदात' और 'नूरुल-क़ुलूब'

हैं। उन्होंने साझा स्वामित्व की आर्थिक अवधारणा का प्रचार किया और इब्ने-अरबी की मान्यता को प्रोत्साहन दिया। निर्धन लोग उनकी विचारधारा से प्रभावित हुए और 1416 ई॰ में तुर्की में एक बग़ावत हुई, जिसे इशतिराकी बग़ावत (साम्यवादी विद्रोह) कहा जाता है। यद्यपि इस बग़ावत से बदरुद्दीन का सम्बद्ध होना सिद्ध नहीं हो सका, परन्तु उनपर मुक़द्दमा चलाया गया और बग़ावत करने के जुर्म में उन्हें फाँसी दे दी गई।

हाजी ख़लीफ़ा

उसमानी तुर्कों के इतिहास में सबसे महान एवं विविध प्रतिभाओं से सम्पन्न व्यक्तित्व हाजी ख़लीफ़ा का है जिन्हें तुर्क कातिब चलीपी (1017 हि॰/1608 ई॰–1067 हि॰/1657 ई॰) के नाम से याद करते हैं। उनका सम्बन्ध फ़ौज से था और उन्होंने सोलहवीं शताब्दी की कई लड़ाइयों में भाग लिया। वे सुल्तान मुराद चतुर्थ के ज़माने में बग़दाद की फ़तूह में सम्मिलित थे। उसके बाद कातिब चलीपी ने हज किया और सरकारी नौकरी छोड़कर लेखन-कार्य में जुट गए। अरबी एवं तुर्की भाषा में बीस से अधिक ऐसी उच्च कोटि की किताबें लिखीं कि उनका नाम बौद्धिक संसार में अमर हो गया। जिस किताब ने उन्हें इस्लामी दुनिया में प्रसिद्धि दिलाई, वह थी 'कशफ़ुज़-ज़ुनून'। यह किताब बीस साल में पूरी हुई। इसमें उन सभी लेखकों एवं किताबों का उल्लेख है जो इस्लाम के प्रारम्भ से उनके ज़माने तक अरबी, फ़ारिसी एवं तुर्की में लिखी गई थीं। 'जहाँनुमा' के नाम से उन्होंने भूगोल पर भी एक किताब लिखी थी, जिसमें यूरोप के अतिरिक्त अमेरिका का भी उल्लेख है। उस समय तक इस्लामी दुनिया के ग़ैर-तुर्क भूगोलवेत्ता अमेरिका से अनभिज्ञ थे। उन्होंने पश्चिमी ज्ञान-स्रोत से भी लाभ उठाया और उसकी मदद से दुनिया का एक एटलस (मानचित्र) तैयार किया और उन्होंने यूरोप के इतिहास से सम्बन्धित एक पश्चिमी लेखक जॉन केरियन (John Carion) की किताब का तुर्की में अनुवाद भी किया। उनकी एक और अहम किताब 'तोहफ़तुल-किबार-फ़िस्सफ़ारिल-बहार' है जिसमें कातिब चलीपी ने तुर्कों की समुद्री जंगों का इतिहास लिखा है। एक किताब 'दस्तूरुल-अमल' उसमानी सल्तनत की वित्त-व्यवस्था पर है। 'मीज़ानुल-हक़्क़'

धार्मिक दृष्टिकोण से बहुत अहम किताब है। इसमें उन्होंने हज़रत ख़िज़्र (अलैहि०) की मौजूदगी की मान्यता, संगीत, नृत्य, मुहम्मद (सल्ल०) पर दुरूदो-सलाम, इब्ने-अरबी की विचारधारा एवं इसी प्रकार के अन्य विवादास्पद मसलों पर अपना दृष्टिकोण बहुत ही संतुलित अंदाज़ में स्पष्ट किया है। हाजी ख़लीफ़ा (कातिब चलीपी) की अन्य किताबें तफ़सीरे-क़ुरआन, फ़िक़्ह, इतिहास एवं महान लोगों की जीवनियों पर आधारित हैं। उनकी किताब 'फ़ज़ीलतुत्-तारीख़' इस्लामी इतिहास पर एक अहम किताब है जो लगभग तेरह सौ किताबों की मदद से लिखी गई है। यह किताब अरबी में है। बाद में उन्होंने इसमें तुर्की भाषा में एक पूरक परिशिष्ट जोड़ा। यह परिशिष्ट (Supplement) 1000 हि०/1591 ई०–1065 हि०/1655 ई० तक उसमानी सल्तनत के इतिहास का एक अहम स्रोत है।

तुर्की के पाँच महानतम इतिहासकारों में से कमाल पाशाज़ादा का उल्लेख पीछे हो चुका है। दूसरे एवं तीसरे स्थान के महान इतिहासकार क्रमशः ख़ुवाजा सअ्दुद्दीन (943 हि०/1536 ई०–1008 हि०/1599 ई०) और अली चलीपी भी उसी काल से सम्बन्ध रखते हैं। ख़्वाजा सअ्दुद्दीन की 'ताजुत्-तवारीख़' उसमानियों के प्रारम्भ से सलीम प्रथम की 1520 ई० में मृत्यु तक की अत्यन्त प्रामाणिक पुस्तक है। इस किताब की शैली अबुल-फ़ज़्ल की शैली की तरह आलंकारिक है।

मुस्तफ़ा अली चलीपी

मुस्तफ़ा अली चलीपी (948 हि०/1541 ई०–1008 हि०/1600 ई०) को कई लेखक सोलहवीं शताब्दी का सबसे बड़ा इतिहासकार मानते हैं। उनकी सबसे अहम रचना 'कुन्हुल-अख़बार' है। यह एक वृहत् इस्लामी इतिहास है, परन्तु इसका प्रमुख भाग तुर्कों के इतिहास से सम्बन्धित है। अली चलीपी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सामाजिक हालात पर भी दृष्टि डाली है और एक आलोचक का दृष्टिकोण अपनाया है। परन्तु निष्पक्षता एवं सच्चाई का दामन हाथ से नहीं छोड़ा है। उनकी एक और अहम किताब 'मुनाक़िब-हुनरदाँ' है जिसमें लगभग एक सौ ख़त्तातों (Calligraphers), मुसव्विरों (चित्रकार/मूर्तीकार) और जिल्दसाज़ों का विवरण है। उनकी रचना

'फ़ुसूलुल-हाल' इस्लामी दुनिया का संक्षिप्त इतिहास है और तुर्की भाषा की लोकप्रिय इतिहास-पुस्तक में गिनी जाती है।

उसमानी उत्थान काल के इतिहासकारों में अहमद-बिन-मुस्तफ़ा ताश कोपरोज़ादा (901 हि॰/1495 ई॰–968 हि॰/1561 ई॰) को भी नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। उन्होंने अपनी अरबी किताब 'शक़ायक़ुन-नुमानिया' में पाँच सौ बाईस तुर्क-विद्वानों का उल्लेख किया है। उनकी दूसरी अहम किताब 'मौज़ूआतुल-उलूम' भी अरबी में है और आर्ट (कला) एवं साइंस की एक बहुमूल्य इंसाइक्लोपीडिया है। ताश कोपरोज़ादा के पुत्र ने बाद में दोनों किताबों का तुर्की में अनुवाद किया।

मुनजिम बाशी (मृत्यु–1113 हि॰/1702 ई॰) द्वारा रचित अरबी इतिहास 'जामिउल-अव्वल' एक विश्व-इतिहास है। इसका अन्तिम एवं सबसे बड़ा अध्याय 1089 हि॰/1678 ई॰ तक उसमानी सल्तनत के इतिहास पर आधारित है। इस किताब का अनुवाद मुनजिम बाशी के समकालीन शायर नदीम ने 'सहाइफ़ुल-अख़बार' के नाम से तुर्की में किया।

एक और लेखक क़ौजी बे का नाम इस दृष्टि से तुर्की इतिहास में अहमियत रखता है। उसने एक लघु-पुस्तिका में, जो 'क़ौजी बे का रिसाला' कहलाता है, पहली बार उसमानी सल्तनत के पतन पर टिप्पणी की है। यह पुस्तिका उसने सुल्तान मुराद चतुर्थ की ख़िदमत में पेश की थी।

भौतिक शास्त्र एवं भूगोल

विज्ञान में भी तुर्कों ने कई अहम किताबें लिखीं। हालांकि ये किताबें अरबों के काल की किताबों के समकक्ष नहीं रखी जा सकतीं परन्तु ये इस बात का प्रमाण हैं कि तुर्कों ने इस क्षेत्र में भी ध्यान दिया। तुर्क-वैज्ञानिकों में एक क़ाज़ीज़ादा रूमी (1337 ई॰–1412 ई॰) हैं। वे गणितज्ञ एवं खगोलशास्त्री (Astronomer) थे। खगोलशास्त्र में उनकी किताब 'अल-मुलख़्ख़स-फ़िल-हैयत' बहुत अहम है। अली कोशजू (मृत्यु–1474 ई॰) भी एक प्रमुख गणितज्ञ थे और 'रिसाला-फ़िल-हैयत' के लेखक थे।

तुर्की ने औषधि-विज्ञान एवं चिकित्सा पर भी ख़ास ध्यान दिया।

उसमानी बादशाहों, गवर्नरों एवं प्रशासकों ने सल्तनत के सभी हिस्से में अस्पताल खोले। उनमें कुछ अस्पताल तो मेडिकल कॉलेज की हैसियत रखते थे अर्थात् वहाँ औषधि एवं चिकित्सा-विज्ञान की शिक्षा भी दी जाती थी। तुर्क- चिकित्सकों ने दिमाग़ी एवं आनुवांशिक बीमारियों पर नया शोध भी किया। आँखों की बीमारियों के इलाज में भी उन्हें विशेषज्ञता प्राप्त थी। तुर्क-चिकित्सकों में सम्भवतः सबसे प्रमुख व्यक्तित्व हाजी पाशा (मृत्यु—820 हि॰/1417 ई॰) का है। उन्होंने धार्मिक किताबों के अतिरिक्त अरबी और तुर्की में चिकित्सा-विज्ञान पर भी कई किताबें लिखीं। यह तथ्य कि विज्ञान एवं चिकित्साशास्त्र पर इतनी अहम किताबें चौदहवीं एवं पन्द्रहवीं शताब्दी में लिखी गईं यह दर्शाता है कि इन विद्याओं पर ध्यान अरबकाल के प्रभाव का परिणाम है। इसका कारण यह है कि उसके बाद तुर्की में शेष इस्लामी दुनिया की तरह इन विद्याओं पर कोई अहम किताब नहीं लिखी गई।

भूगोल एवं जहाज़रानी (जलपोतों) के विषय पर इस्लामी दुनिया में अन्तिम अहम किताबें भी इसी दौर में लिखी गईं। सुलैमान क़ानूनी के एक नाविक पीरी रईस (मृत्यु—1552 ई॰) ने 'बहरिया' के नाम से तुर्की भाषा में एक किताब लिखी जिसमें उसने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर एजन-सागर एवं रूम-सागर के समुद्री प्रवाहों, तटीय प्रदेशों, बन्दरगाहों एवं तट पर उतरने के लिए उचित स्थानों का विवरण प्रस्तुत किया है। पीरी रईस ने एक नक़्शा भी तैयार किया था जिसमें अमेरिका के पूर्वी तट एवं यूरोप-अफ़्रीक़ा के पश्चिम तट को दर्शाया गया था। उसी काल के एक अन्य नाविक सैयदी अली रईस (मुत्यु—970 हि॰/1562 ई॰) ने हिन्द-महासागर में नाविकों के मार्गदर्शन के लिए 'किताबुल-मुहीत' नामक पुस्तक लिखी है। उसमें उसने प्राचीन अरबी पुस्तकों से मदद लेने के अतिरिक्त अपने व्यक्तिगत अनुभवों का भी उल्लेख किया है। इस किताब में अमेरिका से सम्बन्धित भी एक अध्याय है। सैयदी अली ने खगोलशास्त्र पर भी दो किताबें लिखीं और 'मिरातुल-ममालिक' के नाम से एक संक्षिप्त सफ़रनामा भी लिखा, जिसमें गुजरात से दिल्ली होते हुए मध्य एशिया एवं इस्तंबूल तक की अपनी यात्रा का रोचक संस्मरण लिखा।

शायरी

उसमानी तुर्की शायरी अपनी विषयवस्तु, शिल्प एवं शैली के आधार पर फ़ारिसी शायरी से मिलती जुलती है। तुर्क-शायरों ने ग़ज़ल, मसनवी, क़सीदा, रुबाई एवं मर्सिया शायरी की सभी विधाओं पर क़लम चलाया है और अच्छा लिखा है। तुर्क-शायर साहित्यिक दृष्टि से अपने समकालीन भारतीय एवं ईरानी शायरों से किसी तरह कम नहीं थे। प्रारम्भिक शायरों में यूनुस इमरा (मृत्यु—1320 ई॰) अहमदी (मृत्यु—1413 ई॰) एवं नसीमी (मृत्यु—1418 ई॰) विशेष उल्लेखनीय हैं। ये सभी सूफ़ी शायर थे और तुर्की के प्रारम्भिक महान शायरों में इनकी गिनती होती है। इनके बाद उसमानी शायरी का क्लासिकी दौर शुरू होता है। इस दौर के पाँच सबसे बड़े शायर फ़ुज़ूली (मृत्यु—1556 ई॰), बाक़ी (1526 ई॰—1600 ई॰), नफ़ई (मृत्यु—1635 ई॰), नदीम (1681 ई॰—1730 ई॰) और शैख़ ग़ालिब (1757 ई॰—1799 ई॰) हैं। इनमें फ़ुज़ूली को तुर्की का सबसे बड़ा शायर समझा जाता है। फ़ुज़ूली की मसनवी 'लैला-मजनूँ और ग़ालिब की मसनवी 'हुस्नो-इश्क़' शिल्प, कथ्य एवं शैली की दृष्टि से तुर्की भाषा की महान रचना हैं। बाक़ी को तुर्की का सबसे बड़ा ग़ज़ल रचनाकार शायर और नफ़ई को तुर्की का सबसे बड़ा व्यंग्य कवि समझा जाता है। अन्य महान शायरों में ख़्याली (मृत्यु—1557 ई॰) को रूम का हाफ़िज़ कहा जाता है और नामी (मृत्यु—1712 ई॰) के बारे में कहा जाता है कि उसकी शायरी जज़्बात (भावना) से ज़्यादा ज़ेहन (बुद्धि) को अपील करती है। शैख़ी (मृत्यु—1428 ई॰), अहमद पाशा बरमुआली (मृत्यु—1497 ई॰), नजाक़ी (मृत्यु—1509 ई॰) और ज़ानी (मृत्यु—1546 ई॰) उस दौर के अन्य प्रमुख शायर हैं। फ़ारिसी शायरी का अनुकरण करते हुए तुर्की में भी ख़मसे (पाँच शेरों की एक विधा) बहुत लिखे गए। तुर्की के इन ख़मसानिगारों में सबसे कामयाब यहूया ताशली जाली (मृत्यु—1572 ई॰) हैं। वे हालाँकि एक फ़ौजी थे परन्तु शायरी में भी धाक बैठा दी थी। उनकी पाँच मसनवियों में से दो 'शाह व गदा' एवं 'यूसुफ़ व ज़ुलैख़ा' अपनी अलग पहचान एवं अनोखी उद्‌भावनाओं के कारण सबसे प्रमुख हैं।

औलिया चलीपी

उस काल के एक अन्य विद्वान औलिया मुहम्मद चलीपी (1611 ई०–1683 ई०) हैं। वे हाजी ख़लीफ़ा के समकालीन थे और उसमानी तुर्कों की परम्परा के अनुसार तलवार के धनी भी थे और क़लम के सिपाही भी। खुवाजा सिनान और हाजी ख़लीफ़ा की तरह उन्होंने भी जंगों में हिस्सा लिया और फ़ौजी सेवाओं से जुड़े रहे। क्रीट, हंगरी और ऑस्ट्रीया की लड़ाइयों में सम्मिलित रहे।

औलिया चलीपी ने बड़ी बेचैन तबीयत पाई थी। यदि जंग का मैदान नहीं तो दुनिया-जहान की सैर होनी चाहिए। यही कारण है कि उन्होंने अपनी उम्र के चालीस साल सैर-सपाटे में गुज़ार दिए और इब्ने-बतूता की तरह मौत ने ही उनकी सैर पर विराम लगाया। पहले तो औलिया ने इराक़ से मिस्र तक और हंगरी से हिजाज़ (अरब-प्रायद्वीप) तक पूरी सल्तनते उसमानिया की सैर की। इसके बाद वे वियेना (ऑस्ट्रिया) के रास्ते यूरोप के सफ़र पर रवाना हुए। जर्मनी एवं मध्य यूरोप की सैर करते हुए फ़्रांस की बन्दरगाह डंकर्क तक गए। इसके बाद पूरब का रुख़ किया और स्वीडेन, पोलैण्ड एवं रूस होते हुए साढ़े तीन साल की यात्रा के बाद क्रीमिया पहुँचे।

औलिया चलीपी ने अपनी इन यात्राओं के अनुभवों को एक यात्रा-वृत्तांत के रूप में लिखा है। यह यात्रा-वृत्तांत तुर्की भाषा का एक प्रतिमान है। इस सफ़रनामे में औलिया ने हर देश के हालात, रस्मो-रिवाज एवं अन्य रोचक जानकारियों का सजीव चित्रण किया है।

औलिया चलीपी मुसलमानों के उत्थान काल के अन्तिम बड़े पर्यटक हैं। सतरहवीं सदी में इस्तंबूल के हालात और वहाँ के नागरिकों के जीवन का हाल औलिया ने जिस विस्तार के साथ लिखा है, ऐसा किसी ने नहीं लिखा।

उसमानी सल्तनत के अन्य भागों में जो प्रमुख विद्वान थे उनमें से एक इब्ने-हजर मक्की (मृत्यु—974 हि०/1565 ई०) हैं जो मक्का में थे और बहुत बड़े फ़क़ीह थे। शाफ़िई मसलक पर उनकी किताबें बहुत अहम हैं। शाम (सीरिया) में अब्दुल-वह्हाब शेरानी (मृत्यु—973 हि०/1565 ई०) अपने दौर

के मशहूर वली थे। तफ़सीर, फ़िक़्ह, तसव्वुफ़ (सूफ़ीवाद), इतिहास, अरबी व्याकरण, चिकित्सा आदि पर कई महत्वपूर्ण किताबें लिखीं जो आज भी उच्च कोटि की समझी जाती हैं। अहमद अल-मुक़री (मृत्यु—1041 हि०/1622 ई०) शाम (सीरिया) के प्रमुख इतिहासकार थे। अन्दलुस (स्पेन) के इतिहास, वहाँ की सामाजिक स्थिति, उद्योग-धंधे एवं ज्ञान-कला पर उनकी किताब 'नफ़हुत-तय्यिब' एक उच्च कोटि की इतिहास-रचना है जिसका उर्दू-संक्षेपण प्रकाशित हो चुका है। (अगले क्रम के लिए देखें : अध्याय-33)

अध्याय-17

आधी दुनिया : इस्फ़हान

1. ईरान की सफ़वी सल्तनत (1500 ई॰–1722 ई॰)

तैमूरियों के बाद ईरान में जिस हुकूमत को उत्थान प्राप्त हुआ वह सफ़वी सल्तनत कहलाती है। इस हुकूमत का संस्थापक शाह इसमाईल एक बुज़ुर्ग शैख़ इसहाक़ सफ़ीउद्दीन (मृत्यु—1334 ई॰) का वंशज था। अतः उन्हीं बुज़ुर्ग के नाम पर यह वंश सफ़वी वंश कहलाता है। शैख़ सफ़ीउद्दीन के बारे में दावा किया जाता है कि वे इमाम मूसा काज़िम की औलाद में से थे जो शिया मत की एक शाखा इसना-अशअरी के सातवें इमाम हैं। परन्तु इस दावे का कोई सुबूत नहीं है। यह वंश मूलतः तुर्की नस्ल का था। शैख़ सफ़ीउद्दीन एवं उनके पुत्र सदरुद्दीन सुन्नी-मत के माननेवाले थे, परन्तु उनके पोते ख़्वाजा अली ने शिया-मत अपना लिया था। मुहम्मद (सल्ल॰) के ख़ानदान से सम्बन्ध रखने के कारण शैख़ सफ़ीउद्दीन के परिवार का लोगों में बड़ा सम्मान था। तैमूर ने बायज़ीद उसमानी पर फ़त्ह पाने के बाद ख़ुवाजा अली (1392 ई॰–1427 ई॰) को आज़रबाइजान में उरदबेल-शहर एवं उसके आसपास के इलाक़े दे दिए थे। बाद में ख़ुवाजा अली के पोते शैख़ जुनैद (1447 ई॰–1456 ई॰) और पर-पौत्र शैख़ हैदर (1456 ई॰–1488 ई॰) ने एकान्तवास छोड़कर तलवार सम्भाल ली। ये दोनों शरवान के शाह से जंग करते हुए मारे गए।

शाह इसमाईल

तैमूरियों के पतन के बाद सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में ईरान लगभग दस छोटी-छोटी हुकूमतों में बँट गया था। उनमें सबसे शक्तिशाली हुकूमत आक़ क़ोयूनलू के तुर्कमानों की हुकूमत थी और तबरीज़ से दयारेबकर तक

का इलाक़ा उनके क़ब्ज़े में था। शाह इसमाईल जिस समय तख़्त पर बैठा, उसकी उम्र अपने समकालीन बाबर की तरह मात्र तेरह साल थी, परन्तु उसने कम उम्री के बाद भी हालात का मुक़ाबला असाधारण बुद्धि एवं वीरता से किया। बाकू और शरवान को फ़तूह करने के बाद शाह इसमाईल ने 1499 ई० में तबरीज़ पर क़ब्ज़ा करके आक़ क़ोयूनलू की हुकूमत का अन्त कर दिया।

1503 ई० तक इसमाईल ने दक्षिण में शीराज़ और यज़्द तक, पूरब में इस्तरायार तक तथा पश्चिम में बग़दाद एवं मोसल तक अपनी सल्तनत की सीमा का विस्तार कर लिया। हरात में तैमूरी हुक्मरान हुसैन बायक़रा की मृत्यु के बाद शैबाई ख़ान उज़बेक हरात और ख़ुरासान पर क़ाबिज़ हो गया था। 916 हि०/1510 ई० में मर्व के निकट ताहिराबाद में शैबाई ख़ान और इसमाईल में घमासान का युद्ध हुआ जिसमें उज़बेकों को पराजित होना पड़ा और शैबाई ख़ान मारा गया। उज़बेकों की पराजय के बाद ख़ुरासान भी इसमाईल के क़ब्ज़े में आ गया। अब वह ईरान, इराक़ और शरवान का अकेला बादशाह था और उसकी शक्ति अपनी चरम सीमा को पहुँच गई थी।

इन सफलताओं से शाह इसमाईल में घमंड आ गया था। उसने एक उसमानी शहज़ादे मुराद को अपने यहाँ पनाह दी और सुल्तान सलीम उसमानी का तख़्ता पलटकर उसकी जगह शहज़ादा मुराद को गद्दी पर बैठाने का प्रयास करने लगा। शाह इसमाईल की इस अदूरदर्शिता ने उसे सुल्तान सलीम का प्रतिद्वंद्वी बना दिया। ईरान एवं तुर्की की वर्तमान सीमा पर तुर्की की सीमा के अन्तर्गत एक स्थान चालदरान के पास 920 हि०/1514 ई० में दोनों में विनाशकारी जंग हुई। ईरानियों ने बड़ी वीरता से तुर्कों का मुक़ाबला किया। तुर्कों के विशाल सैन्य बल, तोप, आधुनिक हथियार एवं सुल्तान सलीम की कुशल सैन्य क्षमता के सामने ईरानियों की एक न चली, और उन्हें बुरी तरह पराजित होना पड़ा। 25 हज़ार ईरानी सैनिक मारे गए और शाह इसमाईल को घायल होकर मैदान छोड़कर भागना पड़ा। सुल्तान सलीम ने आगे बढ़कर राजधानी तबरीज़ पर भी क़ब्ज़ा कर

लिया। सलीम की वापसी पर तबरीज़ और आज़रबाइजान तो सफ़वी सल्तनत को वापस मिल गए, परन्तु दयारेबकूर और पूर्वी अनातोलिया के प्रान्त हमेशा के लिए सफ़वियों के हाथ से निकल गए।

इसमाईल सफ़वी से ईरान में एक नए दौर का आग़ाज़ होता है जिसे ईरान का शिया-दौर कहा जा सकता है। इससे पहले ईरान के कुछ भूभाग पर शिया-ख़ानदान कभी-कभी हुक्मरान रहे थे। ईरान के कई बादशाह भी ऐसे हुए जो शिया-मत के माननेवाले थे, जैसे ख़ाज़ान ख़ाँ और ओलजाइतू, परन्तु ईरान में अधिकतर सुन्नी हुक्मरानों का शासन रहा था। और सरकारी धर्म के रूप में मान्यता सुन्नी-मत को ही थी। लेकिन शाह इसमाईल ने तबरीज़ पर क़ब्ज़ा करने के बाद शिया-मत को ईरान का सरकारी धर्म घोषित किया और मुहम्मद (सल्ल॰) के कुछ सहाबी के ख़िलाफ़ नफ़रत फैलाने लगा। उस समय तबरीज़ की दो तिहाई आबादी सुन्नी-मत को माननेवाली थी और शिया अल्पसंख्यक थे। ख़ुद शिया-मत के उलमा (विद्वानों) ने इस फ़ैसले का विरोध किया लेकिन इसमाईल शाह ने जवानी के जोश और अपनी विचारधारा के प्रेम से वशीभूत होकर विद्वानों के मशवरों को रद्द कर दिया और तलवार के ज़ोर से अपनी बात मनवाने लगा।

शाह इसमाईल सफ़वी ने केवल शिया-मत को ईरान का सरकारी धर्म ही घोषित नहीं किया, बल्कि उसने शिया-मत के प्रचार-प्रसार के लिए हिंसा एवं भेदभाव का सुबूत भी दिया। लोगों को शिया-मत स्वीकार करने के लिए मजबूर किया गया, बड़ी संख्या में विद्वानों, उलमा को क़त्ल किया गया जिसके कारण हज़ारों लोगों ने ईरान छोड़ दिया।

शाह इसमाईल की फ़ौज क़ज़लबाश कहलाती थी। इसकी वजह यह थी कि इसमाईल के बाप हैदर ने अपने अनुयायियों के लिए लाल रंग की एक विशेष टोपी धारण करने का आदेश दिया था जिसमें बारह इमामों को इंगित करने के लिए बारह कंगूरे होते थे। टोपी का रंग चूँकि लाल होता था इसलिए तुर्की में इन्हें क़ज़लबाश यानी लाल टोपीवाले कहा गया।

ईरान की भाषा हालाँकि फ़ारिसी है, परन्तु आज़रबाइजान की अधिकतर संख्या तुर्की बोलती है, अतः शाह इसमाईल की भाषा भी तुर्की थी। वह तुर्की

भाषा का शायर भी था और ख़ताई तख़ल्लुस (उपनाम) करता था। उसकी शायरी में तसव्वुफ़ का रंग और अहले-बैत की मुहब्बत पाई जाती है। तुर्की भाषा की सूफ़ी-शायरी में उसे अहम स्थान प्राप्त है। इस्तंबूल से उसका तुर्की दीवान (एक शायर की शायरी का सम्पूर्ण संग्रह) प्रकाशित हो चुका है।

तहमासप (1524 ई०–1576 ई०)

इसमाईल सफ़वी का लड़का तहमासप जब गद्दी पर बैठा तब उसकी उम्र मात्र दस साल थी। उसका काल अस्थिर काल था। 1525 ई०–1540 ई० तक खुरासान उज़बेकों के हमलों का निशाना बना रहा। इस अवधि में शैनबाई ख़ान के लड़के जुनैद ख़ान ने छह हमले किए, जिनसे हरात एवं मशहद आदि शहरों को बहुत नुक़सान पहुँचा। पश्चिम में इराक़ को तुर्कों ने ईरानियों से छीन लिया और तबरीज़ एवं हमदान पर तुर्क कई वर्षों तक क़ाबिज़ रहे। इन तमाम हमलों के बावजूद यह तहमासप एवं ईरानियों की योग्यता एवं वीरता का प्रमाण है कि उन्होंने विपरीत परिस्थियों में भी शेष ईरान में शान्ति-व्यवस्था बनाए रखी, साथ ही जॉर्जिया या गिरजिस्तान के ईसाइयों के ख़िलाफ़ सात चढ़ाइयाँ कीं और गिरजिस्तान पर ईरानी क़ब्ज़ा बरक़रार रखने में सफल रहे।

उस काल की एक उल्लेखनीय घटना यह है कि इंग्लैण्ड ने उसमानी तुर्कों के मुक़ाबले में ईरान का सहयोग प्राप्त करना चाहा और उत्तरी मार्ग से ईरान के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। इसी उद्देश्य से जब महारानी एलीज़ाबेथ ने एक इंग्लैण्डवासी को पत्र देकर तहमासप के पास भेजा तो बादशाह ने यह कहकर प्रस्ताव को ढुकरा दिया कि "हम काफ़िरों से दोस्ती नहीं करना चाहते।" यह शाह तहमासप का ही ज़माना था जब बाबर के पुत्र हुमायूँ को शेर शाह ने हिन्दुस्तान से निकाल दिया था, और उसे 1543 ई० में ईरान में ही पनाह लेनी पड़ी थी। तहमासप ने उसकी ख़ूब आवभगत की और सैनिक सहायता प्रदान की। उसी के सहयोग से हुमायूँ पुनः दिल्ली की अपनी सल्तनत पर क़ाबिज़ होने में सफल हुआ।

तबरीज़ पर उसमानी क़ब्ज़ा हो जाने के कारण तहमासप ने क़ज़वीन को अपनी राजधानी बनाया था। तहमासप उन मुसलमान हुक्मरानों में से है

जिन्होंने पचास साल से ज़्यादा हुकूमत की।

तहमासप के उत्तराधिकारियों शाह इसमाईल द्वितीय और मुहम्मद खुदाबन्दा का काल विशेष उल्लेखनीय नहीं है। उनमें से कोई भी तहमासप जैसी क्षमता एवं योग्यता का मालिक नहीं था। उनके ज़माने में खुरासान उज़बेकों के और पश्चिम ईरान उसमानियों के हमलों का निशाना बना रहा तथा देश के अन्दर भी अशान्ति रही।

अब्बास महान (1587 ई०–1629 ई०)

अब्बास महान का काल सफ़वी ख़ानदान का स्वर्णिम काल है। मुहम्मद खुदाबन्दा के बाद जब वह ईरान के तख़्त पर बैठा तब उसकी उम्र मात्र सतरह वर्ष थी। ईरान के उत्तर-पश्चिमी हिस्सों पर उसमानी तुर्क क़ाबिज़ थे और पूरब में खुरासान उज़बेकों के क़ब्ज़े में था अथवा उनकी लूटमार का शिकार बना हुआ था। देश के अन्दर भी अशान्ति थी और प्रान्तीय गवर्नर भी बाग़ी बने हुए थे। अब्बास ने इन परिस्थितियों का बड़ी कुशलता एवं बुद्धिमानी से मुक़ाबला किया। उसने सबसे पहले तुर्कों से समझौता कर लिया और आज़रबाइजान, गिरजिस्तान और लरिस्तान का एक हिस्सा तुर्कों के हवाले कर दिया। शाह इसमाईल के ज़माने से ईरान में सहाबा को अपमानित करने की जो कुप्रथा चली आ रही थी, उसको भी बन्द कराया और एक प्रकार से उसमानी तुर्कों को एक हद तक संतुष्ट कर दिया। पश्चिम सीमा से निश्चिंत होने के बाद शाह अब्बास ने खुरासान पर ध्यान दिया। उज़बेकों का शक्तिशाली शासक अब्दुल्लाह ख़ान 1598 ई० में मर चुका था, इसलिए शाह अब्बास ने उसी साल हमला करके आसानी से उज़बेकों को खुरासान से निकाल दिया और इस प्रकार सफ़वी सल्तनत की सीमा हरात एवं मर्व तक फैल गई।

सैन्य सफलताएँ

पूर्वी सीमा की सुरक्षा सुदृढ़ करने के बाद शाह अब्बास ने तर्कों से मुक़ाबला करने की तैयारी शुरू कर दी। उसने तुर्कों की फ़ौज 'यनीचरी' की तरह एक फ़ौज तैयार की जो 'शाह-सोरन' कहलाती थी। इस फ़ौज में

गिरजिस्तान और आरमीनिया के नव-मुस्लिमों को बहाल किया। फिर भी उसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी तोपख़ाने का अभाव थी। उस समय जबकि सारी दुनिया में तोपों का प्रचलन था, और ख़ुद ईरान के पश्चिम में उसमानी तुर्क और पूरब में दिल्ली के मुग़ल बादशाह जंगों में तोपें इस्तेमाल कर रहे थे, ईरानी फ़ौज अभी तक इस अहम जंगी हथियार से वंचित थी। पश्चिमी राष्ट्र सलीबी जंगों के समय से ही इस रणनीति पर काम कर रहे थे कि मध्यपूर्व की शक्तिशाली मुस्लिम हुकूमतों का ज़ोर तोड़ने के लिए अन्य प्रतिद्वंदी मुस्लिम हुकूमतों का सहयोग प्राप्त करें। इस उद्देश्य से उन्होंने मिस्र के ममलूकों (गुलाम वंश) और तुर्की के उसमानियों के ख़िलाफ़ मंगोलों, बातनियों और आक़ कोयूनलू तुर्कों का सहयोग प्राप्त करने की कोशिश की और अब वे उसमानी तुर्कों का ज़ोर तोड़ने के लिए ईरान की सफ़वी हुकूमत का सहयोग प्राप्त करना चाहते थे। तहमासप के ज़माने मे महारानी एलिज़ाबेथ इस उद्देश्य में असफल हुई थीं, परन्तु शाह अब्बास के ज़माने में उन्हें इस मक़सद में अच्छी सफलता मिली। 1599 ई॰ में दो अंग्रेज़ बंधु सर एंथनी शर्ले एवं राबर्ट शर्ले तुर्कों के विरुद्ध ईसाई गठबंधन को मज़बूत करने के उद्देश्य से ईरान से सहयोग प्राप्ति हेतु एवं ईरान तथा यूरोप के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध बहाल करने के लिए ईरान आए। शाह अब्बास ने उनसे कोई समझौता तो नहीं किया, परन्तु ईरानी फ़ौज को आधुनिक हथियारों से लैस करने में उनसे मदद ली। उन अंग्रेज़ों ने ईरान में तोप निर्माण का उद्योग शुरू किया और ईरानी फ़ौज में भी तोपख़ाने आ गए। जब ईरानी फ़ौज आधुनिक हथियारों एवं तोपों से लैस हो गई तो शाह अब्बास ने 1602 ई॰ में ठीक उस समय जबकि उसमानी तुर्क ऑस्ट्रीया से युद्धरत थे, हमला कर दिया और तबरीज़, शरवान एवं बग़दाद वापस छीन लिया। 1622 ई॰ में इंग्लैण्ड के बेड़े की मदद से शाह अब्बास ने पुर्तगालियों से हुरमुज़ बन्दरगाह ले लिया और फ़ारिस की खाड़ी में एक नई बन्दरगाह बनाई जो आज तक बन्दरे-अब्बास कहलाती है। उसी साल शाह अब्बास ने दिल्ली की तैमूरी (मुग़ल) सल्तनत से क़ंधार छीन लिया।

सफ़वी दौर बौद्धिक विकास की दृष्टि से बंजर दौर है, परन्तु शाह

अब्बास के ज़माने में ज्ञान-साहित्य के मैदान में थोड़ी-सी ज़िन्दगी नज़र आती है। उसके दरबारी विद्वानों में मीर मुहम्मद बाक़र उल्लेखनीय है। प्रकृति का अध्ययन एवं दर्शनशास्त्र में उनकी रुचि थी। बहाउद्दीन आमली और सदरुद्दीन शीराज़ी भी, जो मुल्ला सदरा के नाम से मशहूर हैं, उस दौर के अहम विद्वानों एवं साहित्यकारों में गिने जाते हैं। मुल्ला सदरा की दर्शनशास्त्र पर मशहूर किताब 'असफ़ार-अरबा' का उर्दू अनुवाद चार खण्डों में हुआ है, परन्तु दर्शनशास्त्र की उनकी किताबें उतनी सारगर्भित नहीं हैं।

इस्फ़हान

शाह अब्बास के ज़माने में ललित कलाओं ने, विशेषकर स्थापत्य कला एवं चित्रकला ने, बहुत तरक़्क़ी की। राजधानी इस्फ़हान को बड़ी तरक़्क़ी दी गई और शानदार इमारतें बनाई गईं। प्रारम्भ में सफ़वियों की राजधानी तबरीज़ थी, परन्तु वह हमेशा उसमानियों के निशाने पर रहता था इसलिए अब्बास महान ने ईरान के मध्य क्षेत्र में स्थित इस्फ़हान को राजधानी बनाया। इस्फ़हान की आबो-हवा बड़ी स्वास्थ्यवर्द्धक थी।

अब्बास महान ने इसे इतना विकसित किया कि लोग इसे इस्फ़हान निस्फ़ जहान (आधी दुनिया) कहने लगे। उस ज़माने में इस्फ़हान की आबादी पाँच लाख के लगभग थी। यह कोई बड़ी आबादी नहीं थी। बग़दाद, क़ुरतबा (Cardova) और तबरीज़ का हाल हम पढ़ चुके हैं। वे सभी इस्फ़हान से ज़्यादा बड़े शहर थे और जिस ज़माने में इस्फ़हान को निस्फ़ जहान अर्थात् आधी दुनिया कहा जाता था उस ज़माने में भारत एवं यूरोप में भी ऐसे बड़े-बड़े शहर बन गए थे जो इस्फ़हान के बराबर अथवा उससे बड़े थे। ऐसी स्थिति में इस्फ़हान को आधी दुनिया कहना अजीब-सी बात है, फिर भी हम यही कहेंगे कि ईरानी ठीक ही कहते थे। कारण यह था कि एक तो आबो-हवा की दृष्टि से इस्फ़हान बड़ी अच्छी जगह है। इस दृष्टि से दुनिया के कम ही शहर इसका मुक़ाबला कर सकते हैं। दूसरे यह कि इस्फ़हान बड़ी ख़ूबसूरती से आबाद किया गया था। तीसरे, जैसी शानदार इमारतें यहाँ थीं वैसी कुस्तनतीनिया और क़ाहिरा को छोड़कर अन्य शहरों में नही थीं। दिल्ली, लाहौर, आगरा की शानदार इमारतें अभी बनी नहीं थीं।

अब्बास महान ने इस्फ़हान में जो इमारतें बनवाई थीं उनमें जामा-मस्जिद, चालीस खम्भोंवाला महल, ज़िन्दारूद-नदी के दो पुल और चहारबाग़ बहुत मशहूर हैं। ये इमारतें आज भी इस्फ़हान की सबसे ज़्यादा भव्य इमारतें हैं।

शाह अब्बास हालांकि एक सफल और प्रतिभाशाली बादशाह था, परन्तु 'आज़म' (महान) जैसा आलंकारिक शब्द उसे शोभा नहीं देता। वह एक अतिवादी एवं शक्की मिज़ाज बादशाह था, उसने मात्र शक के आधार पर अपने एक लड़के को क़त्ल करा दिया और दो को अंधा बना दिया। इतिहासकारों ने लिखा है कि उसके दौर में पाँच सौ जल्लाद लोगों को मौत की सज़ा देने के लिए हमेशा तैयार रहते थे। वह विशुद्ध रूप से एक तानाशाह और अत्याचारी था।

अब्बास के बाद सफ़वी ख़ानदान में चार हुक्मरान और हुए। अब्बास का उत्तराधिकारी शाह सफ़ी (1629 ई०–1641 ई०) बड़ा अत्याचारी और क्रूर था। उसके काल में 1634 ई० में बग़दाद पर तुर्कों ने और 1638 ई० में क़ंधार पर दिल्ली के तैमूरियों (मुग़लों) ने क़ब्ज़ा कर लिया। यद्यपि खुरासान पर उज़बेकों के हमले को उसने सफलता से दबा दिया।

अब्बास द्वितीय (1641 ई०–1668 ई०) के काल में ईरान में पुनः खुशहाली लौटी। प्रजा के साथ उसका व्यवहार न्यायसंगत था। उसने 1649 ई० में क़ंधार पुनः वापस ले लिया। उसका उत्तराधिकारी सुलैमान (1668 ई०–1694 ई०) अपने बाप की पॉलिसी पर चलता रहा। और उसका काल सफ़वी काल का अन्तिम शान्तिपूर्ण काल था।

सुलैमान के बाद सफ़वियों का पतन आरम्भ हो गया। अन्तिम हुक्मरान शाह हुसैन (1694 ई०–1722 ई०) अयोग्य साबित हुआ। शिया उलमा (विद्वानों) के प्रभाव में आकर उसने सुन्नियों पर ज़ुल्म किए जिसका नतीजा अफ़ग़ानों की बग़ावत के रूप में प्रकट हुआ। क़ंधार के अफ़ग़ानों ने दिल्ली के मुग़लों से बचने के लिए खुद को ईरान की सुरक्षा में दे दिया था, परन्तु जब ईरानियों ने उनपर अत्याचार प्रारम्भ किए तो उन्होंने अपने एक सरदार मीर उवैस के नेतृत्व में आज़ादी का एलान कर दिया। सन 1715 ई० में उवैस की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी अमीर महमूद ने ईरान पर हमला

कर दिया और 1722 ई॰ में इस्फ़हान पर क़ब्ज़ा करके सफ़वी सल्तनत का अन्त कर दिया।

सफ़वी काल की विशेषता

सफ़वी सल्तनत ईरान की अन्तिम शक्तिशाली एवं महान हुकूमत थी। सासानियों, सल्जूक़ियों और तैमूरियों की तरह सफ़वियों ने भी दुनिया में ईरान का बड़ा नाम किया। उनके बाद ईरान का पतन हो गया और आज तक वहाँ कोई ऐसी हुकूमत क़ायम नहीं हुई जिसके काल में कोई ऐसा कारनामा किया गया हो जो ईरान के नाम को रौशन करे।

सफ़वी हुकूमत सवा दो सौ साल क़ायम रही। इस अवधि में बौद्धिक विकास, जिसमें ईरान हमेशा शीर्ष पर रहा, पूर्णतः समाप्त हो गया। इसलिए सफ़वी काल में ऐसे बड़े-बड़े लेखक एवं विद्वान पैदा नहीं हुए जैसे विगतकाल में हुए थे। कुछ शायर एवं इतिहासकार ज़रूर पैदा हुए, परन्तु वे भी ईरान छोड़कर दिल्ली और आगरा चले गए, क्योंकि वहाँ उन्हें सफ़वियों से ज़्यादा प्रोत्साहन मिला।

सफ़वी काल केवल स्थापत्य कला एवं चित्रकला के कारण प्रसिद्ध है। रज़ा अब्बासी और मीरक उस ज़माने के प्रसिद्ध चित्रकार हैं। ईरान के सबसे बड़े चित्रकार बहज़ाद का उल्लेख तैमूरियों के हालात में किया जा चुका है। वह भी अपने अन्तिम समय में तबरीज़ आ गया था, जो शाह इसमाईल की राजधानी थी।

सफ़वी काल में उद्योग-धंधे का भी विकास हुआ। उच्च कोटि के सूती एवं रेशमी कपड़े तैयार होने लगे और ईरान का मशहूर क़ालीन-उद्योग बहुत विकसित हुआ। सफ़वियों के बाद इन उद्योग-धंधों का भी पतन हो गया।

सफ़वियों का सबसे बड़ा कारनामा ईरान में फ़ौजी हुकूमत की स्थापना बताया जाता है, परन्तु इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने ईरान की सुन्नी आबादी को तलवार के ज़ोर पर जिस तरह शिया बनाया, उसपर ज़ुल्म ढाए और उलमा (विद्वानों) को क़त्ल कराया वह इस्लामी इतिहास का एक बदनुमा अध्याय है। ईरान में शिया पंथ के विकास ने और इस मामले

में ईरानियों के अतिवाद एवं भेदभाव ने ईरान को शेष इस्लामी दुनिया से, जो सुन्नी थी, काट दिया और अपने पड़ोसियों को भी अपना दुश्मन बना लिया। इस्लामी दुनिया से कट जाने से ईरान को सबसे बड़ा नुक़्सान यह हुआ कि ईरानियों की सृजनात्मक शक्ति की अभिव्यक्ति के रास्ते बन्द हो गए और ईरान शेष इस्लामी दुनिया के मूल्यों एवं विचारों से पहले की तरह लाभान्वित होने से वंचित हो गया। यही कारण है कि जो ईरान इस्लाम स्वीकार करने के बाद से तैमूरी काल तक इस्लामी दुनिया के उत्कृष्ट 'दिमाग़' पैदा करता रहा था, वही ईरान की सरज़मीन सफ़वी काल में विद्वानों एवं विशेषज्ञों के लिए बंजर हो गई। इसके विपरीत उपमहाद्वीप भारत-पाक के तैमूरी बादशाहों ने सहिष्णुता एवं उदार हृदय का परिचय दिया, जिसका नतीजा यह हुआ कि ईरान के प्रतिभाशाली लोग भारत का रुख़ करने लगे और तैमूरी सल्तनत में ज्ञान एवं साहित्य का असाधारण विकास हुआ। ईरान में रूढ़िवादी शिया हुकूमत क़ायम होने के कारण इस्लामी दुनिया भी दो हिस्सों में बँट गई। भारतीय उपमहाद्वीप और तुर्किस्तान का अरब और तुर्की से पारम्परिक सम्बन्ध बड़ी हद तक समाप्त हो गया, फलतः पूरब से पश्चिम एवं पश्चिम से पूरब की ओर ज्ञान-विज्ञान एवं विचारधारा का प्रवाह अवरुद्ध हो गया। यह चीज़ ईरान ही नहीं सम्पूर्ण इस्लामी दुनिया के पतन का कारण बनी। वर्तमान काल के ईरानी इतिहासकार भी सफ़वी सल्तनत के मज़हबी अत्याचार, संकीर्ण दृष्टि एवं भेदभाव की निन्दा करते हैं, परन्तु उनका कहना है कि सफ़वी सुल्तानों ने ईरानियों को शिया-पंथ पर एकजुट करके ईरान के राष्ट्रीय अस्तित्व की सुरक्षा की अन्यथा ईरान भी उसमानी सल्तनत का एक हिस्सा बन जाता।

(अगले क्रम के लिए देखें : अध्याय—30)

सफ़वी सल्तनत (907 हि॰/1502 ई॰—1135 हि॰/1722 ई॰)

1. इसमाईल प्रथम — (907 हि॰/1502 ई॰—930 हि॰/1524 ई॰)
2. तहमासप — (930 हि॰/1524 ई॰—984 हि॰/1576 ई॰)
3. इसमाईल द्वितीय — (984 हि॰/1576 ई॰—985 हि॰/1578 ई॰)

4. मुहम्मद ख़ुदाबन्दा – (985 हि॰/1578 ई॰–995 हि॰/1587 ई॰)
5. अब्बास प्रथम – (995 हि॰/1587 ई॰–1038 हि॰/1629 ई॰)
6. सफ़ी – (1038 हि॰/1629 ई॰–1052 हि॰/1642 ई॰)
7. अब्बास द्वितीय – (1052 हि॰/1642 ई॰–1077 हि॰/1667 ई॰)
8. सुलैमान – (1077 हि॰/1667 ई॰–1105 हि॰/1694 ई॰)
9. हुसैन – (1105 हि॰/1694 ई॰–1135 हि॰/1722 ई॰)

अध्याय-18

मध्य एशिया के उज़बेक

(893 हि॰/1488 ई॰–1199 हि॰/1784 ई॰)

1. आले-शैबान

(893 हि॰/1488 ई॰–1007 हि॰/1598 ई॰)

सोलहवीं शताब्दी में मध्य एशिया में उज़बेकों की नई ताक़त प्रकट हुई। विजेताओं एवं सैन्य संचालकों की यह आख़िरी नस्ल थी जो मध्य एशिया से उठी। इसके बाद इस भूभाग में विजेताओं का सिलसिला समाप्त हो गया। पश्चिमी क़बचाक़ या वोल्गा-नदी की घाटी में आबाद मंगोलों के इस्लाम क़बूल कर लेने के बाद मंगोलों, स्थानीय तुर्कों एवं अन्य समजातीय नागरिकों के बीच ख़ूनी रिश्ता स्थापित होने से जो मुसलमान क़ौमें अस्तित्व में आईं उनमें एक उज़बेक भी थे। तुर्कों की यह परम्परा थी कि वह पूरी क़ौम का नाम अपने किसी हीरो या महान व्यक्ति के नाम पर रख लेते थे, चाहे वह क़ौम उसकी नस्ल से हो या नहीं। अतः क़बचाक़-क्षेत्र की यह क़ौम सराये के मशहूर हुक्मरान उज़बेक ख़ान के नाम पर उसी तरह उज़बेक कहलाती है जिस तरह चुग़ताई ख़ान के नाम पर चुग़ताई तुर्क और उस्मान ख़ान के नाम पर उसमानी तुर्क अपने-आपको क्रमशः चुग़ताई और उसमानी तुर्क कहते हैं।

हम यहाँ उज़बेकों की जिस शाखा की चर्चा कर रहे हैं वह शैबानी या आले-शैबान हैं। शैबान मंगोल-हुक्मरान चंगेज़ ख़ाँ के बेटे जोजी ख़ाँ का सबसे छोटा बेटा था। शैबानी हुकूमत का संस्थापक अबुल-ख़ैर (1428 ई॰–1468 ई॰) उसी शैबान का वंशज था। जब सराये में आलतन-अवरदा की हुकूमत का पतन हुआ और वह चार बड़ी रियासतों में विभक्त हो गई तो उज़बेक के शहज़ादे अबुल-ख़ैर ने भी पश्चिमी साइबेरिया में 'तोरा' नामक स्थान पर अपनी आज़ादी का एलान कर दिया। अबुल-ख़ैर अभी अपनी

रियासत को सुदृढ़ बनाने में व्यस्त था कि 873 हि॰/1468 ई॰ में पूर्वी तुर्किस्तान के हुक्मरान यूनुस ख़ाँ ने उसे पराजित करके क़त्ल कर दिया।

मुहम्मद शैबानी ख़ान (893 हि॰/1488 ई॰–916 हि॰/1510 ई॰)

अबुल-ख़ैर की मृत्यु के बाद उसका लड़का हैदर सुल्तान उत्तराधिकारी हुआ, परन्तु शैबानियों को वास्तविक उत्थान मुहम्मद शैबानी ख़ान के काल में प्राप्त हुआ। शैबानी ख़ान अबुल-ख़ैर के एक अन्य बेटे बूदाक़ सुल्तान का बेटा था। उज़बेक-क़बीले अबुल-ख़ैर की मृत्यु के बाद सीहून-नदी की निचली तराई में चले गए थे और यहाँ से वे कभी पूर्वी तुर्किस्तान के मंगोल-हुक्मरानों और तैमूरियों के सहयोगी मित्र की हैसियत से और कभी उनके विरुद्ध युद्ध में भाग लेते रहते थे। 873 हि॰/1468 ई॰ में मंगोल-हुक्मरान महमूद ख़ाँ (पुत्र यूनुस ख़ाँ) ने मुहम्मद शैबानी को उसकी सेवाओं के बदले में सीहून-नदी के तटीय शहर तुर्किस्तान की हुकूमत दे दी। शैबानी ख़ाँ 900 हि॰/1494 ई॰ में मावराउन-नह्र में दाख़िल हुआ और पाँच-छह साल की अवधि में सम्पूर्ण मावराउन-नह्र पर क़ाबिज़ हो गया। बुख़ारा और समरक़न्द के बीच सरपल की जंग में बाबर को पराजित करके 906 हि॰/1500 ई॰ में समरक़न्द पर भी क़ब्ज़ा जमा लिया। उसने तुर्किस्तान में तैमूरियों की हुकूमत का भी ख़ातिमा कर दिया। 911 हि॰/1505 ई॰ में उसने ख़ुवारिज़्म फ़तूह करने के बाद जीहून-नदी को पार किया मर्व के निकट मर्वचक नामक स्थान पर हुसैन बायक़रा के लड़के बदीउज़्ज़मा एवं दूसरे तैमूरी शहज़ादों (युवराजों) की संयुक्त सेना को शिकस्त दी और 11 मुहर्रम, 913 हि॰ (24 मई, 1507 ई॰) को शान्तिपूर्ण ढंग से हरात में दाख़िल हो गया। इस प्रकार शैबानी ने ख़ुरासान से भी तैमूरियों की सत्ता का अन्त कर दिया। 914 हि॰/1508 ई॰ में शैबानी ने जुरजान-प्रान्त पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। अब शैबानी एक ऐसी विशाल एवं विस्तृत सल्तनत का मालिक था जो उराल-झील से बल्ख़ एवं हरात तक और फ़रग़ाना से जुरजान तक फैली हुई थी। यह वह समय था जब ईरान में शाह इसमाईल सफ़वी एक शक्तिशाली हुकूमत क़ायम कर चुका था और सुन्नियों को बलपूर्वक शिया बना रहा था। उसकी इस संकीर्णता एवं कट्टरता ने उसमानी तुर्कों और उज़बेकों में, जो कट्टर सुन्नी

थे, एक आग लगा दी थी। उज़बेकों की प्रतिक्रिया ठीक वैसी ही पक्षपातपूर्ण थी जैसी सफ़वी हुक्मरान की थी, और वे किसी हाल में सफ़वियों से समझौता करने को तैयार नहीं थे। अतः जब उज़बेकों ने ईरान की ओर कूच किया तो शाह इसमाईल से टकराव हो गया। मरग़ाब नामक स्थान के निकट 916 हि०/1510 ई० में उज़बेकों एवं सफ़वियों में एक घमासान का युद्ध हुआ। उज़बेकों ने असाधारण वीरता का परिचय दिया, परन्तु उन्हें पराजय का मुँह देखना पड़ा और शैबानी ख़ान मारा गया। शाह इसमाईल की नफ़रत का यह हाल था कि उसने शैबानी ख़ान की खोपड़ी उतार ली और उसपर सोना चढ़ाकर उसे प्याले के रूप में प्रयोग करने लगा।

उज़बेक ईरान एवं मावराउन-नहर के सभ्य क्षेत्रों से दूर क़बचाक़ के बीहड़ रेगिस्तान में ख़ानाबदोशों की तरह ज़िन्दगी गुज़ारते थे। वे अनपढ़ एवं अर्द्ध वहशी थे और मावराउन-नहर में आने तक भेड़ों एवं घोड़ों की खालें पहनते थे। उनकी ज़िन्दगियों पर इस्लाम के प्रभाव बहुत कम थे। उनके रस्मो-रिवाज तुर्कों एवं मंगोलों के इस्लाम स्वीकार करने के पूर्व के रस्मो-रिवाज की तरह थे। कुछ रस्मो-रिवाज इस्लामी रस्मो-रिवाज के अनुरूप भी थे। उनकी धर्मिकता में रुचि बस इतनी थी कि वे बारहवीं सदी के बुज़ुर्ग अहमद यसीवी[1] के अनुयायी थे। ईरानी इतिहासकारों ने उनकी बुराइयों को उजागर किया है जिसमें अतिश्योक्ति एवं पक्षपात है। उन्होंने मुहम्मद शैबानी ख़ान का भी बड़ा विकृत चित्रण किया है जो हक़ीक़त से दूर है। अतः हंगरी का प्रसिद्ध इतिहासकार एवं आलोचक वैमबरी अपनी किताब 'बुख़ारा का इतिहास' में शैबानी के सम्बन्ध में लिखता है—

"शैबानी कदापि वहशी नहीं था जैसा कि उसके ईरानी दुश्मन

---

1. अहमद यीसवी (मृत्यु-562 हि०/1166 ई०) समरक़न्द के एक तुर्क-वली थे। उन्होंने बुख़ारा में तालीम प्राप्त की और सीहून-नदी के किनारे यसी नामक बस्ती में रहते थे। यसी को तुर्किस्तान भी कहा जाता है। बाद में तैमूरियों ने उनकी क़ब्र पर शानदार मक़बरा बनवाया। 'दीवाने-हिकमत' के नाम से एक किताब उनकी रचित बताई जाती है। इस दीवान ने तुर्की भाषा की सूफ़ी शायरी पर प्रभाव डाला। तुर्की के सूफ़ी शायर अहमदी और यूनुस अमरह उनसे प्रभावित थे।

बयान करते हैं। उसे राग-रंग एवं शायरी में रुचि थी। सैनिक-कार्रवाइयों के समय भी उसके साथ एक छोटा-सा पुस्तकालय रहता था। वह शायर भी था और उसकी शायरी पूर्वी तुर्की साहित्य का एक अच्छा नमूना है। वह उलमा की इज़्ज़त करता था। सुल्तान हुसैन बायक़रा के मरने के बाद जो उलमा एवं विद्वान बेसहारा हो गए थे उन्हें शैबानी ने सहारा दिया। बुख़ारा, समरक़न्द और ताशक़ंद में उसने मदरसे बनवाए। जब वह इतिहास के पटल पर पहली बार प्रकट हुआ तो 'उज़्बेक' शब्द अनपढ़ एवं वहशी शब्द का पर्याय समझा जाता था, लेकिन यह परिचय शैबानी के लिए सत्य नहीं साबित होता। वह वैसे ही सुसभ्य एवं सुसंस्कृत था जैसे तैमूरी घराने के अन्य शहज़ादे (युवराज) थे।"[1]

उसने हरात को फ़तूह करने के बाद वहाँ लूटमार नहीं होने दी।

शैबानी ख़ान के बाद उज़बेकों एवं ईरानियों में सुलह हो गई। जीहून-नदी दोनों के बीच सीमा मानी गई। परन्तु यह समझौता ज़्यादा समय तक नहीं चल सका। 917 हि॰/1511 ई॰ में बाबर ने शाह इसमाईल से गठजोड़ करके जीहून-नदी पार की और आसानी से समरक़न्द को जीत लिया। उज़बेक जो उस समय उत्तराधिकारी के झगड़े में फंसे हुए थे, जल्दी ही वे उससे उबर गए और कूचकुंजी को जो शैबानी का भाई था, अपना हुक्मरान बना लिया। कूचकुंजी बुढ़ापे के कारण लड़ाई के मैदान में नहीं जा सकता था, इसलिए फ़ौजी विभाग अपने एक भतीजे उबैदुल्लाह ख़ान-बिन-महमूद ख़ान के हवाले कर दिया। उबैदुल्लाह ख़ान ने 918 हि॰/1512 ई॰ में बाबर से समरक़न्द वापस ले लिया। उबैदुल्लाह ख़ान ने छह बार ख़ुरासान पर हमले किए। यद्यपि वह ख़ुरासान से सफ़वियों को बेदख़ल नहीं कर सका, परन्तु इन हमलों में मर्व, मशहद, हरात और उस्तराबाद को बहुत नुक़्सान पहुँचा। इस दौरान बाबर ने शाह इसमाईल के सहयोग से एक बार फिर मावराउन-नहर पर क़ब्ज़ा करना चाहा, परन्तु ईरानी फ़ौज ने सुन्नियों का जिस प्रकार

1. वैमबरी : बुख़ारा का इतिहास (पृष्ठ-341, उर्दू अनुवाद)

क़त्ले-आम किया उससे क्षुब्ध होकर बाबर वापस चला गया और उज़्बेकों ने ईरानी फ़ौज को पराजित करके बल्ख़ एवं हरात वापस ले लिए।

उबैदुल्लाह ख़ाँ (964 हि०/1557 ई०–1006 हि०/1598 ई०)

उज़्बेकों के क़ब्ज़े किए गए अलग-अलग इलाक़े हुक्मरान-ख़ानदान के अलग-अलग लोगों में बाँट दिए जाते थे जिसके कारण उज़्बेक-सल्तनत छोटी-छोटी रियासतों में बँट गई थी। ये तमाम रियासतें एक केन्द्रीय सत्ता 'ख़ान' के अधीन रहती थी। यह केन्द्रीय सत्ता कभी-कभी उन्हीं रियासतों में से किसी एक से चुनी जाती थी। जब ऐसा कोई अमीर चयनित हो जाता था तो वह अपनी रियासत पर भी पहले की तरह अधिकार जमाए रहता था। केन्द्रीय राजधानी समरक़न्द थी परन्तु जब कभी बुख़ारा में कोई शक्तिशाली ख़ान सत्तासीन होता तो वह पूरी उज़्बेक-सल्तनत का हुक्मरान बन जाता था। इसी प्रकार के हुक्मरानों में से एक अबुल-ख़ैर का पर-पौत्र उबैदुल्लाह ख़ान था। उबैदुल्लाह की मृत्यु के बाद मावराउन-नहर एक बार फिर हंगामों का शिकार हो गया। और पूर्वी तुर्किस्तान के एक मंगोल-सरदार बुराक़ ख़ान-बिन-महमूद ख़ान ने बुख़ारा तक सम्पूर्ण मावराउन-नहर बरबाद कर दिया। 963 हि०/1555 ई० में बुराक़ ख़ान की मृत्यु के बाद उबैदुल्लाह ने बुख़ारा पर पुनः क़ब्ज़ा कर लिया। 986 हि०/1578 ई० में उसने समरक़न्द की हुकूमत भी अपने हाथ में ले ली, जहाँ पहले उसका बाप और फिर उसके उत्तराधिकारी हुक्मरान थे। उबैदुल्लाह के ज़माने में उज़्बेक-सल्तनत अपने विकास के चरम पर थी। पूरब में उसने काशग़र एवं ख़तन तथा पश्चिम में हरात, मशहद, मर्व एवं उस्तराबाद फ़तह कर लिए। उबैदुल्लाह अब आगे बढ़कर ईरान से सफ़वियों का सफ़ाया करना चाहता था और इस उद्देश्य के लिए उसने उसमानियों से मदद लेनी चाही, परन्तु उसमानी शाह अब्बास से समझौता कर चुके थे, इसलिए मदद नहीं कर सके। बहरहाल सुल्तान मुराद तृतीय एवं क्रीमिया के ख़ान ने उबैदुल्लाह को उसकी सफलताओं के लिए मुबारकबाद दी और अपने दूत बुख़ारा भेजे।

उबैदुल्लाह के काल में बुख़ारा पुनः राजनीतिक एवं बौद्धिक केन्द्र बन

गया। उसका दौर उज़बेक की शानो-शौकत का अन्तिम दौर था। विकास एवं निर्माण की दृष्टि से भी उसका दौर सबसे अलग है। एक पाश्चात्य आलोचक वेमबरी ने लिखा है–

> "उबैदुल्लाह ने चालीस साल से ज़्यादा हुकूमत की और अपनी छाप ऐसी छोड़ी कि बुख़ारावासी आज तक उसे याद करते हैं। उसके दौर में एक हज़ार से ज़्यादा मस्जिदें, मदरसे, स्नानागार, अस्पताल, यात्री पड़ाव, पुल एवं जलाशय बनाए गए। वह व्यापार, कृषि एवं ज्ञान-कला का पोषक एवं समर्थक था। लोगों को सुसभ्य बनाने एवं उन्हें ख़ुशहाल रखने की जितनी कोशिशें उसने कीं, किसी और शैबानी हुक्मरान ने नहीं कीं।"

बुख़ारा में उसके द्वारा बनवाया गया बाग़ 'चहार-बाग़' एवं समरक़न्द और मशहद में छायादार सड़कें उन्नीसवीं सदी के अन्त तक मौजूद थीं। बुख़ारा का शानदार बाज़ार 990 हि०/1582 ई० में उसी ने बनवाया। सड़कों के किनारे मील के पत्थर गड़वाए और डाक-व्यवस्था को अच्छा बनाया। उसके काल में जैसी सुख-शान्ति थी, इससे पहले कभी नहीं रही।

उबैदुल्लाह ख़ान की मृत्यु के बाद उसके बेटे अब्दुल-मोमिन ने मात्र छह माह हुकूमत की। इसके बाद शैबानी ख़ानदान की हुकूमत समाप्त हो गई और जैहून-नदी के पार का सारा इलाक़ा बल्ख़ से उस्तराबाद तक कुछ समय के लिए उज़बेकों के हाथ से निकाल गया और ईरानियों के क़ब्ज़े में चला गया।

ईरानी इतिहासकारों ने जो इतिहास लिखे हैं उनमें उज़बेकों के काल की बहुत बुराइयाँ बयान की गई हैं, परन्तु वे बढ़ा-चढ़ाकर बयान की गई हैं। इसमें संदेह नहीं कि उज़बेक प्रारम्भ में ईरानियों की तरह सभ्य नहीं थे और उनकी लूट-मार से ख़ुरासान के शहरों को नुक़्सान पहुँचा, परन्तु जैसा कि पीछे बताया गया है उन्होंने विकास एवं निर्माण के काम भी बहुत किए। उज़बेक-दौर में फ़िक़्ह पर किताबें लिखी गई। क़ुरआन की तफ़्सीरों (भाष्यों) पर टीका लिखी गई। तुर्क-शायरी की परम्परा का विकास हुआ। एक उज़बेक

के शहज़ादे मुहम्मद सालेह ने 'शैबानी-नामा' लिखा जो तुर्की शायरी का बहुत अच्छा नमूना समझा जाता है। उज़बेकों ने तुर्की भाषा को एक नया रूप, नया नाम दिया। आज यह भाषा उज़बेक-तुर्की कहलाती है और चुग़ताई तुर्की की उत्तराधिकारी है।

2. उस्तरख़ानी हुकूमत

(1007 हि०/1598 ई०–1199 हि०/1784 ई०)

उस्तरख़ानी हुक्मरान, जिन्होंने शैबानियों के बाद मावराउन-नह्र पर दो सौ साल तक हुकूमत की, सराये के आलतन-अवरदह-ख़ानदान से सम्बन्ध रखते थे। उनका एक शहज़दा क़तलक़ तैमूर समरक़न्द के अमीर तैमूर का समर्थक हो गया था और तैमूर की ओर से तोक़्तामिश से जंग की थी। बाद में क़तलक़ तैमूर के उत्तराधिकारी उस्तरतख़ान में पनाह लेने पर मजबूर हुए और वहाँ दो सौ साल तक गुमनामी की हालत में रहे। उसके बाद उनका एक व्यक्ति यार मुहम्मद ख़ान अपने बेटे जानी ख़ान के साथ बुख़ारा आ गया, जहाँ उज़बेक-हुक्मरान अब्दुल्लाह ख़ान के पिता स्कंदर ख़ान ने अपनी लड़की से जानी ख़ान की शादी कर दी। जानी ख़ान ने, जो अब्दुल्लाह का बहनोई हो गया था, अब्दुल्लाह के साथ मिलकर उस काल की जंगों में हिस्सा लिया। अब्दुल्लाह ख़ान के बाद जब उसका बेटा अब्दुल-मोमिन क़त्ल कर दिया गया और शैबानी ख़ानदान में कोई उत्तराधिकारी नहीं बचा तो दरबार के उच्च पदाधिकारियों ने जानी ख़ान के लड़के मुहम्मद बाक़ी ख़ान को 1007 हि०/1598 ई० में बुख़ारा का बादशाह चुन लिया और इस प्रकार बुख़ारा में उस्तरख़ानी ख़ानदान की हुकूमत शुरू हुई।

इमाम क़ुली

उस्तरख़ानियों में इमाम क़ुली, जिसने 1017 हि०/1608 ई० से 1050 हि०/1640 ई० तक हुकूमत की, बड़ा नेकदिल हुक्मरान हुआ है। वह अपना ज़्यादा समय उलमा एवं शायरों के साथ गुज़ारता था। उसके ज़माने में सभी रास्ते सुरक्षित थे और वह वेश बदलकर शहर में गश्त लगाता था और लोगों के हालात मालूम करता था। आख़िर में उसने अपने भाई नज़्र मुहम्मद ख़ाँ

को बुलाकर, जो बल्ख़ में हुकूमत करता था, अपनी हुकूमत भी उसे सौंप दी और स्वयं हज करने चला गया। मदीना में ही 62 वर्ष की उम्र में उसकी मृत्यु हुई। मदीना में उसके क़ायम किए हुए अन्य औक़ाफ़ के अतिरिक्त एक बाग़ और एक स्नानागार उन्नीसवीं सदी के अन्त तक मौजूद थे।

नज़्र मुहम्मद कठोर एवं असमान स्वभाव का था, इसलिए लोग उसके विरोधी हो गए और फ़ौज ने बग़ावत कर दी। नज़्र मुहम्मद ने जब यह स्थिति देखी तो अपने बेटे अब्दुल-अज़ीज़ को बुलाकर बुख़ारा की हुकूमत उसे सौंप दी और स्वयं बल्ख़, जहाँ वह एक लम्बी अवधि तक हाकिम रह चुका था, आ गया। दिल्ली के मुग़ल-बादशाह बल्ख़, बदख़्शाँ और मावराउन-नह्र को अपनी पैतृक मीरास समझते थे। यह दौर शाहजहाँ का था। उसने बुख़ारा के गृह-युद्ध से फ़ायदा उठाया और शहज़ादा मुराद के नेतृत्व में एक फ़ौज 1056 हि॰/1646 ई॰ में भेजकर बदख़्शाँ और बल्ख़ को फ़त्ह कर लिया। परन्तु उज़बेकों ने मुग़लों का एकजुट होकर मुक़ाबला किया और उन्हें समझौता करने पर मजबूर कर दिया। अतः एक साल बाद 1057 ई॰/1647 ई॰ में मुग़ल-फ़ौजें बल्ख़ एवं बदख़्शाँ से वापस चली गईं।

अब्दुल-अज़ीज़ (1055 हि॰/1645 ई॰—1091 हि॰/1680 ई॰) का दौर उस्तरख़ानियों का अच्छा दौर समझा जाता है। अब्दुल-अज़ीज़ आख़िर में गद्दी छोड़कर हज के लिए चला गया था और मदीना में ही उसकी मृत्यु हुई। उसे अपने पिता एवं चाचा की क़ब्र के निकट दफ़न किया गया। उसके बाद उस्तरख़ानी शक्ति क्षीण होने लगी थी। विभिन्न इलाक़ों के हुक्मरान ख़ुदमुख़्तार होने लगे। ख़ीवह में एक आज़ाद रियासत क़ायम हो गई। फिर ख़ूक़न्द एवं फ़रग़ाना का इलाक़ा भी आज़ाद हो गया और बुख़ारा की हुकूमत बहुत सीमित हो गई। 1153 हि॰/1740 ई॰ में नादिर शाह ने जैहून के दक्षिण का इलाक़ा फिर ईरान में शामिल कर दिया और इस प्रकार बुख़ारा के शाह अबुल-फ़ैज़ी ख़ाँ को अपना अधीनस्थ बना लिया। 1199 हि॰/1784 ई॰ में मीर मासूम ने उस्तरख़ानियों की हुकूमत ख़त्म करके मंगीत-ख़ानदान की हुकूमत की बुनियाद डाली।

उस्तरख़ानी दौर में यद्यपि कुछ हुक्मरान नेक एवं विवेकशील थे, परन्तु

अब मावराउन-नहर एवं तुर्किस्तान का क्षेत्र धीरे-धीरे पतन की ओर बढ़ रहा था। जिस प्रकार उज़बेकों का काल बौद्धिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में तैमूरी काल का मुक़ाबला नहीं कर सकता, उसी प्रकार उस्तरख़ानी काल उज़बेकों और शैबानी काल का मुक़ाबला नहीं कर सकता। निर्माण के काम शैबानी काल की अपेक्षा बहुत कम हुए और ज्ञान एवं साहित्य का ऐसा पतन हुआ कि उस काल के इतिहास की पूरी जानकारी भी मालूम करना कठिन है। वास्तव में ईरान में शिया-हुकूमत की स्थापना के बाद मध्य एशिया सारी दुनिया से कट गया था। उत्तर में ख़ानाबदोश क़बीले थे या रूसी ईसाई जिनसे सम्बन्ध स्थापित करना आसान नहीं था। चीन ने 1760 ई॰ में पूर्वी तुर्किस्तान पर क़ब्ज़ा करके तुर्किस्तान को दो भागों में बाँट दिया था। अब पश्चिमी तुर्किस्तान एक ऐसा द्वीप बन गया था जिसे न शेष दुनिया से रुचि थी और न उसमें ही अन्य इस्लामी देशों के लिए कोई आकर्षण था। इस स्थिति ने वहाँ के नागरिकों को अज्ञानता, भेदभाव, अंधानुकरण एवं संकीर्ण दृष्टि का शिकार बना दिया, और यही चीज़ तुर्किस्तान के पतन का कारण बनी। (अगले क्रम के लिए देखें : अध्याय–32)

मध्य एशिया के उज़बेक (893 हि॰/1488 ई॰–1199/1784 ई॰)

1. आले-शैबान (893 हि॰/1488 ई॰–1006 हि॰/1597 ई॰)

- शैबानी ख़ान – (893 हि॰/1488 ई॰–916 हि॰/1510 ई॰)
- कूच कुंजी – (916 हि॰/1510 ई॰–937 हि॰/1530 ई॰)
- अबू-सईद – (937 हि॰/1530 ई॰–940 हि॰/1533 ई॰)
- उबैदुल्लाह – (940 हि॰/1533 ई॰–946 हि॰/1539 ई॰)
- अब्दुल्लाह ख़ाँ प्रथम – (946 हि॰/1539 ई॰–947 हि॰/1540 ई॰)
- अब्दुल-लतीफ़ ख़ाँ – (947 हि॰/1540 ई॰–948 हि॰/1541 ई॰)
- अब्दुल-अज़ीज़ – (948 हि॰/1541 ई॰–958 हि॰/1551 ई॰)
- बुरहान ख़ाँ – (958 हि॰/1551 ई॰–963 हि॰/1555 ई॰)
- अब्दुल्लाह ख़ाँ द्वितीय – (963 हि॰/1555 ई॰–1006 हि॰/1597 ई॰)

10. अब्दुल-मोमिन — (1006 हि॰/1597 ई॰—1006 हि॰/1597 ई॰)

2. उस्तरख़ानी हुक्मरान (1007 हि॰/1598 ई॰—1199 हि॰/1784 ई॰)

1. बाक़ी मुहम्मद — (1007 हि॰/1599 ई॰—1014 हि॰/1605 ई॰)
2. वली मुहम्मद — (1014 हि॰/1605 ई॰—1017 हि॰/1608 ई॰)
3. इमाम क़ुली — (1017 हि॰/1608 ई॰—1050 हि॰/1640 ई॰)
4. नादिर मुहम्मद — (1050 हि॰/1640 ई॰—1057 हि॰/1647 ई॰)
5. अब्दुल-अज़ीज़ — (1057 हि॰/1647 ई॰—1091 हि॰/1680 ई॰)
6. सुब्हान क़ुली — (1091 हि॰/1680 ई॰—1114 हि॰/1707 ई॰)
7. अब्दुल्लाह — (1114 हि॰/1707 ई॰—1117 हि॰/1709 ई॰)
8. अबुल-फ़ैज़ — (1117 हि॰/1709 ई॰—1160 हि॰/1747 ई॰)
9. अब्दुल-मोमिन — (1160 हि॰/1747 ई॰—1164 हि॰/1751 ई॰)
10. अब्दुल्लाह द्वितीय — (1164 हि॰/1751 ई॰—1167 हि॰/1753 ई॰
11. मुहम्मद रहीम मंगत — (1167 हि॰/1753 ई॰—1171 हि॰/1757 ई॰
12. अबुल-ग़ाज़ी — (1171 हि॰/1757 ई॰—1199 हि॰/1784 ई॰

अध्याय-19

बाबर, हुमायूँ और शेर शाह

(932 हि॰/1526 ई॰–963 हि॰/1556 ई॰)

(1)

बाबर

872 हि॰/1467 ई॰ में सुल्तान अबू-सईद की मृत्यु के बाद मध्य एशिया की तैमूरी सल्तनत तीन हिस्सों में बँट गई थी। ख़ुरासान और जैहून-नदी के दक्षिण में स्थित इलाक़े सुल्तान हुसैन बायक़रा के क़ब्ज़े में आ गए। समरक़न्द और बुख़ारा पर सुल्तान अबू-सईद के लड़के अहमद ने क़ब्ज़ा जमा लिया और फ़रग़ाना में अहमद का भाई उमर शैख़ काबिज़ हो गया। भारत की तैमूरी सल्तनत का संस्थापक बाबर इसी उमर शैख़ का लड़का था। तैमूर से उसकी वंश-शृंखला इस प्रकार है—बाबर-बिन-उमर शैख़ मिर्ज़ा-बिन-अबू-सईद मिर्ज़ा-बिन-मिर्ज़ा सुल्तान मुहम्मद-बिन-मीरान शाह—पुत्र तैमूर।

बाबर की माँ क़तलुग़ निगार ख़ानम तुर्किस्तान के मंगोल-हुक्मरान यूनुस ख़ान की बेटी थी और उसका वंश चुग़ताई ख़ान से होता हुआ चंगेज़ से जा मिलता है। इस प्रकार बाबर की रगों में तैमूर और चंगेज़ दोनों का ख़ून था। उमर शैख़ की जब 898 ई॰/1494 ई॰ में मृत्यु हुई तो बाबर की उम्र मात्र बारह साल थी और वह चारों ओर से दुश्मनों से घिरा हुआ था। ये दुश्मन ख़ुद उसके चाचा एवं मामा थे जो फ़रग़ाना पर क़ब्ज़ा करना चाहते थे। इसी बीच उज़बेक-हमलावर शैबानी ख़ान के नेतृत्व में मावराउन-नह्र में दाख़िल हो गए जिनका मुक़ाबला करना न बाबर के चाचा के वश में था न बाबर के ही। फिर भी बाबर ने बहादुरी से उनका मुक़ाबला किया। उसने कई बार समरक़न्द पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश की। पहली कोशिश 901 हि॰/1497 ई॰ में की परन्तु असफल रहा। 902 हि॰/1497 ई॰ की वसंत-ऋतु में वह समरक़न्द पर क़ब्ज़ा करने में सफल हो गया। परन्तु सौ दिन ही शहर पर

क़ब्ज़ा रख सका। फ़रग़ाना में बग़ावत के कारण उसे समरक़न्द छोड़ना पड़ा, परन्तु वह फ़रग़ाना को बचा नहीं सका और उधर समरक़न्द भी हाथ से निकल गया। एक तो उसकी उम्र कम थी और फिर साथियों की कमी, वह जगह-जगह मारा फिरता रहा। उस ज़माने का हाल बयान करते हुए उसने अपनी जीवनी में लिखा है कि मेरा हाल एक गेंद की तरह हो गया था जो हर ठोकर के साथ कभी इधर चली जाती है कभी उधर चली जाती है। परन्तु बाबर ने हिम्मत नहीं हारी। 906 हि॰/1500 ई॰ में उसने पुनः समरक़न्द फ़तूह कर लिया। यह फ़तूह भी अल्पकालिक साबित हुई और शैबानी ख़ान ने आठ माह बाद बाबर को समरक़न्द से निकाल दिया। विभिन्न विषम परिस्थितियों से गुज़रने के बाद जब वह अपने पैतृक देश में नाकाम हो गया तो उसने मावराउन-नह्र को छोड़ दिया और 910 हि॰/1504 ई॰ में काबुल फ़तूह करके वहाँ एक मज़बूत हुकूमत की बुनियाद डाली। तैमूरी हुक्मरान अब तक मिर्ज़ा कहलाते थे। बाबर ने पहली बार 1507 ई॰ में शाह की उपाधि धारण की। उसी साल वह हरात गया ताकि शैबानी ख़ान के मुक़ाबले में तैमूरी शहज़ादों का गठजोड़ बना सके। शैबानी ख़ान की मृत्यु के बाद बाबर ने एक बार और मावराउन-नह्र पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश की और 971 हि॰/1511 ई॰ में समरक़न्द पर क़ाबिज़ भी हो गया। परन्तु उज़बेकों ने जल्द ही उसे पलायन पर मजबूर कर दिया। 1522 ई॰ में बाबर ने शाह बेग अरग़ौन से क़ंधार छीन लिया।

तुर्किस्तान से मायूस होने के बाद बाबर ने उपमहाद्वीप भारत-पाक का रुख़ किया जहाँ लोधी-ख़ानदान की हुकूमत थी। बाबर उपमहाद्वीप के उन इलाक़ों पर जो तैमूर फ़तूह कर चुका था, अपना ख़ानदानी हक़ समझता था। उन्हें प्राप्त करने के लिए उसने कई हमले किए और अप्रैल 1526 ई॰ को पानीपत की पहली जंग में इबराहीम लोधी को पराजित करके दिल्ली पर क़ब्ज़ा कर लिया। उसके लड़के हुमायूँ ने आगे बढ़कर आगरा पर क़ब्ज़ा कर लिया। बाबर अपने पैतृक देश में तो हुकूमत क़ायम करने में असफल हो गया, परन्तु भारत में एक महान् सल्तनत की बुनियाद डाली जो अपने क्षेत्रफल, आबादी, संसाधन, शानो-शौकत एवं कारनामों में मध्य एशिया की

तैमूरी सल्तनत से आगे निकल गई।

दिल्ली की सल्तनत के पतन के बाद राजपूताना के राजपूतों ने काफ़ी ज़ोर पकड़ लिया था और उन्होंने चित्तौड़ के राजा राणा सांगा के नेतृत्व में एक शक्तिशाली हुकूमत स्थापित कर ली थी। राणा सांगा एक वीर राजा था। गुजरात और मालवा के मुसलमान हुक्मरानों से उसकी लगातार लड़ाइयाँ चलती रहती थीं। राजपूत यह समझते थे कि उसके नेतृत्व में एक दिन वे दिल्ली पर भी क़ब्ज़ा कर लेंगे। दिल्ली पर बाबर के क़ब्ज़े के बाद राणा सांगा को दिल्ली पर हमला करने का अवसर मिल गया। उसने इस नए हमलावर को भारत से निकालने की कोशिश की। बहुत-से अफ़ग़ान सरदार भी उससे मिल गए। आगरा से बीस मील दूर कनवाहा नामक स्थान पर बाबर और राणा सांगा के बीच 16 मार्च 1527 ई॰ को निर्णायक युद्ध छिड़ा, जिसमें बाबर की बारह हज़ार फ़ौज ने राणा सांगा और उसके समर्थकों की दो लाख फ़ौज को शिकस्त दी। इबराहीम लोधी की पराजय के बाद अफ़ग़ान सरदार पूरब की ओर फ़रार हो गए थे, वहाँ उन्होंने बंगाल के हुक्मरान नुसरत शाह की मदद से बाबर से एक बार फिर जंग की, परन्तु बाबर ने उन्हें बिहार एवं अवध की सीमा पर घाघरा-नदी के किनारे 6 मई 1529 ई॰ को एक बार पुनः पराजित किया।

बाबर अब बंगाल तक सम्पूर्ण उत्तर भारत का बादशाह हो चुका था। उसने भारत में ही रहने का इरादा कर लिया। इस उद्देश्य से उसने आगरा और अन्य स्थानों पर कई बाग़ लगवाए एवं इमारतें बनवाईं। 26 दिसम्बर 1530 ई॰ को जब उसकी मृत्यु हुई तो उसे आगरा में यमुना-नदी के दूसरे किनारे ख़ुद उसके लगवाए हुए बाग़ में दफ़न कर दिया गया। बाद में उसकी वसीयत के अनुसार उसकी लाश काबुल पहुँचा दी गई और वहाँ भी बाबर ही के लगवाए हुए बाग़ में उसे दफ़ना दिया गया।

बाबर ने काबुल पर 26 साल और भारत पर मात्र चार साल हुकूमत की। उसकी ज़िन्दगी लड़ाइयों में गुज़री, परन्तु उसकी विवेकशीलता एवं प्रबन्ध-कौशल से इनकार नहीं किया जा सकता। उसे प्रजा की भलाई एवं सुख-सुविधा का हमेशा ध्यान रहता था। उसके फ़ौजी उसके आदेश के बिना

कोई क़दम नहीं उठा सकते थे। उसका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली एवं सुन्दर था। वह सुसंस्कृत एवं शरीफ़ था। दुश्मन के साथ उसका व्यवहार उदार होता था, और इस दृष्टि से वह सलाहुद्दीन अय्यूबी एवं सुलैमान क़ानूनी की तरह उन चन्द मुसलमान हुक्मरानों में से है जिनकी प्रशंसा पश्चिमी इतिहासकारों ने भी दिल खोलकर की है। बाबर शुरू में शराब नहीं पीता था। उसने पहली बार हरात में तैमूरी शहज़ादों के आग्रह पर शराब पी। उसके बाद वह शराब का ऐसा आदी हो गया कि अपनी किताब 'तुज़्क-बाबरी' में शराब की महफ़िलों का उल्लेख बड़े रोचक ढंग से किया है। उसने अपने बेटे हुमायूँ को भी शराब पीने के लिए प्रेरित किया। राणा सांगा से जब मुक़ाबला हुआ तो उसने शराब से तौबा कर ली।

बाबर मात्र एक सिपहसालार और हुक्मरान ही नहीं था बल्कि एक उच्च कोटि का साहित्यकार एवं शायर भी था। वह तुर्की और फ़ारिसी दोनों भाषा में शायरी करता था। उसकी किताब 'तुज़्के-बाबरी' या 'बाबरनामा' जिसमें उसने अपनी जीवनगाथा लिखी है, तुर्की साहित्य का एक शाहकार समझी जाती है। तुर्की में उसका एक दीवान (कविता-संग्रह) भी मौजूद है। कुछ किताबें भी उसने लिखीं। वह एक उच्च कोटि का ख़त्तात (Caligrapher) भी था और उसने एक विशेष शैली का सुलेख (Caligraphy) विकसित किया, जिसे उसके नाम के साथ जोड़कर ख़त्तात-बाबरी (बाबरी शैली का सुलेख) कहा जाता है।

बाबर की क़ायम की हुई सल्तनत को मुग़ल-सल्तनत कहा जाता है, क्योंकि तैमूर का मंगोल अथवा मुग़ल-वंश से निकट सम्बन्ध था, परन्तु इसके लिए ज़्यादा सही नाम तैमूरी सल्तनत है।

हुमायूँ

बाबर का बेटा हुमायूँ (1530 ई०–1556 ई०) बाप की ही तरह शरीफ़, नेक और रहमदिल था। जंग के मैदान में भी वह किसी से पीछे नहीं रहता था। बाप के साथ अधिकतर लड़ाइयों में हिस्सा लिया। पानीपत और कनवाहा की जंग में वह भी सम्मिलित था। आगरा उसी ने जीता था, साथ ही आराम तलब भी था। अपनी फ़ौज और सरदारों को वह बाबर की तरह

क़ाबू में नहीं रख सकता था। उसके प्रारम्भिक कुछ साल सफलता के हैं। उसने अफ़ग़ानों को लखनऊ के पास परास्त किया और उन्हें पूरब की ओर पलायन करने पर मजबूर किया। उसके एक बाग़ी सरदार ने जब गुजरात के बादशाह बहादुर शाह के पास पनाह ली और बहादुर शाह ने उसे हुमायूँ के हवाले नहीं किया तो हुमायूँ ने गुजरात पर हमला करके बहादुर शाह को पराजित किया और 1535 ई॰ में मालवा एवं गुजरात पर क़ब्ज़ा कर लिया। उसके बाद हुमायूँ ने बंगाल का रुख़ किया, जहाँ एक अफ़ग़ान सरदार शेर खाँ ने क़ब्ज़ा जमा लिया था। हुमायूँ ने बंगाल की राजधानी गौर आसानी से जीत ली, परन्तु वहाँ वह ऐश में पड़ गया। उसे यह मालूम नहीं था कि उसका प्रतिद्वंदी शेर ख़ाँ क्षमता, वीरता एवं जुझारूपन में दूसरा बाबर था। शेर ख़ाँ ने उसके वापसी के रास्ते बन्द कर दिए, और जब हुमायूँ घबराकर वापस हुआ तो शेर खाँ ने चौसा नामक स्थान पर उसे पराजित कर दिया। यह 1539 ई॰ की घटना है। उसके बाद पुनः क़न्नौज के निकट गंगा-नदी के किनारे पराजित किया। हुमायूँ अब आगरा छोड़कर लाहौर चला गया, परन्तु शेर ख़ाँ वहाँ भी पहुँच गया। हुमायूँ और उसके साथियों ने अब भारत छोड़ देने में ही भलाई समझी। उसके दो भाई कामरान और असकरी काबुल चले गए और तीसरा भाई हिन्दाल क़ंधार चला गया। हुमायूँ ने कुछ समय सिंध में गुज़ारा। उसके बाद वह भी 1545 ई॰ में क़ंधार के रास्ते ईरान चला गया ताकि वहाँ के बादशाह तहमासप से मदद प्राप्त कर सके। हुमायूँ लगभग दो साल ईरान में रहा। क़ज़वैन के निकट शाह तहमासप से उसकी मुलाक़ात हुई और तहमासप ने उसकी इच्छा के अनुरूप तेरह हज़ार सवारों से हुमायूँ की मदद की। तहमासप ने यह मदद इस शर्त पर दी कि शिया-मत स्वीकार कर लेगा और बारह इमामों के नाम जुमे के ख़ुतबे (प्रवचन) में शामिल करेगा।[1] हुमायूँ ने ईरानी फ़ौजियों की मदद से 1545 ई॰ क़ंधार और

---

1. जौहर आफ़ताबची, जो ईरान के सफ़र में हुमायूँ के साथ था, ने लिखा है कि हुमायूँ ने शिया मत स्वीकार तो कर लिया था, परन्तु उसके किसी व्यवहार से यह नहीं लगता था कि वह शिया हो गया है। रहा बारह इमामों के नाम ख़ुतबे में दाख़िल करने का सवाल तो इसपर कभी अमल नहीं हुआ और न ही हुमायूँ ने इस प्रकार का कोई आदेश दिया।

काबुल वापस ले लिए, जिनपर उसके भाई असकरी और कामरान ने क़ब्ज़ा जमा लिया था, परन्तु दिल्ली के तख़्त पर क़ब्ज़ा करने के लिए उसे दस साल और इन्तिज़ार करना पड़ा, और यह तब ही सम्भव हुआ जब शेर शाह और उसके बेटे सलीम शाह की मृत्यु हो गई।

हुमायूँ इल्म-दोस्त (ज्ञानपोषक), सरल स्वभाव और ऐशपसंद इनसान था। बाबर के जुझारूपन का यह हाल था कि यमुना में कूदकर दिल्ली से आगरा तक तैरता हुआ चला जाता था, और घोड़े की पीठ पर लगातार दो सौ मील सफ़र करना उसके लिए कोई बड़ी बात नहीं थी। इसके विपरीत हुमायूँ हालांकि एक वीर एवं साहसी इनसान था, परन्तु आरामतलब और ऐशपसंद था। सिपाहियों को बाबर की तरह क़ाबू में नहीं रख सकता था और उसके भाइयों ने क़दम-क़दम पर उससे झगड़े किए और उसकी राह में रुकावटें डालीं। ये सभी चीज़ें शेर शाह के मुक़ाबले में उसकी असफलता के कारण बनीं। हुमायूँ को खगोल-शास्त्र एवं गणित में विशेष रुचि थी। ख़ुद शायर था और शायरों का सम्मान भी करता था। बदायूनी ने उसके अख़लाक़ (व्यवहार) की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "दानशील ऐसा था कि वित्त-विभाग के कर्मचारी उसके सामने नक़द रुपया नहीं लाते थे और शरीफ़ ऐसा कि उसकी ज़बान पर कभी गाली नहीं आई।"

(2)

शेर शाह सूरी

शेर शाह (1540 ई॰–1545 ई॰) इतिहास के उन लोगों में से है जो मामूली हैसियत से तरक़्क़ी करके बादशाहत तक पहुँचे। बुलंद हौसला रखनेवाले लोगों के लिए शेर शाह की ज़िन्दगी एक आदर्श है। उसका असली नाम फ़रीद ख़ाँ था। उसने जवानी में अपनी तलवार से एक शेर को मारा था, इसलिए बिहार प्रान्त के हाकिम ने उसे शेर ख़ाँ की उपाधि दी थी। इसके बाद वह शेर ख़ाँ कहलाने लगा। शेर ख़ाँ का पिता उसी बिहार प्रान्त में सासाराम के इलाक़े का जागीरदार था। यह इलाक़ा उस समय दिल्ली के लोधी-वंश के क़ब्ज़े में था। शेर ख़ाँ बड़ा होकर जौनपुर चला गया था, जो

उस ज़माने में ज्ञान एवं साहित्य का बहुत बड़ा केन्द्र था। यहाँ उसने अरबी एवं फ़ारिसी की उच्च शिक्षा प्राप्त की। शिक्षा-प्राप्ति के बाद वह पुनः सासाराम वापस आ गया और अपनी जागीर का प्रबंधन इतनी कुशलता से किया कि दूर-दूर तक उसकी शोहरत हो गई। उसने अपने इलाक़े से चोरी, डकैती, यात्रियों के साथ लूटपाट जैसी बुराई ख़त्म कर दी। किसानों से टैक्स वुसूलनेवाले जो ज़ुल्म करते थे, उसे रोक दिया। किसानों की समस्याओं का पूरी तरह समाधान किया और बंजर भूमि को भी आबाद करवाया। उसके सुधार कार्यों से पैदावार बढ़ गई और लोग ख़ुशहाल हो गए।

शेर ख़ाँ अपनी जागीर के प्रबंधन में व्यस्त था कि उसी ज़माने में बाबर ने दिल्ली पर क़ब्ज़ा करके लोधी-सल्तनत का अन्त कर दिया और मुग़लों की हुकूमत की बुनियाद डाली। शेर ख़ाँ यद्यपि मात्र एक जागीर का मालिक था, परन्तु उसमें इतना आत्मविश्वास था कि वह अपने साथियों से कहा करता, "यदि मुझे अवसर मिला तो मैं एक दिन मुग़लों को भारत से निकाल दूँगा।" एक बार वह बाबर के यहाँ एक प्रीतिभोज में सम्मिलित हुआ। खाने में एक ऐसी चीज़ भी थी जिसे छुरी से काटकर खाना होता था। शेर ख़ान के पास दस्तरख़्वान पर कोई छुरी नहीं थी, परन्तु उसने छुरी माँगने की जगह अपनी कमर से कटार निकाला और काट-काटकर खाने लगा। बाबर यह सब देख रहा था। शेर ख़ाँ की यह बेबाकी और हिम्मत को देखकर बाबर के दिल में डर पैदा हुआ कि कहीं यह नौजवान उसकी हुकूमत के लिए ख़तरा न बन जाए, अतः बाबर ने अपने मंत्री को निर्देश दिया कि "शेर ख़ाँ ख़तरनाक आदमी लगता है, इसपर नज़र रखी जाए।" बाबर की यह आशंका सही निकली। शेर ख़ाँ इस प्रीतिभोज के बाद सासाराम वापस आ गया। और जब बाबर की मृत्यु हुई तो उसने बिहार एवं बंगाल प्रान्तों पर क़ब्ज़ा कर लिया। इसके बाद हुमायूँ से उसकी लड़ाइयाँ शुरू हो गईं। हुमायूँ को पराजय का मुँह देखना पड़ा और शेर ख़ाँ ने दिल्ली पर क़ब्ज़ा करके शेर शाह की उपाधि धारण कर ली। शेर शाह ने लाहौर और सरगोधा तक हुमायूँ का पीछा किया। उसकी फ़ौज ने मुल्तान एवं सिंध पर भी क़ब्ज़ा कर लिया जिसके कारण हुमायूँ को ईरान जाकर पनाह लेनी पड़ी। उसके बाद शेर शाह अजमेर,

चित्तौड़ और मालवा पर क़ाबिज़ हो गया। और इस प्रकार एक ऐसी सल्तनत का हुक्मरान बन गया जो लोधी-सल्तनत से बड़ी और ग़ुलाम वंश की सल्तनत के बराबर थी। शेर शाह कालिंजर के क़िला का घेराव किए हुए था कि एक गोला लगने से उसकी मृत्यु हो गई।

कारनामे

शेर शाह ने पूरे भारत पर मात्र चार साल हुकूमत की, परन्तु इस अल्प अवधि में उसने वह कारनामे किए जिसकी मिसाल नहीं मिलती। जिस प्रकार उमर-बिन-अब्दुल-अज़ीज़ (रह०) का काल ढाई साल की हुकूमत के बावजूद अमर है, उसी प्रकार शेर शाह की चार साल की हुकूमत भी अमर है। उसने अपनी सल्तनत में बड़ी-बड़ी सड़कें बनवाईं, जिनके किनारे सरायें (विश्राम-गृह) बनवाईं और छायादार पेड़ लगवाए। उन सड़कों में सबसे प्रसिद्ध सड़क वह है जो ढाका से पेशावर तक जाती है और बड़ी सड़क या जरनैली सड़क (जी० टी० रोड) के नाम से मशहूर है। यह सड़क लाहौर के निकट से गुज़रती है। पाकिस्तान में जो उसने सड़क बनवाई वह लाहौर से मुल्तान तक जाती थी। इन सड़कों पर दो-दो, चार-चार मील की दूरी पर जो सरायें बनवाईं, उनमें हिन्दुओं एवं मुसलमानों के लिए अलग-अलग ठहरने की व्यवस्था रहती थी। हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए अलग-अलग ठहरने की व्यवस्था किसी भेद-भाव के कारण नहीं बल्कि हिन्दुओं की भावना का ख़याल रखते हुए की गई थी, ताकि हिन्दुओं को आराम पहुँचे क्योंकि वे छूत-छात के क़ायल थे। मुसलमानों के साथ खाना नहीं खा सकते थे और उनके खाने की चीज़ें भी भिन्न होती थीं। इसी कारण शेर शाह ने उन सरायों में हिन्दू रसोइया भी नियुक्त किया था। हर सराय में डाक के दो घोड़े हमेशा तैयार रहते थे।

शेर शाह ने देश में ऐसी शान्ति-व्यवस्था स्थापित की कि चोरी और लूट-मार जैसी बुराई ख़त्म हो गई। खेती पर उसने विशेष ध्यान दिया। नए-नए क़ानून बनाए और नए सुधार-कार्यक्रम चलाए।

शेर शाह ने निर्धनों-असहायों के भोजन के लिए जो लंगर क़ायम किए थे, उनमें प्रत्येक दिन का ख़र्च पाँच सौ अशरफ़ी था। इसके अतिरिक्त उसने

सल्तनत के सभी विकलांग व्यक्तियों, विधवा महिलाओं एवं रोगियों के लिए सहायता-पेंशन लागू किया। शेर शाह का यह नियम था कि जब उसकी फ़ौज कहीं पड़ाव डालती तो एलान करा देता कि किसी खेती को नुक़सान न पहुँचे और सवार पहरेदार नियुक्त कर देता। एक बार एक सिपाही ने किसी फसल की कुछ बालियाँ तोड़ लीं तो शेर शाह ने उसकी नाक छेदकर उसमें बालियों को लटका दिया और फिर पूरी यात्रा के दौरान उसकी टाँगें बाँधकर सिर नीचे और पाँव ऊपर किए साथ लिए फिरा। इसका परिणाम यह हुआ कि कोई सिपाही किसी खेत को नुक्सान पहुँचाने की हिम्मत नहीं करता था।

उसने क़ानून बनाया कि जिस इलाक़े में यात्रियों के साथ लूटपाट की घटना हो और अपराधी गिरफ़्तार न हों, तो जितना धन वे ले गए हों वह उस इलाक़े से दिलाया जाए, जहाँ यह घटना घटी हो। इसका परिणाम यह हुआ कि लूटपाट की घटनाएँ रुक गईं।

यह रुपया जो आजकल हम मुद्रा के रूप में इस्तेमाल करते हैं, शेर शाह की ईजाद (आविष्कार) है। फ़ौज में घोड़ों को पहचान के लिए दाग़ देने का रिवाज हर जगह आम है, यह तरीक़ा शेर शाह ही का निकाला हुआ है।

अंग्रेज़ी हुकूमत में गवर्नर जनरल और वायसराय का भी पद पाँच साल का होता था। अंग्रेज़-शासन के सम्पूर्ण इतिहास में कोई वायसराय भी ऐसा नहीं आया, जिसने अपने शासल-काल में शेर शाह के काल के बराबर शासन-व्यवस्था के क़ानून बनाए हों, इतने इलाक़े फ़तूह किए हों और इतने काम जनकल्याण के किए हों।

शेर शाह के कई कथन बड़ी बुद्धिमानी के हैं, उनमें से कुछ कथन निम्नलिखित हैं :

1. न्याय से बढ़कर कोई इबादत (Worship) नहीं।
2. बुराई के काम जनकल्याण के विरुद्ध हैं।
3. जो बादशाह ख़ुदा (ईश्वर) का आज्ञाकारी बनने में दृढ़ नहीं होता, प्रजा उसकी सेवा नहीं करती।
4. ज़ुल्म (अत्याचार) से सल्तनत हाथ से निकल जाती है, परलोक में शर्मिन्दगी होगी, देश वीरान होगा और प्रजा बिगड़ जाएगी।

5. बड़े आदमी का अर्थ यह है कि वह हर समय काम में व्यस्त रहे।
6. देश की हरियाली कृषि पर निर्भर है और कृषि की निर्भरता किसानों पर है, जितना वे ख़ुशहाल होंगे, धरती उतनी हरी-भरी होगी और जितना वे बदहाल होंगे धरती उतनी वीरान होगी।

शेर शाह सूरी के उत्तराधिकारी

शेर शाह पठानों के क़बीले 'सूर' से सम्बन्ध रखता था जिसके कारण वह इतिहास में शेर शाह सूरी के नाम से प्रसिद्ध हुआ, परन्तु सूरी वंश की यह हुकूमत अधिक समय तक क़ायम नहीं रह सकी। न तो शेर शाह के उत्तराधिकारी योग्य साबित हुए और न उसके पठान पदाधिकारी, जो सामूहिक हित पर अपने व्यक्तिगत हित को प्रधानता देते थे। शेर शाह के बाद उसका लड़का इस्लाम शाह (1545 ई॰—1554 ई॰) ही सफलतापूर्वक नौ साल हुकूमत कर सका। इस्लाम शाह के बाद उसका लड़का फ़िरोज़ शाह बारह वर्ष की उम्र में गद्दी पर बैठा, परन्तु उसका अपना मामा मुबारज़ ख़ाँ उसे क़त्ल करके महमूद ख़ाँ आदिल के नाम से सत्तासीन हो गया। इसके साथ ही जगह-जगह बग़ावतें शुरू हो गईं। पंजाब में शेर शाह के भतीजे सिकन्दर शाह ने बादशाही का एलान कर दिया, मुहम्मद शाह सूरी ने बंगाल में और दूसरे सरदारों ने बिहार एवं दिल्ली में गद्दी के दावे शुरू कर दिए। हुमायूँ ने जब भारत की इस गृह-युद्ध जैसी स्थिति देखी तो इस अवसर का फ़ायदा उठाते हुए काबुल की ओर से हमला कर दिया। नवम्बर 1554 ई॰ में उसने पेशावर पर और फ़रवरी 1555 ई॰ में लाहौर पर क़ब्ज़ा कर लिया। सिकन्दर शाह सूरी ने सरहिन्द के निकट मुक़ाबला किया, परन्तु पराजय का मुँह देखना पड़ा और जुलाई 1555 ई॰ में हुमायूँ दिल्ली में दाख़िल हो गया। इस प्रकार हुमायूँ ने अपनी खोई हुई सल्तनत फिर प्राप्त कर ली। परन्तु वह अभी अपनी सल्तनत को मज़बूत नहीं बना पाया था कि दिल्ली फ़तूह करने के कुछ माह बाद ही दिल्ली में अपने पुस्तकालय की सीढ़ी से गिरकर 24 जनवरी 1556 ई॰ को मर गया।

सूरी वंश (947 हि॰/1540 ई॰–962 हि॰/1555 ई॰)

1. शेर शाह सूरी – (947 हि॰/1540 ई॰–952 हि॰/1545 ई॰)
2. इस्लाम शाह सूरी – (952 हि॰/1545 ई॰–961 हि॰/1554 ई॰)
3. मुहम्मद आदिल शाह सूरी– (961 हि॰/1554 ई॰–962 हि॰/1555 ई॰)
4. सिकन्दर शाह सूरी – (961 हि॰/1554 ई॰–962 हि॰/1555 ई॰)

महत्वपूर्ण घटनाएँ

1483 ई॰ – बाबर का जन्म।

1486 ई॰ – शेर शाह का जन्म।

1504 ई॰ – बाबर का काबुल पर क़ब्ज़ा।

1522 ई॰ – क़ंधार पर बाबर का क़ब्ज़ा।

1524 ई॰ – लाहौर पर बाबर का क़ब्ज़ा।

1526 ई॰ – (21 अप्रैल) पानीपत की पहली जंग। बाबर ने इबराहीम लोधी को पराजित किया।

1527 ई॰ – (16 मार्च) बाबर ने कनवाहा की जंग में राणा सांगा को पराजित किया।

1529 ई॰ – (6 मई) घाघरा की जंग में बाबर ने अफ़ग़ानों को पराजित किया।

1535 ई॰ – हुमायूँ का गुजरात और मालवा पर अस्थायी क़ब्ज़ा।

1539 ई॰ – (26 जून) शेर शाह ने चौसा नामक स्थान पर हुमायूँ को पराजित किया।

1540 ई॰ – (16 मार्च) शेर शाह ने कन्नौज के पास बिलग्राम की जंग में हुमायूँ को पुनः पराजित किया।

1542 ई॰ – मालवा और मुल्तान पर शेर शाह का क़ब्ज़ा।

1542 ई॰ – (15 अक्तूबर) अकबर का जन्म।

1543 ई॰ – सिंध और मारवाड़ पर शेर शाह का क़ब्ज़ा।

1555 ई॰ – (जुलाई) हुमायूँ का दिल्ली पर क़ब्ज़ा।

अध्याय-20

दिल्ली की महान तैमूरी सल्तनत (1)

(1556 ई०–1719 ई०)

1. जलालुद्दीन अकबर (1556 ई०–1605 ई०)

पानीपत की दूसरी जंग

हुमायूँ की मृत्यु के समय उसका लड़का अकबर दिल्ली में नहीं था। वह अपने संरक्षक बैरम ख़ाँ के साथ पंजाब में बचे-खुचे सूरी अफ़ग़ानों के ख़िलाफ़ कार्रवाई में व्यस्त था। जब हुमायूँ की मृत्यु की सूचना मिली तो बैरम ख़ाँ ने वहीं ज़िला गुरदासपुर के एक गाँव कलानूर में अकबर की तख़्तनशीनी की रस्म अदा की (14 फ़रवरी 1556 ई०)। हुमायूँ यद्यपि दिल्ली पर क़ाबिज़ हो गया था, परन्तु सूरी अफ़ग़ानों की ताक़त अभी तक टूटी नहीं थी। हुमायूँ की मृत्यु के बाद आदिल शाह सूरी के हिन्दू सिपहसालार हेमू बक़ाल ने आगरा एवं दिल्ली पर क़ब्ज़ा कर लिया। पानीपत के ऐतिहासिक मैदान में जहाँ बाबर ने इबराहीम लोधी को पराजित किया था, अकबर और हेमू बक़ाल की फ़ौजों का मुक़ाबला हुआ। अकबर की फ़ौज ने, जिसका नेतृत्व बैरम ख़ाँ कर रहा था, हेमू को पराजित कर दिया और हेमू जंग में मारा गया। इस प्रकार दिल्ली एवं आगरा पर एक बार फिर तैमूरी (मुग़ल) फ़ौजों का क़ब्ज़ा हो गया।

अकबर सिंध के क़स्बे अमरकोट (Amarkot) में 1542 ई० में पैदा हुआ था। यह वह ज़माना था जब हुमायूँ शेर शाह से हारकर इधर-उधर भागा फिर रहा था। इसी परेशानी की हालत में अकबर पैदा हुआ, परन्तु उस समय किसे मालूम था कि यह बच्चा जो विषम परिस्थिति में पैदा हुआ है, एक दिन इतनी बड़ी सल्तनत का मालिक बन जाएगा जो उसके बाप-दादा की हुकूमत से कहीं बड़ी होगी। अकबर जिस समय कलानौर (Kalanaur) में गद्दी पर

बैठा उस समय उसकी उम्र मात्र तेरह साल थी। अकबर की कम उम्री के कारण सल्तनत की व्यवस्था कई वर्ष तक उसके योग्य एवं वफ़ादार संरक्षक बैरम ख़ाँ ने सम्भाली। उसके प्रयासों से कुछ साल में ही सल्तनत की बुनियादें मज़बूत हो गईं और जब 1560 ई॰ में अकबर ने हुकूमत की बागडोर अपने हाथ में ली तो उसकी हुकूमत इतनी शक्तिशाली हो चुकी थी कि मुल्क की प्रान्तीय हुकूमतों के ख़िलाफ़ फ़ौजी कार्रवाई कर सके। अतः अकबर ने अपनी सल्तनत की सीमाओं को तेज़ी से बढ़ाना शुरू किया। सल्तनत के विस्तार का यह काम अधिकतर उसके सिपहसालारों ने किया। परन्तु अकबर स्वयं भी एक अच्छा फ़ौजी और सिपहसालार था। वह संघर्ष एवं जुझारूपन में बाबर से कम नहीं था। अकबर ने एक-एक करके उत्तर भारत की उन सभी हुकूमतों को ख़त्म कर दिया जो दिल्ली-सल्तनत के पतन के बाद क़ायम हुई थीं। अकबर की फ़ौजों ने 1564 ई॰ में मालवा, 1569 ई॰ में राजपूताना, 1573 ई॰ में गुजरात और 1575 ई॰ में बंगाल पर क़ब्ज़ा कर लिया। अब तक कश्मीर पर दिल्ली के बादशाहों की हुकूमत क़ायम नहीं हुई थी। अकबर ने पहली बार 1587 ई॰ में कश्मीर पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। इसके बाद 1591 ई॰ में सिंध, 1592 ई॰ में उड़ीसा और 1595 ई॰ में बलूचिस्तान एवं क़ंधार पर भी तैमूरी फ़ौजों का क़ब्ज़ा हो गया।

दक्कन (दक्षिण भारत)

उत्तर भारत पर क़ब्ज़ा हो जाने के बाद अकबर ने दक्कन (दक्षिण भारत) का रुख़ किया। दक्कन में ख़ानदेश की फ़ारूक़ी[1] रियासत और अहमद नगर की निज़ाम शाही रियासत की सीमाएँ तैमूरी सल्तनत से मिलती थीं। इनमें ख़ानदेश के हुक्मरान राजा अली ख़ाँ फ़ारूक़ी ने अकबर की शक्ति को भाँपकर पहले ही दिल्ली की अधीनता स्वीकार कर ली थी, परन्तु अहमद

1. तापती-नदी और नर्मदा-नदी के बीच का भूभाग ख़ानदेश कहलाता था। उपजाऊ भूमि और अच्छे मौसम की दृष्टि से श्रेष्ठ था। 1388 ई॰ में यहाँ मलिक राजा फ़ारूक़ी ने आज़ाद हुकूमत की बुनियाद डाली थी। ख़ानदेश के ये हुक्मरान फ़ारूक़ी सुल्तान कहलाते थे। उनकी राजधानी बुरहानपुर-शहर में थी। यह शहर उसी ज़माने में आबाद हुआ और एक बुज़ुर्ग बुरहानुद्दीन के नाम पर इसका नाम बुरहानपुर रखा गया।

नगर की निज़ाम शाही हुकूमत[1] ने अधीनता स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। इधर राजा अली ख़ाँ फ़ारूक़ी के मरने के बाद उसके लड़के बहादुर ख़ाँ ने भी अकबर की अधीनता ठुकरा दी। अकबर ने 1009 हि॰/1600 ई॰ में बुरहानपुर और असीर-क़िला फ़त्ह करके फ़ारूक़ी सल्तनत का अन्त कर दिया और अहमद नगर फ़त्ह करके बरार और अहमद नगर को भी अपनी सल्तनत में मिला लिया, परन्तु अहमद नगर के दक्षिण-पश्चिम का क्षेत्र निज़ाम शाहियों के ही क़ब्ज़े में रह गया।

अकबर ने कुल पचास साल हुकूमत की और इस अवधि में इतनी बड़ी सल्तनत क़ायम कर ली जो क्षेत्रफल की दृष्टि से दिल्ली-सल्तनत के बराबर थी। यह ठीक है कि दक्कन का एक बड़ा भूभाग और दक्षिण भारत अकबर की सल्तनत में सम्मिलित नहीं था, परन्तु कश्मीर, बलुचिस्तान, काबुल और

---

1. निज़ाम शाही हुकूमत की बुनियाद बहमनी सल्तनत के पतन के बाद एक बहमनी गवर्नर अहमद निज़ाम शाह ने 1490 ई॰ में डाली और अहमद नगर के नाम से एक नया शहर आबाद किया था जो निज़ाम शाही हुकूमत की राजधानी था। 1574 ई॰ में इमाद शाही हुकूमत को ख़त्म करके बरार भी निज़ाम शाही हुकूमत में मिला लिया गया। तालीकोटा की जंग के अवसर पर यहाँ हुसैन निज़ाम शाह की हुकूमत थी। मशहूर मलिका (महारानी) चाँद बीबी (1550 ई॰–1600 ई॰) जिसने अहमद नगर में अकबर की फ़ौज का कई सालों तक वीरतापूर्वक मुक़ाबला किया, इसी हुसैन निज़ाम शाह की बेटी थी और बीजापुर के अली आदिल शाह की पत्नी थी। निज़ाम शाही हुक्मरानों में सलाबत ख़ाँ और मलिक अम्बर के नाम बहुत प्रमुख हैं। सलाबत ख़ाँ (मृत्यु-998 हि॰) के बारे में कहा जाता है कि महाराष्ट्र के क्षेत्र में किसी व्यक्ति ने प्रजा की भलाई एवं कल्याण का उसके बराबर काम नहीं किया। मलिक अम्बर (मृत्यु 1035 हि॰/1625 ई॰) एक हबशी गवर्नर था जिसने अन्तिम काल में बीस-पच्चीस साल तक निज़ाम शाही सल्तनत के बचे हुए इलाक़े को दिल्ली-सल्तनत के क़ब्ज़े में जाने से बचाए रखा। वह अपनी शासन-व्यवस्था एवं न्याय-इनसाफ़ के लिए प्रसिद्ध था। मरहटों ने छापामार युद्ध का प्रशिक्षण सर्वप्रथम उसी से प्राप्त किया था। कुछ इतिहासकारों ने मलिक अम्बर को अपने काल का सबसे योग्य और बुद्धिमान व्यक्ति बताया है। निज़ाम शाही हुक्मरान शिया-मत से सम्बन्ध रखते थे। उनके काल में हबशियों को बड़ी तरक़्क़ी मिली, परन्तु ये हबशी सरदार सुन्नी-मत के माननेवाले थे।

क़ंधार उसकी सल्तनत में सम्मिलित थे। ये वे इलाक़े हैं जो दिल्ली-सल्तनत के अंग नहीं थे।

कारनामे

अकबर यद्यपि पढ़ा-लिखा नहीं था, परन्तु उसने सल्तनत की शासन-व्यवस्था ऐसी की और मुल्क को ऐसी तरक़्क़ी दी कि आश्चर्य होता है। उसने अपनी सल्तनत को पन्द्रह प्रान्तों में बाँट दिया और हर प्रान्त में एक सूबेदार (गवर्नर) नियुक्त किया। उसने किसानों से सम्बन्धित शेर शाह के सुधारों को तरक़्क़ी दी। इस काम में फ़तुहुल्लाह शीराज़ी ने और एक हिन्दू राजा टोडरमल, जो शेर शाह के काल में काम कर चुका था, ने अकबर की बड़ी मदद की। अकबर ने शासन-प्रणाली से सम्बन्धित नए-नए क़ानून भी बनाए जिनपर इतनी लम्बी अवधि बीतने के बाद आज भी अमल होता है। अबुल-फ़ज़्ल ने अकबर के बनाए हुए संविधान एवं क़ानून का उल्लेख अपनी किताब 'आईने-अकबरी' में किया है। इस किताब में सल्तनत के सभी प्रान्तों की पैदावार, व्यापार, भौगोलिक स्थिति एवं आर्थिक हालत पर प्रकाश डाला गया है। अकबर ने सरकारी पदाधिकारियों के लिए जो प्रणाली बनाई थी वह मनसबदारी प्रणाली कहलाती थी। उसके अनुसार पदाधिकारियों के 33 वर्ग सृजित किए गए थे। दस हज़ारी सबसे बड़ा मनसब (पद) होता था। उससे कम आठ हज़ारी, सात हज़ारी और पाँच हज़ारी के मनसब थे। सबसे छोटा मनसब दस का होता था। अकबर के काल के मनसबदार, जिन्हें सूबों (प्रान्तों) का हाकिम (गवर्नर) नियुक्त किया जाता था, प्रशासनिक और फ़ौजी दोनों अधिकार रखते थे। परन्तु अदालती अधिकार क़ाज़ी को प्राप्त होते थे। फ़ौज तीन प्रकार की थी। एक नियमित फ़ौज जो बादशाह के पास राजधानी में होती थी, दूसरी मनसबदारों की फ़ौज जिसके लिए मनसबदारों को बाक़ायदा तनख़्वाह दी जाती थी और तीसरी राजपुताना की टैक्सदाता हिन्दू रियासत की फ़ौज जिसे ज़रूरत पड़ने पर बुलाया जाता था।

ज्ञान एवं साहित्य का संरक्षण

अकबर ने अनपढ़ होते हुए भी ज्ञान एवं साहित्य को संरक्षण दिया।

उसके काल में जैसे बड़े-बड़े विद्वान पैदा हुए हैं, वैसे भारत के इतिहास में किसी बादशाह के काल में नहीं हुए।

उसके काल के सबसे बड़े आलिम मुजद्दिद-अल्फ़सानी और शाह अब्दुल-हक़ थे, परन्तु उनका शाही दरबार से कोई सम्बन्ध नहीं था। उन्होंने बादशाहों के संरक्षण से आज़ाद रहकर उसी प्रकार काम किया, जिस प्रकार इमाम अबू-हनीफ़ा, इमाम शाफ़िई और इमाम तबरी आदि ने अब्बासियों के ज़माने में, इमाम ग़ज़ाली, अब्दुल-क़ादिर जीलानी और इब्ने-जौज़ी ने सल्जूक़ियों के ज़माने में और इब्ने-तैमिया ने मिस्र के ममलूक बादशाहों के ज़माने में काम किया।

परन्तु उस ज़माने के आलिमों एवं फ़ाज़िलों की बड़ी संख्या बादशाही दरबार से सम्बद्ध थी। दरबार में उन्हें बड़ा सम्मान प्राप्त था और उन्हें बड़े-बड़े पेंशन मिलते थे। उनमें एक फ़ैज़ी है। फ़ैज़ी उस ज़माने का फ़ारिसी का सबसे बड़ा शायर हुआ है। वह शायर के अतिरिक्त एक बड़ा लेखक भी था। कहा जाता है कि उसने 99 किताबें लिखी थीं। फ़ैज़ी का भाई अबुल-फ़ज़्ल भी उस काल का एक महान लेखक था। अबुल-फ़ज़्ल अकबर का मंत्री था और उसने 'अकबरनामा' और 'आईने-अकबरी' के नाम से उस काल की दो इतिहास-पुस्तक की रचना की। अबुल-फ़ज़्ल अपने काल का सबसे महान निबंध-लेखक समझा जाता था। काशग़र का बादशाह कहा करता था कि मैं अकबर की तलवार से उतना नहीं डरता, जितना अबुल-फ़ज़्ल के क़लम से डरता हूँ।

अकबर के दरबार के सबसे बड़े इतिहासकार अब्दुल-क़ादिर बदायूनी हुए हैं। उन्होंने अकबर के आदेश से कई किताबों का अरबी और संस्कृत से फ़ारिसी में अनुवाद किया, परन्तु उनकी अपनी रचना 'मुंतख़बुत-तवारीख़' बहुत प्रसिद्ध हुई। इस किताब की विशेषता यह है कि इसमें अन्य दरबारी इतिहासों की तरह बादशाह की ख़ुशामद (यशोगान) नहीं बल्कि उस काल की सच्ची घटनाओं का निष्पक्ष चित्रण किया गया है। इससे हमें ऐसी रोचक बातें मालूम होती हैं जो अन्य किताबों से मालूम नहीं हो सकतीं।

अकबर को भवन-निर्मान का भी बड़ा शौक़ था। आगरा का क़िला,

फ़त्हपुर सीकरी के महलों की बस्ती जिसकी मस्जिद का दरवाज़ा दुनिया का सबसे ऊँचा दरवाज़ा है, दिल्ली में हुमायूँ का मक़बरा, लाहौर और श्रीनगर के क़िले उसी के बनवाए हुए हैं। यह सब इमारतें बड़ी सुन्दर एवं दर्शनीय हैं।

अकबर ने हिन्दुओं के साथ बड़ा अच्छा व्यवहार किया और उन्हें सल्तनत में बड़े-बड़े पद दिए। इससे पहले इस्लामी हुकूमत में हिन्दुओं को इतने अधिक उच्च पद कभी नहीं मिले थे। अकबर के हिन्दू दरबारियों में बीरबल, मानसिंह और टोडरमल बहुत प्रसिद्ध हैं।

दीने-इलाही

अकबर एक विवेकशील और प्रयोगधर्मी हुक्मरान था। उसे नए-नए प्रयोग करने का बड़ा शौक़ था। उसकी इस प्रवृत्ति से सल्तनत को फ़ायदा भी पहुँचा, लेकिन कुछ नए प्रयोगों से सल्तनत का नुक़सान भी बहुत हुआ। 1575 ई॰ में अकबर ने 'इबादत-ख़ाना' (पूजास्थल) के नाम से एक इमारत बनवाई। शुरू में वह बड़ा पक्का आस्थावान मुसलमान था। नमाज़ जमाअत से पाबन्दी के साथ पढ़ता था। ख़ुद अज़ान पुकारता, और इमामत भी करता था। यहाँ तक कि मस्जिद में ख़ुद अपने हाथ से झाड़ू भी लगाया करता था। उलमा (विद्वानों) का अदब-सम्मान करता था। पीर-बुज़ुर्गों के प्रति ऐसी श्रद्धा थी कि अजमेर जाकर मुरादें माँगता। एक बार तो आगरा से अजमेर तक पैदल सफ़र किया। अजमेर की दरगाह में चढ़ावे चढ़ाता और मुराक़बे (समाधि) में बैठता। फ़त्हपुर सीकरी में 1575 ई॰ में इबादत-ख़ाना का निर्माण उसकी एवं मज़हबी दिलचस्पी का प्रमाण है। इस इमारत में उलमा और फ़ुज़ला की हर सप्ताह सभा होती और बादशाह मज़हबी एवं इल्मी (बौद्धिक) बहसों में हिस्सा लेता, परन्तु दरबारी उलमा की संकीर्णता एवं कट्टरता ने, जो एक दूसरे से छोटी-छोटी बातों पर अनावश्यक विवाद करते थे, अकबर की नज़र में उलमा का भरम एवं अदब-सम्मान ख़त्म कर दिया। उसके दिल में अन्य धर्मों के साथ-साथ इस्लाम के सम्बन्ध में भी संदेह के अंकुर फूटने लगे। अब उसने हर मज़हब में सच्चाई की तलाश शुरू कर दी। उसके कुछ दरबारी उलमा, जिनमें शैख़ मुबारक, उनका बेटा अबुल-फ़ज़्ल और हकीम अबुल-फ़त्ह प्रमुख हैं, ने बादशाह को गुमराही से रोकने के

बजाय उसका प्रोस्तसाहन ही किया। अतः 1582 ई॰ में अकबर ने एक नए मज़हब का एलान कर दिया जिसे 'दीने-इलाही' का नाम दिया गया। इस मज़हब के अनुसार अकबर को इमामे-आदिल अर्थात न्याय करनेवाला इमाम, इमामे-मुजतहिद अर्थात मज़हब में नए संशोधन करनेवाला इमाम और मासूम अर्थात सभी अवगुणों से पाक घोषित किया गया। परन्तु उसका यह मज़हब चला नहीं। कुछ ख़ुशामदी दरबारियों-अधिकारियों के अतिरिक्त न हिन्दू उसपर ईमान लाए और न मुसलमान। अकबर का यह मज़हब चला तो नहीं परन्तु एक फ़ितना (बिगाड़) ज़रूर पैदा हो गया। अकबर ने वैसे तो इस्लाम से कभी इनकार नहीं किया पर उसके अमल ने इस्लाम को बहुत नुक़्सान पहुँचाया। शाही महल में शंख बजाए जाते और आग जलाई जाती, परन्तु नमाज़, रोज़ा, हज और ज़कात से बेपरवाही बरती जाती। गाय का मांस हराम क़रार दिया गया और शेर-भेड़िए का मांस हलाल हो गया। सूअर को पाक जानवर समझा जाने लगा। सूद, जुआ और शराब हलाल ठहराए गए। प्राचीन ईरानी एवं हिन्दू त्योहार बड़े नियमपूर्वक मनाए जाने लगे। दाढ़ी मुड़वाने का प्रचलन हुआ एवं उलमा तथा इस्लाम के प्रतीकों का मज़ाक़ उड़ाया जाने लगा। कुछ लोगों का कहना है कि अकबर व्यक्तिगत रूप से मुसलमान था और उसने यह तौर-तरीक़े हिन्दू एवं मुसलमानों में एकता स्थापित करने के लिए अपनाए थे, परन्तु वास्तविकता यह थी कि उससे न हिन्दू संतुष्ट हुए और न मुसलमान। दोनों ने इन बातों को अपने मज़हब में हस्तक्षेप समझा और सिवाय चंद ख़ुशामदी लोगों के न हिन्दू उसपर ईमान लाए और न मुसलमान।

अकबर ने हिन्दुओं का दिल जीतने एवं उन्हें अपना पक्षधर बनाने के लिए और भी कई क़दम उठाए। 1563 ई॰ में उसने हिन्दू तीर्थ-यात्रियों पर से टैक्स उठा दिए। 1564 ई॰ में उनसे जिज़्या लेना बन्द कर दिया। हिन्दुओं की धार्मिक भावना का ध्यान रखकर गाय की क़ुरबानी बन्द कर दी गई। राजपूत शहज़ादियों से अपनी और अपने शहज़ादों की शादियाँ की और महल के अन्दर उन्हें पूजापाट की इजाज़त दी। हालांकि मुशरिक औरतों से इस्लाम में शादी अवैध है। हिन्दुओं को महमूद ग़ज़नवी से अब तक हमेशा

सल्तनत में नौकरियाँ दी गई थीं, परन्तु अकबर ने उच्च पदों पर इतने अधिक हिन्दुओं को पदस्थापित किया कि अब तक नहीं किया गया था। भारत के वर्तमान हिन्दू इतिहासकार अकबर को हिन्दू-मुस्लिम एकल राष्ट्रवाद का संस्थापक मानते हैं। हिन्दुओं का सहयोग प्राप्त करने के लिए अकबर के कई क़दम यक़ीनन सराहनीय हैं, परन्तु उनसे हिन्दू क़रीब नहीं आ सके। उनकी एक पृथक राष्ट्रवादी विचारधारा क़ायम रही और राजपूताना में राणा प्रताप सिंह अन्तिम क्षण तक अकबर से लड़ता रहा। अकबर की इस पॉलिसी के परिणामस्वरूप एक ओर हिन्दुओं के हौसले बढ़ गए और दूसरी ओर हिन्दुओं के क़रीब आने से मुसलमानों में मुशरिकाना (अनेकेश्वरवादी) रस्मो-रिवाज और बहुत-सी बिदअतें शुरू हो गईं। उनकी अपनी आस्था में कमज़ोरी आ गई। हुकूमत मुसलमानों की थी, परन्तु हालत यह हो गई थी कि हज़रत मुजद्दिद अल्फ़सानी के शब्दों में "काफ़िर ग़ालिब होकर दारुल-इस्लाम में कुफ़्र के आदेश जारी करते थे और अहले-इस्लाम इस्लामी आदेश जारी नहीं कर सकते थे और अगर करते तो क़त्ल कर दिए जाते थे।"

2. नूरुद्दीन जहाँगीर (1605 ई०–1627 ई०)

अकबर के बाद उसका लड़का सलीम, जो जहाँगीर के नाम से ज़्यादा प्रसिद्ध हुआ, गद्दी पर बैठा। जहाँगीर (1605 ई०–1627 ई०) अपने पिता के विपरीत आरामतलब और ऐशपसंद था। अकबर के सभी लड़के दरबार के ग़ैर-मज़हबी माहौल में लालन-पालन के कारण शराब के आदी थे। शराब अकबर भी पीता था, परन्तु एक सीमा के अन्दर। उसके लड़कों ने इस मामले में सभी सीमाएँ तोड़ दी थीं। परिणामस्वरूप शहज़ादा मुराद और शहज़ादा दानियाल अत्यधिक शराब पीने के कारण जवानी ही में मर गए। जहाँगीर भी शराब के दुष्परिणाम झेल रहा था। अगर उसकी बुद्धिमान पत्नी नूरजहाँ उसकी शराब पीने की मात्रा कम न कर देती तो शायद जहाँगीर का हाल भी अपने भाइयों की तरह होता।

जहाँगीर यद्यपि आरामतलब और ऐशपसन्द था, परन्तु सल्तनत की

शासन-व्यवस्था में उसने कभी ग़फ़लत नहीं की। राजपूताना और बंगाल में दिल्ली की सत्ता का वर्चस्व उसी के काल में स्थापित हुआ, और वहाँ हर प्रकार का विद्रोह कुचल दिया गया। जहाँगीर के ज़माने में दक्कन में निज़ाम शाही हुकूमत से झड़पों का सिलसिला जारी रहा, परन्तु तैमूरी (मुग़ल) गवर्नरों की ग़फ़लत एवं अयोग्यता तथा निज़ाम शाही अमीर (गवर्नर) मलिक अम्बर हबशी की असाधारण योग्यता के कारण दक्कन में तैमूरी (मुग़ल) सल्तनत की सीमा आगे नहीं बढ़ सकी। हाँ, उत्तर में हिमालय के दामन में कांगड़ा फ़तूह हुआ (1620 ई॰), परन्तु इसके दो साल बाद ईरानियों ने क़ंधार पर 1622 ई॰ में क़ब्ज़ा कर लिया। जहाँगीर के ज़माने में दो अंग्रेज़ राजदूत विलियम हाकिन्स और टॉमस मूर भारत आए और अंग्रेज़ों को पहली बार व्यापारिक सुविधाएँ दी गईं। बंगाल में ढाका का शहर उसी ज़माने में आबाद किया गया और प्रान्त की राजधानी लखनौती से ढाका ले जाई गई।

जहाँगीर ने हिन्दुओं से अच्छा व्यवहार किया। इस मामले में बड़ी हद तक वह अपने पिता की नीतियों पर चलता रहा। लेकिन उसने अकबर की धार्मिक नीति नहीं अपनाई। गद्‌दी पर बैठने के बाद उसने जो बारह आदेश जारी किए उनमें से कुछ ये थे—सल्तनत में शराब एवं नशे की चीज़ें न बनाई जाएँ और न बेची जाएँ, किसी जुर्म में आदमी के नाक-कान न काटे जाएँ, कोई सरकारी पदाधिकारी किराया दिए बिना किसी के मकान में न रहे, और हर बड़े शहर में अस्पताल बनाए जाएँ।

जहाँगीर के ज़माने में हज़रत मुजद्‌दिद अल्फ़सानी ने इस्लाम को पुनर्स्थापित करने एवं ग़ैर-इस्लामी क्रियाकलाप को दूर करने में बड़ी कामयाबी हासिल की। शुरू में बादशाह को उनके बारे में ग़लतफ़हमी हो गई थी और उन्हें नज़रबन्द कर दिया था, परन्तु बाद में रिहा कर दिया।

न्याय की ज़ंजीर

न्याय एवं इंसाफ़ को जहाँगीर कितना महत्व देता था इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि इस मक़सद के लिए उसने आगरा के क़िले में एक ज़ंजीर लटका दी थी जिसका दूसरा सिरा बाहर सड़क पर था।

बादशाह का आदेश था कि जिस व्यक्ति के साथ अदालत में इनसाफ़ न हुआ हो वह इस ज़ंजीर को खींचे। इस ज़ंजीर को खींचने से महल में घंटियाँ बजने लगती थीं और बादशाह स्वयं उसकी शिकायत सुनने आ जाता था।

जहाँगीर चित्रकला का बड़ा शौक़ीन था। उसके काल में चित्रकला ने बहुत तरक़्क़ी की और चित्रकला की वह शैली जो 'मुक़िल मुसव्वरी' (गोंद की चित्रकला) कहलाती है उसके काल में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। उस्ताद अबुल-हसन नादिरुज़्ज़मान, उस्ताद मंसूर, बिशन दास और गोवर्धन उस काल के प्रमुख चित्रकार थे। कश्मीर जहाँगीर को बहुत पसंद था। वह प्रायः सैर-सपाटे के लिए वहाँ जाता था। कश्मीर में उसने कई बाग़ और इमारतें बनवाईं। उनमें शालीमार और निशात नामक बाग़ आज भी मौजूद हैं और श्रीनगर के दर्शनीय स्थलों में से हैं।

आगरा के निकट सिकन्दरा में अकबर का शानदार मक़बरा भी जहाँगीर के काल में निर्मित हुआ है। लाहौर और आगरा के क़िले में भी उसने कई अच्छी इमारतें बनवाईं। बाबर की तरह जहाँगीर ने भी फ़ारिसी में अपनी जीवनी लिखी। यह किताब 'तुज़्के-जहाँगीरी' कहलाती है। तुज़्के-बाबरी की तरह यह भी एक रोचक किताब है। इस किताब में बनावटीपन के बजाय सादगी और स्पष्टवादिता पाई जाती है।

जहाँगीर कश्मीर की सैर से वापस आ रहा था कि रास्ते में बीमार पड़ा और लाहौर पहुँचने से पहले ही मर गया। लाहौर पहुँचकर उसे दफ़न किया गया। उसके बेटे शाहजहाँ ने बाद में उसकी क़ब्र पर शानदार मक़बरा बनवाया, जो आज लाहौर की शानदार ऐतिहासिक यादगारों में से एक है।

3. शिहाबुद्दीन शाहजहाँ (1627–1657 ई॰)

जहाँगीर के बाद उसका बेटा ख़ुर्रम, शिहाबुद्दीन मुहम्मद शाहजहाँ के नाम से तख़्त पर बैठा। उस काल की अहम राजनीतिक घटनाओं में से एक हुगली (बंगाल) में पुर्तगालियों का हंगामा है, जिसके बाद पुर्तगालियों को 1632 ई॰ में स्थायी रूप से निकाल दिया गया। क़ंधार जिसपर ईरानियों ने जहाँगीर के काल में क़ब्ज़ा कर लिया था, 1638 ई॰ में ईरान ने पुनः वापस

ले लिया। इसके बाद शाहजहाँ ने तीन बार क़ंधार को जीतने की कोशिश की, परन्तु सफलता नहीं मिली। मध्य एशिया में बुख़ारा के हुक्मरान इमाम क़ुली के बाद उसके भाई नज़्र मुहम्मद को जब उज़्बेकों ने निकाल बाहर किया तो उज़्बेकों के आपसी गृह-युद्ध से फ़ायदा उठाते हुए शाहजहाँ ने अपने पैतृक वतन पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश की और 1646 ई॰ में बदख़शाँ एवं बल्ख़ पर क़ब्ज़ा कर लिया। परन्तु दिल्ली के सिपाही वहाँ के मौसम की मार न झेल सके और शाहजहाँ को अपनी फ़ौजें वापस बुलाना पड़ीं।

निज़ाम शाही हुकूमत का अन्त

इस काल में दिल्ली की फ़ौजों को दक्कन में विशेष कामयाबी मिली। 1636 ई॰ में अहमद नगर पर शाहजहाँ का स्थायी रूप से क़ब्ज़ा हो गया और निज़ाम शाही हुकूमत समाप्त कर दी गई। अन्तिम निज़ाम शाही हुक्मरान हुसैन निज़ाम शाह का वज़ीफ़ा (पेंशन) निर्धारित करके ग्वालियर के क़िले में नज़रबन्द कर दिया गया। उसी साल बीजापुर[1] और गोलकुण्डा की हुकूमतों ने शाहजहाँ की अधीनता स्वीकार कर ली। वे सालाना ख़िराज

---

1. उस ज़माने में बीजापुर में आदिल शाही और गोलकुण्डा में क़ुतुब शाही हुकूमत क़ायम थी। बीजापुर की हुकूमत का संस्थापक बहमनी अमीर (गवर्नर) यूसुफ़ आदिल शाह था जिसने 1490 ई॰ में बहमनी सल्तनत से आज़ादी का एलान कर दिया था। इस ख़ानदान का पाँचवाँ हुक्मरान अली आदिल शाह (1558 ई॰–1580 ई॰) था जो चाँद बीबी का पति था और जिसने तालीकोटा की जंग में हिस्सा लिया था। इबराहीम आदिल शाह द्वितीय (1580 ई॰–1626 ई॰) अली आदिल शाह का भतीजा था और इस ख़ानदान का सबसे बड़ा हुक्मरान था। 1619 ई॰ में उसने बीदर पर क़ब्ज़ा करके बरीद शाही रियासत का अन्त कर दिया। प्रसिद्ध इतिहासकार फ़िरिश्ता, हकीम फ़तुहुल्लाह शीराज़ी और फ़ारिसी के शायर ज़हूरी उसी के दरबार से सम्बद्ध थे। मुहम्मद आदिल शाह (1626 ई॰–1656 ई॰) इस ख़ानदान का अन्तिम प्रमुख हुक्मरान था। बीजापुर की हुकूमत दिल्ली और अहमद नगर की लड़ाइयों में अहमद नगर की समर्थक थी। इसके अतिरिक्त उनकी रियासत में बसनेवाले मराठे तैमूरी (मुग़ल) इलाकों पर छापे भी मारते रहते थे। इसलिए मुहम्मद आदिल शाह के ज़माने में शाहजहाँ ने अहमद नगर पर क़ब्ज़ा करने के बाद 1636 ई॰ में बीजापुर को दिल्ली-सल्तनत की अधीनता स्वीकार करने पर मजबूर कर दिया। मुहम्मद आदिल शाह ने दिल्ली को वार्षिक ख़िराज देना और ख़ुत्बा एवं सिक्के में शाहजहाँ का नाम जोड़ना स्वीकार कर लिया और इस प्रकार अपनी रियासत को बचा लिया। समझौते के अनुसार आदिल शाही हुकूमत इस बात की पाबन्द थी कि मराठा सरदार साहूजी भोंसला को, जिसे शाहजी भोंसला भी लिखा

(शेष फुटनोट पृष्ठ 300 पर)

(टैक्स) देने पर तैयार हो गईं और दोनों रियासतों में शाहजहाँ के नाम का सिक्का और ख़ुत्बा जारी हो गया। बीजापुर के हुक्मरान पर यह शर्त भी

जाता है, कोई पद नहीं देगी। साहूजी प्रसिद्ध मराठा सरदार शिवाजी का बाप था और मलिक अम्बर के ज़माने में उसने छापामार जंग का प्रशिक्षण प्राप्त किया था। मुहम्मद आदिल शाह के बाद रियासत में अशान्ति और बिखराव पैदा हो गया। मराठों की शक्ति बढ़ गई। शिवाजी ने बीजापुरी फ़ौज को 1659 ई॰ में पराजित किया और बीजापुरी सिपहसालार अफ़ज़ल ख़ाँ को धोका देकर क़त्ल कर दिया। इन परिस्थितियों में औरंगज़ेब ने सिकन्दर आदिल शाह के काल में चढ़ाई करके 1686 ई॰ में बीजापुर फ़तूह कर लिया और आदिल शाही हुकूमत का अन्त कर दिया। आदिल शाही हुक्मरान प्रायः शिया थे। केवल इबराहीम आदिल शाह प्रथम सुन्नी था। यहाँ ख़ुतबे में बारह इमामों के नाम लिए जाते थे, परन्तु प्रजा अधिकतर चूँकि सुन्नी थी इसलिए आदिल शाही हुक्मरानों ने किसी प्रकार के भेदभाव का परिचय नहीं दिया। इबराहीम आदिल शाह द्वितीय के बाद से बारह इमामों के साथ ख़ुलफ़ा-ए-राशिदीन का नाम भी ख़ुतबों में पढ़ा जाता था। बीजापुरी गवर्नरों में असद ख़ाँ और इबराहीम द्वितीय का वज़ीर शाहनवाज़ ख़ाँ प्रमुख हैं। अहमद नगर की तरह यहाँ भी हबशियों को तरक़्क़ी मिली। बीजापुर में साठ हज़ार हबशी थे। हबशी मंत्रियों में दिलावर ख़ाँ, सिपहसालारों में सुहैल ख़ाँ और नौसेना-अध्यक्ष याक़ूत हबशी के नाम बहुत प्रमुख हैं। दक्कन में सबसे शानदार इमारतें बीजापुर में ही बनाई गईं। आदिल शाही सुल्तान ज्ञान एवं साहित्य के भी सरपरस्त थे। उनमें अधिकतर शायर थे। उर्दू को सरकारी सरपरस्ती पहली बार आदिल शाही और क़ुतुब शाही दरबार में हुई। नुसरती उर्दू का प्रमुख शायर था और अली आदिल शाह के दरबार में शायरों का अध्यक्ष था। गोलकुण्डा की क़ुतुब शाही हुकूमत का संस्थापक सुल्तान क़ुली क़ुतुब शाह था। वह बहमनी सूबेदारों में से एक था। यह हुकूमत 1518 ई॰ में क़ायम हुई। इसके तीसरे सुल्तान इबराहीम क़ुतुबशाह (1550 ई॰–1580 ई॰) ने तालीकोटा की जंग में हिस्सा लिया था। मुहम्मद क़ुली क़ुतुब शाह (1580 ई॰–1611 ई॰) इस ख़ानदान का सबसे बड़ा हुक्मरान था। हैदराबाद का शहर 1589 ई॰ में उसी ने आबाद किया और राजधानी को गोलकुण्डा से हैदराबाद स्थानांतरित किया। अब्दुल्लाह क़ुतुब शाह ने 1636 ई॰ में दिल्ली की अधीनता स्वीकार कर ली थी और बीजापुर की तरह क़ुतुब शाही हुकूमत भी मुग़ल-सल्तनत की टैक्सदाता बन गई। अन्तिम हुक्मरान अबुल-हसन एक ऐशपसंद और आरामतलब हुक्मरान था। हुकूमत हिन्दू मंत्रियों के हाथ में चली गई जो मराठों से मिले हुए थे। इसलिए बीजापुर के बाद औरंगज़ेब ने 1687 ई॰ में गोलकुण्डा फ़तूह करके क़ुतुब शाही हुकूमत का भी अन्त कर दिया। सिकन्दर आदिल शाह की तरह अबुल-हसन तानाशाह को क़िला दौलताबाद में नज़रबन्द कर दिया गया और उनके वज़ीफ़े (पेंशन) निर्धारित कर दिए गए। निज़ाम शाहियों, आदिल शाहियों की तरह क़ुतुब शाही हुक्मरान भी शिया थे। उन्होंने भी उर्दू की सरपरस्ती की। उनमें तीन बादशाह ऐसे थे जिनके कविता- संग्रह थे। उनमें मुहम्मद क़ुली क़ुतुब शाह सबसे अच्छा शायर था। अब्दुल्लाह क़ुतुब शाह के दौर में दक्कनी उर्दू अपनी चरम पर थी। मुल्ला वजही की 'सबरस' जिसे उर्दू गद्य की पहली किताब कहा जाता है 1635 ई॰ में अब्दुल्लाह क़ुतुब शाह के दौर में लिखी गई।

लगाई गई कि वह मराठा सरदार साहूजी भोंसला को, जो दिल्ली-सल्तनत के इलाक़े पर छापे मारा करता था, रियासत में कोई पद नहीं देगा।

निर्माण-कार्य

शाहजहाँ ने तीस साल हुकूमत की। इतिहासकारों ने उसके काल को मुग़ल-सल्तनत का स्वर्णिम काल कहा है। उसके काल में जिस प्रकार शान्ति-व्यवस्था थी और मुल्क जैसा ख़ुशहाल था, वैसा पहले कभी नहीं था। शाहजहाँ को इमारतें बनवाने का बहुत शौक़ था। इस मामले में वह अकबर से भी आगे बढ़ गया। उसकी बनवाई हुई इमारतें अकबर की इमारतों से संख्या में भी ज़्यादा हैं और ख़ूबसूरत भी ज़्यादा हैं। उसके काल में मुग़ल की स्थापत्य-कला अपने चरम पर पहुँच गई। स्थापत्य के क्षेत्र में वह अन्दलुस के अब्दुर्रहमान महान, तुर्कों के सुलैमान महान और ईरान के अब्बास महान से कम नहीं था, बल्कि शायद कुछ ज़्यादा था। उसने पुरानी दिल्ली के पास एक पूरा शहर आबाद किया जो शाहजहाँबाद कहलाता था। यही शहर अब पुरानी दिल्ली के नाम से मशहूर है। शाहजहाँ के ज़माने में यह दुनिया के सुन्दरतम शहरों में गिना जाता था। इसी शहर में उसने लाल क़िला और उसके अन्दर ख़ूबसूरत महल एवं सरकारी इमारतें बनाईं जिनमें बादशाह का दरबार लगता था। इस शहर में उसने एक जामा मस्जिद बनवाई जो आज भी दुनिया की शानदार मस्जिदों में गिनी जाती है। इसी प्रकार आगरा के क़िले में, जो अकबर का बनवाया हुआ था, शाहजहाँ ने एक मस्जिद बनवाई जो मोती-मस्जिद कहलाती है। यह मस्जिद ज़्यादातर संगे-मरमर की है और कुछ लोगों के अनुसार दुनिया की सबसे ख़ूबसूरत मस्जिद है। लाहौर में जहाँगीर का मक़बरा और शालीमार बाग़ शाहजहाँ के आदेश से ही बनाए गए। इसी प्रकार कश्मीर की शाही मस्जिद और चश्मा-ए-शाही का बाग़ तथा सिंध में ठठ्ठा की जामा मस्जिद उसी के ज़माने में बनाई गई।

शाहजहाँ के काल की इमारतों में ताजमहल सबसे ज़्यादा मशहूर है। यह उसका और उसकी बीवी मुमताज़ महल का मक़बरा है और पूरी तरह संगे-मरमर से निर्मित है। इसपर कई करोड़ रुपये ख़र्च हुए। क़ब्रों पर इतनी रक़म ख़र्च करना कुछ अच्छा नहीं मालूम होता, परन्तु कुछ बादशाहों को

इसका शौक़ था। यदि शाहजहाँ यह रक़म नूरुद्दीन एवं सलाहुद्दीन की तरह मदरसों और अस्पतालों की तामीर पर ख़र्च करता तो वह ख़ुद भी नेकी कमाता और मुल्क को भी फ़ायदा पहुँचता। फिर भी इन इमारतों से लोगों को कुछ-न-कुछ फ़ायदा पहुँचा। हज़ारों-लाखों मज़दूर बरसों रोज़गार से लगे रहे। सिर्फ़ ताजमहल के निर्माण में बीस हज़ार मज़दूर सोलह वर्षों तक काम करते रहे।

शाहजहाँ के काल की इन इमारतों का उल्लेख करने के बाद बड़ा अन्याय होगा यदि हम उस काल के एक प्रसिद्ध वास्तुविद् उस्ताद अहमद का उल्लेख न करें। उस्ताद अहमद लाहौर के रहनेवाले थे। उस काल की कई इमारतें जिनमें ताजमहल, लाल क़िला और दिल्ली की जामा मस्जिद ज़्यादा मशहूर हैं, उन्हीं उस्ताद अहमद की बनाई हुई हैं। यूँ समझिए कि जो हैसियत सुलैमान महान के ज़माने में सनान की थी वही हैसियत शाहजहाँ के ज़माने में उस्ताद अहमद की थी।

यद्यपि शाहजहाँ ऐश्वर्य का जीवन गुज़ारता था और मुल्क की आमदनी का अधिकतर भाग अन्य बादशाहों की तरह अपने और अपने शाही ख़ानदान के ऐशो-आराम पर ख़र्च कर देता था, परन्तु फिर भी वह दूसरों से अलग था। उसे अपनी प्रजा के सुख का भी ध्यान रहता था। वह अच्छी आदतों और जनकल्याण के कामों के कारण प्रजा में बड़ा लोकप्रिय था। उसके ज़माने में यूरोप के कई पर्यटक भारत आए। उन्होंने शाहजहाँ की हुकूमत को 'एक दयालु पिता का शासन' की संज्ञा दी।

शाहजहाँ विद्वानों का भी क़द्रदान था और उन्हें बड़े-बड़े पुरस्कार देता था। एक बार उसने पाकिस्तान के एक मशहूर आलिम मुल्ला अब्दुल-हकीम सियालकोटी को चाँदी से तौल दिया और यह सब चाँदी उन्हें इनाम में दे दी।

शाहजहाँ मज़हब का भी पाबन्द था। वह अकबर और जहाँगीर की तरह शराब नहीं पीता था, न उनकी तरह ऐशपसंद था। अकबर ने यह नियम बनाया था कि जो कोई दरबार में आए तो वह बादशाह को सलाम के बदले सजदा किया करे। इस सजदे को सजदा-ए-ताज़ीमी (अर्थात सम्मान प्रकट करने हेतु सजदा) कहा जाता था, परन्तु मुसलमान अल्लाह के अतिरिक्त

किसी के आगे सिर नहीं झुकाता। यह सजदा इस्लाम के आदर्श के ख़िलाफ़ था। शाहजहाँ ने अपने ज़माने में सजदा-ए-ताज़ीमी का तरीक़ा बन्द कर दिया।

जहाँगीर और शाहजहाँ का पचास वर्षीय काल निस्सन्देह मुग़ल-काल का स्वर्णिम काल है। सीमा-विस्तार एवं युद्ध में सफलता का दौर अकबर के समय में ही लगभग ख़त्म हो चुका था। अब सारे मुल्क में शान्ति एवं अमन था। व्यापार एवं उद्योग विकासोन्मुख थे। मुल्क में खुशहाली एवं सस्तापन आम था। ज्ञान एवं साहित्य, सभ्यता एवं संस्कृति विकास की ओर अग्रसर थीं।

मुग़ल-अमीर (मुग़ल-उच्चाधिकारी)

अकबर और जहाँगीर के अमीरों में दो ऐसे अमीर हैं जिनके नाम स्वर्णाक्षरों से लिखे जाने के लायक़ हैं। उनमें एक अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना (964 हि०/1556 ई०—1036 हि०/1627 ई०) है और दूसरे शैख़ फ़रीद। अब्दुर्रहीम शहंशाह बाबर, हुमायूँ और अकबर के मशहूर अमीर बैरम ख़ाँ का लड़का था। वह एक अच्छा सिपहसालार, न्यायप्रिय और प्रजापालक हाकिम था। अकबर के ज़माने में दक्कन में विजय प्राप्त करने के अलावा अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना ने गुजरात एवं सिंध के प्रान्त भी फ़तह किए। वह विभिन्न समयों में जौनपुर, गुजरात, सिंध एवं दक्कन का सूबेदार रहा। उदारता एवं दानशीलता में वह अपने वक़्त का हातिम था। उलमा एवं बुज़ुर्गों की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से आर्थिक सहायता करता था। उसके सदक़ात एवं ख़ैरात अरब तक जाते थे। वह जब तक सत्ता में रहा उसने बुरहानपुर, गुजरात, लाहौर, दिल्ली और सूरत में अनेक मस्जिदें, मदरसे, स्नानागार, नहरें, तालाब, सराय एवं बाग़ात बनवाए। उसने बुरहानपुर और भारत के अन्य भागों में ख़रबूज़े और ईरान के अन्य फलों की खेती शुरू कराई। ख़ानख़ाना अरबी, फ़ारिसी, तुर्की, हिन्दी एवं सिंधी भाषाओं का विशेषज्ञ था। 'तुज़्के-बाबरी' का उसने अकबर के आदेश से फ़ारिसी में अनुवाद किया। वह फ़ारिसी और हिन्दी का महान शायर था। उसकी हिन्दी शायरी आज भी लोकप्रिय है। उसने शायरों का शाहाना तरीक़े से प्रोत्साहन किया। उर्फ़ी और नज़ीरी

वास्तव में उसी के दरबार के शायर थे। अब्दुल-बाक़ी नहावंदी ने 'मासिरे-रहीमी' के नाम से कई खण्डों में एक किताब लिखी है जिसमें अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना के कारनामों, जनकल्याणकारी कामों और उससे सम्बद्ध शायरों के हालात लिखे गए हैं।

नवाब मुर्तज़ा ख़ाँ शैख़ फ़रीदुद्दीन (मृत्यु 1616 ई॰/1025 हि॰) जहाँगीर के दौर के प्रमुख गवर्नर थे। जहाँगीर को गद्दी पर बैठाने में उनकी प्रमुख भूमिका थी। शैख़ फ़रीद, ख़ुवाजा बाक़ी बिल्लाह एवं हज़रत मुजद्दिद अल्फ़सानी के श्रद्धालुओं में से थे। उनकी मदद से उन्होंने जहाँगीर के काल में इस्लामी परम्पराओं को पुनर्स्थापित करने के लिए काम किया। वे गुजरात और पंजाब के सूबेदार भी रहे। उनके द्वारा किए गए जनकल्याण के काम अनगिनत हैं। विधवाओं एवं निर्धनों के लिए उन्होंने पेंशन निर्धारित कर रखे थे। वे प्रत्येक दिन एक हज़ार लोगों को खाना खिलाते थे और उन्हीं के साथ बैठकर ख़ुद भी खाना खाते थे। उन्होंने अहमदाबाद एवं अन्य स्थानों पर अनेक मुसाफ़िरख़ाने बनवाए। अहमदाबाद में शाह वजीहुद्दीन का मक़बरा और मस्जिद उन्हीं की बनवाई हुई है। दिल्ली के निकट फ़रीदाबाद की बस्ती, इमारतें और तालाब बनवाए और लाहौर में एक पूरा मुहल्ला बनवाया।

शाहजहाँ के काल में कई गवर्नर और सूबेदार ऐसे हुए हैं जो अपने न्याय एवं इनसाफ़ तथा जनहित के कार्यों के कारण बहुत प्रसिद्ध हैं। उनमें एक पंजाब के सूबेदार नवाब वज़ीर ख़ाँ (मृत्यु 1051 हि॰/1641 ई॰) हैं। वज़ीराबाद का शहर उन ही का आबाद किया हुआ है। लाहौर की मशहूर 'मस्जिद वज़ीर ख़ाँ' भी उन्हीं की बनवाई हुई है। उस मस्जिद के साथ पुस्तक-विक्रेताओं, जिल्दसाजों और ख़त्तातों (Calligraphers) की दुकानें थीं और साथ ही एक मदरसा एवं हम्माम (स्नानगृह) भी था। नवाब वज़ीर ख़ाँ चिनहट के रहनेवाले थे। वहाँ भी उन्होंने सड़कें, बाज़ार, अस्पताल, मदरसे, मस्जिद और कुएँ बनवाए। वज़ीर ख़ाँ अपने वक़्त के बहुत अच्छे चिकित्सक भी थे और उनकी गिनती शाही दरबार के तीन सबसे बड़े वैद्यों (चिकित्सकों) में होती थी उन्होंने नूरजहाँ और दारा शिकोह का चमत्कारिक इलाज किया

था।

शाहजहाँ के काल के वज़ीरों में सबसे महान वज़ीर सअदुल्लाह ख़ाँ अल्लामी (999 हि॰/1591 ई॰—1066 हि॰/1656 ई॰) थे। इन्हें मुग़ल-काल का सबसे बड़ा प्रधानमंत्री समझा जाता है। वे अरबी, फ़ारिसी और तुर्की भाषाओं पर पूर्ण अधिकार रखते थे और बहुत उच्च कोटि के निबंध-लेखक थे। अबुल-फ़ज़्ल के बाद मुग़ल-काल में केवल उन्हें ही अल्लामी की उपाधि मिली। उन्होंने अपने मंत्रित्वकाल में कई महत्त्वपूर्ण सुधार-कार्य किए। दिल्ली का लाल क़िला और जामा मस्जिद उन्हीं की निगरानी में बनाई गई। उनका यह कथन बहुत मशहूर है, "ईमानदारी प्रशंसनीय चीज़ है और वफ़ादारी बेहतरीन तरीक़ा है, परन्तु बादशाह के कामों में, जो प्रजा से सम्बन्धित होते हैं, बादशाह के बजाय प्रजा के हित का ख़याल रखना बेहतरीन वफ़ादारी है।"

पंजाब और कश्मीर के सूबेदार अली मरदान ख़ाँ (मृत्यु 1067 हि॰/1657 ई॰) की अहमियत यह है कि वह अपने वक़्त का बहुत बड़ा इंजीनियर था। लाहौर का मशहूर शालामार नामक बाग़ उसने अपने नक़्शे के अनुसार बनवाया था। अतः नहरें निकालने का वह विशेषज्ञ था। उसने काबुल, कश्मीर और पूर्वी पंजाब में कई नहरें निकलवाईं और पुरानी नहरों की मरम्मत करवाई और बाग़ात लगवाए।

कश्मीर का सूबेदार ज़फ़र ख़ाँ (मृत्यु 1073 हि॰/1662 ई॰) शाहजहाँ के काल का अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना था। वह काबुल का छह साल तक और कश्मीर का बारह साल तक सूबेदार रहा। बलतिस्तान उसी की सूबेदारी के ज़माने में फ़तूह हुआ। कश्मीर में ज़ाफ़रान (केसर) पर से टैक्स ख़त्म कराना उसका सबसे बड़ा कारनामा समझा जाता है। कश्मीर में उसने कई बाग़ लगवाए और कश्मीर में ईरान एवं तुर्किस्तान के उन फलों एवं फूलों की खेती कराई जो उस समय तक कश्मीर में नहीं होते थे। ज़फ़र ख़ाँ शायरों का बड़ा सरपरस्त था। कश्मीर में साइब, कलीम और ग़नी जैसे महान शायर उसके घर पर जमा होते थे और शायरी की महफ़िलें जमती थीं। वह ख़ुद भी एक ऐसा शायर था जिसकी शायरी का संग्रह मौजूद था।

महत्वपूर्ण घटनाएँ

- 1556 ई॰ — (14 फ़रवरी) कलानूर में अकबर की ताजपोशी।
- ● 1556 ई॰ — (5 नवम्बर) पानीपत की दूसरी जंग। अकबर ने हेमू बक़्क़ाल को पराजित किया।
- 1560 ई॰ — अकबर ने बैरम ख़ाँ से सत्ता अपने हाथ में ली।
- 1562 ई॰ — अकबर ने जयपुर के राजा की लड़की से शादी की।
- 1564 ई॰ — मालवा की फ़त्ह, गोंडवाना की फ़त्ह, जिज़्या ख़त्म कर दिया गया।
- 1567 ई॰ — चित्तौड़ की फ़त्ह।
- 1569 ई॰ — रणथंभौर की फ़त्ह।
- 1573 ई॰ — गुजरात की फ़त्ह।
- ● 1574 ई॰ — उत्तरी सिंध (भक्खर) की फ़त्ह।
- ● 1575 ई॰ — इबादत-ख़ाने का निर्माण।
- ● 1576 ई॰ — बंगाल की फ़त्ह।
- 1582 ई॰ — दीने-इलाही मज़हब की स्थापना।
- 1587 ई॰ — कश्मीर की फ़त्ह।
- 1591 ई॰ — दक्षिण सिंध (ठठ्ठा) की फ़त्ह।
- 1595 ई॰ — बलूचिस्तान और क़ंधार पर क़ब्ज़ा।
- ● 1600 ई॰ — अहमद नगर पर क़ब्ज़ा। ब्रिटेन में इस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना।
- 1601 ई॰ — असीरगढ़ (दक्कन) के क़िले पर अधिकार।
- 1609 ई॰ — जहाँगीर के दरबार में अंग्रेज़ी राजदूत विलियम हॉकिन्स की आमद।
- 1611 ई॰ — जहाँगीर की नूरजहाँ से शादी। मुसौलीपट्टम (गोलकुण्डा) में अंग्रेज़ों की फ़ैक्टरी की स्थापना।

- 1613 ई॰ – सूरत में अंग्रेज़ों को व्यापारिक कोठी क़ायम करने की अनुमति।
- 1615 ई॰ – दूसरे अंग्रेज़ी राजदूत टॉमस रॉ की जहाँगीर के दरबार में आमद।
- 1618 ई॰ – (24 अक्तूबर) औरंगज़ेब का जन्म।
- 1620 ई॰ – कांगड़ा की फ़त्ह।
- 1622 ई॰ – क़ंधार पर ईरान का क़ब्ज़ा।
- 1634 ई॰ – अंग्रेज़ों ने मद्रास में व्यापारिक कोठी क़ायम की और सेंट जॉर्ज का क़िला बनाया।
- 1636 ई॰ – बीजापुर और गोलकुण्डा की रियासतें दिल्ली की टैक्सदाता बनाई गईं।
- 1638 ई॰ – क़ंधार ईरान से वापस लिया गया। अहमद नगर पूर्णतः फ़त्ह हुआ।
- 1646 ई॰ – बल्ख़ और बदख़्शाँ की अस्थायी फ़त्ह।
- 1657 ई॰ – शाहजहाँ की बीमारी की सूचना पाकर बंगाल में शुजाअ ने और गुजरात में मुराद ने दिसम्बर में बादशाहत का एलान कर दिया। औरंगज़ेब ने, जो दक्कन में था, बादशाहत का एलान नहीं किया।
- 1658 ई॰ – ढाका में अंग्रेज़ों की व्यापारिक कोठी क़ायम हुई।

अध्याय-21

दिल्ली की महान मुग़ल-सल्तनत–2

(1657 ई॰–1719 ई॰)

मुहीयुद्दीन औरंगज़ेब आलमगीर (1657 ई॰–1707 ई॰)

प्रारम्भिक जीवन

शाहजहाँ के बाद उसका लड़का औरंगज़ेब, मुहीयुद्दीन आलमगीर के नाम से गद्दी पर बैठा। औरंगज़ेब भारत का सबसे बड़ा मुग़ल-हुक्मरान है। जिस प्रकार अरबों की सल्तनत वलीद के ज़माने में, सलजूक़ियों की सल्तनत मलिक शाह के ज़माने में और उसमानी सल्तनत प्रधानमंत्री मुहम्मद पाशा सोकुली के ज़माने में अपने चरम पर पहुँची हुई थी, उसी प्रकार दिल्ली की मुग़ल-सल्तनत औरंगज़ेब के ज़माने में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई थी।

औरंगज़ेब असाधारण क्षमताओं का स्वामी था। वह बचपन से ही बहादुर, बुद्धिमान और अच्छे आचरणवाला था। एक बार जब उसकी उम्र चौदह साल थी और शाहजहाँ क़िले पर से हाथियों की लड़ाई का तमाशा देख रहा था, नीचे अन्य लोगों के साथ औरंगज़ेब और उसके भाई भी अपने-अपने घोड़ों पर सवार तमाशा देख रहे थे। औरंगज़ेब को पता नहीं क्या शरारत सूझी कि अपना घोड़ा धीरे-धीरे हाथियों के बिलकुल निकट ले गया। अचानक एक हाथी ने उसपर हमला कर दिया, परन्तु औरंगज़ेब भागा नहीं। उसने निशाना साधकर एक भाला हाथी के माथे पर मारा। इसपर हाथी और ग़ुस्से में आ गया और औरंगज़ेब को घोड़े समेत अपनी सूँड़ से दाँतों के नीचे कर लिया। बहादुर शहज़ादा (औरंगज़ेब) तुरन्त छलांग लगाकर घोड़े से उतर गया और म्यान से तलवार निकालकर हाथी पर हमला कर दिया। भला हाथी और इनसान का क्या मुक़ाबला! वह तो भला हुआ कि राजा जयसिंह सिपाहियों को लेकर मदद को पहुँच गया। हाथी को मारकर

भगा दिया गया और शहज़ादा बच गया। औरंगज़ेब जब अपने माँ-बाप के पास पहुँचा, जो इस घटना के कारण परेशान थे, तो दोनों ने बेटे को गले से लगा लिया। बाप ने नसीहत करते हुए कहा, "बेटा ऐसी जगह अड़ते नहीं, हट जाते हैं।" औरंगज़ेब ने बाप को जवाब दिया, "अब्बा! खुदा ने औरंगज़ेब को हटने के लिए पैदा नहीं किया।"

शाहजहाँ ने औरंगज़ेब को बीस साल की उम्र ही से बड़े-बड़े प्रशासनिक काम की जिम्मेदारी देनी शुरू कर दी थी और उसने भी सफलतापूर्वक ये काम पूरे किए। कई साल तक वह दक्कन का सूबेदार रहा। इस ज़माने में उसने गोलकुण्डा और बीजापुर की हुकूमतों को मुग़ल-सल्तनत का अधीनस्थ टैक्सदाता बना दिया। उसने दक्कन के किसानों की हालत सुधारी और दक्कन को मुग़ल-सल्तनत का सबसे खुशहाल क्षेत्र बना दिया। इसके बाद वह सिंध का सूबेदार नियुक्त हुआ। इस प्रान्त को भी उसने बड़ी तरक़्क़ी दी और लहरीबन्दर के नाम से एक नई बन्दरगाह बनाई।

एक बार शाहजहाँ ने उसे उज़बेकों से जंग करने के लिए बल्ख़ भेजा जो अफ़ग़ानिस्तान में जैहून-नदी के किनारे एक ऐतिहासिक शहर है। उज़बकों की फ़ौज संख्या में ज़्यादा थी। उसने औरंगज़ेब की फ़ौज को घेरे में ले लिया। घमासान का युद्ध हो रहा था कि ज़ुहर का वक़्त आ गया। औरंगज़ेब फ़ौजी सरदारों के मना करने के बावजूद भी घोड़े से उतर पड़ा और इत्मीनान से बाजमात नमाज़ पढ़ी। उज़बेक-हुक्मरान अब्दुल-अज़ीज़ ख़ाँ को जब औरंगज़ेब की इस दिलेरी का हाल मालूम हुआ तो उसने जंग करने का विचार छोड़ दिया और कहा, "ऐसे व्यक्ति से लड़ना मौत को दावत देना है, जो खुदा से डरता है किसी दूसरे से नहीं डर सकता।"

राज्याभिषेक

औरंगज़ेब जब गद्दी पर बैठा तो उसकी उम्र चालीस साल थी, परन्तु उसे यह बादशाहत आसानी से नहीं मिली। इसके लिए उसे बड़ी मुश्किलों और ख़तरों से गुज़रना पड़ा। शाहजहाँ के कई बेटे थे। उनमें सबसे बड़े लड़के दारा शिकोह से बाप को बड़ी मुहब्बत थी, लेकिन दारा शिकोह में

हुकूमत करने की योग्यता बिलकुल नहीं थी। उसे जो भी काम सौंपा जाता वह उसे बिगाड़ देता था। इसके अतिरिक्त मज़हबी मामले में भी उसकी आस्थाएँ सही नहीं थीं। उसका स्वभाव और रुझान इस मामले में अकबर जैसा था। औरंगज़ेब का स्वभाव इसके विपरीत था। दारा शिकोह अगर बेदीनी की ओर झुकाव रखता था तो औरंगज़ेब दीनदार था। दारा शिकोह हुकूमत के मामलात में जितना आयोग्य था, औरंगज़ेब उतना ही योग्य था। दोनों भाइयों के स्वभाव और रुझान में इस अन्तर के कारण दोनों को एक-दूसरे से नफ़रत थी। अपनी हुकूमत के अन्तिम समय में जब शाहजहाँ बीमार पड़ा तो दारा शिकोह बाप के पास आगरा में था, और औरंगज़ेब राजधानी से दूर दक्कन में था। दारा शिकोह ने इस अवसर का फ़ायदा उठाकर गद्दी पर क़ब्ज़ा कर लेना चाहा परन्तु उसे औरंगज़ेब की ओर से ख़तरा था। इसलिए दारा शिकोह ने बाप की ओर से जाली ख़त बनाकर औरंगज़ेब को आगरा बुलवाना चाहा। औरंगज़ेब उसकी इस चाल को समझ गया और अपनी अनुभवी फ़ौज को लेकर आगरा रवाना हो गया। दारा शिकोह ने ग्वालियर के निकट चम्बल-नदी के किनारे समूगढ़ नामक स्थान पर औरंगज़ेब का मुक़ाबला किया। यद्यपि दारा शिकोह की फ़ौज की संख्या एक लाख बीस हज़ार थी और औरंगज़ेब के पास केवल तीस हज़ार फ़ौज थी, परन्तु जंग में औरंगज़ेब की फ़त्ह हुई और उसने आगे बढ़कर आगरा पर क़ब्ज़ा कर लिया। शाहजहाँ चूँकि बेटे की मुहब्बत में दारा शिकोह के षड्यंत्र में सम्मिलित हो गया था, इसलिए औरंगज़ेब ने उसे क़िले में नज़रबन्द कर दिया और कहा, "अब आपकी उम्र ज़्यादा हो चुकी है, ख़ुदा को याद कीजिए।"

बाद में दारा शिकोह पर मुरतद (इस्लाम से विमुख) होने के कारण मुक़दमा चलाया गया और अदालत ने उसे मौत की सज़ा दे दी।

औरंगज़ेब ने आगरा के बदले दिल्ली को राजधानी बनाया। उस ज़माने के एक फ़्रांसीसी पर्यटक बर्नियर ने, जो शाहजहाँ और औरंगज़ेब के दरबार में बारह साल रहा, लिखा है कि औरंगज़ेब जब दिल्ली पहुँचा तो जून का महीना था और तेज़ गर्मी पड़ रही थी। औरंगज़ेब ने इस गर्मी में रमज़ान के

पूरे रोज़े रखे। वह रोज़ा रखकर भी हुकूमत के सारे काम करता। शाम होती तो रोज़ा इफ़्तार करता। इफ़्तार में वह जौ और मकई की रोटी खाता, फिर तरावीह पढ़ता और रात का अधिकतर भाग इबादत में गुज़ारता।

औरंगज़ेब ने बादशाह बनने के बाद पचास साल हुकूमत की। उसने गोलकुण्डा और बीजापुर की हुकूमतों को फ़तह करके मुग़ल-सल्तनत में मिला लिया। उत्तर में लद्दाख़, पूरब में आसाम का एक बड़ा भूभाग एवं चटगाम मुग़ल-सल्तनत के अंग बना लिए गए। इस प्रकार औरंगज़ेब के ज़माने में मुग़ल-सल्तनत अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। अब तक भारतीय उपमहाद्वीप में इतनी विस्तृत एवं विशाल सल्तनत कभी क़ायम नहीं हुई थी।

शासन-व्यवस्था

औरंगज़ेब इस उपमहाद्वीप का सबसे बड़ा बादशाह है। वह केवल इस दृष्टि से ही बड़ा नहीं है कि उसके क़ब्ज़े में एक विशाल भूभाग था, बल्कि इस दृष्टि से भी कि अख़लाक़ (आचरण), आदत, मुहब्बत, ईमानदारी, न्याय और हुकूमत की ज़िम्मेदारी को पूरा करने एवं प्रजा की देखभाल में भी वह बेमिसाल था। वह सरकारी आमदनी को अपने निजी ख़र्च में नहीं लाता था, क्योंकि वह प्रजा की सम्पत्ति थी। प्रजा से जो रक़म टैक्स के द्वारा वुसूल की जाए उसे प्रजा पर ही ख़र्च करना चाहिए। उसे अपने निजी ऐशो-आराम और मक़बरों के निर्माण पर ख़र्च करना बुरी बात है। खुलफ़ा-ए-राशिदीन, नूरुद्दीन ज़ंगी, सलाहुद्दीन और खुद हिन्दुस्तान में नासिरुद्दीन महमूद का यही तरीक़ा था। औरंगज़ेब ने भी इस उच्च आदर्श को अपनाया। यहाँ हम एक घटना का उल्लेख करते हैं, जिससे औरंगज़ेब के स्वभाव का अंदाज़ा हो सकेगा।

शाहजहाँ यमुना-नदी के दूसरे किनारे पर ताजमहल के सामने उसी प्रकार का एक और मक़बरा बनाना चाहता था। उसका निर्माण-कार्य शुरू भी हो गया था। दोनों मक़बरों को मिलाने के लिए एक पुल बनाया जा रहा था, जिसमें दोनों ओर की जालियाँ चाँदी की बनवाई गई थीं। औरंगज़ेब जब बादशाह बना तो उसने हुक्म दिया कि सरकारी धन इन बेकार चीज़ो पर

ख़र्च नहीं करना चाहिए। इस चाँदी को गलाकर इसके सिक्के बनाए जाएँ और इस रक़म से सड़कें और पुल बनवाए जाएँ ताकि यात्रियों के लिए सुविधा हो। औरंगज़ेब ने अपने पचास वर्ष के शासनकाल में इसी आदर्श पर चलते हुए हुकूमत की। उसने सल्तनत में जो सुधार-कार्य किए वे बहुत अहम हैं। उनसे प्रजा को बहुत लाभ पहुँचा।

सुधार-कार्य

बादशाहत में जो ख़राबियाँ होती हैं उनमें से एक यह है कि शाही परिवार के लोग हर प्रकार की पाबन्दी से आज़ाद होते हैं। वे जिस चाहें लूट लें, और जिसे चाहें क़त्ल कर डालें। चूँकि वे बादशाह के रिश्तेदार होते थे इसलिए कोई उनसे पूछताछ नहीं कर सकता था। औरंगज़ेब ने इस ज़ुल्म को कठोरता से रोक दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि कोई शहज़ादा, सूबेदार या बड़े-से-बड़े पद पर आसीन व्यक्ति किसी को क़त्ल कराने की हिम्मत नहीं कर सकता था। ये सारे काम अदालत के माध्यम से होते थे और अदालत ही मुक़द्दमे के बाद मुजरिम को क़त्ल का आदेश दे सकती थी। औरंगज़ेब इनसाफ़ के मामले में इतना प्रतिबद्ध था कि उसके सामने अमीर-ग़रीब सब बराबर थे। उसने पूरे मुल्क में एलान करा दिया था कि यदि कोई बादशाह पर मुक़द्दमा चलाना चाहे, तो वह अदालत में मुक़द्दमा कर सकता है।

यह औरंगज़ेब का इतना बड़ा कारनामा है कि यदि उसने अपने काल में कोई और काम न भी किया होता तो भी उसका नाम इतिहास के पन्नों में जीवित रहता।

औरंगज़ेब का दूसरा बड़ा सुधार-कार्य 'महकमा-ए-एहतिसाब' (समीक्षा-विभाग) का क़ायम करना है। लोगों को अवैध और बुरे कामों से रोकने के लिए यह विभाग प्रायः हर इस्लामी हुकूमत में होता था, परन्तु मुग़ल-शासन में ऐसा कोई विभाग नहीं था। औरंगज़ेब ने लोगों में सुधार लाने के लिए इस विभाग को स्थापित किया। यह विभाग शराबख़ोरी और अन्य बुरे कामों की रोक-थाम करता था। इस विभाग ने जुआ खेलने पर भी पाबन्दी लगा दी और ज्योतिषों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया जो आज की तरह उस ज़माने

में भी सड़क के किनारे बैठे तक़दीर का हाल बताते थे।

बादशाह प्रायः शायरों का बहुत प्रोत्साहन करते थे और ये शायर अपना सारा समय बादशाह की प्रशंसा में क़सीदे (प्रशस्तियाँ) लिखने पर ख़र्च करते थे। औरंगज़ेब ने इस प्रकार की चाटुकारितापूर्ण शायरी बन्द करा दी। प्रशंसावाली शायरी वह बहुत कम सुनता था। हाँ, ऐसी शायरी सुन लिया करता था जिसमें कोई अच्छी बात कही गई हो, परन्तु शायरी सुनने के बाद कह देता था कि वे ऐसे निरर्थक कामों में अपना समय बरबाद न करें।

औरंगज़ेब ने दरबारियों को आदेश दे दिया था कि वे रंगीन एवं हीरे-जवाहर जड़े हुए लिबास न पहनें, क्योंकि इनसे ज़नानापन ज़ाहिर होता है।

अकबर ने हिन्दुओं से जिज़्या लेना बन्द कर दिया था। औरंगज़ेब ने उन हिन्दुओं पर, जो सैनिक-सेवा से मुक्त रहते थे, फिर जिज़्या लगा दिया। औरंगज़ेब का एक बड़ा कारनामा क़ानून (विधान) का निर्माण है। हुकूमत के अहकाम (आदेश/निर्देश) चूँकि शरीअत पर आधारित होते थे इसलिए औरंगज़ेब ने क़ानून (विधान) का एक नया संकलन तैयार करने का आदेश दिया। यह काम चालीस-पचास उलमा की एक सभा ने मिलकर पूरा किया। इस्लामी क़ानून का यह संग्रह 'फ़तावा आलमगीरी' के नाम से मशहूर है और छह खण्डों में है।

जनकल्याण के काम

औरंगज़ेब ने दक्कन के शहर औरंगाबाद से आगरा तक तथा लाहौर काबुल तक सड़कों के किनारे पक्के मुसाफ़िर-ख़ाने, बाज़ार, मस्जिद, कुएँ एवं स्नानगृह बनवाए और हर मंज़िल पर मुसफ़िरों के लिए मंज़िलगाह बनवाईं जिसमें वे अपनी सवारी और सामान रखते थे। इसके अतिरिक्त सभी पुरानी सरायों की मरम्मत कराने और पुलों के निर्माण का आदेश दिया। इस प्रकार के कामों पर औरंगज़ेब बहुत ख़र्च करता था। परिणाम यह हुआ कि रास्ते सुरिक्षत हो गए और यात्रियों को यात्रा में सुविधा हो गई और व्यापार को ख़ूब तरक़्क़ी मिली।

उसके काल में निर्धनों एवं अपाहिजों के लिए सहायता-गृह बनाए गए, जहाँ उन्हें खाना-कपड़ा आदि हुकूमत की ओर से दिया जाता था।

शिक्षा की ओर भी औरंगज़ेब ने विशेष ध्यान दिया। उसने सारे मुल्क में आलिमों (विद्वानों), फ़ाज़िलों और विद्यार्थियों के लिए वज़ीफ़े (पेंशन) निर्धारित कर दिए थे।

औरंगज़ेब मुग़ल-बादशाहों में सबसे ज़्यादा पढ़ा लिखा था। क़ुरआन का हाफ़िज़ था, तफ़्सीर, हदीस और फ़िक़्ह का ज्ञाता था। इमाम ग़ज़ाली की और अन्य उलमा की किताबें प्रायः पढ़ता रहता था। फ़ारिसी शायरी का उसने अच्छा अध्ययन कर रखा था। अरबी, फ़ारिसी, तुर्की और हिन्दी चारों भाषाओं पर पूर्ण अधिकार रखता था। औरंगज़ेब उच्च कोटि का सुलेखक (Calligrapher) था। क़ुरआन अपने हाथों से नक़ल करता था। एक क़ुरआन नक़ल करके मक्का भिजवाया। उसके हाथ के नक़ल किए हुए क़ुरआन एवं सूरतें आज भी मिलती हैं।

औरंगज़ेब फ़ारिसी भाषा का एक अच्छा निबन्ध-लेखक था। उसने जो पत्र लिखे हैं वे फ़ारिसी साहित्य में उच्च स्थान रखते हैं और हज़ारों की संख्या में आज भी मौजूद हैं। इन पत्रों के कई संग्रह पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हो गए हैं।

औरंगज़ेब को बड़े-बड़े महल और मक़बरे बनवाने का शौक़ नहीं था, वह केवल जनकल्याण के कामों पर धन ख़र्च करता था। उसे मस्जिद बनवाने का बहुत शौक़ था। मुल्क-भर में उसने हज़ारों मस्जिदें बनवाईं और हर साल हज़ारों मस्जिदों की मरम्मत भी करवाता था। मस्जिदों के कुल ख़र्च शाही ख़ज़ाने से पूरे किए जाते थे। इस मामले में उसे हिन्दुओं की भावनाओं का भी ध्यान रहता था। उसने हिन्दुओं के पाठशालाओं एवं पूजास्थलों की स्थायी आमदनी के लिए जागीरें दे रखी थीं।

औरंगज़ेब के ज़माने की इमारतों में सबसे मशहूर लाहौर की शाही मस्जिद है। यह दुनिया की सबसे बड़ी मस्जिद समझी जाती है। यह मस्जिद भी दिल्ली की शाहजहानी जामा मस्जिद की तरह ही है। यह मस्जिद 1675

ई० में पूरी हुई। ठठ्ठा की जामा मस्जिद का विस्तार भी उसी के काल में हुआ। मस्जिद का यह नया विस्तार शेष मस्जिद की अपेक्षा ज़्यादा अच्छी हालत में है और इसकी छत के ख़ूबसूरत नक़्शो-निगार आज भी देखने योग्य है।

औरंगज़ेब दिन-रात में केवल तीन घंटे ही सोता था। उसका अधिकतर समय शासन-व्यवस्था एवं इबादत में गुज़रता था। वह सल्तनत की एक-एक बात से बाख़बर रहता था। नव्वे साल की उम्र तक, जब उसका इन्तिक़ाल हुआ, उसकी मेहनत एवं परिश्रम का यह हाल था कि लोग ताज्जुब करते थे। उसकी ज़िन्दगी बहुत सरल एवं सादा थी। कपड़े भी साधारण पहनता था और खाना भी सामान्य खाता था। अख़लाक़ ऐसा था कि सारी ज़िन्दगी कभी अपशब्द मुँह से नहीं निकाले। वह अपना ख़र्च टोपियाँ सीकर और क़ुरआन की नक़ल करके (लिखकर) पूरा करता था।

औरंगज़ेब का दक्कन के शहर अहमद नगर में इन्तिक़ाल हुआ और औरंगाबाद के पास खुल्दाबाद में उसे दफ़न किया गया, जहाँ उसकी क़ब्र आज तक मौजूद है। उसकी लाश जब अहमद नगर से औरंगाबाद ले जाई जा रही थी तो रास्ते में लोग खड़े फूट-फूटकर रो रहे थे। जैसे वह उनका बाप था। मरने से पूर्व उसने वसीयत की थी कि साढ़े चार रुपए जो मेरे हाथ की मेहनत के हैं, और टोपियों की सिलाई से बचे हैं, उसी रक़म से कफ़न-दफ़न का ख़र्च पूरा किया जाए और आठ सौ पाँच रुपए जो क़ुरआन नक़ल करने की उजरत से प्राप्त हुए हैं उन्हें ग़रीबों में बाँट दिया जाए। एक इतिहासकार ने लिखा है—

> "हिन्दुस्तान के मुसलमान बादशाहों में यूँ तो अलाउद्दीन ख़िलजी, फ़िरोजशाह और शेर शाह ने जनकल्याण एवं प्रजा की भलाई के बहुत काम किए हैं परन्तु उनमें कोई ऐसा नहीं था कि जिसने पेवन्द लगा हुआ लिबास इसलिए पहना हो कि प्रजा पर इसका बोझ न पड़े। जिसने रूखी-सूखी रोटी इसलिए खाई हो कि प्रजा को दो वक़्त पेट भरकर खाना नसीब हो।"

शाइस्ता ख़ान

औरंगज़ेब के पदाधिकारियों में सबसे महान शाइस्ता ख़ान (मृत्यु–1694 ई॰/1105 हि॰) था। वह औरंगज़ेब का मामा था। दक्कन, गुजरात और मालवा का कई साल तक सूबेदार रहने के बाद उसको दो बार बंगाल का सूबेदार बनाया गया। पहली बार 1664 ई॰ से 1677 ई॰ तक और दूसरी बार 1680 ई॰ से 1688 ई॰ तक बंगाल का सूबेदार रहा। बंगाल के किसी सूबेदार ने इतिहास में शाइस्ता ख़ान के बराबर यश (नेकनामी) नहीं कमाया। उसके काल में चटगाँव मुग़ल-सल्तनत में शामिल हुआ और उसने हुगली के अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़, जो हुकूमत के ख़िलाफ़ षड्यंत्र कर रहे थे, कार्रवाई की। उसकी सूबेदारी के ज़माने में बंगाल में दो सौ मस्जिदें बनाई गईं। उसने सराय, पुल और मक़बरे भी बनवाए। ढाका की सुन्दर ऐतिहासिक इमारतें उसी की बनवाई हुई हैं और एक विशेष प्रकार के वास्तुशिल्प का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिसे उसके नाम पर शइस्ता ख़ानी वास्तुशिल्प कहा जाता है। शाइस्ता ख़ान न्याय एवं इन्साफ़ तथा प्रजा की देखभाल में अपनी मिसाल आप था।

उत्तराधिकारी

औरंगज़ेब के इन्तिक़ाल के बाद उसके लड़के मुहम्मद मुअज़्ज़म ने बहादुर शाह और शाह आलम प्रथम के नाम से पाँच साल तक और परपौत्र फ़र्रुख़ सियर (1712 ई॰–1719 ई॰) ने सात साल तक हुकूमत की। फ़र्रुख़ सियर के ज़माने में यद्यपि सल्तनत में ख़राबियाँ पैदा होना शुरू हो गई थीं, परन्तु इसके बावजूद उस समय तक मुग़ल-सल्तनत के प्रभाव एवं वर्चस्व में कोई अन्तर नहीं आया था। 1714 ई॰ में दक्कन के सूबेदार हुसैन अली ख़ान ने मराठों को दक्कन के कुछ प्रान्तों से चौथ और सरदेशमुखी के नाम से टैक्स वुसूल का अधिकार इस शर्त पर दे दिया था कि वे दिल्ली-सल्तनत की अधीनता स्वीकार करेंगे। यह अधिकार मुग़ल-सल्तनत के मामलात में मराठों के हस्तक्षेप एवं उनके शक्तिशाली बनने के कारण बना। 1720 ई॰ में बहादुर शाह का पौत्र मुहम्मद शाह गद्दी पर बैठा। उसका यह राज्याभिषेक मुग़ल-सल्तनत के पतन का प्रारम्भ-बिन्दु है।

(अगले क्रम के लिए देखें अध्याय–28)

दिल्ली की तैमूरी (मुग़ल) सल्तनत

(932 हि॰/1526 ई॰–1276 हि॰/1858 ई॰)

उत्थान काल – (932 हि॰/1526 ई॰–1131 हि॰/1719 ई॰)

1. बाबर – (932 हि॰/1526 ई॰–937 हि॰/1530 ई॰)
2. हुमायूँ – (937 हि॰/1530 ई॰–963 हि॰/1556 ई॰)
3. अकबर – (963 हि॰/1556 ई॰–1014 हि॰/1605 ई॰)
4. जहाँगीर – (1014 हि॰/1605 ई॰–1037 हि॰/1627 ई॰)
5. शाहजहाँ – (1037 हि॰/1627 ई॰–1068 हि॰/1657 ई॰)
6. औरंगज़ेब – (1068 हि॰/1657 ई॰–1118 हि॰/1707 ई॰)
7. बहादुर शाह – (1118 हि॰/1707 ई॰–1124 हि॰/1712 ई॰)
8. फ़र्रुख़ सियर – (1124 हि॰/1712 ई॰–1131 हि॰/1719 ई॰)

इसके बाद मुग़ल-सल्तनत का पतन शुरू हो गया।

महत्वपूर्ण घटनाएँ

- 1658 ई॰/1068 हि॰ – (15 अप्रैल) धर्मात की जंग। औरंगज़ेब ने नर्मदा-नदी के किनारे जसवन्त सिंह को पराजित किया। (26 मई) समूगढ़ की जंग। औरंगज़ेब ने दारा शिकोह को पराजित किया और 8 जून को आगरा में प्रवेश किया। 21 जुलाई को दिल्ली में बादशाहत का एलान।
- 1659 ई॰/1069 हि॰– (5 जनवरी) औरंगज़ेब ने शुजाअ को कछवाहा की जंग में पराजित किया।
- 1661 ई॰/1071 हि॰– शिवाजी ने सिपहसालार अफ़ज़ल ख़ाँ को धोखा देकर क़त्ल किया। बीजापूर, कूचबिहार और आसाम के एक भाग की फ़तूह।
- 1664 ई॰ – फ़्रांस ने ईस्ट इंडिया कम्पनी स्थापित की।

- 1666 ई॰ – चटगाम की फ़तूह। शिवाजी ने हथियार डाल दिए और दिल्ली आया जहाँ बादशाह ने पंचहज़ारी मंसब (पद) दिया, परन्तु इसके बाद वह छुपकर भाग गया। 22 जनवरी को शाहजहाँ की मृत्यु।
- 1670 ई॰ – शिवाजी ने सूरत की बन्दरगाह को लूटा।
- 1673 ई॰ – फ्रांस ने पांडीचेरी में व्यापारिक कोठी स्थापित की और अगले साल चन्दर नगर (बंगाल) में भी ऐसी ही कोठी स्थापित की।
- 1684 ई॰ – लद्दाख़ की फ़तूह।
- 1686 ई॰ – (12 सितम्बर) औरंगज़ेब ने बीजापुर फ़तूह किया। अंग्रेज़ों ने हुगली में हंगामा किया तो शाइस्ता ख़ान ने उन्हें वहाँ से निकाल दिया।
- 1687 ई॰ – (21 सितम्बर) औरंगज़ेब ने गोलकुण्डा को फ़तूह किया।
- 1689 ई॰ – मराठों की राजधानी रायगढ़ पर क़ब्ज़ा और शिवाजी का लड़का शम्भूजी मारा गया।
- 1690 ई॰ – बम्बई के अंग्रेज़ों की बग़ावत कुचल दी गई। अंग्रज़ों ने क्षमा माँगी।
- 1691 ई॰ – तंजौर और त्रिचुरापल्ली अधीनस्थ रियासत बनाए गए।
- 1693 ई॰ – गोवा के पुर्तगालियों की पराजय। पुर्तगाली गवर्नर ने क्षमा माँगी।
- 1695 ई॰ – महाराष्ट्र में जैनही-क़िला की फ़तूह।
- 1700 ई॰ – मराठों का अन्तिम क़िला सतारा फ़तूह कर लिया गया।
- 1703 ई॰ – (21 फ़रवरी) शाह वलीउल्लाह का जन्म।
- 1707 ई॰ – (21 फ़रवरी तदनुसार 28 ज़ी-क़ादह 1118 हि॰ जुमा का दिन) औरंगज़ेब का इन्तिक़ाल।
- 1714 ई॰ – दक्कन के सूबेदार हुसैन अली ख़ाँ ने मराठों को चौथ वुसूल करने का अधिकार दिया।

अध्याय-22

सोने की चिड़िया

मुग़ल-काल का भारत

मुग़लों की हुकूमत, उन सोलह सालों को छोड़कर जब शेर शाह और उसके उत्तराधिकारियों ने मुग़ल-सत्ता को समाप्त कर दिया था, 1526—1857 ई॰ तक कुल 315 साल क़ायम रही। इस अवधि में उत्थान का काल (1556 ई॰—1719 ई॰) एक सौ तिरसठ (163) साल है। उपमहाद्वीप भारत-पाक के इतिहास में किसी एक वंश की हुकूमत इतनी लम्बी अवधि तक क़ायम नहीं रही है और दिल्ली-सल्तनत को छोड़कर कोई दूसरी हुकूमत इतने समय तक अपने चरमोत्कर्ष पर नहीं रही। साथ ही इस डेढ़ सौ साल की अवधि में सल्तनत में जिस प्रकार शान्ति-ख़ुशहाली रही इसकी मिसाल उपमहाद्वीप के इतिहास में नहीं मिलती, बल्कि वास्तविकता तो यह है कि भारतीय उपमहाद्वीप के इतने विस्तृत भूभाग पर एक लम्बी अवधि तक जैसी सुख-शान्ति लोगों को तैमूर-वंश के शासन के तहत प्राप्त हुई, इसकी मिसाल सम्पूर्ण इस्लामी इतिहास में भी उसमानी तुर्कों के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलेगी। अरबों का ढाई सौ वर्षीय शासनकाल भी अमन-शान्ति एवं ख़ुशहाली की दृष्टि से उल्लेखनीय है, परन्तु मुग़ल-हुकूमत के मुक़ाबले में उनके काल में बग़ावत, हिंसा और मारकाट की घटनाएँ बहुत अधिक हुईं। इसके विपरीत मुग़ल-सल्तनत की शासन-व्यवस्था इतनी मज़बूत थी कि इनका पूरा काल बग़ावतों से लगभग पाक रहा। मुग़ल-हुकूमत एवं हाकिम ऐसे प्रजापालक थे कि उस काल में मुल्क ने बेमिसाल ख़ुशहाली प्राप्त कर ली थी। सोना जो ख़ुशहाली का प्रतीक समझा जाता है, उपमहाद्वीप में इस दौर में इतनी प्रचुरता से जमा हो गया था कि यह भूभाग सारी दुनिया में 'सोने की चिड़िया' कहलाता था।

आइए अब हम मुग़ल-काल के भारत-पाक की थोड़ी-सी सैर कर लें और

यह देखें कि आज से तीन सौ साल पहले यहाँ के नागरिक कैसी ज़िन्दगी गुज़ारते थे।

कृषि एवं उद्योग

हम अपनी सैर का आरम्भ कश्मीर से करते हैं जो मुग़ल-काल के बेहतरीन प्रान्त में से था। एक फ़्रांसीसी पर्यटक बरनीस, जिसने औरंगज़ेब के ज़माने में उपमहाद्वीप की कई साल तक सैर की थी, कश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य, उपजाऊ भूमि एवं फल-फूलों की बहुलता का उल्लेख करने के बाद लिखता है–

> "कश्मीरी अपनी बुद्धि में मशहूर हैं और भारत के अन्य क्षेत्रों के नागरिकों के मुक़ाबले में ज़्यादा बुद्धिमान समझे जाते हैं। शायरी और ज्ञान-साहित्य के क्षेत्र में वे ईरानियों से कम नहीं हैं। वे बड़े लगनशील एवं परिश्रमी होते हैं। उनकी बनाई हुई पालकियों, पलंगों, सन्दूक़ों, क़लम-दानों, चम्मचों और अन्य वस्तुओं की कारीगरी और ख़ूबसूरती बड़ी आश्चर्यजनक है। उनकी बनाई हुई चीज़ें हिन्दुस्तान के हर क्षेत्र में उपयोग की जाती हैं। वे वारनिश करने की कला से अच्छी तरह वाक़िफ़ हैं और लकड़ी पर इतना अच्छा काम करते हैं कि मैंने उससे ज़्यादा सुन्दर काम कहीं नहीं देखा। परन्तु कश्मीर की ख़ास चीज़, जिससे व्यापार को तरक़्क़ी प्राप्त है और जिसके कारण धन आता है, शाल-उद्योग है। ये शाल बहुत अधिक मात्रा में तैयार किए जाते हैं और इस उद्योग के कारण छोटे-छोटे बच्चे भी रोज़गार से लगे हुए हैं। आगरा, लाहौर और पटना में भी इस प्रकार के शाल बनाने का बहुत प्रयास किया गया, परन्तु उनमें वह नरमी और कोमलता पैदा न हो सकी जो कश्मीरी शालों में होती है।"

वर्तमान पाकिस्तान मुग़ल-काल में चार प्रान्तों में बँटा हुआ था। एक कश्मीर, दूसरा लाहौर, तीसरा मुल्तान और चौथा ठठ्ठा (या सिन्ध)। लाहौर-प्रान्त के बारे में अकबर के दरबारी इतिहासकार अबुल-फ़ज़्ल ने लिखा है–

"लाहौर-प्रान्त बहुत आबाद, उपजाऊ धरतीवाला और स्वास्थ्य की दृष्टि से अच्छा प्रान्त है। खेती में उसकी कोई मिसाल नहीं। अधिकतर भाग कुएँ के पानी से सींचा जाता है। यहाँ के घोड़े बहुत अच्छे होते हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार के कारीगर यहाँ मौजूद हैं।"

अबुल-फ़ज़्ल के एक सौ साल बाद औरंगज़ेब का एक हिन्दू इतिहासकार सज्जन राय खत्री लिखता है—

"लाहौर-प्रान्त की आबो-हवा ख़ुशगवार और सुन्दरता अद्वितीय है। यहाँ के ख़रबूज़े और अंगूर ईरान और तुर्किस्तान की तरह हैं। आम हिन्दुस्तान जैसे हैं, चावल बंगाल से अच्छा और गन्ना दक्कन के गन्ने से ज़्यादा मीठा है।"

लाहौर-शहर मुग़ल-काल में मख़मल, रेशम, सूत (कपास) और ऊन के कपड़ों के उद्योग का बड़ा केन्द्र था। शाल एवं क़ालीन कश्मीर के बाद सबसे ज़्यादा यहीं तैयार होते थे। अकबर के ज़माने में लाहौर में केवल शाल एवं क़ालीन के एक हज़ार कारख़ाने थे।

सियालकोट में उच्च कोटि का काग़ज़ तैयार होता था। इसके अतिरिक्त ज़रदोज़ी (ज़री) एवं रेशमी कशीदाकारी का काम यहाँ बहुत प्रगति पर था। हल्के हथियार कटार एवं तीर आदि भी तैयार होते थे।

गुजरात का शहर अकबर के ज़माने में आबाद हुआ था। यह ज़रदोज़ी के काम और तलवार-निर्माण के लिए प्रसिद्ध था।

मुल्तान सूती कपड़े और चीनी-उद्योग के लिए प्रसिद्ध था। परन्तु यहाँ का विशिष्ट उद्योग कमान-साज़ी था। यहाँ की बनी हुई कमानें उच्च कोटि की होती थीं।

ठठ्ठा सूती कपड़ों के उद्योग का केन्द्र था और इस उद्योग में साठ हज़ार लोग लगे हुए थे। एक अंग्रेज़ पर्यटक एवं व्यापारी हेमिल्टन ने लिखा है कि औरंगज़ेब के ज़माने में ठटठा में शिक्षा-प्राप्ति के लिए चार सौ मदरसे (School) थे।

अब तक जिन शहरों का उल्लेख किया गया है वे सब पाकिस्तान में

स्थित हैं, भारत और बांगलादेश के प्रान्त एवं शहर भी अपनी हरियाली, खुशहाली एवं उद्योग-धन्धों की तरक़्क़ी में कुछ कम नहीं थे, बल्कि ज़्यादा ही थे। वर्तमान बांगलादेश एवं पश्चिम बंगाल का इलाक़ा मुग़ल-सल्तनत का सबसे उपजाऊ और खुशहाल प्रान्त था। बर्नियर ने इस इलाक़े की जो उस ज़माने में बंगाल कहलाता था, दिल खोलकर प्रशंसा की है। वह लिखता है—

> "मिस्र हर ज़माने में सबसे अच्छा और दुनिया में सबसे ज़्यादा पैदावारवाला देश समझा जाता रहा है और इस ज़माने के लेखक भी यही कहते हैं कि मिस्र की तरह कोई अन्य देश क़ुदरत की नेमतों से मालामाल नहीं, परन्तु मैंने अपने दो सफ़रों में बंगाल से सम्बन्धित जो जानकारी प्राप्त की है उससे मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि मिस्र को जो स्थान दिया गया है वह वास्तव में बंगाल को मिलना चाहिए। इस इलाक़े में धान की पैदावार इतनी अधिक है कि केवल पड़ोसी प्रान्तों ही को नहीं बल्कि लंका और मालदीप तक भेजा जाता है। इसी प्रकार बंगाल में शक्कर (चीनी) इतनी अधिक है कि दक्कन, अरब, इराक़ और ईरान तक भेजी जाती है। बंगाल में मिठाइयाँ भी बड़ी अच्छी तैयार की जाती हैं। फलों में आम, अनन्नास और नींबू प्रचुर मात्रा में होता है।
>
> यहाँ रूई और रेशम इतना अधिक होता है कि इस मामले में यह इलाक़ा केवल मुग़ल-सल्तनत ही का नहीं बल्कि सभी पड़ोसी देशों एवं यूरोप तक के लिए भंडार-गृह है। यहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार का सूती कपड़ा इतना अधिक तैयार होता है कि जापान और यूरोप तक जाता है। यह देखकर मैं आश्चर्यचकित रह गया। यही हाल रेशम और रेशमी कपड़ों का है। रेशम यद्यपी ईरान एवं सीरिया की तरह अच्छा नहीं होता, परन्तु क़ीमत में वहाँ के रेशम से बहुत सस्ता है।"

यहाँ के नागरिक के भोजन में चावल, सब्ज़ी और घी शामिल हैं जो बहुत कम क़ीमत पर उपलब्ध हैं। इसी प्रकार एक रुपया में बीस बल्कि इससे ज़्यादा मुर्गियाँ मिल जाती हैं। बतख़ें और भी सस्ती हैं। बकरियों और भेड़ों

की संख्या बहुत अधिक है और हर प्रकार की मछली प्रचुरता से पाई जाती है।

संक्षेप में यह कि बंगाल में ज़रूरत की हर चीज़ प्रचुरता से मौजूद है और यही कारण है कि पुर्तगाली बाशिन्दे और अन्य ईसाई लोग जिनको हॉलैण्डवासियों ने उनके उपनिवेशों से निकाल दिया है इस साधन-सम्पन्न क्षेत्र में आबाद होना पसन्द करते हैं। देश में वस्तुओं की प्रचुरता के कारण यूरोप के नागरिकों में यह कहावत मशहूर है—

"बंगाल में प्रवेश के सौ दरवाज़े हैं और निकास का एक भी नहीं।"

आगरा, दिल्ली और लाहौर

आगरा, दिल्ली और लाहौर मुग़लों की राजधानियाँ थीं। अकबर अधिकतर आगरा में, जहाँगीर लाहौर में तथा शाहजहाँ, औरंगज़ेब एवं बाद के मुग़ल-बादशाह दिल्ली में रहा करते थे। औरंगज़ेब के अन्तिम काल में दक्कन में औरंगाबाद को भी राजधानी की हैसियत प्राप्त हो गई थी। एक न्यायप्रिय एवं जनकल्याणकारी हुकूमत के अन्तर्गत इन शहरों ने बड़ी तरक़्क़ी की। आगरा के पास अकबर ने फ़त्हपुर सीकरी के नाम से एक नया शहर भी आबाद किया था। यह लगभग वैसा ही शहर था जैसे अन्दलुस (स्पेन) के क़ुरतुबा में मदी-नतुज़-ज़ुहरा था। परन्तु फ़त्हपुर सीकरी की क़िस्मत मदी-नतुज़-ज़ुहरा से अच्छी थी। इसलिए कि मदी-नतुज़-ज़ुहरा की बस्ती तो बहुत जल्द तबाह हो गई और आज खण्डहरों के अतिरिक्त वहाँ कुछ भी नहीं, परन्तु फ़त्हपुर सीकरी के शानदार महल एवं इमारतें आज भी मौजूद हैं और दुनिया के हर क्षेत्र से लोग उन्हें देखने जाते हैं। फ़त्हपुर सीकरी की इमारतें यद्यपि वास्तु-शिल्प का बेहतरीन नमूना हैं परन्तु मुग़ल-काल की सबसे शानदार इमारत ताजमहल है। फ़्रांसीसी पर्यटक बर्नियर ने, जिसका उल्लेख पीछे हो चुका है, जब ताजमहल को देखा तो आश्चर्यचकित रह गया। वह लिखता है—

"सम्पूर्ण धरती पर कोई इमारत इतनी ख़ूबसूरत नहीं है। मैंने मिस्र के पिरामिड भी देखे हैं जिन्हें दुनिया के अजूबों में गिना जाता है।

परन्तु वास्तविकता यह है कि पिरामिड नहीं बल्कि ताजमहल को अजूबों में गिना जाना चाहिए।"

दिल्ली के पुराने शहर के पास शाहजहाँ ने नया शहर आबाद किया। यह शहर अपनी योजनाबद्धता, साफ़ और चौड़ी सड़कों के कारण मशहूर था। जामा मस्जिद और लाल क़िला इसी नए शहर में थे। यह नया शहर जो अब पुरानी दिल्ली कहलाता है, उस ज़माने में शाहजहाँबाद कहलाता था।

इन शहरों के अतिरिक्त ढाका, बुरहानपुर, अहमदाबाद और सूरत भी मुग़ल-सल्तनत के बड़े शहर थे और ज़्यादातर उद्योग-धन्धों एवं व्यापार के कारण मशहूर थे। इस काल की शान्ति-व्यवस्था, न्याय एवं इनसाफ़, उद्योग-धन्धों एवं खेतीबाड़ी की तरक़्क़ी का नतीजा यह निकला कि सल्तनत की आमदनी बढ़ गई। अकबर के काल में कुल आमदनी बीस करोड़ रुपए थी, परन्तु औरंगज़ेब के ज़माने में चालीस करोड़ रुपए हो गई थी।

स्थापत्य कला

मुग़ल-हुक्मरान केवल इमारतें बनवाने की अभिरुचि ही नहीं रखते थे, बल्कि उन्हें शहर आबाद करने, इमारतें बनवाने एवं बाग़ात लगवाने से भी बड़ी दिलचस्पी रहती थी। ढाका, दिल्ली, जहाँनाबाद (पुरानी दिल्ली) फ़तहपुर सीकरी, गुजरात और औरंगाबाद के शहर उन्हीं के आबाद किए हुए हैं। इन शहरों एवं अन्य शहरों में ख़ूबसूरत क़िले, महल, मस्जिदें, बाग़, पुल और मुसाफ़िरों के लिए सराय बनवाए गए, जिनकी एक बड़ी संख्या आज तक मौजूद है। सुन्दर इमारतों के निर्माण में उपमहाद्वीप का कोई दौर मुग़ल-दौर का मुक़ाबला नहीं कर सकता। उन्होंने जिन शहरों में इमारतें बनवाईं वे आज भी उन शहरों की सबसे ज़्यादा सुन्दर इमारतों में हैं, बल्कि यह कहना ग़लत नहीं होगा कि मुसलमानों के उत्थान काल के दूसरे चरण में इस्लामी दुनिया में सबसे सुन्दर एवं दिलकश इमारतें उपमहाद्वीप भारत-पाक में मुग़ल-काल में बनाई गईं। यहाँ के कारीगर एवं इंजीनियर तुर्किस्तान, ईरान, तुर्की और मिस्र के कारीगरों-इंजीनियरों से बाज़ी ले गए। उन्होंने तुर्की और ईरानी वास्तुशिल्प को भारतीय वास्तुशिल्प से मिलाकर एक नई मुग़ल-वास्तुशिल्प की परम्परा डाली, जो अपनी मिसाल आप है।

अध्याय-23

क़लम और दवात, मिम्बर और मेहराब, साहित्य एवं आध्यात्मिक गतिविधियाँ

मुग़ल-बादशाहों के उत्थान-काल में जितने महान लेखक, विद्वान, साहित्यकार और शायर पैदा हुए उतने उपमहाद्वीप भारत-पाक के इतिहास में कभी पैदा नहीं हुए। अन्दलुस (स्पेन) के इतिहास में हम पढ़ चुके हैं कि वहाँ उमवी शासनकाल में उतने लेखक पैदा नहीं हुए जितने उमवी काल के बाद पैदा हुए। इसका कारण यह था कि उमवी काल अन्दलुस में मुसलमानों का प्रारम्भिक काल था। उस काल में ज्ञान एवं कला की बुनियाद पड़ी, एक वातावरण तैयार हुआ, परन्तु उस बुनियाद पर इमारत बाद के काल में निर्मित हुई। उपमहाद्वीप भारत-पाक में भी बौद्धिक विकास इसी प्रकार हुआ। दिल्ली-सल्तनत के काल में सल्तनत की बुनियादें मज़बूत हुईं और तुर्किस्तान एवं ईरान से आनेवाले मुसलमानों ने ज्ञान एवं साहित्य का पौधा यहाँ की धरती पर लगाया। दिल्ली-सल्तनत के बाद यही कोमल पौधा विशाल वृक्ष बन गया। और मुग़ल-काल में तरह-तरह के फल देने लगा।

मुग़ल-बादशाह, सूबेदार और उच्च पदाधिकारी सब ज्ञान एवं साहित्य के बड़े सरपरस्त थे। अतः उस काल में शिक्षा के फैलाव के लिए काफ़ी प्रयास किए गए। पूरी सल्तनत में शिक्षकों एवं विद्वानों और कलाकारों के लिए हुकूमत की ओर से वज़ीफ़े (भत्ते) निर्धारित थे और वे बेफ़िक्र होकर लोगों को शिक्षा देते थे और ज्ञान-साहित्य की सेवा करते थे। लाहौर, दिल्ली, आगरा और जौनपुर उस ज़माने में सबसे बड़े बौद्धिक केन्द्र माने जाते थे गुजरात का शहर अहमदाबाद भी एक बड़ा बौद्धिक केन्द्र था।

ज्ञान एवं साहित्य की सरपरस्ती का नतीजा यह हुआ कि मुग़ल-काल में जितने बड़े-बड़े दक्ष विद्वान पैदा हुए उसकी मिसाल दिल्ली-सल्तनत के ज़माने में नज़र नहीं आती है। उस काल के आलिमों (विद्वानों) में सबसे महान मुजद्दिद अल्फ़सानी (शैख़ अहमद सरहिन्दी) हैं।

मुजद्दिद अल्फ़सानी (रह॰)

मुजद्दिद अल्फ़ सानी (1564 ई॰–1624 ई॰) का नाम अहमद था। वे अकबर के शासनकाल में सरहिन्द में पैदा हुए थे, जो दिल्ली और लाहौर के बीच एक शहर है और भारत के पंजाब-राज्य में स्थित है। आजकल सरहिन्द एक मामूली बस्ती है, परन्तु मुग़ल-काल में यह बहुत बड़ा शहर था और जनसंख्या की दृष्टि से दिल्ली का मुक़ाबला करता था। मुज़द्दिद अल्फ़सानी प्रारम्भिक शिक्षा सरहिन्द में प्राप्त करने के बाद उच्च शिक्षा के लिए स्यालकोट चले गए, जो उस समय शिक्षा का एक बड़ा केन्द्र था। शिक्षा पूरी करने के बाद उन्होंने स्वंय को लोगों की हिदायत एवं इस्लाह के लिए समर्पित कर दिया। वे यद्यपि लाहौर, दिल्ली और आगरा में कई साल तक रहे। परन्तु उनका अधिकतर समय अपने वतन सरहिन्द में ही गुज़रता था, जहाँ उन्होंने अपने लिए एक हवेली और मुसलमानों के लिए एक मस्जिद बना ली थी। मुजद्दिद अल्फ़सानी ने उसी मस्जिद को केन्द्र बनाकर लोगों की इस्लाह एवं हिदायत (आध्यात्मिक एवं बौद्धिक शिक्षा) का काम किया।

हम पढ़ चुके हैं कि अकबर के ज़माने में कुछ तो ग़ैर-मुस्लिम नागरिकों के सम्पर्क में आने और कुछ ख़ुद अकबर की अज्ञानता एवं बेदीनी के कारण मुसलमानों की आस्थाओं एवं मान्यताओं में बिगाड़ आना शुरू हो गया था, और ऐसे लोग पैदा हो गए थे जो बहुत-सी इस्लामी शिक्षाओं का मज़ाक़ उड़ाते थे। मुजद्दिद अल्फ़सानी ने जब यह हालत देखी तो उन्होंने इसका मुक़ाबला करने का प्रण किया। उन्होंने किताबें लिखकर और हुकूमत के पदाधिकारियों एवं अन्य आलिमों को पत्र लिखकर तथा अपनी तक़रीरों-भाषणों द्वारा इस्लाम की मूल शिक्षा प्रस्तुत की और दलीलों एवं तर्कों से सिद्ध किया कि इस्लाम ही सच्चा मज़हब है। उनकी बातें चूँकि निष्ठा एवं सद्भावना से ओतप्रोत होती थीं, इसलिए लोगों पर प्रभाव छोड़ती थीं। इस प्रकार हज़ारों लाखों मुसलमानों के अक़ीदे (आस्थाएँ) सही हो गए। मुसलमान तो मुसलमान ग़ैर-मुस्लिम भी उनकी शिक्षा एवं सदाचरण से प्रभावित हुए बिना न रहे और बहुत-से लोगों ने उनके समक्ष कलिमा पढ़कर इस्लाम स्वीकार कर लिया।

मुजद्दिद अल्फ़सानी ने इस मक़सद के लिए एक पूर्ण प्रणाली विकसित कर ली थी। वे सरहिन्द में लोगों को ज़रूरी प्रशिक्षण देते, और यह प्रशिक्षित लोग पूरी सल्तनत में फैल जाते। इस प्रकार मुग़ल-सल्तनत के कोने-कोने में उनका पैग़ाम पहुँच गया।

जब कोई व्यक्ति इस्लाह (सुधार) का काम करता है तो उसके बहुत-से विरोधी भी पैदा हो जाते हैं। मुजद्दिद अल्फ़सानी के साथ भी ऐसा ही हुआ। उनके बहुत-से दुश्मन पैदा हो गए और उन्होंने जहाँगीर से, जो उस ज़माने में बादशाह था, उनकी शिकायतें कीं जिसपर जहाँगीर ने उन्हें सरहिन्द से अपने पास बुलवाया। अकबर के ज़माने से दरबार की यह परम्परा चली आ रही थी कि जब कोई व्यक्ति बादशाह के सामने आता तो सम्मान प्रकट करने के लिए उसके आगे सजदा करता था, परन्तु मुजद्दिद अल्फ़सानी जब दरबार में पहुँचे तो उन्होंने अपने जैसे एक इनसान के सामने सजदा करने से इनकार कर दिया। इसपर बादशाह उनसे नाराज़ हो गया और उन्हें ग्वालियर के क़िले में क़ैद कर दिया। मुजद्दिद अल्फ़सानी एक साल क़िले में क़ैद रहे, परन्तु उस अवधि में भी वे अपने काम अर्थात इस्लाम के प्रचार-प्रसार में व्यस्त रहे और क़िले के कई हिन्दू क़ैदी उनके हाथ पर इस्लाम ले आए। बाद में जहाँगीर को भी अपनी ग़लती का अनुभव हुआ और उन्हें रिहा कर दिया। रिहा होने के बाद वे तीन-चार साल तक जहाँगीर के लश्कर के साथ रहे और अपने उपदेशों एवं नसीहतों के माध्यम से फ़ौजियों, शासनाधिकरियों और ख़ुद बादशाह की इस्लाह का काम करते रहे। इसके बाद वे सरहिन्द चले गए, जहाँ साल-भर के बाद उनका इन्तिक़ाल हो गया।

मुजद्दिद अल्फ़सानी (रह०) की लिखी हुई किताबें आज भी लोगों के बुझे दिलों में ईमान एवं यक़ीन की गर्मी पैदा करती हैं। उनके प्रयासों से मुसलमानों में एक नई ज़िन्दगी पैदा हुई और इस्लामी शिक्षाएँ नए सिरे से ज़िन्दा हुईं। इसी लिए उन्हें मुजद्दिद कहा जाता है, अर्थात इस्लाम को नई ज़िन्दगी देनेवाला। उनके लिखे हुए पत्र जिन्होंने क्रान्ति ला दी थी, फ़ारिसी भाषा में हैं। इन पत्र-संग्रहों का उर्दू में अनुवाद भी मौजूद है।

ज्ञान एवं दर्शन

मुग़ल-सल्तनत के उत्थान काल के सबसे महान आलिम एवं विद्वान निस्सन्देह मुजद्दिद अल्फ़सानी थे, परन्तु उस दौर में, जैसा कि हम कह चुके हैं महान लेखकों, साहित्यकारों और शायरों की कमी नहीं थी। यहाँ बौद्धिक क्षेत्र के अन्य महान व्यक्ति का परिचय पेश किया जाता है।

शाह अब्दुल-हक़ मुहद्दिस देहलवी

(958 हि०/1551 ई०–1052 हि०/1642 ई०)

शाह अब्दुल-हक़ (रह०) ने अरबी एवं फ़ारिसी में लगभग एक सौ किताबें और लघु पुस्तिकाएँ लिखीं। अब तक हिन्दुस्तान में फ़िक़्ह का बहुत ज़ोर था और हदीस की ओर से ग़फ़लत बरती जाती थी। शाह अब्दुल-हक़ का सबसे बड़ा कारनामा उपमहाद्वीप में हदीस के इल्म को आगे बढ़ाना है। इसके नतीजे में इस क्षेत्र में ऐसे महान मुहद्दिस (हदीस के ज्ञाता) और आलिम पैदा हुए जिन्हें इस्लामी दुनिया के महान मुहद्दिसों और आलिमों की पंक्ति में पेश किया जा सकता है। उन्होंने इल्मे-हदीस विषय पर किताबें लिखीं और हदीसों की मशहूर किताब 'मिशकात' की शरह (भाष्य-टिप्पणी) लिखी। उनकी एक और मशहूर किताब 'अख़बारुल-अख़्यार' है जिसमें इस्लामी हिन्द के औलिया और बुज़ुर्गों के हालात लिखे हैं। हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) की सीरत (जीवनी) पर भी एक विस्तृत किताब 'मदारिजुन्नुबूवह' लिखी।

मुल्ला अब्दुल-हकीम स्यालकोटी (मृत्यु-1067 हि०/1656 ई०)

स्यालकोट और आगरा के मदरसों में छात्रों को पढ़ाते थे। उन्होंने तफ़्सीर (क़ुरआन की भाष्य-टिप्पणी), फ़िक़्ह (इस्लामी विधान) और इल्मे-कलाम (आध्यात्मवाद) की विभिन्न प्रसिद्ध किताबों पर पाद-टिप्पणी लिखी हैं। मशहूर 'तफ़्सीर बैज़ावी' पर बहुत-से उलमा ने पाद-टिप्पणियाँ लिखी हैं, परन्तु कहा जाता है कि सबसे अच्छी और लोकप्रिय पाद-टिप्पणी मौलाना अब्दुल-हकीम की है। उनकी किताबें कई सदी तक इस्लामी हिन्द, मिस्र और तुर्की के मदरसों के पाठ्यक्रम में शामिल रहीं। शाहजहाँ ने उन्हें दो बार चाँदी में तौला और चाँदी के बराबर रक़म उन्हें इनाम में दी।

मौलाना महमूद जौनपुरी

मौलाना महमूद जौनपुरी (993 हि०/1585 ई०–1062 हि०/1652 ई०) भी शाहजहाँ के काल के प्रमुख आलिम हैं। वे कई किताबों के लेखक हैं, जिनमें सबसे ज़्यादा प्रसिद्धि 'शम्से-बाज़िग़ा' को प्राप्त हुई। यह किताब भाषा की सरलता एवं सरसता के कारण फ़लसफ़ा (दर्शनशास्त्र) की शाहकार किताबों में समझी जाती है और उस वक़्त से आज तक मदरसों के पाठ्यक्रम में शामिल रही है।

शैख़ मुहिब्बुल्लाह इलाहाबादी

शाहजहाँ के काल के एक और प्रमुख आलिम शैख़ मुहिब्बुल्लाह इलाहाबादी (मृत्यु—1058 हि०) हैं। इन्होंने ज़्यादातर तसव्वुफ़ (सूफ़ीवाद) पर लिखा है। मशहूर सूफ़ी इब्ने-अरबी की किताब 'फ़ुसूसुल-हिकम' की शरह (भाष्य-टिप्पणी) लिखी और सूफ़ियाना अन्दाज़ में क़ुरआन की तफ़्सीर भी लिखी। इब्ने-अरबी के दृष्टिकोण का उन्होंने इस ज़ोरदार अन्दाज़ में समर्थन किया कि इस्लामी हिन्द के इब्ने-अरबी मशहूर हो गए। उन्होंने दर्शनशास्त्र पर भी किताब लिखी।

मीर ज़ाहिद (मृत्यु 1101 हि०/1689 ई०)

आलमगीर के काल में इल्मे-कलाम, फ़लसफ़ा (दर्शनशास्त्र) और मन्तिक़ (तर्कशास्त्र) के बहुत बड़े आलिम थे। वे औरंगज़ेब के लश्कर में लेखपाल थे। उन्होंने इल्मे-कलाम में शरीफ़ जुरजानी की मशहूर किताब 'शरहे-मुवाफ़िक़' और मन्तिक़ की अन्य किताबों पर जो पाद-टिप्पणियाँ लिखीं, वे उन किताबों पर सबसे अच्छी टिप्पणियाँ समझी जाती हैं।

क़ाज़ी मुहिब्बुल्लाह बिहारी (मृत्यु-1119 हि०/1707 ई०)

औरंगज़ेब के ज़माने में लखनऊ के काज़ी (जज) थे। मन्तिक़ और उसूले-फ़िक़्ह में इस्लामी हिन्द में किसी की किताबें उनकी किताबों 'मुसल्लमुल-उलूम' (मन्तिक़) और 'मुसल्लमुस-सुबूत' (उसूले-फ़िक़्ह) के बराबर लोकप्रिय नहीं हुईं।

भौतिकशास्त्र एवं चिकित्सा के क्षेत्र में यद्यपि इस दौर में कोई विशेष

योगदान नहीं हुआ, परन्तु इस क्षेत्र में निम्नलिखित लोगों को प्रमुखता से याद किया जाता है—

हकीम फ़त्हुल्लाह शीराज़ी (मृत्यु-997 हि॰)

गणित एवं भौतिकशास्त्र के माहिर थे। इन विषयों पर यद्यपि उन्होंने कोई किताब नहीं लिखी परन्तु उन्होंने कई अविष्कार किए। उन्होंने उपमहाद्वीप में पहली पवनचक्की बनाई। एक ऐसा आईना बनाया जिसमें दूर-दूर की चीज़ें नज़र आती थीं और एक ऐसी बन्दूक़ बनाई जो लगातार बारह गोलियाँ चला सकती थी। अकबर के दौर में सरकारी कामों के लिए 'सने-इलाही' के नाम से एक नया सौर्य-कैलेण्डर तैयार किया गया। यह कैलेण्डर फ़त्हुल्लाह शीराज़ी ने ही तैयार किया था।

हकीम अबुल-फ़त्ह (मृत्यु-997 हि॰/1589 ई॰)

इनका नाम, जो अकबर के नौ रत्नों में गिने जाते थे, इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि हुक़्क़ा इन्हीं की ईजाद है। ये चिकित्सा के क्षेत्र में एक किताब 'फ़त्ताही' के लेखक थे और 'अख़लाक़े-नासिरी' की शरह (भाष्य-टिप्पणी) भी लिखी। अकबर को गुमराह करने में उस दौर के चिकित्सकों में सम्भवतः हकीम अली गीलानी (मृत्यु-1018 हि॰) का नाम सबसे प्रमुख है। उन्होंने इब्ने-सीना की मशहूर किताब 'क़ानून' की अरबी में शरह लिखी जो 'क़ानून' की सबसे अच्छी शरह समझी जाती है। हकीम गीलानी ने जहाँगीर के ज़माने में लाहौर और आगरा में दो ऐसे हौज़ तैयार किए थे जिनके अन्दर कमरे बने हुए थे, परन्तु उन कमरों के दरवाज़े और खिड़कियाँ खुली होने के बाद भी, पानी अन्दर नहीं जा सकता था।

सिन्ध के मीर मासूम भक्खरी (922 हि॰–1019 हि॰) भी एक प्रमुख वैद्य थे और चिकित्साशास्त्र पर दो किताबों के रचयिता थे। उनकी लिखी हुई 'सिन्ध का इतिहास' नामक पुस्तक बहुत अहम है। सक्खर में उनका बनाया हुआ मीनार आज भी शहर की सबसे प्रमुख इमारत है।

शाहजहाँ के मलिकुश-शुअरा अर्थात कवि-सम्राट तालिब आमली की बहन सतीउन्निसा का नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि वे उस दौर की

प्रमुख महिला चिकित्सक थीं और शाही महल की औरतों का इलाज किया करती थीं।

उस्ताद कबीर हुसैन, अकबर के काल के मशहूर बन्दूक़-कारीगर थे। अकबर के दौर में भिन्न-भिन्न प्रकार की बन्दूक़ें और तोपें बनाई गईं और शस्त्र-निर्माणकला को इतनी तरक़्क़ी दी गई कि उसमानी सल्तनत के अतिरिक्त किसी अन्य मुसलमान मुल्क में इतना अच्छा तोपख़ाना नहीं था।[1]

इतिहास-लेखन

धार्मिक विषयों के बाद इस दौर की सबसे अहम किताबें इतिहास के विषय पर लिखी गई हैं। धार्मिक विषयों पर इस दौर में जो किताबें लिखी गईं वे प्रायः अरबी भाषा में लिखी गईं। लेकिन इतिहास के विषय पर किताबें फ़ारिसी में लिखी गईं। अबुल-फ़ज़्ल के 'अकबरनामे' और 'आईने-अकबरी' का उल्लेख अकबर के हालात में किया जा चुका है। अकबर के काल के दूसरे अहम इतिहासकार निज़ामुद्दीन अहमद (मृत्यु-1003 हि॰/1594 ई॰) और मुल्ला अब्दुल-क़ादिर बदायूनी (947 हि॰/1540 ई॰–1004 हि॰/1595 ई॰) हैं। निज़ामुद्दीन की किताब 'तबक़ाते- अकबरी' इस्लामी हिन्द की विस्तृत और प्रामाणिक किताबों में गिनी जाती है। बदायूनी की 'मुन्तख़बुत्तवारीख़' अपनी शैली की एकमात्र किताब है। भाषा की सरलता एवं सरसता, रोचक शैली, समालोचनात्मक दृष्टिकोण और मालूमात की बहुलता की दृष्टि से बरनी की 'तारीख़ फ़िरोज़शाही' के अतिरिक्त इस्लामी हिन्द की कोई इतिहास-पुस्तक 'मुन्तख़बुत्तवारीख़' के मुक़ाबले में पेश नहीं की जा सकती। अकबर के दीने-इलाही से सम्बन्धित जो बातें दूसरे इतिहासकार डर के कारण पेश नहीं कर सके, बदायूनी ने उनकी विस्तार से चर्चा की है। इसके अतिरिक्त उस दौर के बौद्धिक एवं साहित्य-इतिहास के लिए भी यह बेहतरीन स्रोत है। किताब के तीन भाग हैं:

---

1. अकबर के काल में तोप एवं बन्दूक़ बनाने की कला के विकास के लिए देखें मौलवी मुहम्मद ज़काउल्लाह साहब की किताब 'तारीख़े-हिन्दुस्तान' भाग-5, पृष्ठ-658, 659 (प्रकाशित अलीगढ़ 1918 ई॰)

पहला भाग महमूद ग़ज़नवी से अकबर तक, दूसरे भाग में अकबर के काल का इतिहास और तीसरे भाग में समकालीन उलमा, साहित्यकारों और शायरों के हालात हैं।

शाहजहाँ के दौर में अब्दुल-हमीद लाहौरी (मृत्यु-1065 हि॰/1654 ई॰) ने अबुल-फ़ज़्ल के अन्दाज़ में 'बादशाहनामा' लिखा और मुहम्मद सालेह कम्बोह (मृत्यु-1085 हि॰/1674 ई॰) ने 'अमले-सालेह' लिखी जो शाहजहाँ की पैदाइश से लेकर उसकी क़ैद और फिर मृत्यु तक के हालात पर आधारित है। इसमें उस दौर के मशहूर लोगों के संक्षिप्त हालात भी हैं।

उस दौर की एक अहम रचना 'दबिस्ताने-मज़ाहिब' है। इसके लेखक का नाम ज्ञात नहीं। किताब शाहजहाँ के अन्तिमकाल में लिखी गई। इब्ने-हज़्म और शहरिस्तानी की 'अल-मिलल-वन-नह्ल' की तरह 'दबिस्ताने-मज़ाहिब' में दुनिया के विभिन्न धर्मों की आस्थाओं-मान्यताओं का उल्लेख है। हिन्दू धर्म और उसके विभिन्न सम्प्रदायों तथा सिखों की आस्थाओं पर विस्तार से चर्चा की गई है। हिन्दुस्तान में पैदा होनेवाले मुसलमान सम्प्रदायों और दीने-इलाही का उल्लेख भी इसमें मौजूद है।

शायरी एवं साहित्य-जगत्

इस दौर में इतिहास की तरह साहित्य-जगत् की तरक़्क़ी का कारण भी विशेष रूप से बादशाहों एवं उच्च पदस्थ अधिकारियों के प्रोत्साहन का ही नतीजा है। जामी के बाद से फ़ारिसी शायरी पतन की ओर अग्रसर थी। अतः इस दौर में हमें ऐसे शायर नज़र नहीं आते हैं जो रूमी, सअदी, ख़ुसरो, हाफ़िज़ आदि के समकक्ष हों। फिर भी सोलहवीं एवं सतरहवीं सदी में फ़ारिसी शायरी के सबसे अच्छे प्रतिनिधि इस्लामी हिन्द ने पेश किए। यद्यपि उन शायरों में अधिकतर ईरानी मूल के थे, परन्तु आगरा एवं दिल्ली के मुग़ल-दरबारों में उन्हें सम्मान मिला। उस दौर के फ़ारिसी शायरों में नवीनता एवं भाषा-शैली की दृष्टि से अकबर के दरबार का प्रधान शायर फ़ैज़ी (954 हि॰/1547 ई॰—1004 हि॰/1596 ई॰) सबसे प्रमुख है। उसकी मस्नवी (पद्य की एक विधा) 'नल व दमन' फ़ारिसी शायरी का शाहकार है और आलोचकों

का कहना है कि अमीर ख़ुसरो के बाद इतनी श्रेष्ठ मस्नवी किसी ने नहीं लिखी। उस काल का दूसरा शायर, जो नवीन एवं अनोखे विचार की दृष्टि से अहम है, मिर्ज़ा अब्दुल-क़ादिर बेदिल (मृत्यु-1133 हि॰/1721 ई॰) है। उसने हृदय की सुक्ष्म अनुभूतियों की ओर ध्यान आकर्षित किया। अफ़ग़ानिस्तान और तुर्किस्तान में उसे दूसरा 'रूमी' समझा जाता है।

अन्य प्रमुख शायर

फ़ैज़ी और बेदिल का सम्बन्ध भारत से था। इनके अतिरिक्त इस दौर के अन्य प्रमुख शायर, ग़नी कश्मीरी (मृत्यु-1661 ई॰) को छोड़कर, सभी ईरानी मूल के थे। उनमें उर्फ़ी (1556 ई॰–1591 ई॰), नज़ीरी (मृत्यु-1613 ई॰), ज़हूरी (मृत्यु-1615 ई॰) जहाँगीर के दरबार का प्रधान शायर तालिब आमली (मृत्यु-1626 ई॰), शाहजहाँ के दरबार का प्रधान शायर अबू-तालिब कलीम (मृत्यु-1651 ई॰) हैं। उनमें साइब (मृत्यु-1081 हि॰) का नाम भी शामिल किया जा सकता है, जिसे मुग़ल-दरबार का आकर्षण ईरान से भारत ले आया था। उसने शाहजहाँ के राज्याभिषेक पर जब शायरी पेश की तो उसे बारह हज़ार रुपए इनाम मिले। परन्तु साइब उपमहाद्वीप में छह साल रहने के बाद ईरान चला गया। शिबली नोमानी ने लिखा है कि ईरान की शायरी रुदकी से शुरू हुई और साइब पर ख़त्म हो गई। इन शायरों की वजह से ग़ज़ल और क़सीदा का प्रचलन बढ़ गया, परन्तु उनकी शायरी में भावनाओं एवं कल्पना दोनों की कमी और शब्दों का महिमामण्डन ज़्यादा नज़र आता है। यहाँ आरमीनिया के एक यहूदी मूल के सूफ़ी शायर सरमद (मृत्यु-1660 ई॰) का उल्लेख भी ज़रूरी है। वह फ़ारिसी का अन्तिम बड़ा रुबाई (पद्य-विधा) कहनेवाला शायर है। उसका सम्बन्ध शाहजहाँ के काल से था। उसकी रुबाइयों में हमें वह बात मिलती है जो उपर्युक्त शायरों की शायरी में नहीं थी अर्थात् कोमलता एवं पीड़ा।

लोक-साहित्य

मुग़ल-काल की एक विशेषता यह है कि उस ज़माने में स्थानीय भाषाओं के साहित्य एवं शायरी का भी ख़ूब विकास हुआ। यद्यपि ये स्थानीय साहित्य

सरकारी प्रोत्साहन से आज़ाद रहकर परवान चढ़े, परन्तु इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि मुग़ल-बादशाहों की उदारता, उनके द्वारा स्थापित की गई शान्ति-व्यवस्था और ख़ुशहाली का वातावरण भी स्थानीय मुस्लिम एवं ग़ैर-मुस्लिम साहित्य के विकास के कारण थे। पश्तो-साहित्य के जनक ख़ुशहाल ख़ाँ ख़टक (1022 हि॰–1100 हि॰) और पश्तो के सबसे बड़े शायर रहमान बाबा (1042 हि॰–1118 हि॰) उसी दौर में हुए हैं। इसी प्रकार पंजाबी भाषा के मशहूर शायर सुल्तान बाहू (मृत्यु-1102 हि॰/1691 ई॰), बल्हे शाह (1680 ई॰–1785 ई॰) और वारिस शाह (अट्ठारहवीं सदी) भी उसी ज़माने में हुए हैं। सिन्धी भाषा के सबसे बड़े शायर शाह अब्दुल-लतीफ़ (1689 ई॰–1752 ई॰) जिन्हें सिन्धी भाषा का 'रूमी' कहा जाता है, उसी दौर में पैदा हुए। बंगाली भाषा के दो महान शायर दौलत क़ाज़ी जिसका इन्तिक़ाल 1638 ई॰ में हुआ और अलावल (1607 ई॰–1680 ई॰) मुग़ल-दौर के शायर हैं। ये दोनों वास्तव में बंगाली शायरी विशेषतः बंगाल की इस्लामी शायरी के जनक हैं। अलावल की गिनती आज भी बंगाली भाषा के प्रथम पंक्ति के शायरों में होती है।

उस दौर में स्थानीय भाषाओं में जो हिन्दू शायर हुए हैं उनमें हिन्दी के महान शायर तुलसी दास (1532 ई॰–1623 ई॰) और बिहारी लाल (1603 ई॰–1663 ई॰) बहुत अहम हैं। तुलसी दास की रामायण हिन्दी भाषा का एक शाहकार है जिसे विश्व-साहित्य की पंक्ति में रखा जा सकता है। गुजराती शायरी के जनक परमानन्द (1636 ई॰–1734 ई॰) और मराठी के महान शायर रामदास (1608 ई॰–1681 ई॰) भी उसी दौर से सम्बन्ध रखते हैं। बंगाली भाषा में सतरहवीं सदी में जो हिन्दू शायर हुए हैं, उनमें काशीराम और मुकुन्द विशेष उल्लेखनीय हैं। सुदूर दक्षिण में तमिल और कन्नड़ भाषाओं में भी उस ज़माने में कई शायर एवं लेखक हुए हैं।

मुग़ल-दौर ने सम्पूर्ण उपमहाद्वीप में जो राजनीतिक अखण्डता स्थापित की थी उसके कारण विभिन्न क्षेत्रों के लोगों को, जो विभिन्न भाषा बोलते थे, एक-दूसरे से मेल-मिलाप का अवसर प्राप्त हुआ और उनके इस मेल-मिलाप ने एक साझा भाषा का रूप धारण किया जिसे हिन्दू, हिन्दी और

मुसलमान उर्दू कहते हैं। आरम्भ में इस नई भाषा ने दक्कनी उर्दू का रूप लिया, परन्तु औरंगज़ेब के काल में इसने वर्तमान उर्दू का रूप धारण कर लिया। उर्दू का पहला बड़ा और साहिबे-दीवान शायर (कविता-ग्रंथवाला शायर) वली दक्कनी (1667 ई॰–1707 ई॰) और सिराजुद्दीन ख़ाँ आरज़ू (1689 ई॰–1756 ई॰) उसी दौर में हुए हैं।

हिन्दुओं ने उस ज़माने में फ़ारिसी भाषा में भी दक्षता प्राप्त कर ली थी। शाहजहाँ के मीर मुन्शी चन्द्रभान (मृत्यु-1662 ई॰) की गिनती फ़ारिसी के महान शायरों एवं गद्य लेखकों में होती है। वह कई किताबों का लेखक था।

मुग़ल-हुक्मरानों ने शायरी एवं साहित्य ही नहीं, बल्कि हर प्रकार के प्रतिभावान लोगों का सम्मान किया। यही कारण है कि उस ज़माने में ईरान, अफ़गानिस्तान और मध्य एशिया से लोग खिंच-खिंचकर दिल्ली-दरबार की ओर चले आते थे, जहाँ उन्हें हाथों-हाथ लिया जाता था। उनमें सरकारी पदाधिकारी, आलिम (विद्वान), साहित्यकार, शायर एवं कलाकार सब ही होते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि ईरान एवं मध्य एशिया के देश प्रतिभावान लोगों का सम्मान न करने के कारण ज्ञान एवं कला से ख़ाली हो गए और उपमहाद्वीप भारत-पाक में ज्ञान एवं कला की गंगा बहने लगी। महान इस्लामी शायर इक़बाल ने अपनी कविता 'बच्चों का गीत' में इस तथ्य का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है—

टूटे थे जो सितारे फ़ारिस के आस्माँ से,
फिर ताब दे के उनको चमकाया कहकशाँ से।

शाही ख़ानदान में नूरजहाँ, उसका बाप एतिमादुद्दौला और भाई आसिफ़ ख़ाँ, सूबेदारों में अली मरदान ख़ाँ एवं मीर जुमला, हकीमों में मीर फ़तहुल्लाह शीराज़ी, हकीम अबुल-फ़तह और हकीम अली गिलानी तथा शायरों में उर्फ़ी, शीराज़ी, नज़ीरी, नीशापुरी, ज़हूरी, तालिब आमली, अबू-तालिब कलीम और साइब तबरीज़ी उन्हीं टूटे हुए सितारों में से चन्द थे जो फ़ारिस के आसमान से टूटकर आसमाने-हिन्द की ज़ीनत बने।

वास्तविकता यह है कि मुग़ल-काल में ज्ञान एवं साहित्य, उद्योग-धन्धे

और हर प्रकार की प्रतिभा को जो प्रोत्साहन प्राप्त हुआ उसकी मिसाल सोलहवीं एवं सतरहवीं सदी में सम्पूर्ण इस्लामी दुनिया में नहीं मिलतीं। मुग़ल काल में बनाए गए इस बौद्धिक वातावरण का ही नतीजा है कि आज इस्लामी हिन्द एवं पाकिस्तान के मुसलमान बौद्धिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण से पूरी इस्लामी दुनिया में सबसे आगे हैं और जैसा कि हम आगे चलकर पढ़ेंगे इस इलाक़े से शुरू होनेवाले इस्लामी आन्दोलनों ने बाद के समय में इस्लामी दुनिया के बड़े भू-भाग पर दूरगामी प्रभाव छोड़ा है।

अध्याय-24

उपमहाद्वीप का इस्लामी दौर

उपमहाद्वीप के पाकिस्तानी भूभाग में इस्लामी हुकूमत की शुरुआत 712 ई॰ से हुई, जबकि मुहम्मद-बिन-क़ासिम ने रावर नामक स्थान की जंग में राजा दाहिर पर फ़तूह पाई और हिन्दुस्तान में इस्लामी हुकूमत का विधिवत आरम्भ 1192 ई॰ से हुआ, जबकि मुहम्मद ग़ौरी ने पृथ्वीराज पर थानेसर के मैदान में जंग में फ़तूह पाई थी। अंग्रेज़ों के सिन्ध पर क़ब्ज़ा करने के बाद पाकिस्तानी एवं भारतीय भूभाग पर इस्लामी हुकूमत का अन्त लगभग एक साथ 1843 ई॰ के निकट हुआ। इस लम्बी अवधि में मुसलमानों ने उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में जितने समय तक हुकूमत की, उसका ब्योरा इस प्रकार है—

सिन्ध और बलूचिस्तान	:	(712 ई॰—1843 ई॰)
पंजाब और सरहद	:	(1021 ई॰—1800 ई॰)
उत्तर भारत	:	(1200 ई॰—1808 ई॰)
पूर्वी भारत (बंगलादेश)	:	(1200 ई॰—1757 ई॰)
मध्य भारत और दक्कन	:	(1300 ई॰—1800 ई॰)
दक्षिण भारत	:	(1300 ई॰—1338 ई॰)
दक्षिण भारत	:	(1575 ई॰—1800 ई॰)

इस्लाम का प्रसार एवं उसके फ़ायदे

इस ब्योरे से स्पष्ट है कि उपमहाद्वीप भारत-पाक के विभिन्न हिस्सों में मुसलमानों की हुकूमत ढाई सौ साल से सवा ग्यारह सौ साल तक ही रही। इस लम्बी अवधि में मुसलमानों ने यहाँ के इतिहास पर गहरा प्रभाव डाला। इस्लाम का सबसे बड़ा कारनामा तो यह है कि यह भूभाग, जो मूर्तिपूजा एवं अन्धविश्वास का केन्द्र था, तौहीद (एकेश्वरवाद) की आस्था से पहली बार परिचित हुआ। मुसलमान बुज़ुर्गों एवं औलिया-किराम के उपदेशों, मुसलमानों की आदर्श जीवनशैली और इस्लामी हुकूमत की उदारता एवं सहिष्णुता से

प्रभावित होकर लाखों इनसानों ने इस्लाम स्वीकार कर लिया। हिन्दुओं एवं अन्य ग़ैर-मुस्लिमों के भारी संख्या में इस्लाम लाने का नतीजा यह हुआ कि पश्चिमी भारत (वर्तमान पाकिस्तान) में मुसलमानों की जनसंख्या सबसे ज़्यादा हो गई और ये इलाक़े स्थायी रूप से इस्लामी दुनिया का अंग बन गए। इस प्रकार एक बहुत बड़े भूभाग का, जो क्षेत्रफल एवं जनसंख्या में अन्दलुस (स्पेन) से दुगना था, अन्दलुस की तरह बुरा हश्र नहीं हुआ।

दूसरा फ़ायदा यह हुआ कि इस्लाम स्वीकार कर लेने के बाद लोग इस्लाम स्वीकार करने के पहले की बुराइयों-कुरीतियों से पाक हो गए। ज़ातपात का भेद-भाव, छोटे-बड़े का अन्तर, छुआ-छूत की परम्परा बहुत कम हो गई। विधवाओं का विवाह होने लगा। महिलाओं को पैतृक सम्पत्ति में अधिकार मिलने लगा।

मुस्लिम हुकूमत ने मानव-बलि की परम्परा कठोरतापूर्वक रोक दी। सती प्रथा से सम्बन्धित आदेश दिया कि बलपूर्वक किसी औरत को सती न किया जाए। शराब पीने एवं उसके क्रय-विक्रय तथा जुआ पर प्रतिबन्ध लग गया। फलतः मुस्लिम हुकूमत में शराबख़ोरी एवं जुआ बिलकुल नगण्य हो गया।

एक फ़्रांसीसी पर्यटक बर्नियर, जो शाहजहाँ और औरंगज़ेब के ज़माने में आया था, लिखता है—

> "दिल्ली की किसी दुकान में शराब नहीं मिलती, मुसलमान एवं हिन्दू दोनों उसे बुरा समझते हैं। मुग़ल-सल्तनत में कभी-कभी शीराज़ या यूरोप से शराब आ जाती है जिसे यूरोपीय व्यापारी लाते हैं। मैंने यह शराब अहमदाबाद और गोलकुण्डा में अंग्रेज़ों और हालैंड के निवासियों के घरों में पी है, परन्तु यह इतनी महँगी है कि शराब का नशा और आनन्द जाता रहता है। हाँ, यहाँ एक प्रकार की घटिया शराब मिलती है जिसे लोग अर्क़ कहते हैं, परन्तु यह हानिकारक होती है और इसके उपयोग पर भी पाबन्दी है। सिवाय ईसाइयों के और कोई पीने की हिम्मत नहीं कर सकता।"

बर्नियर ने अन्त में लिखा है कि इस देश में एक बुद्धिमान व्यक्ति के लिए अच्छा है कि वह शुद्ध-ठन्डा जल पिए या नींबू का बेहतरीन शर्बत पिए

जो कम ख़र्च में उपलब्ध है और नुक़्सान भी नहीं करता।

इस्लामी हुकूमत का हिन्दुओं पर भी अच्छा प्रभाव पड़ा। उनमें मूर्तिपूजा का रुझान कम हुआ और एकेश्वरवाद की विचारधारा ने ज़ोर पकड़ा। भक्त कबीर एवं गुरु नानक जैसे सन्त पैदा हुए जिन्होंने एकेश्वरवाद पर ज़ोर दिया। ख़ुद हिन्दुओं में श्री शंकराचार्य, दयानन्द और रामानन्द ने मूर्तिपूजा के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई। इस प्रकार यद्यपि इस्लाम का उतना प्रसार नहीं हुआ, परन्तु हिन्दुओं का एक बड़ा वर्ग मूर्तिपूजा छोड़कर एकेश्वरवादी हो गया।

हम पढ़ चुके हैं कि अन्दलुस में जब मुसलमानों की हुकूमत ख़त्म हो गई तो ईसाई हुकूमत ने वहाँ लाखों मुसलमानों को तलवार के ज़ोर से ईसाई बना लिया। सक़लिया, थ्रेस और फ़िलिपीन में भी ईसाई हुकूमत ने मुसलमानों के साथ यही सुलूक किया और अभी हाल में रूस में कम्यूनिस्ट ने भी मुसलमानों के साथ यही व्यवहार किया है, परन्तु मुसलमानों ने कहीं भी किसी क़ौम अथवा समूह को बलपूर्वक मुसलमान नहीं बनाया। भारत-पाक में भी उन्होंने ऐसा नहीं किया। मुसलमानों ने हिन्दुओं एवं अन्य धर्मावलम्बियों को पूरी आज़ादी दी। उन्हें अपनी सल्तनत में नौकरियाँ और ऊँचे पद दिए। उन्हें अपने धार्मिक रस्मो-रिवाज एवं तरीक़ों पर चलने की पूरी छूट दी। वे अपने धर्म के समर्थन में पूरी आज़ादी से लिखते और वाद-विवाद करते थे।

हिन्दुओं में ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य लोग शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते थे। इस्लामी हुकूमत ने ज्ञान एवं शिक्षा पर से ब्राह्मणों के इस एकाधिकार को ख़त्म कर दिया। सिकन्दर लोधी के ज़माने के बाद से कायस्थ और क्षत्रियों ने सरकारी संरक्षण में फ़ारिसी सीखी और फिर ज्ञान के क्षेत्र में ऐसी तरक़्क़ी की कि हिन्दुओं में फ़ारिसी के बेहतरीन साहित्यकार शायर और लेखक पैदा होने लगे। हिन्दुओं में इतिहास लिखने का बिलकुल रिवाज नहीं था, परन्तु इस्लामी काल में उन्होंने इतिहास में भी रुचि लेनी शुरू कर दी

सांस्कृतिक विकास

मुसलमानों ने सभ्यता एवं संस्कृति की दृष्टि से भी मुल्क को बड़ी तरक़्क़ी दी। इस तरक़्क़ी में सबसे बड़ा योगदान मुग़लों का है। मुग़लों के आगमन

के समय भारत की जो स्थिति थी और हिन्दुओं की जो सभ्यता थी, उसका उल्लेख बाबर ने अपनी तुज़्क में इस प्रकार किया है—

> "हिन्दुस्तान में अच्छे घोड़े नहीं होते, अच्छा गोश्त नहीं मिलता। अंगूर नहीं, ख़रबूज़ा नहीं, बर्फ़ नहीं, ठंडा पानी नहीं, हमाम (स्नानगृह) नहीं, मदरसे नहीं, शमादान (दीपक-पात्र) नहीं, शमा (दीपक) की बजाय डयूट होता है। बाग़ों और इमारतों में न सफ़ाई है और न रख-रखाव। न हवा, न संतुलन। आम आदमी नंगे पाँव एक लंगोटी बाँधे फिरते हैं। औरतें धोती पहनती हैं जिसका आधा हिस्सा कमर से लपेट लेती हैं और आधा हिस्सा सिर पर डाल लेती हैं।"

कश्मीर के बादशाह ज़ैनुल-आबिदीन ने कश्मीर की वादी में ईरान एवं तुर्किस्तान के फल-फूल और वहाँ के उद्योगों को शुरू करने के लिए जो कोशिशें की थीं, उनका हाल हम पढ़ चुके हैं। उसी प्रकार भारत-पाक में फ़िरोज़ तुग़लक़ ने जो सैकड़ों बाग़ लगवाए उनका हाल भी गुज़र चुका है। मुग़लों के ज़माने में यह शौक़ और भी बढ़ गया। वे तो बस बाग़ लगवाने के लिए बहाने तलाश करते थे। यदि कोई फ़तूह हासिल हो गई तो उसकी याद में बाग़ लगा दिया, किसी की मृत्यु हुई तो मक़बरे को बाग़ और नहरों से सजा दिया। नया शहर बसता था तो हर अमीर (उच्च पदाधिकारी) अपना अलग बाग़ बनवाता था। अकसर शहर तो बाग़ों के शहर कहलाते थे। यह बाग़ आज के बाग़ों की तरह मात्र फूलों और छायादार पेड़ों के न होते थे, बल्कि फलों के बाग़ होते थे जिससे हर ग़रीब फ़ायदा उठा सकता था। अकबर ने पटना में आमों का जो बाग़ लगवाया उसमें एक लाख पेड़ थे। इसी प्रकार दक्कन के निज़ाम शाही बादशाहों के एक वज़ीर ने आम और खिरनी के पाँच लाख पेड़ लगवाए। सड़कों के किनारे भी फलदार पेड़ ही लगवाए जाते थे ताकि मुसाफ़िर ठण्डी छाया में सफ़र करें और फल मुफ़्त में खाएँ।

आम भारत-बंगलादेश का ख़ास फल है। पाकिस्तान में यह फल नहीं होता था। अकबर ने पंजाब के इलाक़े में आम के बाग़ लगवाए जिसके बाद

पाकिस्तान में भी यह स्वादिष्ट फल पैदा होने लगा।

अकबर के ज़माने में कश्मीर के बागों का एक दारोग़ा मुहम्मद अली अफ़शार था। उसने ख़ूबानी और शाह आलू की क़लमें काबुल से मँगवाकर कश्मीर में लगवाईं। इसमें ख़ूबानी तो इतनी फली कि आज जब ख़ूबानी का नाम आता है तो साथ ही कश्मीर का नाम भी आ जाता है।

अकबर और उसके मशहूर सूबेदार अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना ने अंगूर, इंजीर, ख़रबूज़ा, संतरा, अनार, शफ़्तालू, बादाम और पिस्ता आदि के बीज एवं पौधे ईरान एवं तुर्किस्तान से मँगवाकर यहाँ लगवाए और इस प्रकार ये सभी चीज़ें उपमहाद्वीप में पैदा होने लगीं। जहाँगीर के ज़माने में यूरोप से अनन्नास आया और अब बंगाल में इतनी अधिक पैदावार होती है कि जैसे वहाँ की असली पैदावार हो। उसी ज़माने में फलों के पेड़ों में क़लम और पैवंद लगाने के तरह-तरह के तरीक़े निकाले गए जिससे अच्छी क़िस्म के क़लमी और पैवंदी आम और अन्य फल पैदा होने लगे। हिन्दुस्तान में पहले बीजीय (बीजू) आम होता था, औरंगज़ेब के ज़माने में इसमें क़लम लगाकर क़लमी आम पैदा किया गया। मुग़लों के ज़माने में घोड़ों और ऊँटों की भी अच्छी नस्लें पैदा की गईं। इराक़, अरब, रूम, तुर्किस्तान और तिब्बत से घोड़े मँगवाकर इस मुल्क में उनकी नई नस्लें तैयार की गईं। इस तरह यहाँ अच्छे घोड़े मिलने लगे। आजकल पाकिस्तान में उपमहाद्वीप के सबसे अच्छे घोड़े होते हैं।

उस ज़माने में लिबास में भी विकास हुआ। धोती और साड़ी की जगह पाजामा, दस्तार, कुलाह और शेरवानी का मर्दों में रिवाज हुआ। औरतें शलवार, ग़रारह, क़मीज़ (जम्पर), और दुपट्टा धारण करने लगीं। इस प्रकार इस इलाक़े में ऐसे लिबास का प्रचलन हुआ जो सुन्दर भी होते थे और जिनसे शरीर भी पूरी तरह ढक जाता था।

मोज़े, सलीम शाही और दूसरे प्रकार के जूतों का इस्तेमाल भी मुसलमानों के ही ज़माने में शुरू हुआ। इससे पहले लोग या तो नंगे पाँव फिरते थे या कुरूप जूते पहनते थे।

हिन्दुओं के ज़माने में औरतों के ज़ेवर भारी और भद्दे क़िस्म के होते थे। मुसलमानों ने सिर, कान, नाक, गले, हाथ, और पाँव के अनगिनत हल्के और सुन्दर ज़ेवर ईजाद किए जो आज भी इस्तेमाल किए जाते हैं। हिन्दुओं के ज़माने में अधिकतर दाल, चावल और सब्ज़ी भोजन के रूप में लिए जाते थे। मुसलमानों ने पुलाव, ज़र्दा, क़ोरमा, बिरयानी और भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वादिष्ट खाने ईजाद किए। हिन्दुओं के यहाँ हर व्यक्ति अलग-अलग थाल या पत्तों पर खाना खाता था, मुसलमानों ने एक दस्तरख़ान पर बैठकर खाने का रिवाज दिया। हाथ धोने के लिए लोटे और आफ़ताबे का रिवाज शुरू हुआ।

हिन्दू गोबर से घर को लीपते थे। मुसलमानों ने फ़र्श, फ़र्नीचर और शीशे के उपकरण को रिवाज दिया।

भारत के प्राचीन मकानों की छत नीची होती थी और सेहन (आँगन) नहीं होते थे जिसके कारण रौशनी और हवा नहीं आती थी। मुसलमानों ने ऊँचे दरवाज़ों और बड़े-बड़े दालानों को रिवाज दिया। ऐसे मकान बनाए जिनमें हवा और रौशनी अच्छी तरह आती थी। मकानों में पुरुष-कक्ष और महिला-कक्ष अलग-अलग बनाए। बारहदरी, ख़ाना, बाग़, हौज़, फ़व्वारे, चमन मुसलमानों ने ही शुरू किए। लाहौर और कश्मीर के शालीमार-बाग़ एवं निशात-बाग़ को देखकर अन्दाज़ा किया जा सकता है कि मुग़लों के बाद से हमारे मुल्क में कैसे-कैसे सुन्दर बाग़ बनना शुरू हो गए थे।

उद्योग-धन्धे

मुसलमानों ने उद्योग-धन्धे का भी विकास किया। काग़ज़ मुसलमानों के आगमन से पहले उपमहाद्वीप में तैयार नहीं होता था। मुसलमानों ने यहाँ काग़ज़ के निर्माण का उद्योग शुरू किया जिसके कारण ज्ञान एवं कला की बड़ी तरक़्क़ी हुई और किताबें अधिक संख्या में लिखी और छापी जाने लगीं। कश्मीर, गुजरात और दौलताबाद काग़ज़ निर्माण के बड़े-बड़े केन्द्र थे। यह काग़ज़ अरब, शाम (सीरिया) और अनातोलिया तक जाता था। काग़ज़ के अतिरिक्त चमड़े को रंगने और चीनी बनाने के उद्योग को भी बड़ी तरक़्क़ी मिली। सूती, ऊनी और रेशमी कपड़े यद्यपि प्राचीन काल से भारत में बनते

थे, परन्तु मुसलमानों ने इस उद्योग को बहुत अधिक विकसित किया। समरक़न्द और ईरान से कारीगर बुलवाकर कपड़ों के नए उद्योग शुरू किए। दिल्ली, आगरा, लाहौर, श्रीनगर, अहमदाबाद, औरंगाबाद और ढाका कपड़े बुनने के उद्योग के बड़े-बड़े केन्द्र बन गए। बीस से ज़्यादा प्रकार के सूती और चौबीस से ज़्यादा प्रकार के रेशमी कपड़ों के एक हज़ार से ज़्यादा करख़ाने थे। औरंगज़ेब के ज़माने में ढाका की मशहूर मलमल तैयार होने लगी जो इतनी नरम और बारीक़ होती थी कि पूरा एक थान अंगूठी के अन्दर से निकल जाता था। औरंगज़ेब के काल में एक अंग्रेज़ पर्यटक हेमिल्टन व्यापार के सिलसिले में कई वर्ष तक उपमहाद्वीप में रहा। वह अपनी यात्रा-वृत्तान्त में लिखता है—

> "भारत में अच्छे-से-अच्छा कपड़ा बहुत अधिक मिलता है, इसका उदाहरण यूरोप में मिलना कठिन है। यहाँ रूई का कपड़ा बहुत बारीक और मुलायम होता है और इतना मज़बूत होता है कि मैंने इससे पहले अपनी ज़िन्दगी में कभी इस्तेमाल नहीं किया।"

बंगाल के रेशमी कपड़े, कश्मीर और लाहौर के शाल एवं ऊनी कपड़े तथा ठट्ठा (सिन्ध) के सूती कपड़े सारी दुनिया में मशहूर थे और यूरोप से जापान तक जाते थे। ये कपड़े जब विलायत पहुँचे तो औरतों और लड़कियों ने अपने यहाँ का कपड़ा पहनना छोड़ दिया। हिन्दुस्तान के कपड़ों ने बाज़ार में वह रंग जमाया कि विलायत के कपड़े मंद पड़ गए। मानचेस्टर के कारखानों ने बहुत हद तक उन छींटों की नक़ल उतारने की कोशिश की, परन्तु उनके रंग का निखार, उनके बेलबूटों की सुन्दरता कहाँ से लाते, अन्ततः मजबूर हो गए। वहाँ की तत्कालीन हुकूमत को एक क़ानून बनाना पड़ा कि विलायत का कोई भी नागरिक उपमहाद्वीप का बना हुआ कपड़ा नहीं पहन सकता।

मुसलमानों ने चीनी-मिट्टी का उद्योग भी शुरू किया। चीनी-मिट्टी के बरतन तश्तरी, फूलदान ऐसे अच्छे-अच्छे तैयार होते थे कि जिनकी मिसाल नहीं थी। यह काम काशगरी का काम कहलाता था। मुल्तान और सिन्ध में तो ये बरतन बहुत सुन्दर बनते थे। यह काम आज भी होता है परन्तु लोगों

की रुचि बदल गई है जिसके कारण यह उद्योग अब लुप्त होता जा रहा है।

1871 ई॰ में यूरोप में एक प्रदर्शनी लगी थी। इसमें एक जगह सिन्ध के पुराने चीनी के बर्तन लगे हुए थे। एक अंग्रेज़ शौक़ीन जब उस स्टाल पर पहुँचा तो इन बर्तनों को देखकर आश्चर्यचकित रह गया। कहने लगा—

"हमारे लोग जो हिन्दुस्तान से वापस आते हैं वे तो कहते हैं कि हिन्दुस्तानियों में सुन्दर चीज़ें बनाने और रखने का शौक़ नहीं। फिर इतनी अच्छी-अच्छी चीज़ें उनके यहाँ कैसे बन सकीं?"

वह अपनी किताब में लिखता है—

"यूरोप के चित्रकारों और कारख़ाना-मालिकों को इन चीज़ों का गहराई से अध्ययन करना चाहिए। रंगों के समायोजन और चित्र बनाने के काम में हम उन लोगों से बहुत कुछ सीख सकते हैं, और भला हम पश्चिमी लोग जो हिन्दुस्तान में अपनी ओर से आर्ट स्कूल खोल रहे हैं इसमें क्या बुद्धिमानी है। मेरे विचार में इस मुल्क के पिछड़े ज़िले एवं क्षेत्र भी हमारे लिए अच्छे ख़ासे आर्ट स्कूल का काम दे सकते हैं जहाँ हम सिखाने के बजाय बहुत कुछ उनसे सीख सकते हैं।"

मुसलमानों की एक बड़ी विशेषता यह थी कि वे अपनी कला की अभिव्यक्ति सुन्दर चित्रों, बेल-बूटों, फूलों और सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों के माध्यम से करते थे। नग्न एवं अर्द्धनग्न तस्वीरें एवं अश्लील दृश्य जो पश्चिमी संस्कृति के कारण कला के क्षेत्रों में आम हो गए हैं, मुसलमान कलाकार इससे कोसों दूर थे।

सस्ती क़ीमत में वस्तुओं की उपलब्धता

उद्योग-धन्धे एवं कृषि के विकास तथा शान्ति-व्यवस्था, न्याय-इनसाफ़ के कारण उपमहाद्वीप में इस्लामी काल में चारों ओर ख़ुशहाली थी। मुल्क में ज़रूरत की हर चीज़ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध रहती थी। यहाँ की पैदावार एवं उत्पाद दूसरे मुल्कों में जाती थीं और बाहर के लोग सोने के रूप में मूल्य देते थे। नतीजा यह था कि यह क्षेत्र 'सोने की चिड़िया' के नाम से मशहूर

हो गया था।

औरंगज़ेब के ज़माने में वस्तुओं की क़ीमतों से अनुमान लगाइए कि कितनी सस्ती का ज़माना था–

गोश्त	:	छह फ़ारदिंग का एक सेर
नमक	:	साढ़े तीन रुपए का एक टन
मछली	:	तीन आने में दस सेर
मक्खन	:	दो आने सेर

बंगाल में औरंगज़ेब के गवर्नर शाइस्ता ख़ाँ के ज़माने में चावल कुछ महँगा हो गया था तो उसे इतनी चिन्ता हुई कि जब वह ढाका से दिल्ली रवाना होने लगा तो आदेश दे दिया गया कि वह दरवाज़ा जिससे मैं जा रहा हूँ उस समय तक न खोला जाए जब तक चावल सस्ता न हो जाए।

फिर भी इस प्रान्त में चावल इतना सस्ता था कि एक यूरोपीय पर्यटक लिखता है–

> ''शहर ढाका में ज़रूरत की चीज़ें इतनी प्रचुरता से और इतनी सस्ती हैं कि इसका यक़ीन करना मुश्किल होता है। जाड़े के मौसम में चावल एक रुपए में 580 पौण्ड (अर्थात् सात मन दस सेर) मिलता है।''

उपमहाद्वीप भारत-पाक अपनी ख़ुशहाली एवं तरक़्क़ी के चरम पर मुग़लों के काल में पहुँचा। उस ज़माने में यह भूभाग सभ्यता एवं संस्कृति के क्षेत्र में सारी दुनिया से आगे निकल गया था। सोलहवीं और सतरहवीं सदी में दुनिया का कोई मुल्क इस दृष्टि से इस्लामी हिन्द का मुक़ाबला नहीं कर सकता था। यहाँ जैसी सुन्दर इमारतें बनवाई गईं, जितने अधिक बाग़ लगवाए गए, यहाँ खेती एवं उद्योग-धन्धे को जैसी तरक़्क़ी मिली, शिक्षा के क्षेत्र में जो क्रान्ति आई, यहाँ जैसी शान्ति-व्यवस्था थी, जैसे बड़े-बड़े शहर थे, न्याय-इनसाफ़ का बोलबाला था, इसकी मिसाल तत्कालीन विश्व में कहीं नहीं मिलती। (अगले क्रम के लिए देखें–अध्याय-28)

अध्याय-25

मराकश के हसनी शुरफ़ा

(951 हि०/1544 ई०–1339 हि०/1727 ई०)

सोलहवीं सदी के आरम्भ में जब मरीन-वंश की हुकूमत बिखर गई तो मराकश (Morocco) विभिन्न टुकड़ों में बँट गया और अन्तिम मरीनी शासक का शासन फ़ॉस (Fas) शहर तक सीमित हो गया। समुद्रतटीय बेहतरीन क्षेत्रों पर पुर्तगाली क़ाबिज़ हो गए थे। मुसलमानों में आपसी द्वन्द और बिखराव इस सीमा तक पहुँच गई थी कि जब मराकश के लोग पुर्तगालियों से सन्धि के लिए कहते तो वे व्यंग्य करते कि तुम्हारा सरदार कौन है जिससे हम वार्ता करें।

1. सअदी ख़ानदान (957 हि०/1550 ई०–1075 हि०/1664 ई०)

मुल्क की यह हालत देखकर दक्षिणी मराकश के उलमा और गणमान्य लोगों ने सोच-विचार के बाद दरआ-ज़िले के एक व्यक्ति शरीफ़ मुहम्मद के हाथ पर बैअत कर ली जो इमाम हसन (रज़ि०) की औलाद में था और जिसकी धर्मपरायणता एवं परहेज़गारी की शोहरत दूर-दूर तक फैली हुई थी। इस प्रकार 1511 ई० में मराकश में शरीफ़ी ख़ानदान की हुकूमत की बुनियाद पड़ी, जिसे सअदी ख़ानदान भी कहा जाता है।

अबू-अब्दुल्लाह मुहम्मद ने, जिसने बाद में 'अल-क़ाइम' की उपाधि धारण की, इस्लाम-दुश्मनों के विरुद्ध जिहाद का एलान किया और बीस साल तक जंग जारी रखी और पुर्तगालियों के ख़िलाफ़ अच्छी सफलता प्राप्त की। अल-क़ाइम के बाद उसका बड़ा लड़का अहमद उत्तराधिकारी हुआ। अल-क़ाइम के ज़माने में उसके दोनों बेटे अहमद और मुहम्मद शैख़ मिलकर काम करते थे, परन्तु अब दोनों भाइयों में लड़ाई हो गई। मुहम्मद शैख़ भारी पड़ा और अहमद को नज़रबन्द कर दिया गया।

मुहम्मद शैख़ (946 हि./1539 ई.–965 हि./1557 ई.) ने पुर्तगालियों के ख़िलाफ़ लड़ाई जारी रखी। 1541 ई. में अनमादेर और जल्द ही आज़ीमूर जैसे अहम स्थान पुर्तगालियों से वापस ले लिए। उसने 1548 ई. में मकनास और 1550 ई. में फ़ॉस (Fas) पर क़ब्ज़ा करके मरीन-वंश की वतासी शाखा की हुकूमत का अन्त कर दिया। इस प्रकार मुहम्मद शैख़ पूरे मराकश का हुक्मरान बन बया। मुहम्मद शैख़ के ज़माने में मराकशवालों की पहली बार तुर्कों से मुठभेड़ हुई। उस ज़माने में उसमानी तुर्क सम्पूर्ण अल-जज़ायर (Algiers) पर तिलमसान तक क़ाबिज़ हो चुके थे। तत्कालीन वतासी हुक्मरान सुल्तान अबी-हसून ने तुर्कों के पास शरण ली थी, जिससे भड़ककर मुहम्मद शैख़ ने 1551 ई. में तिलमसान पर हमला कर दिया। इसका नतीजा उल्टा निकला। तुर्कों ने जवाबी कार्रवाई करके 1554 ई. में फ़ॉस (Fas) फ़त्ह कर लिया और अबी हसून को सुल्तान बनाकर वापस चले गए। तुर्कों के वापस जाने के बाद मुहम्मद शैख़ ने फ़ॉस (Fas) फिर वापस ले लिया।

मुहम्मद शैख़ के उत्तराधिकारी मुहम्मद अब्दुल्लाह ग़ालिब (965 हि./1557 ई.–981 हि.21574 ई.) का दौर इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि उसने मराकश में एक जामा मस्जिद, एक विशाल अस्पताल, एक बड़ा मदरसा और एक बड़ा जलाशय बनवाया।

ग़ालिब के बाद उसका सबसे बड़ा लड़का मुहम्मद मु-तवक्किल-बिल्लाह गद्दी पर बैठा। अभी उसने मात्र दो वर्ष ही हुकूमत की थी कि उसके चाचा अब्दुल-मलिक ने तुर्कों के सहयोग से फ़ॉस (Fas) और मराकश पर क़ब्ज़ा करके मु-तवक्किल को बेदख़ल कर दिया। मु-तवक्किल ने भाग कर पुर्तगाल में पनाह ली और वहाँ के बादशाह से इस शर्त पर सहयोग प्राप्त किया कि सफलता मिलने पर वह सम्पूर्ण तटीय भूभाग पुर्तगालियों को दे देगा। पुर्तगालियों ने मौक़ा का फ़ायदा उठाया। उन्होंने इस लड़ाई को सलीबी जंग की शक्ल दे दी और सम्पूर्ण यूरोप ने इस अभियान में पुर्तगाल की मदद की। एक लाख से अधिक ईसाई सेना तैयार की गई, जिसमें पुर्तगालियों एवं स्वेच्छा से तैयार लोगों के अतिरिक्त बीस हज़ार स्पेनवासी, तीन हज़ार इतालवी और तीन हज़ार जर्मन भी शामिल थे। रूम के पोप ने भी चार

हज़ार पैदल सिपाहियों, डेढ़ हज़ार सवारों और बारह तोपों से मदद की। मुसलमानों की कुल सैन्य क्षमता चालीस हज़ार की थी और उनके पास मात्र चौंतीस (34) तोपें थीं। ईसाई फ़ौजें तंजा (Tangier) पर उतरीं और फ़ॉस के क़रीब तक पहुँच गईं। 4 अगस्त 1578 ई॰ को 'क़सरुल-कबीर' के पास निर्णायक जंग हुई जिसमें ईसाइयों को बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी। उनके 26 हज़ार सैनिक जिनमें तीन हज़ार जर्मन, दो हज़ार स्पेनवासी और सात सौ इताल्वी शामिल थे, जंग में मारे गए। इस जंग की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस जंग के तीनों लीडरों, अर्थात पुर्तगाल का बादशाह, मु-तवक्किल और अब्दुल-मलिक, को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। इसी कारण इस लड़ाई को तीन बादशाहों की जंग भी कहा जाता है। पुर्तगाली अपने साथ औरतें, बच्चे, शाही साज़ो-सामान एवं सवारी की गाड़ियाँ भी लाए थे ताकि सुनिश्चित विजय के बाद विजय-जुलूस के रूप में राजधानी फ़ॉस में प्रवेश करें। परन्तु पाँसा पलट गया और उनकी मुराद पूरी नहीं हुई। अन्ततः उन्होंने सारा साज़ो-सामान छोड़कर फ़रार होना अच्छा समझा। क़सरुल-कबीर की यह जंग पश्चिमी रूम-सागर के इलाक़े में अन्तिम सलीबी जंग थी।

मनसूर ज़हबी

अब्दुल-मलिक के बाद उसका भाई अहमद गद्दी पर बैठा जो इतिहास में मनसूर ज़हबी (986 ई॰/1578 ई॰—1012 हि॰/1603 ई॰) के नाम से ज़्यादा मशहूर है। मनसूर ज़हबी के दौर की शुरूआत बहुत शुभ समय में हुई थी, इसलिए उसने उसमानी सुल्तान और पड़ोसी ईसाई हुकूमतों को अल-क़सर की फ़त्ह और अपने राज्याभिषेक की सूचना विशेष राजदूतों के द्वारा भिजवाई, जिसके जवाब में पहले अल-जज़ायर के तुर्क गवर्नर, पुर्तगाल, स्पेन और अन्त में सुल्तान मुराद उसमानी के राजदूत तोहफ़े और मुबारकबाद के सन्देश लेकर आए। सबसे अन्त में फ्रांस का प्रतिनिधि मंडल आया। क़सरुल-कबीर की फ़त्ह ने मराकश को सारी दुनिया में प्रसिद्धि दिलाई और उसे एक बड़ी शक्ति स्वीकार कर लिया गया।

शरीफ़ अबुल-अब्बास अहमद मनसूर ज़हबी निस्सन्देह सअदी ख़ानदान

का सबसे प्रमुख हुक्मरान है। उत्तर के हमलों से सुरक्षित हो जाने के बाद उसने दक्षिण का रुख़ किया। सूडान के क्षेत्र या नाइजर-नदी के मध्य इलाक़े में सोनग़ाई ख़ानदान का अन्तिम हुक्मरान इसहाक़ सत्तासीन था। यह इलाक़ा सदियों से सोने के उत्पादन के कारण मशहूर चला आ रहा था। मनसूर सोने के इन खदानों पर क़ब्ज़ा करना चाहता था। अतः उसने एक फ़ौज तोपख़ाना सहित जोज़र पाशा के नेतृत्व में भेजी, जिसने 1591 ई॰ में इसहाक़ को पराजित करके टिम्बक्टू और गाऊ पर क़ब्ज़ा कर लिया और माली-रियासत को मराकश-सल्तनत का एक हिस्सा बना लिया। सूडान की विजय के बाद मराकश में सोने का इतना अम्बार लग गया कि उसका लेखा-जोखा रखना कठिन हो गया। आभूषण बनानेवालों के अतिरिक्त केवल अशरफ़ियाँ बनाने का काम चौदह सौ सुनार करते थे। सोने से इस सम्बद्धता के कारण ही मनसूर ने 'ज़हबी' की उपाधि से प्रसिद्धि पाई। अरबी में 'ज़हब' का अर्थ सोना होता है।

कहा जाता है कि अहमद मनसूर ज़हबी अन्त में अन्दलुस (स्पेन) पर चढ़ाई करना चाहता था, परन्तु उसकी यह आरज़ू पूरी न हो सकी।

मनसूर ज़हबी के काल में मराकशवालों ने पहली बार हाथी देखा एवं तम्बाकू से परिचित हुए। ये दोनों चीज़ें सूडान से आई थी।

मनसूर दिल्ली के अकबर महान और ईरान के अब्बास महान का समकालीन था और अपनी कतिपय कमज़ोरियों के बावजूद योग्यताओं में उनका समकक्ष था। उसका काल अमन-शान्ति एवं ख़ुशहाली का काल था। उसमानी तुर्कों से उसने निकट सम्बन्ध स्थापित किए और उनके सहयोग से आधुनिक शैली की फ़ौज संगठित की जो बन्दूक़, तोपख़ाने आदि से लैस थी। उसके बड़े-बड़े फ़ौजी अफ़सर तुर्क-मूल के थे।

मनसूर को इमारतों का भी बहुत शौक़ था। उसके काल में जो इमारतें बनीं उनमें 'क़सरुल-बदीअ' सबसे प्रमुख थी, जो सत्रह साल में बनकर तैयार हुई थी, जिसके बारे में कहा जाता है कि उसके सामने क़ुरतुबा (Cardova) का 'क़सरुज़-ज़ुहरा' भी माँद पड़ गया था। इस महल के तैयार होने पर जब मनसूर ने जश्न मनाया तो अतिथियों में एक मजज़ूब (दीवाना) भी था। जब

मनसूर ने महल के बारे में उसकी राय पूछी तो उसने जवाब दिया, "जब यह गिरेगा तो मिट्टी का विशाल ढेर दिखाई देगा।" और यही हुआ 1119 हि० में मराकश ही के एक हुक्मरान सुल्तान इसमाईल ने इसे ढहा दिया और इसका मलबा अपने भवन के निर्माण में इस्तेमाल कर लिया।

मनसूर ने बहुत-सी किताबों का अध्ययन किया था। वह दो किताबों का लेखक और उच्च कोटि का ख़त्तात (Calligrapher) था। उसने एक नए प्रकार का लिबास भी डिज़ाइन किया था जो उसके नाम पर मनसूरिया कहलाता था।

मनसूर ज़हबी के बाद सअदी ख़ानदान की हुकूमत आधी सदी तक और क़ायम रही, परन्तु यह दौर गृह-युद्धों एवं अशान्ति का दौर है। स्पेन के शासकों ने इस स्थिति का एक बार फिर फ़ायदा उठाया और मराकश के कई तटीय इलाक़ों पर क़ाबिज़ हो गए। 1666 ई० में मराकश के शुरफ़ा के एक अन्य ख़ानदान से सम्बन्ध रखनेवाले एक व्यक्ति शरीफ़ रशीद ने सअदी हुकूमत का अन्त कर दिया और एक नए हुक्मरान-ख़ानदान की बुनियाद डाली जो फ़लाली शरीफ़ या अलवी कहलाता है और आज तक मराकश की सत्ता पर विराजमान है।

2. फ़लाली शुरफ़ा (अलवी शुरफ़ा)

(1075 हि०/1664 ई०–1139 हि०/1727 ई०)

मराकश के नए हुक्मरान-ख़ानदान फ़लाली शुरफ़ा के पूर्वज और पिछले हुक्मरान-ख़ानदान सअदी शुरफ़ा के पूर्वज एक ही थे। वे सभी हज़रत हसन (रज़ि०) के वंशज हैं और हसनी सैयद हैं जिन्हें मराकश में शरीफ़ कहा जाता है। फ़लाली शुरफ़ा को अलवी भी कहा जाता है। इस ख़ानदान का पहला हुक्मरान मौला-ए-शरीफ़ (1634 ई०–1641 ई०) है जिसमें 1634 ई० में मराकश के दक्षिण में सहलीमासा के इलाक़े में हुकूमत क़ायम करके उसका नाम ताफ़ीलात रखा। शरीफ़ के लड़के मुहम्मद (1641 ई०–1664 ई०) ने हुकूमत को और विस्तृत किया और उसके बाद उसके भाई मौला-ए-रशीद (1664 ई०–1672 ई०) ने सअदियों की हुकूमत का अन्त करके सम्पूर्ण मराकश पर इस नए ख़ानदान की जड़ें मज़बूती से जमा दीं। मौला-ए-रशीद

एक प्रजापालक हुक्मरान था। उसने फ़ॉस (Fas) और मराकश में मदरसे क़ायम किए, सिंचाई की व्यवस्था के लिए बाँध बनाए और फ़ॉस के बाहर मसेवा-नदी पर चार मेहराबों का पक्का पुल बनवाया। फ़लाली शुरफ़ा की हुकूमत का वास्तविक संस्थापक मौला-ए-रशीद ही है।

मौला-ए-इसमाईल

मौला-ए-रशीद के बाद उसका भाई मौला-ए-इसमाईल (1672 ई॰–1727 ई॰) गद्दी पर बैठा। इसमाईल ने सबसे पहले मुल्क की आन्तरिक व्यवस्था पर ध्यान दिया और उसे चुस्त-दुरुस्त किया। उसने सभी विद्रोही अमीरों-गवर्नरों का ज़ोर तोड़कर अपनी केन्द्रीय सत्ता को मज़बूती प्रदान की। इसके बाद उसने तटीय क्षेत्रों की ओर ध्यान दिया जहाँ स्पेनी, पुर्तगाली, और अंग्रेज़ विभिन्न इलाक़ों पर क़ाबिज़ थे। 1681 ई॰ में इसमाईल ने स्पेनियों से मामूरह वापस ले लिया, 1684 ई॰ में अंग्रेज़ों को तंजा (Tangier) छोड़ने पर मजबूर कर दिया और 1689 ई॰ में अल-अराइश भी फ़तह कर लिया। 1691 ई॰ तक उसने "सबक़ा" को छोड़कर मराकश का सम्पूर्ण तटीय इलाक़ा बाहरी वर्चस्व से आज़ाद करा लिया। अब इसमाईल तंजा से सेनेगाल-नदी और नाइजर-नदी तक सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीक़ा का अकेला मालिक बन गया। उसने अपनी सल्तनत में ऐसी शान्ति-व्यवस्था क़ायम की कि इतिहासकारों के कथनानुसार एक बूढ़ी औरत सल्तनत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक सोना उछालती जा सकती थी और उसे कोई कुछ नहीं कह सकता था।

मौला-ए-इसमाईल ने अफ़्रीक़ी गुलामों पर आधारित एक फ़ौज तैयार की थी जिसका नाम 'उबैदुल-बुख़ारी' था। हदीसों की मशहूर किताब सहीह बुख़ारी चूँकि उस लश्कर के साथ रहती थी इसलिए उसका नाम उबैदुल-बुख़ारी यानी बुख़ारी के गुलाम रखा गया। इसमाईल की शक्ति का दारो-मदार उसी लश्कर पर था। उसने यूरोपी नव-मुस्लिमों पर आधारित कई फ़ौजी दस्ते भी तैयार किए थे। उसकी कुल फ़ौज डेढ़ लाख थी।

मौला-ए-इसमाईल न केवल मराकश के इतिहास में बल्कि अपने ज़माने में विश्व-इतिहास के शक्तिशाली हुक्मरानों में से एक था। यूरोप की हुकूमतों

ने उसके साथ दोस्ताना सम्बन्ध स्थापित किए। ब्रिटेन, फ़्रांस और स्पेन ने अपने राजदूत मराकश दरबार में भेजे। इसमाईल स्पेन के सम्बन्ध में कहा करता था कि उसपर मर्द नहीं औरतें हुकूमत कर रही हैं। इंग्लैण्ड के महाराजा को वह पार्लियामेंट का गुलाम कहा करता था। वह यूरोप के हुक्मरानों में केवल फ़्रांस के लूई चौदहवें को एक ऐसा हुक्मरान समझता था जो सही मानी में बादशाह कहलाने के योग्य था। उससे इसमाईल के निकट सम्बन्ध थे।

मौला-ए-इसमाईल अपनी तमाम ख़ूबियों के बावजूद एक अत्याचारी और कठोर हुक्मरान था। वह थोड़ी-थोड़ी सी बात पर लोगों को क़त्ल करा देता था। कहा जाता है कि उसने अपने प्रारम्भिक बीस सालों में बीस हज़ार लोगों को क़त्ल कराया। यद्यपि उसपर ज़ुल्म-अत्याचार के आरोप अधिकतर यूरोपीय इतिहासकारों ने लगाए हैं जिनमें अतिश्योक्ति हो सकती है, परन्तु वे बिलकुल बेबुनियाद भी नहीं। वास्तव में इसमाईल हज्जाज-बिन-यूसुफ़ की तरह विरोधाभासी व्यक्तित्व का मालिक था। इन तमाम ज़ुल्म-ज़्यादतियों के बावजूद इतिहासकार सहमत हैं कि उसके काल में मराकश में बेमिसाल अमन-शान्ति थी और मुल्क अपनी ख़ुशहाली के चरम पर था।

मौला-ए-इसमाईल को शानदार इमारतें और बाग़ लगवाने का शौक़ पागलपन की हद तक था। उसकी बनवाई हुई इमारतें यद्यपि पूरे मुल्क में फैली हुई हैं परन्तु सबसे ज़्यादा मकनास में मौजूद हैं। मौला-ए-रशीद ने फ़ॉस (Fas) को राजधानी बनाई थी, परन्तु मौला-ए-इसमाईल ने राजधानी को मकनास में स्थानान्तरित कर दिया। उसकी मशहूर इमारतों में एक मकनास की जामिउल-अख़ज़र है। परन्तु मकनास का शाही महल जिसके निर्माण में बीस हज़ार मज़दूर प्रत्येक दिन लगते थे, उसकी सबसे बड़ी यादगार है। घोड़ों के अस्तबल ढाई मील में फैले हुए थे और उसमें बारह हज़ार घोड़े बँधे रहते थे। मकनास के चारों ओर जो फ़सील (घेरा-बन्दी) बनवाई उसकी लम्बाई पच्चीस मील थी। उसकी बनवाई हुई इमारतों की संख्या छियासठ (66) से ज़्यादा है। उनमें मदरसे, मस्जिदें, स्नानागार, मुसाफ़िरख़ाने, बाग़ात और महल सब शामिल हैं। उसने एक बाग़ की आमदनी, जिसमें ज़ैतून के एक

लाख पेड़ थे, मक्का-मदीना के लिए दान कर दी थी।

मौला-ए-इसमाईल ने कुल 55 साल हुकूमत की। वह मराकश का अन्तिम शक्तिशाली हुक्मरान था। दिल्ली के मुग़ल-शहंशाह औरंगज़ेब का समकालीन था। मौला-ए-इसमाईल यद्यपि प्रशासनिक क्षमता एवं विवेकशीलता में अपने समकालीन बादशाहों से कम नहीं था, परन्तु प्रजापालकता, न्याय-इनसाफ़ तथा सदाचरण में औरंगज़ेब का समकक्ष नहीं था।

मौला-ए-इसमाईल का सबसे बड़ा कारनामा यह है कि उसने सतरहवीं शताब्दी के अन्त और अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोपीय शक्तियों के ख़िलाफ़ फ़ौजी कामयाबियाँ हासिल कीं जबकि उसी ज़माने में तुर्कों को उनके मुक़ाबले में नाकामी का मुँह देखना पड़ा और हंगरी उनके हाथ से निकल गया। सुदूर पूर्व में भी हालैण्डवाले और पुर्तगाली, इन्डोनेशियाई मुसलमानों के मुक़ाबले में लगातार सफलता प्राप्त कर रहे थे। यदि हम इस्लामी हिन्द और ईरान को सम्मिलित न करें, जिनका अभी पश्चिमी राष्ट्रों से फ़ौजी टकराव नहीं हुआ था, तो इस्लामी दुनिया में केवल मराकश ऐसा मुल्क था जिसने पुर्तगालियों, स्पेनियों और अंग्रेज़ों के मुक़ाबले सफलता प्राप्त की थी।

मौला-ए-इसमाईल के बाद यद्यपि कई योग्य हुक्मरान मराकश की गद्दी पर बैठे, परन्तु मराकश उस शानो-शौकत और महानता को पुनः प्राप्त न कर सका जो मौला-ए-इसमाईल के ज़माने में उसे प्राप्त थी। अब मराकश ही नहीं सम्पूर्ण इस्लामी दुनिया का पतन प्रारम्भ हो चुका था।

(अगले क्रम के लिए देखें—अध्याय 34/4 अल-मग़रिब)

सअदी या हसनी शरीफ़

(951 हि०/1544 ई०–1069 हि०/1658 ई०)

1. मुहम्मद शैख़ प्रथम अल-महदी – (951 हि०/1544 ई०–965 हि०/1557 ई०)
2. अब्दुल्लाह – (965 हि०/1557 ई०–981 हि०/1573 ई०)
3. मुहम्मद द्वितीय अल-मु-तवक्किल – (981 हि०/1573 ई०–983 हि०/

1575 ई॰)

4. अबू-मरवान अब्दुल-मलिक – (983 हि॰/1575 ई॰–986 हि॰/1578 ई॰)
5. अहमद मनसूर ज़हबी – (986 हि॰/1578 ई॰–1012 हि॰/1603 ई॰)
6. अबू-फ़ारिस – (1012 हि॰/1603 ई॰–1016 हि॰/1608 ई॰)
7. ज़ैदान – (1016 हि॰/1608 ई॰–1038 हि॰/1628 ई॰)

नोट : 1016 हि॰/1608 ई॰ तक अबू-फ़ारिस एवं ज़ैदान दोनों हुकूमत में साझीदार थे। इसके बाद ज़ैदान अकेला हुकूमत करने लगा।

8. अबू-मरवान अब्दुल-मलिक द्वितीय – (1038 हि॰/1628 ई॰–1040 हि॰/1630 ई॰)
9. वलीद – (1040 हि॰/1630 ई॰–1045 हि॰/1635 ई॰)
10. मुहम्मद तृतीय – (1045 हि॰/1635 ई॰–1064 हि॰/1654 ई॰)
11. अहमद द्वितीय – (1064 हि॰/1654 ई॰–1069 हि॰/1658 ई॰

1075 हि॰/1664 ई॰ में सअदी शुरफ़ा के ख़ानदान की हुकूमत बिलकुल ख़त्म हो गई।

2. फ़लाली या अलवी शुरफ़ा (1075 हि॰/1664 ई॰ से वर्तमान तक)

1. मौला-ए-रशीद-बिन-शरीफ़–(1075 हि॰/1664 ई॰–1083 हि॰/1672 ई॰)
2. मौला-ए-इसमाईल–(1083 हि॰/1672 ई॰–1139 हि॰/1727 ई॰)
3. मौला-ए-अहमद–(1139 हि॰/1727 ई॰–1141 हि॰/1729 ई॰)
4. मौला-ए-अब्दुल्लाह–(1141 हि॰/1729 ई॰–1171 हि॰/1757 ई॰)
5. मौला-ए-मुहम्मद प्रथम–(1171 हि॰/1757 ई॰–1204 हि॰/1789 ई॰)
6. मौला-ए-यज़ीद–(1204 हि॰/1789 ई॰–1206 हि॰/1792 ई॰)
7. मौला-ए-हिश्शाम–(1206 हि॰/1792 ई॰–1209 हि॰/1795 ई॰)
8. मौला-ए-सुलैमान–(1209 हि॰/1795 ई॰–1238 हि॰/1822 ई॰)
9. मौला-ए-अब्दुर्रहमान–(1238 हि॰/1822 ई॰–1276 हि॰/1859 ई॰)

10. मौला-ए-मुहम्मद द्वितीय—(1276 हि॰/1859 ई॰—1290 हि॰/1873 ई॰)

11. मौला-ए-हसन प्रथम—(1290 हि॰/1873 ई॰—1894 ई॰)

12. मौलाए-अब्दुल-अज़ीज़—(1894 ई॰—1908 ई॰)

13. मौलाए-अब्दुल-हफ़ीज़—(1909 ई॰—1912 ई॰)

14. मौलाए-यूसुफ़—(1912 ई॰—1927 ई॰)

15. सुल्तान मुहम्मद पंचम्—(1927 ई॰—1961 ई॰)

16. शाह हसन-बिन-मुहम्मद पंचम् 1961 ई॰ से—

(**नोट :** इस पुस्तक की रचना 1976 ई॰ में पूर्ण हुई 1984 में प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ, उस समय तक शाह हसन सत्तासीन थे।)

अध्याय-26

सुदूर पूर्व में मुसलमानों के वर्चस्व का अन्तिम दौर

सुदूर पूर्व से सम्बन्धित अध्याय 10 में हम मलाया-प्रायद्वीप एवं भारत के पूर्वी द्वीपों में इस्लाम के प्रवेश, उसके प्रचार-प्रसार और सुमात्रा की रियासत समुद्र-पसाए एवं मलाया की सल्तनत मलक्का के हालात पढ़ चुके हैं, जो उस क्षेत्र में मुसलमानों की पहली हुकूमतें थीं। हम यह भी पढ़ चुके हैं कि जावा और अन्य द्वीपों में इस्लाम का प्रसार सुमात्रा और मलाया के बाद हुआ। पूर्वी भारत के उन द्वीपों में क्षेत्रफल की दृष्टि से यद्यपि सुमात्रा एवं कलेमनतान (बोर्नियो) सबसे बड़े हैं, परन्तु जनसंख्या की दृष्टि से सबसे बड़ा द्वीप जावा है। मचापहत की हिन्दू सल्तनत का केन्द्र यही द्वीप था और इसी सल्तनत के अन्तिम काल में, अर्थात पन्द्रहवीं सदी में जावा में इस्लाम का प्रसार प्रारम्भ हुआ और सोलहवीं सदी में यहाँ मुसलमानों की कई हुकूमतें क़ायम हो गईं। इनमें तीन हुकूमतें विशेष उल्लेखनीय हैं—दीमाक की हुकूमत, बानतन की हुकूमत और मात्रम की हुकूमत।

दीमाक (1500 ई॰–1578 ई॰)

यह जावा की पहली अहम मुस्लिम हुकूमत है। इसका मुख्यालय चूँकि दीमाक-शहर में था, इसलिए यह हुकूमत दीमाक की हुकूमत कहलाती है। इसके संस्थापक रादन पातेह थे, जिन्होंने 1500 ई॰ से 1518 ई॰ तक हुकूमत की और 1518 ई॰ में उन्होंने मचापहत की हिन्दू रियासत को ख़त्म कर दिया। यह हुकूमत 1578 ई॰ तक क़ायम रही। इसके तीसरे हुक्मरान तिरंगाना (Trengannau) ने पहली बार सुल्तान की उपाधि धारण की। पश्चिमी जावा में मात्रम और संडाकलापा की हिन्दू हुकूमतों को उसने फ़तूह कर लिया था, परन्तु उसके बाद दीमाक के शहज़ादों में गृह-युद्ध छिड़ गया

और हुकूमत दो भागों में बँट गई। एक भाग का मुख्यालय दीमाक था और दूसरे का पाजांग। 1578 ई॰ में दीमाक में बग़ावत हो गई, जिसे पाजांग के सुल्तान ने अपने एक सिपहसालार सनोपाती को भेजकर दबाया, और इस प्रकार दीमाक पर भी पाजांग के सुल्तान का क़ब्ज़ा हो गया। परन्तु पाजांग का सुल्तान खुद भी ज़्यादा समय तक हुकूमत क़ायम न रख सका। उसकी प्रजा उसके ख़िलाफ़ हो गई और 1586 ई॰ में उसने अपने सिपहसालार सनोपाती को सत्ता सौंप दी। मात्रम की मशहूर सल्तनत का संस्थापक यही सनोपाती है।

बानतन की रियासत (1526 ई॰–1687 ई॰)

इस रियासत के संस्थापक जावा के मशहूर आलिम और बुज़ुर्ग पातेह हल्ला (1526 ई॰–1552 ई॰) हैं। वे सुनान गुनंगजाती के नाम से मशहूर हैं और जावा के उन नौ औलिया में शामिल हैं जिनकी कोशिशों से जावा में इस्लाम फैला। वे दीमाक के सुल्तान तिरंगाना के बहनोई थे और तिरंगाना की सैन्य सफलताओं में उनकी प्रमुख-भूमिका थी। चेरीबोन, संडाकलापा एवं बानतन की हिन्दू रियासतों को उन्होंने फ़तूह करके पश्चिमी जावा में एक नई रियासत की बुनियाद डाली जो अपने मुख्यालय के नाम पर बानतन की रियासत कहलाती है। संडाकलापा का नाम उन्होंने बदलकर जकार्ता कर दिया। यह वही शहर है जो आज इंडोनेशिया-गणतंत्र की राजधानी है।

पातेह हल्ला एक दीनदार हुक्मरान थे। उन्होंने 1552 ई॰ में अपने लड़के को गद्दी सौंप दी और खुद को इस्लाम के प्रचार-प्रसार के लिए वक़्फ़ (समर्पित) कर दिया। अट्ठारह साल तक वे इस काम में व्यस्त रहे। 1570 ई॰ में उनका इन्तिक़ाल हो गया। उनका मज़ार चेरीबोन-शहर में है।

पातेह हल्ला के बाद उनके लड़के मौलाना हसनुद्दीन (1552 ई॰–1570 ई॰) बानतन के सुल्तान हुए। उनके ज़माने में और कई इलाक़े फ़तूह हुए। लम्पोंग उन्हीं के ज़माने में फ़तूह हुआ। उन्होंने इस्लामी शिक्षाओं पर आधारित हुकूमत क़ायम की और रियासत में मस्जिदें, सराय और बाग़ात लगवाए। उनके ज़माने में बहुत अधिक संख्या में उलमा बानतन आए। वे

खुद भी अरबी जानते थे। मौलाना हसनुद्दीन अपने पिता की तरह दीनदार इनसान थे। अतः 1570 ई॰ में उन्होंने भी गद्दी छोड़ दी और शेष जीवन इस्लाम के प्रचार-प्रसार में गुज़ार दिया।

मौलाना हसनुद्दीन के गद्दी छोड़ने के बाद उनका लड़का यूसुफ़(1570 ई॰–1580 ई॰) गद्दी पर बैठा। उसके दौर में 1579 ई॰ में पश्चिमी जावा की अन्तिम बौद्ध रियासत पकवान फ़तूह कर ली गई। सुल्तान यूसुफ़ के लड़के सुल्तान मुहम्मद (1580 ई॰–1596 ई॰) के दौर की एक अहम घटना यह है कि 1595 ई॰ में हॉलैण्डवालों ने बानतन पर पहली बार हमला किया, परन्तु पराजित हुए। सुल्तान मुहम्मद ने समुद्री बेड़े को भी तरक़्क़ी दी। सुल्तान मुहम्मद के बाद बानतन की रियासत का पतन प्रारम्भ हो गया। घरेलु संघर्ष एवं गवर्नरों के विद्रोह को देखकर हॉलैण्डवालों ने फ़ायदा उठाया और मुल्क के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप शुरू कर दिया। 1619 ई॰ में उन्होंने जकार्ता की जगह बटाविया के नाम से एक बस्ती आबाद की और क़िला बनाया। सुल्तान अबुल-फ़तूह आगंग (1651 ई॰–1682 ई॰) ने बानतन की खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करने हेतु संघर्ष किया, परन्तु सुल्तान और वली अहद (युवराज) के बीच विवाद ने गृह-युद्ध का रूप ले लिया। हॉलैण्डवालों ने वली अहद का पक्ष लिया और सुल्तान को पराजय का सामना करना पड़ा। इस प्रकार बानतन की रियासत हॉलैण्डवालों के प्रभाव में आ गई। 1687 ई॰ में बानतन पर उनका पूरी तरह कब्ज़ा हो गया।

मात्रम (1686 ई॰–1755 ई॰)

जावा में मुसलमानों की जो हुकूमतें क़ायम हुईं उनमें सबसे महान मात्रम की रियासत थी। उसका संस्थापक पाजांग के सुल्तान पंगेरान बोनो का सिपहसालार सनोपाती (1586 ई॰–1601 ई॰) था। यह वही सनोपाती है जिसने 1578 ई॰ में दीमाक की बग़ावत को कुचलकर दीमाक की रियासत का अन्त कर दिया था। जनता उसके फ़ौजी कारनामों के कारण उसे बहुत चाहती थी, इसलिए जब लोग पाजांग के सुल्तान के ख़िलाफ़ हो गए तो सुल्तान ने अपने इस महान सिपहसालार के लिए 1586 ई॰ में गद्दी छोड़ दी। सनोपाती ने पाजांग के बदले मात्रम को राजधानी बनाई, और इस

प्रकार मात्रम की रियासत की बुनियाद पड़ी।

सनोपाती बड़ा सफल सिपहसालार था। उसने पश्चिम में चेरीबोन से लेकर पालम्बानकन तक का इलाक़ा फ़तूह कर लिया, जो कभी बानतन की रियासत का हिस्सा था। दक्षिण में उसकी सल्तनत केदीरी तक पहुँच गई। पूरब में उसने मदुरा-द्वीप फ़त्ह कर लिया।

सुल्तान अगुंग

मात्रम का सबसे बड़ा हुक्मरान सुल्तान अगुंग (1613 ई॰–1645 ई॰) हुआ है। इसी नाम का एक हुक्मरान बानतन-रियासत में भी हुआ है। मात्रम का सुल्तान अगुंग सनोपाती का बड़ा लड़का था और उसका बानतन से कोई सम्बन्ध नहीं। मात्रम के हुक्मरानों में सबस पहले 'सुल्तान' की उपाधि इसी अगुंग ने धारण की। अगुंग के अतिरिक्त उसे सुल्तान राया भी कहा जाता है। अगुंग का अर्थ महान और राया का अर्थ प्रतापवान है।

जावा में अब भी कई हिन्दू रियासतें बची रह गई थीं। वे मात्रम के ख़िलाफ़ साज़िश करके प्राचीन हिन्दू वंश 'मचापहत' की सत्ता स्थापित करना चाहती थीं, परन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। अन्ततः सुल्तान अगुंग ने इन सभी रियासतों को समाप्त कर दिया। सुल्तान अगुंग ने पूरब में सोराबाबा की शहरी रियासत पर भी कब्ज़ा कर लिया। इस प्रकार सुल्तान अगुंग ने जावा में एक शक्तिशाली केन्द्रीय हुकूमत क़ायम कर दी, जिसका बानतन को छोड़कर सम्पूर्ण जावा पर प्रभुत्व था।

सुल्तान अगुंग ने अपने पड़ोसी रियासतों से भी घनिष्ट सम्बन्ध बना लिए। अतः आचेह (सुमात्रा), जोहोर (मलाया) कलेमनतान और सलावेसी की मुस्लिम हुकूमतों से उसके सम्बन्ध अच्छे थे। हाँ, हॉलैण्डवालों के विरुद्ध उसने कठोरता का व्यवहार किया और उनके हमलों को नाकाम करता रहा।

सुल्तान अगुंग एक दीनदार हुक्मरान था। उसने इस्लामी शिक्षाओं के अनुकूल क़ानून बनाए और हिन्दुओं के प्रभाव को दूर करके इस्लामी सभ्यता एवं संस्कृति को बढ़ावा देने का प्रयास किया। उसके काल में जावा में बड़ी संख्या में मदरसे क़ायम किए गए। सुल्तान अगुंग दर्शनशास्त्र पर एक किताब

का लेखक भी था।

सुल्तान अगुंग का उत्तराधिकारी हमंगकोरत प्रथम (1645 ई॰–1677 ई॰) एक अयोग्य हुक्मरान था। उसने प्राचीन हिन्दू परम्पराओं को पुनः प्रचलित करने की चेष्टा की और हॉलैण्डवालों को कई छूटें दीं। 1655 ई॰ में उसने हॉलैण्डवालों को गरम मसाले के व्यापार का एकाधिकार दिया और ईसाइयों को अपने धर्म का प्रचार करने की अनुमति दे दी। हमंग कोरत के काल में अधीन रियासतों पर मात्रम का प्रभुत्व कमज़ोर पड़ गया। हॉलैण्डवालों ने इस कमज़ोरी से फ़ायदा उठाया। 1677 ई॰ में जब हमंगकोरत प्रथम का एक लड़का गद्दी का दावा लेकर उठा तो हॉलैण्डवालों ने उसकी मदद की। मात्रम के राष्ट्रवादियों को शिकस्त हुई और वह हमंगकोरत द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठा। अन्त में यद्यपि हमंगकोरत द्वितीय हॉलैण्डवालों का विरोधी हो गया था, परन्तु उस समय तक जावा में हॉलैण्डवालों का प्रभाव व्यापक हो चुका था। 1703 ई॰ में हमंगकोरत द्वितीय की मृत्यु के बाद जब गृह-युद्ध की स्थिति बन गई तो हॉलैण्डवालों ने मात्रम के आन्तरिक मामलों में स्पष्ट रूप से हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। गद्दी के एक दावेदार बाकोदाना ने उनसे फ़ौजी सहायता प्राप्त की और इसके बदले में जावा के कई इलाक़े उन्हें दे दिए। अब मात्रम की रियासत पूरी तरह हॉलैण्डवालों के अधीन हो गई और उन्होंने जावा को 33 प्रशासनिक भागों में बाँटकर सूबेदारों को इतने अधिकार दे दिए कि केन्द्रीय हुकूमत की शक्ति नाम को रह गई। 1755 ई॰ में मात्रम की यह नाममात्र की हुकूमत भी दो रियासतों में बँट गई। एक सोराकार्ता और दूसरी जोगजकार्ता। पहली रियासत का सुल्तान बाकोदाना और दूसरी रियासत का सुल्तान उसके भाई मंगकाबोमी को बनाया गया।

आचेह की रियासत (1514 ई॰–1874 ई॰)

यह रियासत समुद्र-पसाए की रियासत के अन्त के बाद सुमात्रा के उत्तर-पश्चिमी इलाक़े आचेह में 1514 ई॰ में क़ायम हुई। अली मग़ायत शाह (1514 ई॰–1530 ई॰) इस सल्तनत का संस्थापक था। आचेह की यह रियासत समुद्र-पसाए, मलक्का और जावा की रियासतों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली साबित हुई और सुमात्रा-द्वीप का बहुत बड़ा भूभाग इसके अधीन

था। यह रियासत तीन सौ साठ साल क़ायम रही और इस अवधि में कुल 34 हुक्मरान हुए।

सोलहवीं सदी में हिन्द-महासागर में पुर्तगालियों की सरगर्मियाँ चरम पर थीं और उन्हें जहाँ भी मौक़ा मिलता था वहाँ क़ाबिज़ हो जाते थे। पूर्वी अफ़्रीक़ा का लगभग सम्पूर्ण तटीय प्रदेश उनके क़ब्ज़े में आ चुका था। हिन्दुस्तान के पश्चिमी तट पर भी उन्होंने उपनिवेश क़ायम कर लिए थे। 1511 ई॰ में वे बन्दरगाह मलक्का पर क़ाबिज़ हो गए थे। इसके बाद उन्होंने दक्षिणी एशिया और इन्डोनेशिया के द्वीपों में हस्तक्षेप शुरू कर दिया। इस्लामी मुल्कों में केवल सल्तनते-उसमानिया का समुद्री बेड़ा इस योग्य था जो उनकी रोक-थाम कर सकता था। हिन्द-महासागर के किनारे स्थित मुस्लिम रियासतें पुर्तगालियों के ख़िलाफ़ उनसे मदद लिया करती थीं। इन मुस्लिम रियासतों के आग्रह पर उसमानी बेड़ा पूर्वी अफ़्रीक़ा और गुजरात में पुर्तगालियों के ख़िलाफ़ कई बार कार्रवाइयाँ कर चुका था। इसी प्रकार की एक कार्रवाई उसमानी तुर्कों ने आचेह के सुल्तान के आग्रह पर भी की। आचेह के तीसरे हुक्मरान अलाउद्दीन रिआयत शाह (1537 ई॰–1571 ई॰) ने, जो अली मग़ायत शाह का लड़का था, पुर्तगालियों के ख़िलाफ़ उसमानी सुल्तान की मदद हासिल करना चाही और इस मक़सद के लिए 973 हि॰/1563 ई॰ में एक राजदूत सुलैमान महान के पास इस्तम्बूल भेजा। राजदूत के माध्यम से यह सन्देश भी भेजा गया था कि अगर तुर्क पुर्तगालियों से सुरक्षित रख सकें तो इस इलाक़े के बहुत-से हुक्मरान इस्लाम स्वीकार करने को तैयार हैं। कतिपय कारणों से आचेह का राजदूत सुल्तान सुलैमान क़ानूनी से काफ़ी समय तक मुलाक़ात न कर सका और इस बीच सुलैमान का इन्तिक़ाल हो गया। राजदूत को दो साल इस्तम्बूल रुकना पड़ा। अन्ततः प्रधानमंत्री मुहम्मद सोक़ूली के निर्देश पर स्वेज़ के नौसेना-अध्यक्ष कुर्द ओग़लू ख़िज़र रईस के नेतृत्व में उन्नीस बड़े जहाज़ों और चन्द दूसरे जहाज़ों पर आधारित एक मुहिम सुमात्रा की ओर भेजी गई। परन्तु इस बीच यमन में बग़ावत हो गई थी। इसलिए इस मुहिम का रुख़ यमन की ओर कर दिया गया और केवल दो जहाज़ जंगी साज़ो-सामान को लेकर, जिनमें तोपें और

विशेषज्ञ शामिल थे, सुमात्रा की ओर रवाना हो सके। इस छोटी टुकड़ी ने आचेह पहुँचकर क्या किया, इसका विवरण इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं मालूम कि उन तुर्क-विशेषज्ञों ने सुल्तान आचेह के यहाँ नौकरी कर ली।

सतरहवीं सदी के पूर्वाद्ध में सुल्तान इस्कन्दर मौदा (1607 ई०–1636 ई०) के काल में आचेह अपनी शक्ति, तरक़्क़ी एवं ख़ुशहाली के चरम-बिन्दू पर पहुँच गया था। रियासत की सीमा का विस्तार सुमात्रा के दक्षिणि भागों तक हो गया था। मलाया-प्रायद्वीप में मलक्का और पहांग के ख़िलाफ़ समुद्री अभियान दल भेजे गए।

आचेह के इतिहास की एक बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ 1641 ई० से 1699 ई० तक यानी लगभग साठ वर्षों तक चार औरतों ने लगातार हुकूमत की। इस्लामी इतिहास में यह एकमात्र उदाहरण है कि औरतों ने किसी मुल्क पर इतनी लम्बी अवधि तक हुकूमत की हो। मिस्र में 'शज-रतुद-दुर' नामक एक महिला मात्र कुछ साल हुकूमत कर सकी, दिल्ली में सुल्तान रज़िया मुश्किल से चार साल हुकूमत कर सकी और अहमद नगर की चाँद बीबी की शासन अवधि भी मात्र चन्द साल से ज़्यादा नहीं, और वह भी हुक्मरान की हैसियत से नहीं बल्कि वाली और सरपरस्त की हैसियत से।

इन महिलाओं के शासनकाल में उच्च पदाधिकारियों का प्रभाव बहुत बढ़ गया था जिसके कारण उनमें इस बात पर मतभेद पैदा हो गया कि शरीअत के अनुसार औरतों का हुकूमत करना जाइज़ भी है या नहीं। अन्ततः मक्का से फ़तवा मँगवाया गया जिसमें कहा गया था कि औरतों की हुकूमत इस्लाम में जाइज़ नहीं।

बहरहाल यह एक ऐतिहासिक हक़ीक़त है कि इन महिलाओं के दौर तक आचेह एक मज़बूत और ताक़तवर हुकूमत की हैसियत से क़ायम रहा। इसके बाद आचेह में गृह-युद्ध जैसी स्थिति बन गई जिसने रियासत को कमज़ोर कर दिया और उसका पतन शुरू हो गया। सतरहवीं सदी में हॉलैण्डवाले सुमात्रा में प्रवेश कर गए और 1681 ई० में पाडांग के इलाक़े पर, जो आचेह का एक हिस्सा रह चुका था, क़ब्ज़ा कर लिया। अन्त में उन्होंने आचेह के मामलों में भी हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। इसपर आचेह की

जनता ने इमाम बोनजोल (1772 ई॰–1864 ई॰) के नेतृत्व में जिहाद शुरू कर दिया, जो 1823 ई॰ से 1837 ई॰ तक जारी रहा, परन्तु मुजाहिदों को कामयाबी नहीं मिली। आचेह के 33वें सुल्तान महमूद शाह के 1874 ई॰ में इन्तिक़ाल के बाद हॉलैण्डवालों ने पुनः हस्तक्षेप किया और आचेह पर क़ब्ज़ा कर लिया। आचेह की आज़ादी अब बिलकुल ख़त्म हो गई, परन्तु जनता की ओर से इसके बाद भी जिहाद जारी रहा, जिसका सिलसिला 1907 ई॰ तक जारी रहा। इस दूसरे जिहादी आन्दोलन के हीरो तीको उमर हैं जिनका आचेह के शाही ख़ानदान से सम्बन्ध था और जिन्होंने 1874 ई॰ से 1899 ई॰ में अपनी शहादत तक हॉलैण्डवालों से ज़ंग जारी रखी।

जोहोर (1530 ई॰–1885 ई॰)

मलाया-प्रायद्वीप में यद्यपि हॉलैण्डवाले मलक्का-शहर पर 1511 ई॰ में क़ाबिज़ हो गए थे, परन्तु उनका क़ब्ज़ा केवल शहर तक ही सीमित था। मुल्क के भीतरी इलाक़ों में कई मुसलमान रियासतें मौजूद रहीं। उन रियासतों में सबसे अहम जोहोर की रियासत है। मलक्का का सुल्तान महमूद शाह जब सुमात्रा में 1528 ई॰ में मर गया, तो उसका लड़का अलाउद्दीन रिआयत शाह द्वितीय मलाया आ गया और 1530 ई॰ में जोहोर में अपनी आज़ाद रियासत क़ायम कर ली। उसने पुर्तगालियों से लड़ाई जारी रखी। सुल्तान अलाउद्दीन ने 1564 ई॰ तक हुकूमत की।

अट्ठारहवीं सदी के प्रारम्भ में जोहोर पर सलावीसी-द्वीप की एक क़ौम बोगी ने, जो मुसलमान थी, कब्ज़ा कर लिया और जोहोर को एक शक्तिशाली रियासत का रूप दिया और मलक्का के अतिरिक्त सम्पूर्ण पश्चिमी मलाया पर अपनी सत्ता क़ायम कर ली। उत्तर में क़ीदह, क्लानतान और तिरंगानो की मलाई रियासतें स्याम के प्रभाव में रहीं। 1743 ई॰ में रियासत सलांगोर और 1773 ई॰ में नगरी समबीलन एवं पीराक की रियासतें जोहोर के प्रभाव से मुक्त हो गईं। जोहोर की शेष रियासत भी जल्द ही दो भागों में बँट गई। एक पहांग और दूसरी जोहोर। इनमें पहली रियासत हॉलैण्ड के लोगों के प्रभाव में आ गई और दूसरी अंग्रेज़ों के प्रभाव में। इसके बाद मलाया-प्रायद्वीप पर अंग्रेज़ों का प्रभाव तेज़ी से बढ़ने लगा। 1786 ई॰

में उन्होंने पनानग पर, 1795 ई॰ में मलक्का पर, 1819 ई॰ में सिंगापुर पर, 1874 ई॰ में पैराक, सलांगुर, नगरी समबेलन और पहाँग पर और 1885 ई॰ में जोहोर पर क़ब्ज़ा कर लिया। 1909 ई॰ में स्याम (थाईलैण्ड), उत्तर की चार मलाई रियासतों कलांतन, तिरंगानो, परलस और कीदह पर अपने आधिपत्य से मुक्त होकर अंग्रेज़ों को प्रदान कर दिया। अब मलाया-प्रायद्वीप पूरी तरह ब्रिटेन के क़ब्ज़े में आ गया, परन्तु ब्रिटेन ने केवल पनांग, मलक्का और सिंगापुर पर अपनी प्रत्यक्ष हुकूमत क़ायम की और मलाया की शेष रियासतों को उसी प्रकार क़ायम रखा। जिस प्रकार भारत-पाक में अंग्रेज़ों ने देशी रियासतों को क़ायम रखा। ये रियासतें अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार करती थीं और अपने आन्तरिक मामलों में एक सीमा तक आज़ाद थीं।

मलाया में इस्लामी प्रभाव के अन्तर्गत मलाई भाषा की लिपि आचेह की भाषा की तरह अरबी हो गई थी और इस नई लिपि में जोहोर की रियासत के उत्थान काल में अरबी एवं फ़ारिसी से मलाई भाषा में कई किताबों के अनुवाद भी हुए। सोलहवीं सदी के अन्त में मस्नवी मौलाना रूम, सिकन्दर-नामा निज़ामी और तोहफ़तुल-अहरार जामी के अनुवाद हुए। जोहोर के सुल्तान अब्दुल-जलील शाह के प्रधानमंत्री तान मुहम्मद ने 'सजारो मलायो' के नाम से सुमात्रा और मलाया के सुल्तानों का इतिहास लिखा।

(हॉलैण्ड और बरतानवी प्रभुत्व के बाद से वर्तमान काल तक इन्डोनेशिया और मलेशिया के हालात के लिए देखें, इस पुस्तक का तीसरा भाग)

मात्रम के सुल्तान

1. सनोपाती	(1586 ई॰–1601 ई॰)
2. पानम बहान क्रापियाक	(1601 ई॰–1613 ई॰)
3. सुल्तान अगुंग	(1613 ई॰–1645 ई॰)
4. पराबोइमिंग कोरत	(1645 ई॰–1677 ई॰)
5. हमंग कोरत द्वितीय	(1677 ई॰–1703 ई॰)
6. हमंग कोरत तृतीय	(1703 ई॰–1705 ई॰)

7. पाकोबोदाना प्रथम (1705 ई॰—1719 ई॰)

8. हमंग कोरत चतुर्थ (1719 ई॰—1725 ई॰)

9. पाकोबोदाना द्वितीय (1725 ई॰—1749 ई॰)

10. पाकोबोदाना तृतीय (1749 ई॰—1755 ई॰)

बानतन के सुल्तान

1. पातेह हल्ला—(933 हि॰/1526 ई॰—978 हि॰/1550 ई॰)

2. मौलाना हसनुद्दीन—(1550 ई॰—1570 ई॰)

3. मौलान यूसुफ़—(1570 ई॰—1580 ई॰)

4. मौलाना मुहम्मद—(1580 ई॰—1596 ई॰)

5. सुल्तान अब्दुल-क़ादिर—(1596 ई॰—1651 ई॰)

6. अब्दुल-फ़त्ह सुल्तान अगुंग—(1651 ई॰—1682 ई॰)

7. अब्दुल-क़ह्हार सुल्तान हाजी—(1093 हि॰/1682 ई॰—1099 हि॰/1687 ई॰)

आचेह (सुमात्रा) के सुल्तान (902 हि॰/1496 ई॰—1291 हि॰/1874 ई॰)

1. अली मग़ायत शाह (1496 ई॰—1530 ई॰)

2. सलाहुद्दीन (1530 ई॰—1537 ई॰)

3. अलाउद्दीन रिआयत शाह (1537 ई॰—1571 ई॰)

4. अली रिआयत शाह प्रथम (1571 ई॰—1579 ई॰)

5. सुल्तान मोदा (1579 ई॰)

6. सुल्तान सरी आलम (1579 ई॰)

7. ज़ैनुल-आबिदीन (1579 ई॰)

8. अलाउद्दीन मन्सूर शाह (1579 ई॰—1586 ई॰)

9. अली रियायत शाह द्वितीय (1586 ई॰—1588 ई॰)

10. अलाउद्दीन रिआयत शाह (1588 ई॰—1604 ई॰)

11. अली रिआयत शाह तृतीय (1604 ई॰—1607 ई॰)

12. इसकन्दर मोदा (1607 ई॰—1636 ई॰)
13. इसकन्दर द्वितीय अलाउद्दीन मग़ायत शाह (1636 ई॰—1641 ई॰)
14. ताजुल-आलम सफीयुद्दीन शाह (1641 ई॰—1675 ई॰)
15. नूरुल-आलम नक़ीयुद्दीन शाह (1675 ई॰—1678 ई॰)
16. इनायत शाह ज़कीयुद्दीन शाह (1678 ई॰—1688 ई॰)
17. कमालात शाह (1688 ई॰—1699 ई॰
18. बदरुल-आलम शरीफ़ हाशिम जमालुद्दीन (1699 ई॰—1702 ई॰)
19. परकासा आलम शरीफ़ लामतवी (1702 ई॰—1703 ई॰)
20. जमालुल-आलम बदरुल-मुनीर (1703 ई॰—1726 ई॰)
21. जौहरुल-आलम (1726 ई॰)
22. शमसुल-आलम (1726 ई॰—1727 ई॰)
23. अलाउद्दीन अहमद शाह (1727 ई॰—1735 ई॰)
24. अलाउद्दीन जोहन शाह (1735 ई॰—1760 ई॰)
25. महमूद शाह प्रथम (1760 ई॰—1781 ई॰)
26. बदरुद्दीन (1764 ई॰—1765 ई॰)
27. सुलैमान शाह (1773 ई॰)
28. अलाउद्दीन मुहम्मद शाह (1781 ई॰—1793 ई॰)
29. अलाउद्दीन जौहरुल-आलम शाह (1795 ई॰—1824 ई॰)
30. शरीफ़ सैफ़ुल-आलम (1815 ई॰—1820 ई॰)
31. मुहम्मद शाह (1824 ई॰—1836 ई॰)
32. मनसूर शाह (1836 ई॰—1870 ई॰)
33. महमूद शाह द्वितीय (1870 ई॰—1874 ई॰)
34. मुहम्मद दाऊद शाह (1874 ई॰—1903 ई॰)

आचेह की रियासत वस्तुतः 1874 ई॰ में ख़त्म हो चुकी थी और

हॉलैण्डवालों का उसपर क़ब्ज़ा हो गया था, परन्तु आचेह की जनता ने हॉलैण्डवालों की सत्ता के ख़िलाफ़ बग़ावत कर दी और ये सिलसिला 1907 ई॰ तक जारी रहा। अन्तिम हुक्मरान दाऊद शाह उसी दौर से सम्बन्ध रखता है।

(उपरोक्त वंशावली और सम्बन्धित तिथि 'इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ इस्लाम' (अंग्रज़ी) प्रथम खण्ड, लीडन, 1960 के आलेख 'आचेह' से लिए गए हैं।)

इस्लामी दुनिया का पतन काल (1118 हि॰/1707 ई॰–1342 हि॰/1924 ई॰)

मुसलमानों के राजनैतिक पतन की कोई एक तिथि निर्धारित करना कठिन है। 1682 ई॰ में वियेना के घेराव में तुर्कों को नाकामी हुई। 1687 ई॰ में मुहाकज़ की दूसरी जंग में पराजय के परिणाम-स्वरूप हंगरी तुर्कों के हाथ से निकल गया और 1699 ई॰ में कार्लोविट्ज़-सन्धि के अनुसार तुर्कों को अपनी असफलता को स्वीकार करना पड़ा और वे पहली बार अपने इलाक़े से पीछे हटने पर मजबूर हुए। सुदूर पूर्व में भी सतरहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में मुसलमानों को युरोपीय क़ौमों के हमलों के मुक़ाबले में लगातार असफलता का मुँह देखना पड़ा। जावा में 1677 ई॰ में मात्रम पर और 1682 ई॰ में बानतन पर हॉलैण्ड का वर्चस्व स्थापित हो गया था। सुमात्रा में पडांग पर 1681 ई॰ में हॉलैण्डवाले क़ाबिज़ हो चुके थे। परन्तु इसके विपरीत इस्लामी दुनिया के मध्य भाग में और सुदूर पश्चिम में मुसलमानों को 1700 ई॰ के बाद भी यूरोप एवं अन्य ग़ैर-मुस्लिम शक्तियों के मुक़ाबले में सफलता प्राप्त हुई। मराकश में 1727 ई॰ में मौला-ए-इसमाईल की मृत्यु तक मुसलमान बाहरी हमलों को सफलतापूर्वक नाकाम करते रहे, पूर्वी अफ़्रीक़ा के तट से 1698 ई॰ में अरबों ने पुर्तगालियों की सत्ता समाप्त कर दी। ईरान में 1735 ई॰ में नादिर शाह ने रूस के ज़ार की हुकूमत को ईरान पर किए गए अतिक्रमण को छोड़ने पर मजबूर कर दिया। हिन्दुस्तान में मराठों को इसके बाद सफलता मिलनी शुरू हो हुई। अतः इन विभिन्न तिथियों को देखते हुए 1707 ई॰ में औरंगज़ेब की मृत्यु के वर्ष को इस्लामी दुनिया के पतन की शुरुआत निर्धारित करना उचित जान पड़ता है।)

अध्याय-27

मुसलमानों के उत्थान काल का अन्त और यूरोप का उत्थान

राजनैतिक उत्थान और सामाजिक पतन

सतरहवीं शताब्दी मुसलमानों के उत्थान की अन्तिम शताब्दी थी। इस शताब्दी में मुसलमान अपने उत्थान के चरम-बिन्दू पर पहुँच चुके थे। इस्लाम दुनिया की सबसे बड़ी शक्ति और सबसे बड़ी संस्कृति थी। पूरब में इन्डोनेशिया से लेकर पश्चिम में अटलांटिक-महासागर के तट तक और उत्तर में हंगरी से लेकर दक्षिण में एक ओर रासकुमारी और दूसरी ओर घाना तक मुसलमानों की हुकूमतें क़ायम थीं। भारत-पाक में मुग़लों की विशाल सल्तनत क़ायम थी। ईरान में सफ़वी ख़ानदान का वर्चस्व था। बग़दाद से अल-जज़ायर तक और हंगरी से अदन तक उसमानी सल्तनत का परचम लहरा रहा था तथा सुदूर पश्चिम में मराकश से सूडान तक मराकश के फ़लाली-ख़नदान की हुकूमत क़ायम थी। अर्थात् इस्लामी दुनिया का अधिकतर भाग चार बड़ी हुकूमतों में बँटा हुआ था और मुसलमान बड़ी हद तक बिखराव से बचे हुए थे। इन मज़बूत और समझदार हुकूमतों के कारण सम्पूर्ण इस्लामी दुनिया में अमन-शान्ति थी। कृषि, व्यापार एवं उद्योग-धन्धे विकासोन्मुख थे। ख़ुशहाली हर ओर व्याप्त थी। ज्ञान एवं कला के विकास का पहिया भी बड़ी तेज़ी से घूम रहा था। शाह अब्दुल-हक़, मुजद्दिद अल्फ़सानी और हाजी ख़लीफ़ा जैसे विद्वान एवं बुज़ुर्ग, साइब और बेदिल जैसे शायर, उस्ताद हामिद और अहमद जैसे वास्तुविद् इसी काल में पैदा हुए। ताजमहल, लाल क़िला, दिल्ली और लाहौर की जामा मस्जिद, इस्फ़हान की शानदार इमारतें, लाहौर और कश्मीर के बाग़, फ़ास (Fas) और मकनास की अद्भुत इमारतें इसी ज़माने में बनीं। ढाका की मलमल, ठट्ठा (सिन्ध) एवं गुजरात के उच्च कोटि के छींटदार सूती वस्त्र, मुलतान की तलवारें और कमानें, सियालकोट एवं दौलताबाद का

काग़ज़, बंगाल का रेशम, ईरान एवं तुर्की की बेहतरीन क़ालीन इसी सतरहवीं शताब्दी में बनाए गए।

हम अरबों के काल में बग़दाद, क़ुरतुबा (Cardova), बसरा और कूफ़ा आदि के हालात पढ़ चुके हैं। उसके बाद पन्द्रहवीं सदी में समरक़न्द, हरात, तबरीज़ और क़ाहिरा का हाल भी पढ़ चुके हैं। उस समय तक यूरोप के शहर विस्तार एवं सुन्दरता में इस्लामी दुनिया के शहरों का मुक़ाबला नहीं कर सकते थे, परन्तु अब यूरोप ने भी तरक़्क़ी शुरू कर दी थी और वहाँ बड़ी-बड़ी हुकूमतें और बड़े-बड़े शहर क़ायम हो रहे थे। सतरहवीं शताब्दी में तो यूरोपवाले बड़ी तेज़ी से तरक़्क़ी कर रहे थे। उस ज़माने में लन्दन और पेरिस यूरोप के सबसे बड़े और ख़ूबसूरत शहर बन गए थे। उनकी आबादी चार-पाँच लाख तक थी, परन्तु इस्लामी दुनिया के शहर अब भी उनसे आगे ही थे। दिल्ली की आबादी लन्दन और पेरिस के बराबर थी, परन्तु आगरा और लाहौर उनसे भी बड़े शहर थे। अहमदाबाद के बारे में तो कहा जाता है कि उसकी आबादी नौ लाख के क़रीब थी। इसी तरह ढाका की आबादी लन्दन के बराबर थी। लेकिन ढाका में व्यापार लन्दन से ज़्यादा होता था। ईरान में इस्फ़हान जिसे निस्फ़-जहान (अर्थात् आधी दुनिया) कहा जाता था, का हाल हम पढ़ ही चुके हैं। तबरीज़ यद्यपि अब पतन की ओर अग्रसर था, फिर भी उसकी आबादी पाँच लाख थी। इस्तम्बूल (Istambul) के महान एवं सुन्दर शहर के सम्बन्ध में उसमानी नौसेना-अध्यक्ष सैयद अली ने जो विचार प्रकट किए थे वे पीछे गुज़र चुके हैं। क़ाहिरा (Cairo) की आबादी लगभग पाँच-छह लाख थी और इस्तम्बूल की आबादी पन्द्रह लाख। ये सभी शहर यूरोपवालों के लिए अजूबे थे और मुसलमानों की सांस्कृतिक श्रेष्ठता एवं विकास का नमूना थे।

लेकिन मुसलमानों का यह उत्थान राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से था, नैतिक एवं बौद्धिक स्तर पर मुसलमान पतनोन्मुख थे। मुसलमानों का नैतिक एवं बौद्धिक पतन यद्यपि बग़दाद की तबाही के बाद ही शुरू हो गया था, परन्तु सतरहवीं शताब्दी में तो अपने पतन के चरम-बिन्दु पर पहुँच चुका था। उसमानी सल्तनत क्षेत्रफल की दृष्टि से मुसलमानों की सबसे बड़ी

हुकूमत थी, परन्तु उनके यहाँ भ्रष्टाचार एवं रिश्वतख़ोरी आम हो गई थी। औरतें सल्तनत के मामलात को घरों के मामलात की तरह समझकर हर बात में दख़ल देती थीं। यनीचरी-फ़ौज आराम-पसन्द एवं आलसी हो गई थी और उसे केवल लूटमार में दिलचस्पी थी। ये फ़ौज अफ़सरों का बात-बात में विरोध करती थी। उच्च पदाधिकारी और जागीरदार प्रजा पर अत्याचार करने लगे थे। सुल्तान मुराद चतुर्थ और उसके बाद प्रधानमंत्री महमूद कोपरीली और अहमद कोपरीली ने मुल्क की हालत बड़ी हद तक सुधार दी थी, परन्तु उनके बाद फिर वही हालत हो गई।

उसमानी सल्तनत के बाद तैमूरी (मुग़ल) सल्तनत इस्लामी दुनिया की सबसे बड़ी सल्तनत थी, परन्तु यहाँ भी सौ साल के अमन-शान्ति एवं स्थायित्व के बाद उच्च पदाधिकारी, फ़ौज और प्रजा सभी आराम-पसन्द हो गए थे। उच्च पदाधिकारियों एवं रईसों को बस इसकी चिन्ता रहती थी कि उनकी दौलत में बढ़ोत्तरी होती रहे और वे बिना कष्ट उठाए हर काम करें। भ्रष्टाचार एवं बेईमानी धीरे-धीरे अपने पैर जमा रही थी। औरंगज़ेब ने अपने शासनकाल में इन ख़राबियों को दूर करने की बड़ी कोशिश की, लोगों को सादा जीवन गुज़ारने एवं परिश्रमी व संघर्षशील होने की प्रेरणा दी, परन्तु उसे इन सुधारों को लागू करने में बड़ी कठिनाई उठानी पड़ी। आराम-पसन्द एवं आलसी लोगों ने इसका विरोध किया, परिणाम यह हुआ कि जब औरंगज़ेब की मज़बूत पकड़ ढीली पड़ी तो पूरे मुल्क में एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं निकला जो बिगड़े हुए हालात को सम्भाल सके।

यही हाल ईरान और तुर्किस्तान का था। ईरान में शराब एवं शायरी का बाज़ार गरम था और तुर्किस्तान जो कभी दुनिया में ज्ञान-कला तथा सभ्यता-संस्कृति का सबसे बड़ा केन्द्र था, संकीर्णता, भेदभाव और अज्ञानता का शिकार हो रहा था।

ये तो सतरहवीं शताब्दी में इस्लामी दुनिया की नैतिक हालत का नक़्शा था। ज्ञान एवं साहित्य की हालत इससे भी ख़राब थी। इसमें सन्देह नहीं कि इस दौर में भी मुजद्दिद अल्फ़सानी, हाजी ख़लीफ़ा और औलिया चलबी जैसे महान विद्वान एवं बुज़ुर्ग नज़र आते हैं, इतिहास की कुछ अच्छी पुस्तकें भी

लिखी गईं और सामान्य लेखक तो सैंकड़ों मिल जाएँगे। इसी प्रकार शायरों की भी कमी नहीं थी। चित्रकला, मूर्तिकला तथा वास्तुकला की दृष्टि से यह सदी इस्लामी इतिहास की सबसे शानदार सदी कही जा सकती है, परन्तु पूरी सदी में अपने क्षेत्र के एक-दो विशेषज्ञों के होने से क्या होता है। अरबों के उत्थान काल में उच्च कोटि के विद्वान एवं लेखक एक ही समय में एक-दो नहीं बीसयों नज़र आते थे। अरबों के काल में गणित, चिकित्सा-विज्ञान, भूगोल, खगोलशास्त्र, शब्दकोष रचना, दार्शनिक अर्थात् ज्ञान एवं कला के हर क्षेत्र में उच्च कोटि के विद्वान नज़र आएँगे, लेकिन सतरहवीं सदी में पूरी इस्लामी दुनिया में ज्ञान के इन मैदानों में उच्च कोटि का एक भी विद्वान नहीं मिलेगा।

मुसलमानों का यह उत्थान जिसका पतन 1700 ई॰ में हुआ, एक हज़ार साल से अधिक समय तक रहा। दुनिया की किसी क़ौम का आज तक इतना दीर्घकालीन उत्थान नहीं हुआ। मुसलमान एक हज़ार साल तक दुनिया की सबसे बड़ी ताक़त बने रहे। यूनानियों का उत्थान काल दो सौ वर्षों में ख़त्म हो गया। रूमी चार सौ सालों तक ही दुनिया की महान ताक़त बने रहे। वर्तमान यूरोप के उत्थान को अभी तीन सौ साल भी पूरे नहीं हुए। इसके विपरीत मुसलमानों का उत्थान काल एक हज़ार साल तक रहा। केवल चीनी ही मुसलमानों जितनी उत्थान-अवधि प्राप्त कर सके, परन्तु वे भी मात्र चीन एवं उसके क़रीबी इलाक़े तक सीमित थे। जबकि मुसलमान दुनिया के अधिकतर भूभाग पर छाए हुए थे।

1799 ई॰ में कार्लोविट्ज़ की जंग में पराजय के बाद उसमानी तुर्कों क पतन हुआ। भारत-पाक में औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद 1707 ई॰ ं उपमहाद्वीप में मुसलमानों का पतन प्रारम्भ हो गया। 1727 ई॰ में सुल्ता इसमाईल के इन्तिक़ाल के बाद मराकश कमज़ोर हो गया और लगभग उस काल में ईरान की सफ़वी सल्तनत भी उजड़ गई। ये सभी घटनाएँ 25 सा के अन्दर-अन्दर घट गईं, अतः हम अपनी सुविधा के लिए कह सकते हैं वि 1700 ई॰ इस्लामी दुनिया के उत्थान का अन्तिम साल था। उसके बा उसका पतन प्रारम्भ हो गया।

उत्थान के दो दौर

मुसलमानों के उत्थान के इस काल को दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहला दौर इस्लाम के प्रारम्भ से 1257 ई॰ तक जब कि बग़दाद तबाह हुआ और दूसरा दौर 1257 ई॰ से 1700 ई॰ तक जबकि यूरोप का वर्चस्व आरम्भ हुआ। पहले दौर की विशेषता यह थी कि मुसलमानों के अन्दर मज़हबी जोश बहुत था। अरबी भाषा हर जगह छाई हुई थी। सम्पूर्ण इस्लामी दुनिया का एक-दूसरे से सम्पर्क एवं सम्बन्ध स्थापित था। ज्ञान एवं कला विकास कर रही थी। इस दौर में इमाम ग़ज़ाली, बू-अली सीना, राज़ी, इब्ने-जुबैर, अल-बेरूनी, अबू-हनीफ़ा, शाफ़िई, तबरी, मसऊदी जैसे विद्वान गुज़रे जिनकी मिसाल इस्लामी इतिहास में नहीं मिलती। इन विद्वानों ने मज़हब, चिकित्सा-विज्ञान, गणित, भौतिक विज्ञान अर्थात् हर विषय पर किताबें लिखीं। ये दौर मुसलमानों की प्रगतिशीलता एवं बुद्धिमत्ता का दौर था और इस काल में दुनिया का कोई मुल्क बौद्धिक क्षेत्र में मुसलमानों का मुक़ाबला नहीं कर सकता था। ज्ञान-विज्ञान का विकास इतना उच्च स्तर पर दुनिया में इससे पहले नहीं हुआ था।

दूसरा दौर पहले दौर से भिन्न था। राजनीतिक दृष्टि से तो इस काल में भी मुसलमानों का वर्चस्व रहा। उनकी सल्तनत की सीमाएँ पहले से भी ज़्यादा बढ़ गईं। केवल अन्दलुस (स्पेन) हाथ से निकला परन्तु उससे कई गुना बड़ा भूभाग भारत-पाक उपमहाद्वीप उनके हाथ में आ गया। रूस के एक बड़े हिस्से में वे क़ाबिज़ हो गए और इन्डोनेशिया के हरे-भरे एवं उपजाऊ द्वीपों में इस्लाम का बोलबाला हो गया, परन्तु बौद्धिक दृष्टि से यह काल बहुत निराशाजनक रहा। चिकित्साशास्त्र, गणित, दर्शनशास्त्र एवं विज्ञान के विषयों पर आधारित एक भी किताब नहीं लिखी गई। भूगोल पर भी कोई उल्लेखनीय पुस्तक नहीं आई और बड़े-बड़े पर्यटक भी इस काल में नहीं हुए। हालांकि दुनिया की तरक़्क़ी के लिए इन्हीं विषयों का ज्ञान आवश्यक है। मज़हब की जो किताबें लिखी गईं वे भी ज़्यादातर पुरानी किताबों की व्याख्या-भर थी। विद्वानों में भी तक़लीद (अंधानुकरण) आम हो गई थी और वे उन किताबों में, जो पहले के विद्वानों की लिखी हुई थीं, कोई

बदलाव अथवा बढ़ोत्तरी गुनाह समझते थे। जब ऐसा वातावरण हो तो फिर इमाम अबू-हनीफ़ा, इमाम मालिक, इमाम शाफ़िई और इमाम ग़ज़ाली जैसे विद्वान कैसे पैदा हो सकते थे। उनका तो कहना यह था कि पहले के विद्वान भी हमारे जैसे इनसान ही थे, अतः हमें क़ुरआन और अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के बाद अन्य किसी की तक़लीद करने की ज़रूरत नहीं।

तक़लीद और मानसिक जड़ता

तक़लीद पर ज़ोर और तजदीद व इजतिहाद से फ़रार केवल धार्मिक उलमा तक सीमित नहीं था, बल्कि सांसारिक ज्ञानवाले विद्वान भी इस मरज़ के शिकार थे। बुज़ुर्गों की अपने गुरुओं के प्रति ज़रूरत से ज़्यादा श्रद्धा के कारण धार्मिक विद्वान एवं सांसारिक विद्या के विद्वान दोनों के ज़ेहनों में यह बात बैठ गई थी कि हम प्रारम्भिक काल के विद्वानों का मुक़ाबला नहीं कर सकते और वे जो कुछ लिख गए हैं अब उसमें वृद्धि और विकास नहीं हो सकता। जब विद्वानों की यह मानसिकता बन गई हो तो वे ईजाद एवं नव-रचना कैसे कर सकते हैं। अतः इस बौद्धिक एवं मानसिक जड़ता ने तरक़्क़ी के तमाम रास्ते बन्द कर दिए।

बग़दाद के विनाश के बाद नेत्र-रोग के ज्ञान में अन्तिम उल्लेखनीय योगदान कमालुद्दीन कमाल ने किया। अन्दलुस (स्पेन) में संक्रामक रोग से सम्बन्धित इब्ने-ख़तीब (1313 ई॰—1374 ई॰) और रक्त-संचार के ज्ञान के क्षेत्र में इब्ने-नफ़ीस (1210 ई॰—1288 ई॰) के शोधकार्य, चिकित्सा-विज्ञान में मुसलमानों के आख़िरी बड़े योगदान हैं। इसी प्रकार अरस्तू के तर्कशास्त्र पर इब्ने-तैमिया (1263 ई॰—1328 ई॰) की शोधपरक समालोचना तथा इतिहास एवं नागरिक जीवन पर इब्ने-ख़ुलदून का मुक़द्दमा (निबन्ध) बौद्धिक मैदान में मुसलमानों के अन्तिम योगदान हैं। इब्ने-माजिद (पन्द्रहवीं सदी) आख़िरी मुसलमान नाविक है जिसके जहाज़रानी के साज़ो-सामान यूरोपीय नाविकों से बेहतर थे। बग़दाद के विनाश के बाद इब्ने-बतूता (130 ई॰—1377 ई॰) और औलिया चलेपी (1612 ई॰—1679 ई॰) के अतिरिक्त इस्लामी दुनिया मे कोई निर्भीक एवं साहसी पर्यटक पैदा नहीं हुआ। पन्द्रहवीं सदी में मुसलमान दिशासूचक यन्त्र से वाक़िफ़ हो चुके थे, परन्तु वे इस

यूरोप के नाविकों की तरह फ़ायदा नहीं उठा सके। बारूद एवं अग्न्यास्त्र का प्रयोग करनेवाले लोगों में मुसलमान यक़ीनन सबसे प्रथम थे, परन्तु 1453 ई० में क़ुस्तनतीनिया की फ़त्ह के अवसर पर और सोलहवीं सदी के मध्य में दक्कन में मुसलमानों ने जो बड़ी और भारी तोपें इस्तेमाल कीं उसके बाद वे अस्लहासाज़ी (हथियार-निर्माण) के उद्योग में कोई विशेष वृद्धि नहीं कर सके।

ईजाद-आविष्कार एवं साहसिक कार्य (Adventure) के प्रति निरुत्साह एवं शिथिलता केवल इस्लामी दुनिया तक सीमित नहीं थी, बल्कि पूरब की अन्य क़ौमों एवं मुल्कों का भी यही हाल था। भारत के हिन्दू दक्षिण-पूर्व एशिया के बौद्ध नागरिक एवं चीन-जापान के लोग भी जो बुद्धिमत्ता में किसी से पीछे नहीं थे, ईजाद-आविष्कार, नवचेतना एवं इजतिहाद से इतने ही दूर थे जितने मुसलमान। यूरोपवाले इस क्षेत्र में यदि आगे बढ़ गए तो इसका कारण था यूरोप की एक विशेष आर्थिक, सामाजिक पृष्ठभूमि जिसने उन्हें विकास एवं साहसिक कार्यों के लिए प्रेरित किया।

पतन के कारण

(1) इस्लामी दुनिया में वैचारिक एवं बौद्धिक शिथिलता और मुसलमानों के पतन के विभिन्न कारण हैं। एक कारण तो यह था कि इस्लामी दुनिया की तीन बड़ी क़ौमें यानी अरब, ईरानी और तुर्क एक हज़ार साल तक आश्चर्यजनक कारनामे अंजाम देने के बाद अपनी क्षमताएँ खो चुकी थीं और वे उस उत्साह एवं हौसले से, जो नई क़ौमों की विशेषताएँ हाती हैं, वंचित हो चुकी थीं।

(2) मुसलमानों के पतन की दूसरी वजह यह थी कि अब उनके सामने कोई उच्च लक्ष्य नहीं रहा था। प्रारम्भिक काल के मुसलमान इस्लाम के ग़लबे (वर्चस्व) के उच्च लक्ष्य से ओत-प्रोत थे और वे दुनिया में भलाई की स्थापना के लिए इस्लामी इन्क़िलाब को एक लाज़िमी चीज़ समझते थे। राजतन्त्र या बादशाही निज़ाम के प्रभाव से मुसलमानों का यह लक्ष्य क्षीण होता चला गया और एक समय ऐसा आ गया कि मुसलमान हुक्मरानों के ज़ेहन से यह लक्ष्य

पूर्णतः लुप्त हो गया, और इस्लाम भी अन्य धर्मों की तरह एक रस्मी मज़हब बनकर रह गया। जिहाद की अवधारणा अपने मौलिक उद्देश्य से विचलित होकर केवल अपने विरोधियों के संहार तक सीमित हो गई और मुस्लिम हुक्मरानों के साम्राज्य-विस्तार का मक़सद अपनी निजी सत्ता का विस्तार एवं प्रसिद्धि के अलावा और कुछ न रहा।

(3) अन्दलुस (स्पेन) से मुसलमानों के निष्कासन और तुर्किस्तान से शाम (सीरिया) तक इस्लामी दुनिया के बड़े हिस्से की मंगोलों के हाथ तबाही ने भी इस मानसिकता के बनने में बड़ी भूमिका निभाई। मुसलमानों के अधिकतर इल्मी ज़ख़ीरे (बौद्धिक सम्पदा) तबाह हो गए। पुस्तकालय और शैक्षणिक संस्थान बरबाद हो गए। मंगोलों ने इस्लामी दुनिया की बस्तियों को जिस प्रकार उजाड़ा, औरतों, मर्दों और बच्चों का जिस प्रकार क़त्ले-आम किया उसने मुसलमानों के हौसले पस्त कर दिए और उन्हें मायूसी का शिकार बना दिया। दुनिया से उन्हें नफ़रत होने लगी और वे तर्के-दुनिया (संन्यास) की ओर उन्मुख होने लगे। तसव्वुफ़ (सूफ़ीवाद) का प्रचलन बढ़ गया। पीरी-मुरीदी का ज़ोर बढ़ गया। शरीअत के आदेशों का अनुपालन करने एवं मेहनत करने के बदले लोग पीरों की दुआओं और मज़ारों पर जाकर मुरादें माँगने पर निर्भर हो गए।

(4) अरबी भाषा के स्थान पर क्षेत्रीय भाषाओं का प्रचलन भी मुसलमानों के पतन का कारण बना। इस प्रकार अरबी की एकसूत्रता एवं मुसलमानों की भाषाई एकरूपता समाप्त हो गई। अरबी केवल धार्मिक विषयों की भाषा बनकर रह गई। अन्य विषयों पर तुर्की एवं फ़ारिसी भाषा में किताबें लिखी जाने लगीं। भौतिक विषय, गणित, दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र आदि पर अरबों के काल में जो विचारोत्तेजक किताबें लिखी गईं उन तक पहुँच कम हो गई। क्षेत्रीय भाषाओं का विकास यद्यपि बहुत महत्व रखता है परन्तु इनके कारण भाषाई एकता को नुक़सान पहुँचा। इस्लामी हिन्द और ईरान की बौद्धक किताबें जो फ़ारिसी में थीं, तुर्की और अरब दुनिया तक न पहुँच सकीं और इसी प्रकार तुर्की और अरबी की बहुत-सी किताबें भाषा-अवरोध के कारण ईरान एवं भारत न पहुँच सकीं। उदाहरणतः सोलहवीं सदी में तुर्की में यूरोप

एवं अमेरिका के सम्बन्ध में जो कुछ लिख गया उससे ईरान और भारत के मुसलमान वाक़िफ़ न हो सके।

(5) ईरान में ईलख़ानी मंगोलों की हुकूमत और उसके बाद सफ़वियों की हुकूमत की स्थापना भी मुसलमानों के पतन का कारण बनी। ईलख़ानियों के अत्याचार और सफ़वी हुकूमत का शिया-मत की ओर झुकाव एवं अन्धभक्ति के कारण न केवल ईरान शेष इस्लामी दुनिया से कट गया बल्कि तुर्किस्तान और इस्लामी हिन्द भी शेष इस्लामी दुनिया से कट गए। इस्लामी दुनिया दो ऐसे हिस्सों में बँट गई जिनके बीच केवल समुद्र के रास्ते सम्पर्क स्थापित हो सकता था। इस बँटवारे के कारण एक भाग के विचार एवं ज्ञान दूसरे भाग तक नहीं पहुँच सके। इस्लामी हिन्द और तुर्किस्तान के लोग तुर्कों और अरब दुनिया के इतिहास से अनभिज्ञ रहे। यह स्थिति बग़दाद के पतन से पहले नहीं थी। हिन्दुस्तान में सतरहवीं सदी तक इल्मे-हदीस के विकास न कर पाने का एक बड़ा कारण यह था कि हिन्दुस्तान का मिस्र एवं शाम (सीरिया) से, जो इल्मे-हदीस के केन्द्र थे, सीधा सम्पर्क समाप्त हो गया। गुजरात का चूँकि समुद्र के रास्ते से जहाज़ द्वारा सम्पर्क था इसलिए वहाँ इल्मे-हदीस का चर्चा सबसे पहले हुआ।

नैतिक पतन, यूरोप का उत्थान

यूरोप से इस्लामी दुनिया का सम्बन्ध-विच्छेद भी मुसलमानों के पतन का एक बड़ा कारण है। इस्लामी इतिहास के प्रारम्भिक पाँच सौ साल के दौरान जबकि मुसलमान सभ्यता-संस्कृति और ज्ञान-कला में सम्पूर्ण विश्व से आगे थे और यूरोपवासी असभ्य ज़िन्दगी गुज़ारते थे, यह काल यूरोप के इतिहास में अज्ञानता का काल या अंधकार युग कहलाता है। उनके यहाँ न बड़े-बड़े शहर थे, न शक्तिशाली एवं संगठित हुकूमतें और न इस्लामी दुनिया की तरह शानदार शैक्षणिक संस्थान, अस्पताल, पुस्तकालय, मुसाफ़िरख़ाने और स्नानागार। पन्द्रहवीं सदी के बाद यूरोप अपने मध्यकाल के अन्धकार युग से निकल आया था। अरबों से सम्पर्क, अरबी और यूनानी किताबों के लातीनी अनुवादों और यूरोप के विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक हालात के

कारण वहाँ पुनरुत्थान एवं सुधार-आन्दोलन का आग़ाज़ हो गया था। यूरोपवालों ने तक़लीद (अंधानुकरण) के तमाम बन्धन तोड़कर इजतिहाद (नवीन आविष्कार) का रास्ता अपना लिया था। वे नए-नए आविष्कार कर रहे थे जिनमें सस्ते काग़ज़ का निर्माण और पन्द्रहवीं सदी के मध्य में छपाई के कारख़ाने की खोज बहुत अहमियत रखती है, क्योंकि इन आविष्कारों के कारण यूरोप का तेज़ी से विकास हुआ। किताबों का प्रचलन बहुत बढ़ गया और ज्ञान-विज्ञान की उन्नति तेज़ी से हुई। दिशासूचक-यंत्र की मदद से यूरोप के नाविक सारी दुनिया का चक्कर लगाने लगे। यदि अरबों के काल की तरह इस काल में भी मुसलमान यूरोप के ज्ञान का अपनी भाषा में अनुवाद करते तो वे नए आविष्कारों से और यूरोप के विकास के कारकों से वाक़िफ़ हो सकते थे। परन्तु मुसलमानों ने ऐसा नहीं किया। वे इन दुर्भावनाओं से ग्रस्त रहे कि हमारा कोई मुक़ाबला नहीं कर सकता और इन ग़ैर-मुस्लिम की हमारे सामने क्या हक़ीक़त है। केवल तुर्की में सतरहवीं सदी में भूगोल और इतिहास की कुछ किताबें यूरोपीय भाषाओं से अनुदित की गईं, परन्तु उन किताबों का लाभ भी तुर्की के बाहर के मुसलमानों को कुछ न पहुँचा।

यूरोप के उत्थान में मुसलमानों का योगदान

यूरोप के पुनरुत्थान का आग़ाज़ इटली, दक्षिणी फ़्रांस और स्पेन से हुआ। ये वे मुल्क थे जो इस्लामी दुनिया से क़रीब थे और जिनके मुसलमानों से ताल्लुक़ात क़ायम थे। यूरोपवालों ने मुसलमानों से क़ाग़ज़ बनाना, अंकों एवं शुन्य का प्रयोग सीखा। दिशासूचक-यंत्र और बारूद बनाना भी सम्भवतः उन्होंने मुसलमानों ही से सीखा। अन्दलुस के शहर तुलैतिला (Toledo) में 1085 ई॰ के बाद दो सौ साल तक अरबी किताबों के लातीनी भाषा में अनुवाद होते रहे। इसके बाद अनुवादों का यह सिलसिला सक़लिया, इटली और दक्षिणी फ़्रांस तक फैल गया। इतालवी शायर दांते (1265 ई॰–1321 ई॰) की किताब 'तरबिया-ए-खुदावन्दी' और स्पेनी साहित्यकार सर दांते (1547 ई॰–1616 ई॰) की किताब 'दान कोइकज़ोत' को यूरोपीय साहित्य के बुद्धिजीवियों में बुनियादी स्थान प्राप्त है। ये दोनों किताबें मुसलमान

लेखकों से प्रभावित होकर लिखी गई थीं। 'तरबिया-ए-ख़ुदावन्दी' के बारे में अब यह साबित हो चुका है कि वह इब्ने-अरबी की फ़ुतुहाते-मक्किया से संकलित की गई है। रॉजर बेकन (1204 ई॰–1294 ई॰) और फ्रांसिस बेकन (1561 ई॰–1626 ई॰) को यूरोप के बौद्धिक पुनरुत्थान में बुनियादी स्थान प्राप्त है, परन्तु इन दोनों ने अरबी पुस्तकों का अध्ययन करके यूरोप में ज्ञान एवं दर्शन की बुनियाद डाली। राज़ी, इब्ने-सीना, इब्ने-रुश्द, ग़ज़ाली, इब्ने-अरबी, इब्ने-हज़्म, और इब्ने-हैसुम वे प्रमुख मुस्लिम विद्वान थे जिनकी रचनाओं ने यूरोप में नवजागरण में योगदान किया। प्रसिद्ध फ्रांसीसी शोधकर्ता मोसियो रेनान ने कोलम्बस के एक ख़त का हवाला देकर लिखा है कि इब्ने-रुश्द उन लेखकों में से है जिसकी रचनाएँ पढ़कर कोलम्बस को अमेरिका के वुजूद का ख़याल पैदा हुआ।[1]

यूरोप के पुनरुत्थान पर मुसलमानों का जो प्रभाव पड़ा, अब यूरोपीय भी खुले तौर पर उसको स्वीकार करने लगे हैं। अतः एक पश्चिमी लेखक लिखता है—

> "यद्यपि यूरोप की तरक़्क़ी एवं विकास का एक भी पहलू ऐसा नहीं जिसपर मुसलमानों का प्रभाव न पड़ा हो, परन्तु मुसलमानों का यह प्रभाव शोध के क्षेत्र में सबसे अधिक स्पष्ट है।"[2]

मोसियो रेनान ने तो यहाँ तक लिखा है—

> "मराकश और क़ाहिरा में जो किताबें लिखी जाती थीं, वे उससे कम समय में जितनी कि आजकल एक अहम किताब जर्मनी से राईन (नदी) पार पहुँचने में लगती है, पेरिस या कोलोन में मशहूर हो जाती थीं।"[3]

---

1. मोसियो रेनान : इब्ने-रुश्द व फ़लसफ़ा-ए-इब्ने-रुश्द, पृष्ठ-306 (उर्दू तर्जमा : जामिआ उसमानिया-1929 ई॰)
2. ब्रिफ़ॉल्ट-मेकिंग ऑफ़ ह्यूमानिटी
3. मोसियो रेनान : इब्ने-रुश्द व फ़लसफ़ा-ए-इब्ने-रुश्द, पृष्ठ-201 (उर्दू तर्जमा : जामिआ उसमानिया हैदराबाद-1929 ई॰)

इधर यूरोप की तरक़्क़ी शुरू हुई उधर इस्लामी इतिहास का दूसरा दौर शुरू हो चुका था। मुसलमानों का बौद्धिक विकास रुक गया था। वे केवल अच्छी इमारतें बनाना और मूर्तिकला में दक्ष थे, परन्तु गणित, चिकित्सा, भूगोल और विज्ञान से सम्बद्ध विषय भूलते जा रहे थे। इसके विपरीत यूरोप बौद्धिक विकास कर रहा था। वहाँ दर्शन, विज्ञान, गणित और भूगोल की नई किताबें लिखी जा रही थीं और यूरोप के पर्यटक दूर-दूर के मुल्कों के सफ़र कर रहे थे। नतीजा यह हुआ कि सुलैमान महान और अहमद कोपरीली के ज़माने में यूरोप इतना विकसित हो गया कि उसका मुक़ाबला करना मुश्किल हो गया। यूरोप की फ़ौजों के पास ऐसे-ऐसे हथियार आ गए जो मुसलमानों के पास नहीं थे और उनकी फ़ौजें पहले से अधिक सुसंगठित हो गईं। कितने ताज्जुब की बात है कि बारूद की खोज मुसलमानों ने की, लेकिन वे उसका इस्तेमाल भूल गए। सबसे पहली नियमित फ़ौज उसमानियों ने बनाई परन्तु वे उसे और अधिक तरक़्क़ी न दे सके। यूरोपवालों ने चिकित्साशास्त्र, गणित, विज्ञान और भूगोल में भी तरक़्क़ी की। वे नई-नई खोज करने लगे। यूरोप में बड़े-बड़े अस्पताल और मदरसे स्थापित हो गए। लोगों में यात्रा एवं पर्यटन का वैसा ही शौक़ पैदा हो गया जैसा उत्थान काल में मुसलमानों में था। वे चीन और जापान तक यात्रा करने लगे और 1492 ई॰ यानी अन्दलुस (स्पेन) से मुसलमानों की हुकूमत के अन्तिम साल स्पेन के एक नाविक कोलम्बस ने समुद्र के पार एक नई दुनिया की खोज कर ली जो अमेरिका के नाम से मशहूर है। 1498 ई॰ में पुर्तगाल के एक नाविक वास्को डिगामा ने अफ़्रीक़ा के दक्षिण से होकर एशिया आने का रास्ता मालूम कर लिया। इससे पहले स्थल-मार्ग से आवागमन होता था, परन्तु इस रास्ते पर उसमानियों की सल्तनत क़ायम थी। यूरोपवाले उनके कारण एशिया तक नहीं पहुँच सकते थे। एशिया के ये मुल्क फ़ौजी दृष्टि से तुर्कों से कमज़ोर थे, इसलिए यूरोपवालों ने उनपर हमले शुरू कर दिए।

उस ज़माने में इन्डोनेशिया और फ़िलपाइन में इस्लाम फैल गया था और वहाँ मुसलमानों की बड़ी-बड़ी हुकूमतें क़ायम हो गई थीं। स्पेनवालों ने सबसे पहले फ़िलपाइन से मुसलमानों को निकाला। उसके बाद हॉलैण्डवालों ने

इन्डोनेशिया के एक बड़े भूभाग पर क़ब्ज़ा कर लिया। यह ज़माना सतरहवीं सदी का था। इसके बाद उपमहाद्वीप भारत-पाक में अंग्रेज़ों ने, उत्तरी और पश्चिमी अफ़्रीक़ा में फ़्रांसीसियों ने और सल्तनते-उसमानिया के उत्तरी भागों में रूसियों ने हस्तक्षेप शुरू कर दिया।

नया सामाजिक ढाँचा

यूरोप के उत्थान के इस काल में ज्ञान-विज्ञान एवं साहित्य की तरक़्क़ी को यद्यपि बुनियादी अहमियत प्राप्त है, परन्तु यूरोप के उत्थान एवं विकास के अन्य कारक भी हैं। उनमें लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था को विशेष अहमियत हासिल है। लोकतंत्र इनसान का एक ऐसा स्वाभाविक अधिकार है जिसे इनसान हमेशा प्रिय रखता चला आया है। इस्लामी इतिहास में ख़िलाफ़ते-राशिदा के समय में लोकतंत्र की आदर्श प्रणाली पेश की गई थी। लेकिन प्राचीनकाल में सत्ता बलशाली लोगों के हाथ में होती थी जो अपने प्रभावशाली सहयोगियों की मदद से विरोधियों को बलपूर्वक दबा देते थे और फिर ऐसे तानाशाह बन जाते थे कि अपने आदेश के आगे किसी की राय की परवाह नहीं करते थे, परन्तु यूरोप में ज्ञान एवं साहित्य की तरक़्क़ी के साथ लोगों में अपने अधिकारों और उनकी रक्षा की भावना बढ़ती चली गई, फिर उद्योग-धंधों के विकास के साथ जनता की अहमियत भी बढ़ती चली गई और अब उन्हें दबाना आसान न रहा। प्रजा ने बादशाहों को विवश किया कि वे अपने अधिकारों को सीमित करें, शासन-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए उन प्रतिनिधियों को अधिकार दें जो जनता द्वारा चुने गए हैं। अतः धीरे-धीरे हर मुल्क में पार्लियामेंट या क़ानून बनानेवाली सभा का अस्तित्व हो गया। उन सभाओं के सदस्य जनता द्वारा चुने गए होते थे। फ़िर ये सदस्य विभिन्न पद के लिए मंत्रियों को चुनते थे। इस प्रकार बादशाहों के अधिकार बड़ी हद तक सीमित हो गए और सत्ता की बागडोर सीधे जनता के हाथ में आ गई। कुछ देशों में तो बादशाहत पूरी तरह समाप्त कर दी गई और हुकूमत का नेतृत्व राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री के हाथों में दे दिया गया जो जनता द्वारा चयनित होते थे। इस शासन-प्रणाली के अन्तर्गत चूँकि सत्ता लोग अर्थात् जनता के हाथ में होती है, इसलिए यह नई शासन-प्रणाली

लोकतंत्र कहलाती है।

आधुनिक काल की दूसरी विशेषता आर्थिक समानता है। पहले लोग या तो अतिधनी होते थे या अतिनिर्धन। धनवानों के लिए हर प्रकार की सुख-सुविधा उपलब्ध होती थी, परन्तु सामान्य जनता इन सुख-सुविधाओं से वंचित रहती थी। ख़ुलफ़ा-ए-राशिदीन के समय में और विशेषकर हज़रत उमर (रजि॰) के ज़माने में अमीर और ग़रीब के इस अन्तर को दूर करने की बड़ी कोशिशें की गईं थीं, परन्तु बाद में बादशाही शासन-व्यवस्था के कारण धनवानों का सुख-सुविधा पर एकाधिकार ख़त्म नहीं किया जा सका। संसाधन की कमी के कारण भी आम जनता का जीवन-स्तर बेहतर नहीं हो सका। आधुनिक काल में जहाँ एक ओर राजनीतिक सत्ता जनता के हाथ आई, वहाँ दूसरी ओर विज्ञान एवं औद्योगिक तरक़्क़ी के कारण रोज़गार के अवसर भी बढ़ गए, परिणामतः लोगों का जीवन-स्तर उच्च होने लगा। यद्यपि यूरोप, अमेरिका और दुनिया के अन्य विकसित देशों में अब भी अमीरी और ग़रीबी के बीच गहरी खाई है, परन्तु ग़रीबी बहुत हद तक कम हुई है और अब वहाँ सामान्य लोग भी तमाम सुविधाओं से किसी-न-किसी रूप में फ़ायदा उठाने लगे हैं।

आर्थिक समानता को लाने के लिए यूरोपवालों ने जो सुधार किए उनमें दो विशेष उल्लेखनीय हैं—

प्रथम यह कि उन्होंने बड़ी हद तक ज़मीनदारी व्यवस्था समाप्त कर दी और किसानों को या तो ज़मीन का मालिक बना दिया या क़ानून बनाकर उनके अधिकारों की रक्षा की गई। इस प्रकार एक ओर किसान ज़मीनदारों के ज़ुल्म से बच गए, जो अपनी ज़मीनदारियों में निरंकुश शासक बन बैठे थे और दूसरी ओर ज़मीन का स्वामित्व प्राप्त हो जाने के कारण किसान खेती के काम में ज़्यादा रुचि लेने लगे। परिणामतः पैदावार में भी वृद्धि हुई।

दूसरा सुधार उद्योगों एवं कारख़ानों में काम करनवाले मज़दूरों की हालत बेहतर बनाने से सम्बन्धित है। जिस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में ज़मीनदार किसानों के लिए मुसीबत बने हुए थे, उसी प्रकार शहरी क्षेत्रों में उद्योगपति

कारख़ानों में काम करनेवाले मज़दूरों के लिए मुसीबत बने हुए थे। कारख़ाने के मालिक मज़दूरों से काम तो ज़्यादा लेते थे लेकिन मज़दूरी कम देते थे। मज़दूरों ने अपने संगठन (यूनियन) बनाकर कारख़ाने के मालिकों की इन कठोरताओं और नाइनसाफ़ियों का मुक़ाबला किया। इस सन्घर्ष में उन्हें सफलता मिली और पश्चिमी हुकूमतों ने अन्ततः ऐसे क़ानून बना दिए जिससे कारख़ाने के मालिकों की निरंकुशता समाप्त हो गई। मज़दूरों की कार्यावधि कम कर दी गई और उनकी मज़दूरी में भी इज़ाफ़ा (बढ़ोत्तरी) हो गया।

महत्वपूर्ण घटनाएँ

1442 ई॰ — पुर्तगाली नाविक अफ़्रीक़ा में गिनी खाड़ी पहुँचे।

1486 ई॰ — नाविक बार्थोलोमियो (Bartholomeo) दक्षिण अफ़्रीक़ा में आशा अन्तरीप (Cap of Hope) तक पहुँचा।

1492 ई॰ — स्पेनी नाविक कोलम्बस अमेरिका पहुँच गया।

1498 ई॰ — पुर्तगाली नाविक वास्को डिगामा दक्षिण अफ़्रीक़ा का चक्कर काटकर मालन्दी के रास्ते कालीकट पहुँच गया और इस प्रकार यूरोप और भारत के बीच समुद्र-मार्ग की खोज हुई।

1499 ई॰ — इतालवी नाविक अमेरिगो (Amerigo) दक्षिण अमेरिका के सुदूर दक्षिणी क्षेत्रों तक पहुँच गया।

1508 ई॰ — पुर्तगालियों ने गुजरात में दीव के पास गुजराती मिस्री बेड़े को पराजित किया।

1510 ई॰ — पुर्तगालियों ने बीजापुर से गोवा की बन्दरगाह छीन ली और शहर के सभी मुसलमानों को क़त्ल कर दिया।

1511ई॰ — पुर्तगालियों ने मलाया-प्रायद्वीप की बन्दरगाह मलक्का पर क़ब्ज़ा कर लिया।

1513 ई॰ — स्पेनी नाविक बलबोआ (Balboa) ने पनामा जलडमरू मध्य को पार करके पहली बार प्रशान्त-महासागर का अवलोकन किया।

1519 ई॰ से 1522 ई॰ — पुर्तगाली नाविक फ़रडीनन्ड माजीलान (Majellan) दक्षिण अमेरिका का चक्कर लगाकर फ़िलिपाईन पहुँचा, जहाँ उसकी मृत्यु हो गई, परन्तु उसके साथी दक्षिण अफ़्रीक़ा होते हुए पुर्तगाल वापस पहुँच गए और इस प्रकार उन्होंने सारी दुनिया का पहली बार चक्कर लगाया।

- 1085 ई॰ से 1500 ई॰ तक अरबी पुस्तकों के अनुवाद का काल—अनुवाद-कार्य के प्रमुख केन्द्र तुलैतिला (Toledo) और सक़लिया टापू थे। सिलरनो (नेपल्स के निकट) के चिकित्सा विद्यालय (मेडिकल कॉलेज) में भी 1070 से 1087 ई॰ तक अरबी पुस्तकों के अनुवाद किए गए।
- 1450 ई॰ के लगभग गोटेनबर्ग (Gotenberg) ने छापेख़ाने का आविष्कार किया।
- पोलिस्तानी खगोलशास्त्री कोपरनिकस (Copernicus -1473 ई॰—1543 ई॰) ने साबित किया कि ज़मीन सूर्य का चक्कर लगाती है।
- इतालवी वैज्ञानिक गैलिलियो (Galileo - 1564 ई॰—1641 ई॰) ने दूरबीन बनाई।
- ब्रिटिश वैज्ञानिक न्यूटन (1642 ई॰—1727 ई॰) ने गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।
- जर्मन दार्शनिक एवं गणितज्ञ विल्हम लाइअनिट्ज़ (Wilhem Leitnitz-1646 ई॰—1716 ई॰) ने सांख्यिकी (Statistics) की बुनियाद डाली जिससे इंजीनियरिंग की तरक़्क़ी में बड़ी मदद मिली।
- 1769 ई॰ में जेम्स वॉट ने भाप इंजन का आविष्कार किया।

अध्याय-28

मुहम्मद शाह से बहादुर शाह तक

(1720 ई०–1858 ई०)

1. तैमूरी सल्तनत (मुग़ल-सल्तनत) का अन्तिम काल

दिल्ली की सल्तनत का नया तैमूरी (मुग़ल) ताजदार मुहम्मद शाह (1720 ई०–1748 ई०) अपने बाप-दादा की तमाम ख़ूबियों से वंचित था। वह आराम-तलब और ऐशपसन्द था। प्रशासनिक क्षमता, विवेकशीलता और दूरदर्शिता से कोसों दूर था। इतिहास में उसे ठीक ही मुहम्मद शाह रंगीले के नाम से याद किया गया है। तैमूरियों के शान्तिपूर्ण डेढ़ सौ साला दौर की खुशहाली ने न केवल शाही ख़ानदान को विलासी एवं ऐश्वर्यप्रिय बना दिया था, बल्कि उच्च पदाधिकारी और गणमान्य लोग भी उन्हीं का अनुसरण कर रहे थे। आराम-तलबी, मेहनत एवं कष्ट से फ़रार, त्याग-बलिदान से कतराना, बेईमानी, स्वार्थ, प्रसिद्धि-शोहरत की चाह, धन की प्रचुरता के ये जो सामान्य अवगुण हैं, ये सभी तैमूरी सल्तनत के उच्च पदाधिकारियों में पूरी तरह उत्पन्न हो गए थे। सन्घर्षशील औरंगज़ेब ने अपने दौर में इन कमज़ोरियों को दूर करने की बहुत कोशिश की और अपने दौर में कठोर नियमों एवं व्यवस्थाओं के कारण सरकारी पदाधिकारियों को बेक़ाबू नहीं होने दिया, परन्तु जब दिल्ली की गद्दी पर मुहम्मद शाह रंगीले जैसे लोग बाबर और औरंगज़ेब के उत्तराधिकारी होने लगे तो नतीजा पतन के अतिरिक्त क्या हो सकता था। अब तक बादशाह से वफ़ादारी की भावना सल्तनत की मज़बूती की ज़मानत होती थी, परन्तु अब तैमूरी पदाधिकारी बादशाह के बदले अपने निजी स्वार्थ के वफ़ादार हो गए थे। ये पदाधिकारी तुर्किस्तानी, ईरानी और भारतीय गुटों में बँटे हुए थे। जब तक औरंगज़ेब की मज़बूत पकड़ रही, इन गुटों के बीच एकता रही, परन्तु अब जब कि, अयोग्य बादशाह दिल्ली की गद्दी पर बैठने लगे, तो यह एकता समाप्त हो गई। हर गुट यह प्रयास करने

लगा कि बादशाह उसके प्रभाव में रहे। परिणाम गृह-युद्ध, अशान्ति और अलगाव के रूप में निकला। इस्लामी हिन्द यद्यपि औरंगज़ेब के ज़माने से सक्षम एवं योग्य लोगों क़ी कमी का शिकार था, परन्तु योग्य लोगों का ऐसा अकाल भी नहीं था कि कोई क़ाबिल आदमी मुल्क में मौजूद ही न हो। निज़ामुल-मुल्क आसिफ़ जाह, जिन्होंने बाद में दक्कन में एक ताक़तवर रियासत क़ायम कर ली, यक़ीनन ऐसे लोगों में से थे जो सल्तनत के पतन को रोक सकते थे। परन्तु उच्च पदाधिकारियों के आपसी मतभेद एवं संकीर्ण मानसिकता ने तथा बादशाह की अयोग्यता ने उन्हें और उन जैसे अन्य लोगों को उभरने का मौक़ा ही नहीं दिया, वरना सल्तनते-उसमानिया की तरह यहाँ भी कुछ वज़ीर ऐसे निकल आते जो सल्तनत के पतन को कुछ समय तक रोके रखने में सफल हो जाते।

मुहम्मद शाह के ज़माने में सबसे पहले महाराष्ट्र के मराठों ने ज़ोर पकड़ा। इन सन्घर्षशील मराठों को, जिनमें मुसलमानों से आज़ादी हासिल करने की बड़ी ख़ाहिश थी, औरंगज़ेब के ज़माने में बड़ी मुश्किल से क़ाबू में रखा गया था। अब उन्हें कई ऐसे अच्छे नेता मिल गए जिनका मुहम्मद शाह जैसा अय्याश बादशाह और आराम-तलब एवं स्वार्थी मंत्री मुक़ाबला नहीं कर सकते थे। अतः उन मराठों ने 1719 ई॰ से 1724 ई॰ के बीच पाँच वर्ष की अवधि में महाराष्ट्र से मालवा तक मध्य भारत के एक बड़े भूभाग पर क़ब्ज़ा कर लिया और 1731 ई॰ में गुजरात जैसा उपजाऊ एवं धनी प्रान्त भी दिल्ली-सल्तनत से छीन लिया। 1737 ई॰ में बादशाह ने विवश होकर नर्मदा-नदी से चम्बल-नदी तक के भूभाग पर उनकी हुकूमत स्वीकार कर ली।

नादिर शाह का हमला

इधर दक्षिण में मराठों ने हंगामा कर रखा था, उधर उत्तर से एक नई मुसीबत आ पड़ी। ईरान के हुक्मरान नादिर शाह ने अफ़ग़ानों को ईरान से निकालने के बाद उनके केन्द्र क़न्धार पर भी क़ब्ज़ा कर लिया था। यहाँ से कुछ अफ़ग़ान सरदारों ने फ़रार होकर काबुल में शरण ली थी। यह शहर चूँकि दिल्ली की तैमूरी सल्तनत में शामिल था, इसलिए नादिर शाह ने मुहम्मद शाह को लिखा कि वह उन लोगों को ईरान के हवाले कर दे। जिस

समय नादिर शाह का यह ख़त आया मुहम्मद शाह अपने साथियों के साथ कश्ती में बैठा शराब पी रहा था। नशे में तो था ही ख़त का कोई उचित जवाब देने के बदले यह कह दिया कि यह निरर्थक चीज़ है, ख़त को पानी में डुबो दिया। नादिर एक कठोर परिश्रमी एवं स्वाभिमानी सिपहसालार था। वह भला मुहम्मद शाह की इस हरकत को कहाँ बरदाश्त कर सकता था। तुरन्त फ़ौज लेकर चढ़ दौड़ा और काबुल, पेशावर एवं लाहौर को फ़तह करता हुआ 1739 ई॰ में दिल्ली के क़रीब पहुँच गया। यहाँ थानेसर नामक स्थान पर मुहम्मद शाह ने मुक़ाबला किया। मुहम्मद शाह तो आराम-तलब एवं आलसी था ही, उसके साथी भी कुछ कम नहीं थे। लड़ाई तो शुरू हो गई परन्तु मुग़लों का तोपख़ाना समय पर नहीं पहुँच सका। बस अब क्या था, नादिर शाह के तोपख़ाने ने कई हज़ार मुग़ल-फ़ौज को भून डाला और उसके केवल कुछ सौ आदमी मारे गए एवं जख़्मी हुए।

नादिर शाह का हमला बड़ा विनाशकारी साबित हुआ। दिल्ली के नागरिक तीन सौ साल से अमन-शान्ति की ज़िन्दगी गुज़ार रहे थे और तैमूर द्वारा किए गए क़त्ले-आम के बाद से उन्हें किसी तबाही का सामना नहीं करना पड़ा था, परन्तु नादिर शाह ने तैमूर की याद ताज़ा कर दी। उसने शहर में क़त्ले-आम किया, जिसमें हज़ारों इनसान मारे गए और हज़ारों के घर-बार लूट लिए गए। नादिर शाह यदि अकबर या बाबर की तरह यहाँ अपनी हुकूमत क़ायम कर लेता तो शायद कुछ फ़ायदा भी होता, परन्तु वह तबाही फैलाकर और तैमूरियों का करोड़ों का ख़ज़ाना अपने साथ लेकर ईरान चला गया।

नादिर शाह के इस हमले के बाद तैमूरी सल्तनत का डर लोगों के दिलों से निकल गया और मुल्क में हर जगह बग़ावतें शुरू हो गईं और तैमूरी सूबेदारों ने केन्द्रीय हुकूमत की कमज़ोरी से फ़ायदा उठाकर अपने-अपने सूबों में आज़ाद हुकूमतें क़ायम कर लीं। कुछ ही वर्षों में दक्कन, सिन्ध, बंगाल और अवध में अलग हुकूमतें क़ायम हो गईं। 1752 ई॰ में कश्मीर भी दिल्ली के बादशाह के हाथ से निकल गया।

मुहम्मद शाह और उसके उत्तराधिकारी अहमद शाह (1748 ई॰–1754 ई॰) और आलमगीर द्वितीय (1754 ई॰–1759 ई॰) सल्तनत के इस पतन को न रोक सके। वे मंत्रियों-पदाधिकारियों के हाथ में कठपुतली से ज़्यादा नहीं थे और ये मंत्री-पदाधिकारी ईरानी एवं तूरानी गुटों में बँटे हुए थे, तथा एक-दूसरे के प्रतिद्वन्दी थे। उन्हें अपने उद्देश्य की प्राप्ति एवं विरोधी गुट को हराने के लिए मराठों से मदद लेने में भी कोई संकोच नहीं था। हर गुट यह चाहता था कि बादशाह उसके हाथ में कठपुतली बना रहे। एक गवर्नर शिहाबुद्दीन का वर्चस्व यहाँ तक बढ़ गया कि उसने पहले अहमद शाह को सत्ता से हटाकर अन्धा बना दिया और फिर उसके उत्तराधिकारी आलमगीर द्वितीय को क़त्ल करके उसके बेटे शाह आलम द्वितीय (1759 ई॰–1806 ई॰) की बादशाहत की घोषणा कर दी। परन्तु शाह आलम डरकर दिल्ली से फ़रार होकर इलाहाबाद चला गया और वहाँ अवध के नवाब और फिर अंग्रेज़ों की शरण ले ली जो बंगाल पर क़ब्ज़ा करने के बाद इलाहाबाद तक आ गए थे।

पानीपत की तीसरी जंग

इधर पूरब से अंग्रेज़ दिल्ली की ओर बढ़ रहे थे, उधर उत्तर-पश्चिम से अहमद शाह अब्दाली, जो नादिर शाह के बाद अफ़ग़ानिस्तान का बादशाह बन गया था, दिल्ली-सल्तनत के सूबों पर हमले कर रहा था। वह 1756 ई॰ में दिल्ली पर क़ाबिज़ भी हो चुका था और शिहाबुद्दीन को बेदख़ल करके वापस चला गया था। उसकी वापसी के बाद शिहाबुद्दीन ने मराठों की मदद से पुनः दिल्ली को फ़तह कर लिया। यह पहला मौक़ा था कि मराठे दिल्ली में विजेता के रूप में दाख़िल हुए। इसके बाद वे लाहौर तक बढ़ते चले गए और अब्दाली के कर्मचारियों-पदाधिकारियों को लाहौर से निकाल दिया।

मराठों के इस बढ़ते हुए ज़ोर से मुसलमानों को चिन्ता हुई और मशहूर आलिम शाह वलीउल्लाह, रोहिल्ले सरदार नवाब नजीबुद्दौला और चन्द दूसरे मुग़ल-पदाधिकारियों ने मराठों का ज़ोर तोड़ने के लिए अहमद शाह अब्दाली को हिन्दुस्तान आने की दावत दी। अब्दाली इस दावत पर एक बार फिर हिन्दुस्तान आया। दिल्ली के निकट पानीपत के मैदान में मराठों और

मुसलमानों के बीच 14 जनवरी 1761 ई॰ को घमासान का युद्ध हुआ, जो पानीपत के पहले दो युद्धों से ज़्यादा ख़ूनी था। मुसलमानों की संख्या यद्यपि केवल नव्वे हज़ार थी और मराठा फ़ौज की संख्या तीन लाख थी, परन्तु मराठों को करारी हार का मुँह देखना पड़ा। दो लाख मराठे जंग में काम आए और उनके कई बड़े सिपहसालार मारे गए।

अहमद शाह अब्दाली उपमहाद्वीप भारत-पाक के मुसलमानों की मदद के लिए उसी प्रकार आया था जिस प्रकार अन्दलुस (स्पेन) में यूसुफ़-बिन-ताशफ़ीन और अब्दुल-मोमिन ईसाई हमलावरों के मुक़ाबले के लिए अन्दलुस के मुसलमानों के आग्रह पर आए थे, परन्तु यूसुफ़ ने अन्दलुस फ़तह करके वहाँ अपनी हुकूमत क़ायम कर ली जिसके कारण अन्दलुस के मुसलमान एक सौ साल तक ईसाई हमले से बचे रहे। इसके विपरीत अहमद शाह अब्दाली ने हिन्दुस्तान में अपनी हुकूमत क़ायम नहीं की और क़न्धार वापस चला गया। यह बात इस्लामी हिन्द के लिए नुक़सानदायक साबित हुई, क्योंकि यहाँ कोई ऐसा प्रभावशाली व्यक्ति मौजूद नहीं था जो दक्षिण से आनेवाले मराठों का या पूरब से आनेवाले अंग्रेज़ों की बढ़ती हुई ताक़त का मुक़ाबला कर सके।

(अहमद शाह अब्दाली के हालात के लिए देखें—अध्याय-31)

अंग्रेज़ों का आगमन

पुर्तगाल के नाविक वास्को डिगामा ने हिन्दुस्तान और चीन आदि की ओर आने का समुद्री मार्ग 1498 ई॰ में खोज लिया था। यह वह समय था जबकि उत्तर भारत और आज के पाकिस्तान में सिकन्दर लोधी की हुकूमत थी और दक्कन में बहमनी सल्तनत के पतन के बाद पाँच छोटी-छोटी हुकूमतें क़ायम हो गई थीं।

पुर्तगालियों के बाद हॉलैण्डवासी अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी भी पूर्वी देशों में आना शुरू हो गए। यूरोप की इन क़ौमों का सबसे बड़ा मक़सद व्यापार था। ये व्यापारी पूर्वी देशों का बना हुआ सामान—सूती एवं रेशमी कपड़े, गरम मसाले आदि यूरोप ले जाते थे।

तैमूरी बादशाहों के ज़माने में अंग्रज़ों ने व्यापार की अनुमति ले ली थी

और कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि स्थानों में अपनी व्यापारिक कोठियाँ क़ायम कर ली थीं। उन अंग्रेज़ों ने धीरे-धीरे उन व्यापारिक कोठियों को क़िलों में तब्दील कर दिया और वे वहाँ हर प्रकार का लड़ाई का सामान जमा करने लगे। कलकत्ता के निकट हुगली में पुर्तगाली नागरिकों की भी इसी प्रकार की एक बस्ती थी। शाहजहाँ के समय में उन्होंने हंगामा करने की कोशिश भी की थी परन्तु शाही फ़ौज ने उन्हें वहाँ से निकाल दिया। अंग्रेज़ों ने औरंगज़ेब के ज़माने में बम्बई में लड़ाई करना चाही, परन्तु वे भी असफल रहे और माफ़ी माँगने के बाद औरंगज़ेब ने उन्हें रहने की इजाज़त दे दी, हुगली के पुर्तगालियों की तरह निकाल बाहर नहीं किया।

परन्तु जब तैमूरी सल्तनत का पतन शुरू हुआ और मुल्क छोटी-छोटी रियासतों में बँट गया तो अंग्रेज़ों की बन आई। उन्होंने अपने व्यापारिक क़िलों में फ़ौजों की संख्या बढ़ा ली और कई इलाक़ों पर क़ब्ज़ा कर लिया। अंग्रेज़ों ने सबसे ज़्यादा शक्ति कर्नाटक के इलाक़े में प्राप्त कर ली जहाँ मद्रास-शहर उनका सबसे बड़ा केन्द्र था। जब उस इलाक़े में वे शक्तिशाली हो गए तो उन्होंने समुद्र के रास्ते बंगाल पर हमला किया। बंगाल का हुक्मरान उस ज़माने में नवाब सिराजुद्दौला था। 1757 ई० में पलासी नामक स्थान पर सिराजुद्दौला और अंग्रेज़ों में लड़ाई हुई। सिराजुद्दौला पराजित हुआ और मारा गया। पलासी की लड़ाई हिन्दुस्तान की निर्णायक लड़ाई समझी जाती है क्योंकि उसके बाद हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों की बुनियादें मज़बूत हो गईं और वे बंगाल से बनारस तक एक बड़े इलाक़े पर क़ाबिज़ हो गए। चन्द साल बाद 1764 ई० में बक्सर नामक स्थान पर अंग्रेज़ों ने बंगाल के पूर्व नवाब मीर क़ासिम और अवध के नवाब को पराजित करके इलाहाबाद पर भी कब्ज़ा कर लिया। अहमद शाह अब्दाली ने शाह आलम को जो अंग्रेज़ों की शरण में इलाहाबाद में था, तख़्त पर बहाल रखा और अवध के शुजाउद्दौला को उसका वज़ीर और रोहिले सरदार नजीबुद्दौला को उसका सिपहसालार नियुक्त किया। शाह आलम की ग़ैर हाज़िरी में नजीबुद्दौला ने 1761 ई० से 1770 ई० तक बड़ी बुद्धिमानी से हुकूमत की और दिल्ली को जाटों और अन्य विद्रोही गुटों के हमले से बचाया।

तैमूरी सल्तनत का अन्त

पानीपत की जंग में यद्यपि मराठे बुरी तरह पराजित हुए थे और चन्द साल के लिए उनका ज़ोर टूट गया था, परन्तु यह पराजय निर्णायक नहीं थी। चन्द साल बाद मराठों ने पुनः उत्तर की ओर बढ़ना शुरू किया और 1769 ई॰ में चम्बल-नदी को पार कर लिया और 1772 ई॰ में पुनः दिल्ली पर क़ाबिज़ हो गए। शाह आलम जो अब तक अंग्रेज़ों की पनाह में था अब उसने स्वयं को मराठों की सुरक्षा में दे दिया और दिल्ली आ गया। उसने मराठा सरदार पेशवा को अपना सिपहसालार नियुक्त किया। 1788 ई॰ में रोहिला सरदार गुलाम क़ादिर ने, जो नजीबुद्दौला का पोता था, दिल्ली पर क़ब्ज़ा करके शाह आलम की आँखें निकलवा दीं। मराठों ने फ़ौरन जवाबी कार्रवाई की और गुलाम क़ादिर रोहिले को दिल्ली से निकाल दिया और शाह आलम की पूर्व हैसियत बहाल कर दी, परन्तु अब वास्तविक सत्ता मराठों के हाथ में थी। शाह आलम केवल नाम का बादशाह रह गया था।

1795 ई॰ के बाद मराठे गृह-युद्ध में फँस गए और 1799 ई॰ में टीपू सुल्तान की शहादत के बाद उपमहाद्वीप में कोई ऐसी ताक़त नहीं रही जो अंग्रेज़ों का मुक़ाबला कर सके। दक्कन के निज़ाम और मराठों के एक गुट ने अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार कर ली। अंग्रेज़ों ने 1803 ई॰ में दिल्ली के पास मराठों के दूसरे गुट को पराजित करके दिल्ली, आगरा और अलीगढ़ पर क़ब्ज़ा कर लिया। इससे मराठों के अन्य सभी गुटों ने अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार कर ली। उनके कुछ इलाक़ों को अंग्रज़ों ने सीधे अपनी शासन-व्यवस्था के अधीन कर लिया और कुछ इलाक़ों में उनकी रियासतों को चलने दिया, परन्तु सभी अहम अधिकारों से वंचित कर दिया। अब शाह आलम अंग्रेज़ों की सुरक्षा में चला गया और अंग्रेज़ों ने लाल-क़िले में भी फ़ौजी दस्ता तैनात कर दिया। शाह आलम के बाद उसके दो उत्तराधिकारी अकबर शाह द्वितीय (1806 ई॰–1837 ई॰) और बहादुर शाह ज़फ़र (1837 ई॰–1858 ई॰) भी केवल लाल क़िले के हुक्मरान थे और अंग्रेज़ों के पेंशनभोगी। 1857 ई॰ में जब अंग्रेज़ी फ़ौज के हिन्दुस्तानी दस्ते ने बग़ावत की तो उन्होंने दिल्ली पर क़ब्ज़ा करके बहादुर शाह को आज़ादी की जंग का नेतृत्व सौंपना चाहा,

परन्तु यह काम बूढ़े बादशाह के वश का न था। बग़ावत या आज़ादी की जंग नाकाम हो गई। अंग्रेज़ों ने दिल्ली पर पुनः कब्ज़ा करके 22 सितम्बर 1857 ई॰ को बहादुर शाह को गिरफ़्तार कर लिया। लाल क़िले में उसपर मुक़द्दमा चलाया गया और बग़ावत के जुर्म में 9 मार्च 1858 ई॰ को उसे देश निकाला देकर रंगून भेज दिया, जहाँ 7 नवम्बर 1862 ई॰ (13 जुमादल-ऊला 1279 हि॰) को उसका निधन हो गया।

1857 ई॰ के आन्दोलन का अंग्रेज़ों ने मुसलमानों से बड़ा सख़्त बदला लिया। दिल्ली में उनके मुहल्ले-के-मुहल्ले उजाड़ दिए और उनकी जगह हिन्दुओं को बसा दिया। इसके बाद उन्होंने तेहरीके-मुजाहिदीन के ख़िलाफ़ कार्रवाई की। पटना के मुहल्ले सादिक़पुर के घरों को ढहाकर जमीनों पर हल चलवा दिए। कारण यह था कि उनका सम्बन्ध उन मुजाहिदीन से था जो बालाकोट के हादसे के बाद सरहद के पहाड़ों में रहकर अभी तक अंग्रेज़ों से जंग कर रहे थे। 1864 ई॰ में अम्बाला में मुजाहिदीन पर मुक़द्दमा चलाया गया। हज़ारों मुसलमान कालापानी भेज दिए गए और अनगिनत आलिमों को फाँसी दे दी गई। मुसलमानों की जागीरें छीन ली गईं और उनपर सरकारी नौकरी के दरवाज़ें बन्द कर दिए गए। नतीजा यह हुआ कि चन्द साल में मुसलमान हिन्दुस्तान में सबसे जाहिल और ग़रीब हो गए।

(तेहरीके-मुजाहिदीन के लिए देखें—अगला अध्याय)

ज़करिया ख़ाँ और मुर्शिद क़ुली ख़ाँ

तैमूरी सल्तनत के पतन-काल में पंजाब में अब्दुस्समद ख़ाँ, जो 1713 ई॰ से 1726 ई॰ तक पंजाब के सूबेदार रहे, और उनके बेटे नवाब ज़करिया ख़ाँ जो 1726 ई॰ से 1745 ई॰ तक सूबेदार रहे तथा बंगाल में मुर्शिद क़ुली ख़ाँ बड़े नेक क़ाबिल सूबेदार थे। नवाब ज़करिया ख़ाँ विशेष रूप से प्रजा का ख़याल रखने एवं सहिष्णुता के कारण बहुत लोकप्रिय थे। उनके प्रयास से नादिर शाह ने हज़ारों हिन्दुस्तानी क़ैदियों एवं कारीगरों को, जिन्हें वह अपने साथ ईरान ले जा रहा था, रिहा कर दिया। ज़करिया ख़ाँ ने अपनी बुद्धिमानी से लाहौर को नादिर शाही क़त्ले-आम एवं लूटमार से बचाया। जो हैसियत नवाब ज़करिया ख़ाँ की पंजाब में थी, वही हैसियत बंगाल में मुर्शिद क़ुली

ख़ाँ की थी जो औरंगज़ेब के अन्तिम समय में बंगाल के सूबेदार नियुक्त हुए थे। मुर्शिद क़ुली ख़ाँ 1704 ई॰ से 1725 ई॰ तक बंगाल के सूबेदार रहे। वे आख़िर तक दिल्ली-सल्तनत के वफ़ादार रहे और उनके कारण बंगाल का ख़ज़ाना सल्तनत के लिए एक ऐसे समय में सहारा बना रहा, जबकि दूसरे सूबे अलगाव और हंगामों के शिकार थे। मुर्शिदाबाद का शहर उन्हीं का बसाया हुआ है। इस शहर को मुर्शिद क़ुली ख़ाँ ने ढाका के बदले बंगाल का मुख्यालय बनाया था।

पतन-काल में ज्ञान एवं साहित्य

तैमूरी काल के इतिहास का एक रोचक पहलू यह है कि इस्लामी हिन्द की सबसे बड़ी इल्मी शख़्सियत और महान विचारक शाह वलीउल्लाह उसी पतन-काल से सम्बन्ध रखते हैं, जबकि सारा मुल्क और ख़ुद राजधानी दिल्ली हंगामों का केन्द्र बना हुआ था। उन्होंने उन्हीं हंगामों में इल्मी तहक़ीक़ (बौद्धिक शोध) की और उन्हीं हंगामों में चिन्तन किया और उनके सहारे इस्लामी हिन्द में एक ऐसी ठोस इल्मी तहरीक (बौद्धिक आन्दोलन) शुरू हुई जिसने इस्लामी दुनिया को अगली दो सदियों में बेमिसाल आलिम, फ़ाज़िल और चिन्तक-विचारक दिए। ख़ुद शाह वलीउल्लाह के घराने में शाह अब्दुल-अज़ीज़, शाह अब्दुल-क़ादिर, शाह रफ़ीउद्दीन और शाह इसमाईल शहीद जैसी इल्मी शख़्सियतें पैदा हुईं जिनके चलते इस्लामी हिन्द में इस्लामी ज्ञान का पुनरुत्थान हुआ और राजनीतिक एवं सामाजिक जागरण का आन्दोलन भी प्रारम्भ हुआ। हमने इसी किताब में अगले एक अध्याय में शाह वलीउल्लाह और तेहरीके-मुजाहिदीन के शीर्षक के अन्तर्गत उन तमाम बुज़ुर्गों एवं महान हस्तियों की चर्चा की है। यहाँ हम शाह वलीउल्लाह के घराने से हटकर चन्द दूसरे विद्वानों और लेखकों का हाल लिखते हैं जो तैमूरियों के पतन-काल में दिल्ली और आसपास के इलाक़े में पैदा हुए।

पतन-काल के प्रमुख इतिहासकारों में एक मुहम्मद हाशिम ख़्वाफ़ी ख़ाँ (1664 ई॰–1733 ई॰) हैं जिन्हें ग़लती से ख़ाफ़ी ख़ाँ लिखा जाता है। उन्होंने 'मुन्तख़बुल-लुबाब' के नाम से हिन्दुस्तान के तैमूरियों का एक विस्तृत एवं प्रामाणिक इतिहास लिखा है जिसमें बाबर से मुहम्मद शाह तक

(1729 ई॰ तक) का इतिहास पेश किया गया है। यह पतन-काल के इतिहास का सबसे अच्छा स्रोत है और इस्लामी हिन्द में लिखे उन चन्द अच्छे इतिहासों में गिना जाता है।

उर्दू भाषा का चलन और विकास इस काल की विशेषता है। यद्यपि उर्दू में पद्य एवं गद्य का आरम्भ सोलहवीं सदी से शुरू हो गया था, परन्तु उर्दू ने पूर्णरूपेण इसी काल में आकर लेना शुरू किया। उर्दू के महान शायर सिराजुद्दीन अली ख़ाँ आरज़ू (1689 ई॰–1756 ई॰), हातिम (1699 ई॰–1781 ई॰), मिर्ज़ा मज़हर जाने-जानाँ (1700 ई॰–1781 ई॰), सौदा (1713 ई॰–1780 ई॰), मीर दर्द (1719 ई॰–1785 ई॰) और मीर तक़ी मीर (1722 ई॰–1810 ई॰) इसी काल से सम्बन्ध रखते हैं। इस काल के अन्त में उर्दू शायरी अपने चरम पर पहुँच गई और ज़ौक़ (1789 ई॰–1854 ई॰), मोमिन (1800 ई॰–1851 ई॰), नज़ीर अकबराबादी (1740 ई॰–1830 ई॰) और ग़ालिब (1797 ई॰–1869 ई॰) जैसे महान शायर पैदा हुए। यद्यपि उपर्युक्त अन्तिम शायरों का सम्बन्ध एक ऐसे काल से है जब अंग्रेज़ों की हुकूमत शुरू हो चुकी थी, परन्तु इन शायरों का दिल्ली के दरबार से गहरा सम्बन्ध था। ज़ौक़ अन्तिम तैमूरी बादशाह बहादुर शाह ज़फ़र के उस्ताद थे और ग़ालिब भी शाही दरबार से वर्षों तक जुड़े रहे। ग़ालिब फ़ारिसी भाषा के भी उच्च कोटि के शायर थे और उन्होंने अपने ख़तों के ज़रिए उर्दू गद्य के भी बहुत अच्छे नमूने पेश किए। बहादुर शाह ज़फ़र खुद भी उर्दू के प्रमुख और अपनी अलग पहचानवाले शायर थे।

दिल्ली के अन्तिम तैमूरी बादशाह

(1132 हि॰/1720 ई॰–1275 हि॰/1858 ई॰)

1. मुहम्मद शाह	(1132 हि॰/1720 ई॰–1161 हि॰/1748 ई॰)
2. अहमद शाह	(1161 हि॰/1748 ई॰–1167 हि॰/1754 ई॰)
3. आलमगीर द्वितीय	(1167 हि॰/1754 ई॰–1173 हि॰/1759 ई॰)
4. शाह आलम द्वितीय	(1173 हि॰/1759 ई॰–1221 हि॰/1806 ई॰)
5. अकबर शाह द्वितीय	(1221 हि॰/1806 ई॰–1253 हि॰/1837 ई॰)

6. बहादुर शाह ज़फ़र (1253 हि०/1837 ई०–1275 हि०/1857 ई०) बहादुर शाह ज़फ़र की मृत्यु (1862 ई०)

2. बंगाल (1740 ई०–1765 ई०)

नादिर शाह के हमले के बाद उपमहाद्वीप भारत-पाक में जिन इलाक़ों में आज़ाद हुकूमतें क़ायम हुई थीं, उनमें एक बंगाल भी था। बंगाल दिल्ली की सल्तनत का एक अति उपजाऊ एवं ख़ुशहाल प्रान्त था। औरंगज़ेब के ज़माने में यहाँ मुर्शिद क़ुली ख़ाँ (1704 ई०–1725 ई०) को सूबेदार नियुक्त किया गया था जो मुर्शिदाबाद-शहर बसाकर बंगाल-प्रान्त का मुख्यालय ढाका से मुर्शिदाबाद ले आया था। मुर्शिद क़ुली ख़ाँ के बाद उसका दामाद शुजाउद्दीन ख़ाँ (1725 ई०–1739 ई०) सूबेदार नियुक्त हुआ। उसके बाद शुजाउद्दीन का बेटा सरफ़राज़ ख़ाँ सूबेदार हुआ। परन्तु जब नादिर शाह ने दिल्ली पर क़ब्ज़ा कर लिया तो सरफ़राज़ ख़ाँ ने बंगाल में नादिर का ख़ुत्बा और सिक्का जारी कर दिया। इसपर बिहार के सूबेदार अलीवर्दी ख़ाँ ने सरफ़राज़ पर ग़द्दारी का इलज़ाम लगाया और मुहम्मद शाह से अपने लिए बंगाल की सूबेदारी का फ़रमान प्राप्त करके सरफ़राज़ ख़ाँ को बेदख़ल कर दिया और बंगाल पर क़ब्ज़ा कर लिया।

अलीवर्दी ख़ाँ (1740 ई०–1756 ई०) ने बड़ी बुद्धिमानी से बंगाल पर हुकूमत की। वर्तमान प्रान्त बिहार एवं उड़ीसा भी उसकी हुकूमत में शामिल थे। दिल्ली की केन्द्रीय सत्ता चूँकि अब बिखराव का शिकार हो गई थी इसलिए अलीवर्दी ख़ाँ ने एक आज़ाद हुक्मरान की हैसियत से हुकूमत की, परन्तु वह दिल्ली के बादशाह की अधीनता स्वीकार करता था और उसने ख़ुत्बा एवं सिक्का दिल्ली के बादशाह का जारी रखा।

पलासी की जंग

यूरोपीय क़ौमों अंग्रेज़ों, फ़्रांसीसियों और पुर्तगालियों ने दिल्ली के तैमूरी बादशाहों से उपमहाद्वीप में व्यापार करने की अनुमति ले रखी थी और इस उद्देश्य के लिए उन्होंने विभिन्न स्थानों पर ज़मीनें लेकर व्यापारिक कोठियाँ बना ली थीं। अंग्रेज़ों ने इस प्रकार की कोठियाँ बम्बई, मद्रास और कलकत्ता

में बना रखी थीं। बाद में उन्होंने सुरक्षा का बहाना बनाकर इन कोठियों को क़िलों (दुर्गों) में बदल दिया। जब दिल्ली की हुकूमत का पतन हुआ और मुल्क छोटी-छोटी रियासतों में बँट गया तो अंग्रेज़ों ने उन क़िलों और बस्तियों से, जो फ़ौजी छावनियों का रूप ले चुकी थीं, मुल्क के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। अलीवर्दी ख़ाँ जब तक जीवित रहा कलकत्ता की अंग्रेज़-बस्ती पर उसने कड़ी नज़र रखी, परन्तु उसके बाद जब उसका नाती सिराजुद्दौला मुर्शिदाबाद की गद्दी पर बैठा तो वह अंगेज़ों को क़ाबू में न रख सका। अंग्रेज़ों ने बंगाल में साज़िश का जाल बिछा दिया और उन्होंने मात्र तीन हज़ार फ़ौज लेकर 22 जून 1757 ई॰ को मुर्शिदाबाद के निकट पलासी के मैदान में सिराजुद्दौला की लगभग सत्तर हज़ार फ़ौज को पराजित कर दिया और बंगाल पर क़ब्ज़ा कर लिया। यद्यपि यह वास्तविकता है कि सिराजुद्दौला की पराजय के कारकों में अंग्रेज़ों की गुप्त साज़िशों और सिराजुद्दौला के साथियों और उसके रिश्तेदार मीर जाफ़र की ग़द्दारी की भी भूमिका है, परन्तु अंग्रेज़ों की सफलता का सबसे बड़ा कारण उनकी फ़ौजी श्रेष्ठता एवं सामरिक रणनीति थी। सिराजुद्दौला की फ़ौज एक भीड़ के अलावा और कुछ नहीं थी जबकि अंग्रेज़ों के पास आधुनिक हथियारों से सुसज्जित एक अनुशासित फ़ौज थी। इसी कारण चन्द सौ अंग्रेज़-फ़ौजियों ने सिराजुद्दौला की कई हज़ार फ़ौज को पराजित कर दिया।

अंग्रेज़ों ने सिराजुद्दौला को पराजित करने के बाद मीर जाफ़र को उसके योगदान के बदले में बंगाल का नवाब बना दिया। तीन साल बाद मीर जाफ़र को हटाकर उसके दामाद मीर क़ासिम (1760 ई॰–1763 ई॰) को नवाब बना दिया, परन्तु मीर क़ासिम ने अंग्रेज़ों के इशारे पर नाचने से इनकार कर दिया, तो उन्होंने पुनः मीर जाफ़र को नवाब बना दिया जिसे आम जनता अंग्रेज़ गवर्नर 'क्लाईव का गधा' कहती थी। मीर क़ासिम ने अब अवध के नवाब शुजाउद्दौला और तैमूरी हुक्मरान शाह आलम की मदद से, जो दिल्ली छोड़कर अवध के नवाब की पनाह में था, अंग्रेज़ों को निकालने की योजना तैयार की। बनारस के पूरब में बक्सर नामक स्थान पर 22 अक्तूबर 1764 ई॰ को अंग्रेज़ों एवं इस संयुक्त मोर्चे के बीच दूसरी जंग हुई जिसमें शाह

आलम पराजित हुआ।[1] इस प्रकार बंगाल से अवध तक अंग्रेज़ों की मज़बूत हुकूमत क़ायम हो गई। अगले साल अंग्रेज़ों ने शाह आलम से क़ब्ज़ा किए गए इलाक़े की दीवानी का अधिकार भी प्राप्त कर लिया और उसके बदले में बादशाह शाह आलम को 26 लाख रुपए सालाना ख़िराज देना स्वीकार किया। मीर जाफ़र का लड़का नज्मुद्दौला 1765 ई० से 1772 ई० तक नाममात्र का बंगाल का नवाब बना रहा। इसके बाद अंग्रेज़ ने उसे भी हटा दिया और नवाबी-व्यवस्था ख़त्म कर दी।

3. अवध की हुकूमत (1722 ई०–1856 ई०)

दिल्ली की तैमूरी (मुग़ल) सल्तनत के बाद जो आधे आज़ाद और पूर्ण आज़ाद हुकूमतें क़ायम हुईं, उनमें एक अवध की हुकूमत भी थी। उसका संस्थापक दिल्ली-दरबार का एक ईरानी मूल का अधिकारी सआदत ख़ाँ (1722 ई०–1739 ई०) था जिसे तैमूरी हुकूमत की ओर से 'बुरहानुल मलिक' का ख़िताब मिला था। अवध की रियासत भी दिल्ली-सल्तनत की अधीनता स्वीकार करती थी और उसके कई हुक्मरान दिल्ली के बादशाह के ओहदेदार थे। सआदत ख़ाँ ने करनाल की जंग में अपने तोपख़ाने के साथ नादिर के मुक़ाबले में मुहम्मद शाह की मदद की थी। सफ़दरजंग (1739 ई०–1754 ई०) और शुजाउद्दौला (1754 ई०–1775 ई०) ने सल्तनत के वज़ीर की हैसियत से सेवा प्रदान की। 1764 ई० में बक्सर की जंग में शुजाउद्दौला की पराजय के बाद अवध की रियासत अंग्रेज़ों के प्रभाव में आ गई, परन्तु अंग्रेज़ों ने अपनी राजनीतिक रणनीति के कारण अवध की रियासत का वजूद बरक़रार रखा। शुजाउद्दौला के ज़माने में अवध की रियासत अपने विकास के चरम पर थी। 1774 ई० में रुहैलखण्ड के हुक्मरान हाफ़िज़ रहमत ख़ाँ (1162 हि०/1749 ई०–1188 हि०/1774 ई०) को अंग्रेज़ों के सहयोग से पराजित कर देने के बाद रुहैलखण्ड का इलाक़ा भी अवध में शामिल हो गया और रियासत की सीमाएँ गोरखपुर से यमुना-नदी तक फैल गईं।

1. बक्सर की जंग में अंग्रेज़ी फ़ौज की गिनती सात हज़ार और हिन्दुस्तानी फ़ौज की गिनती पचास हज़ार थी।

शुजाउद्दौला के बाद अवध की रियासत पर अंग्रेज़ों का दबाव बढ़ गया और अवध के नवाब अंग्रेज़ों के आदेशों के आगे बेबस हो गए। आसिफ़ुद्दौला (1775 ई॰–1797 ई॰) के ज़माने में जौनपुर और ग़ाज़ीपुर के ज़िलों पर और सआदत अली ख़ाँ (1798 ई॰–1814 ई॰) के ज़माने में रुहैलखण्ड, इटावा, कानपुर, इलाहाबाद, आज़मगढ़ और गोरखपुर आदि ज़िलों पर अंग्रेज़ क़ाबिज़ हो गए। अवध के नवाब अब अंग्रेज़ों की कठपुतली बनकर रह गए, परन्तु इन विषम परिस्थितियों में भी ग़ाज़ीउद्दीन हैदर (1814 ई॰–1827 ई॰) ने नवाब की उपाधि छोड़कर बादशाह की उपाधि अपना ली। यह इस बात का एलान था कि अब वह दिल्ली के बादशाह के अधीन नहीं रहा। इसके बाद से अवध के सभी हुक्मरान बादशाह कहलाने लगे। अन्तिम हुक्मरान वाजिद अली शाह (1847 ई॰–1856 ई॰) पर अंग्रेज़ों ने ख़राब शासन-व्यवस्था का इल्ज़ाम लगाकर सत्ता से हटा दिया और 1856 ई॰ में अवध की रियासत को ब्रिटिश भारत में मिला लिया। वाजिद अली शाह की पेंशन निर्धारित कर दी गई और कलकत्ता में रहने की इजाज़त दे दी, जहाँ उसका 1880 ई॰ में इन्तिक़ाल हो गया।

लखनऊ और वहाँ का समाज

शुजाउद्दौला के ज़माने तक अवध की राजधानी फ़ैज़ाबाद थी, उसके लड़के आसिफ़ुद्दौला ने लखनऊ को राजधानी बनाया और आख़िर तक उसकी यह हैसियत बरक़रार रही। अवध के नवाबों के ज़माने में राजधानी लखनऊ का बड़ा उत्थान हुआ। उस दौर में इस शहर ने एक मामूली क़स्बे से बढ़कर एक बड़े शहर का रूप ले लिया। नवाबों ने शानदार इमारतें बनवाईं जिनमें महल, बाग़, मस्जिद, इमामबाड़ा और मक़बरा सब कुछ था। हालांकि जामा मस्जिद और क़ैसर बाग़ के दो मक़बरों के अतिरिक्त अन्य इमारतें वास्तुकला का कोई विशेष नमूना नहीं हैं, बहरहाल उनमें से अधिकतर इमारतें आज भी लखनऊ की सुन्दरता को चार चाँद लगाती हैं। अवध के बादशाहों के ज़माने में लखनऊ का शहर उत्तर भारत में दिल्ली एवं आगरा के बाद सभ्यता एवं संस्कृति का तीसरा बड़ा केन्द्र बन गया, परन्तु अवध के बादशाहों का यह दौर हमारे सामाजिक एवं नैतिक पतन का चरम

है। शाइस्तगी के नाम पर ऊपरी दिखावा, बनावटीपन, नाम-प्रसिद्धि की प्रवृत्ति ने जड़ जमाई। सरकारी संरक्षण में व्यभिचारी प्रवृत्ति पनपने लगी। तवायफ़ों एवं बाज़ारी औरतों को इस्लाम के इतिहास में पहली बार लखनऊ में इज़्ज़त व सम्मान दिया गया।

अवध के बादशाह शिया-मत के माननेवाले थे। विशेषकर आसिफ़ुद्दौला के बाद से शिया-मत को सरकारी मज़हब का रूप दे दिया गया। इस दौर में मज़हब के नाम पर नए-नए रस्मो-रिवाज का प्रचलन बढ़ गया जो हिन्दुओं के विभिन्न रस्मो-रिवाज की नक़ल थे और जिनके माध्यम से हमारे समाज में और शिया-मत के रस्मों में हिन्दू रस्मों के प्रभाव सम्मिलित हुए।

उर्दू साहित्य एवं शायरी के विकास में दिल्ली के बाद लखनऊ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दिल्ली के पतन के बाद, विशेषकर नादिर शाह के हमले के बाद, जब दिल्ली हंगामों का केन्द्र बन गई तो यहाँ के विद्वान एवं प्रतिभाशाली लोगों ने रुहैलखण्ड, लखनऊ, मुर्शिदाबाद, हैदराबाद, अरकाट और मैसूर का रुख़ किया जहाँ स्थानीय मुस्लिम हुक्मरानों ने किसी हद तक अपने प्रदेशों में अमन-शान्ति का वातावरण बनाए रखा था। इन सभी शहरों में लखनऊ, दिल्ली से सबसे निकट था। अवध के नवाब एवं बादशाहों ने भी साहित्यकारों एवं शायरों का प्रोत्साहन किया, इसलिए साहित्यकारों एवं शायरों की एक बड़ी तादाद ने लखनऊ ही का रुख़ किया। जो शायर उस ज़माने में दिल्ली और आगरा से लखनऊ आए उनमें ख़ान आरज़ू (1689 ई॰–1756 ई॰), सौदा (1713 ई॰–1780 ई॰), मुसहफ़ी (1750 ई॰–1824 ई॰), जुर्रत (मृत्यु-1810 ई॰), इनशा (1757 ई॰–1817 ई॰) और मीर तक़ी मीर (1722 ई॰–1810 ई॰) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मशहूर शायर आतिश (1192 हि॰–1263 हि॰) यद्यपि फ़ैज़ाबाद में पैदा हुए थे, परन्तु उनके पिता दिल्ली से आकर अवध में बस गए थे।

अवध के बादशाहों के ज़माने में मर्सिया-निगारी (शोक गीत लेखन) ने विशेष रूप से विकास किया और उर्दू भाषा के सबसे बड़े मर्सिया-निगार मीर अनीस (1802 ई॰–1874 ई॰) और सलामत अली दबीर (1803 ई॰–1875 ई॰) उसी काल से सम्बन्ध रखते थे। हालाँकि उनकी ज़िन्दगी का अन्तिम

काल अंग्रेज़ों के दौर में गुज़रा।

दीनी तालीम (इस्लामी शिक्षा) के सिलसिले में यह दौर इस कारण उल्लेखनीय है कि मुल्ला निज़ामुद्दीन ने तालीम का वह मशहूर निसाब (पाठ्यक्रम) इसी ज़माने में संकलित किया, जो 'दरसे-निज़ामिया' के नाम से प्रसिद्ध है। लखनऊ का मुहल्ला 'फ़िरंगी महल' उस काल में उपमहाद्वीप का सबसे बड़ा तालीमी मरकज़ (शैक्षणिक केन्द्र) था। मुल्ला निज़ामुद्दीन का इन्तिक़ाल 1748 ई॰ के बाद हुआ। अवध का क़स्बा बिलग्राम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि उस ज़माने में वहाँ की मिट्टी से कई अहम विद्वान उठे। उनमें गुलाम अली आज़ाद की चर्चा आसफ़िया सल्तनत के हालात के अन्तर्गत की गई है। बिलग्राम की दूसरी महान हस्ती सैयद मुर्तज़ा ज़ुबैदी (1732 ई॰–1791 ई॰) की है। वे शाह वलीउल्लाह के शागिर्द थे। फिर अरब चले गए और वहीं उनका इन्तिक़ाल हुआ। वे अपने दौर के सबसे बड़े मुहद्दिस (हदीस विद्), साहित्यकार और शब्दकोश के विद्वान थे। उनकी प्रसिद्धि हिन्दुस्तान एवं पकिस्तान से ज़्यादा अरब-मुल्कों में हुई। वे लगभग 66 किताबों के लेखक थे जिसमें मशहूर अरबी शब्दकोश 'क़ामूस' की शरह (विस्तार) 'ताजुल-उरूस' और इमाम ग़ज़ाली की इह्या-उल-उलूम' की शरह बहुत अहम हैं।

अवध (लखनऊ) के नवाब (1722 ई॰–1856 ई॰)

1. सआदत ख़ाँ बुरहानुल-मुल्क	(1722 ई॰–1739 ई॰)
2. सफ़दरजंग	(1739 ई॰–1754 ई॰)
3. शुजाउद्दौला	(1754 ई॰–1775 ई॰)
4. आसिफ़ुद्दौला	(1775 ई॰–1797 ई॰)
5. सआदत अली ख़ाँ	(1798 ई॰–1814 ई॰)
6. ग़ाज़ीउद्दीन हैदर	(1814 ई॰–1827 ई॰)
7. नासिरुद्दीन हैदर	(1827 ई॰–1837 ई॰)
8. मुहम्मद अली शाह	(1837 ई॰–1842 ई॰)
9. वाजिद अली शाह	(1847 ई॰–1856 ई॰)

4. सल्तनते-ख़ुदादाद मैसूर (1761 ई॰–1799 ई॰)

जिस ज़माने में बंगाल एवं उत्तर भारत में अंग्रेज़ अपने पैर जमा रहे थे, दक्षिण भारत में दो ऐसे मुजाहिद (योद्धा) पैदा हुए जिनके नाम इतिहास के पन्नों में हमेशा अमर रहेंगे। ये हैदर अली और टीपू सुल्तान थे। बंगाल और उत्तर भारत में अंग्रेज़ों को मुसलमानों से कोई विशेष टक्कर नहीं मिली। उनकी अनुशासित फ़ौज और उच्च कोटि के हथियारों के आगे कोई नहीं ठहर सका, परन्तु दक्षिण भारत में यह स्थिति नहीं थी। यहाँ हैदर अली और टीपू सुल्तान ने क़दम-क़दम पर अंग्रेज़ों की आक्रामक कार्रवाइयों का मुँह तोड़ जवाब दिया। उन्होंने बेमिसाल राजनीतिक कौशल एवं दूरदर्शिता का सबूत पेश किया और जंग के मैदान में भी कई बार अंग्रेज़ों को पराजित किया। उन्होंने जो रियासत क़ायम की उसे इतिहास में 'सल्तनते-ख़ुदादाद' के नाम से जाना जाता है।

हैदर अली (1761 ई॰–1782 ई॰)

हैदर अली ने मैसूर के हिन्दू राजा की फ़ौज में एक मामूली सिपाही के रूप में अपनी अमली ज़िन्दगी की शुरुआत की, परन्तु वह अपनी बहादुरी और क़ाबिलियत के बल पर जल्द ही राजा की फ़ौज का सिपहसालार बन गया। राजा और उसके मंत्री ने हैदर अली की बढ़ती हुई लोकप्रियता एवं सत्ता पर पकड़ को देखकर जब उसे मरवाने का षड्यंत्र रचा, तो हैदर अली ने मैसूर के तख़्त पर कब्ज़ा कर लिया। राजा की हैसियत उसने अब भी बहाल रखी, परन्तु हुकूमत की बागडोर पूरी तरह अपने हाथ में ले ली। उसकी हुकूमत का आग़ाज़ 1761 ई॰ में हुआ।

हैदर अली को अपने बीस वर्षीय शासनकाल में मराठों, दक्कन के निज़ाम और अंग्रेज़ों, तीनों मोर्चों पर मुक़ाबला करना पड़ा। यद्यपि इन लड़ाइयों में कई बार उसे असफलता का मुँह भी देखना पड़ा, परन्तु इन सबके बाद भी उसने मालाबार के तट से कृष्णा-नदी तक एक बहुत बड़ी रियासत क़ायम कर ली, जिसमें दक्कन के निज़ाम, मराठों और अंग्रेज़ों से छीने हुए इलाक़े भी शामिल थे। उसने मैसूर की पहली जंग (1767 ई॰–

1769 ई॰) और दूसरी जंग (1780 ई॰–1784 ई॰) में अंग्रेज़ों को बार-बार पराजित किया। दूसरी जंग में हैदर अली ने दक्कन के निज़ाम और मराठों को साथ मिलाकर अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ संयुक्त मोर्चा बनाया था। अगर मराठे और निज़ाम उसके साथ ग़द्दारी न करते और ऐन वक़्त पर उसका साथ न छोड़ते तो कम-से-कम दक्षिण भारत से हैदर अली अंग्रेज़ी सत्ता को समाप्त कर देता। हैदर अली की इन सफलताओं का सबसे बड़ा कारण यह था कि उसने फ्रांसीसियों के सहयोग से अपनी फ़ौज को आधुनिक शैली के अनुसार संगठित किया और उन्हें आधुनिक हथियारों से लैस किया।

टीपू सुल्तान (1782 ई॰–1799 ई॰)

अभी मैसूर की दूसरी जंग जारी थी कि हैदर अली का अचानक इन्तिक़ाल हो गया। उसका लड़का फ़त्ह अली टीपू सुल्तान उत्तराधिकारी बना। टीपू सुल्तान जब तख़्त पर बैठा तो उसकी उम्र 32 साल थी। वह एक अनुभवी सिपहसालार था और बाप के ज़माने में मैसूर की सभी लड़ाइयों में सम्मिलित रह चुका था। हैदर अली के इन्तिक़ाल के बाद उसने अकेले जंग जारी रखी, क्योंकि मराठों और दक्कन के निज़ाम अंग्रेज़ों की साज़िश का शिकार होकर संयुक्त मोर्चे से अलग हो चुके थे। टीपू सुल्तान ने अंग्रेज़ों को कई बार पराजित किया और वे 1784 ई॰ में सुल्तान से सुलह करने पर मजबूर हो गए।

टीपू सुल्तान एक अच्छा सिपहसालार होने के साथ एक सुधारक भी था। हैदर अली अनपढ़ था, परन्तु टीपू सुल्तान एक पढ़ा लिखा और दीनदार (धर्मपरायण) व्यक्ति था। नमाज़ नियमित रूप से पढ़ता और क़ुरआन की तिलावत (क़ुरआन पाठ) उसका प्रिय शौक़ था। टीपू सुल्तान ने अपनी रियासत की जनता के नैतिक एवं सामाजिक अवगुण को दूर करने के लिए कई सुधार-कार्य किए। शराब और नशीली वस्तुओं पर प्रतिबंध लगा दिया। शादी-विवाह के अवसर पर अनावश्यक व्यय एवं बेकार रस्मों पर रोक लगा दी और पीरी-मुरीदी पर भी पाबंदियाँ लगाईं।

टीपू सुल्तान ने रियासत से ज़मीनदारियाँ भी ख़त्म कर दी थीं और ज़मीन

किसानों को दे दी थी जिससे किसानों को बहुत फ़ायदा पहुँचा। टीपू सुल्तान ने कोशिश की कि हर वस्तु रियासत में ही तैयार हो और बाहर से मँगवाना न पड़े। इस मक़सद के लिए उसने कई कारख़ाने स्थापित किए। जंगी हथियार भी रियासत में ही तैयार होते थे। उसके काल में रियासत में पहली बार बैंक की स्थापना की गई।

इन सुधार-कार्यों से यद्यपि स्वार्थी तत्वों को क्षति पहुँची और बहुत-से लोग सुल्तान के विरोधी हो गए, परन्तु जनता की ख़ुशहाली में वृद्धि हुई और विकास की गति तेज़ हुई। मैसूर की ख़ुशहाली की पुष्टि उस ज़माने के एक अंग्रेज़ ने इन शब्दों में की है–

> "मैसूर हिन्दुस्तान में सबसे ज़्यादा हरा-भरा इलाक़ा है। यहाँ टीपू सुल्तान का शासन है। मैसूर के निवासी भारत में सबसे ज़्यादा ख़ुशहाल हैं। इसके विपरीत अंग्रेज़ अधिकृत इलाक़े इस धरती पर बदरंग धब्बों की हैसियत रखते हैं। जहाँ जनता क़ानूनी बेड़ियों में जकड़ी हुई परेशानहाल है।"[1]

टीपू सुल्तान के शासन के अन्तर्गत मैसूर की यह तरक़्क़ी (उन्नति) अंग्रेज़ों को बहुत खटकती थी। वे टीपू को दक्षिण भारत में अपनी सत्ता के लिए एक बड़ी रुकावट एवं चुनौती समझते थे। अंग्रेज़ों और मैसूर के बीच समझौते को अभी मात्र छह साल हुए थे कि अंग्रेज़ों ने समझौते की शर्तों की अनदेखी करके निज़ाम हैदराबाद और मराठों के साथ मिलकर मैसूर पर हमला कर दिया और इस प्रकार मैसूर की तीसरी जंग (1790 ई॰–1792 ई॰) शुरू हुई। इस संयुक्त शक्ति का मुक़ाबला टीपू सुल्तान के वश में नहीं था, इसलिए दो साल तक मुक़ाबला करने के बाद उसे सुलह करने और अपनी आधी रियासत से हाथ धोने पर मजबूर होना पड़ा।

जंग में यह नाकामी टीपू सुल्तान के लिए बड़ी कष्टदायक साबित हुई। उसने हर प्रकार का ऐशो-आराम त्याग दिया और अपना पूरा ध्यान अंग्रेज़ों के ख़तरे से मुल्क को मुक्ति दिलाने के उपायों पर सोच-विचार करने में देने

---

1. बारी : कम्पनी की हुकूमत पृष्ठ-227 (प्रकाशन नया इदारा लाहौर-1969)

लगा। दक्कन के निज़ाम और मराठों की ओर से वह निराश हो चुका था। इसलिए उसने अफ़ग़ानिस्तान, ईरान एवं तुर्की तक अपने राजदूत भेजे और अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ संयुक्त इस्लामी मोर्चा बनाना चाहा, परन्तु अफ़ग़ानिस्तान के हुक्मरान ज़मान शाह के अतिरिक्त और कोई टीपू सुल्तान का सहयोग करने को तैयार नहीं हुआ। शाह अफ़ग़ानिस्तान भी पेशावर से आगे न बढ़ सका। अंग्रेज़ों ने ईरान को भड़काकर अफ़ग़ानिस्तान पर हमला करा दिया था, इसलिए ज़मान शाह को वापस काबुल जाना पड़ा।

अंग्रेज़ों ने टीपू सुल्तान के सामने अमन क़ायम रखने के लिए ऐसी शर्तें रखीं, जिन्हें कोई स्वाभिमानी हुक्मरान स्वीकार नहीं कर सकता था। अवध के नवाब और दक्कन के निज़ाम उन शर्तों को स्वीकार करके अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार कर चुके थे, परन्तु टीपू सुल्तान ने, जिसका कथन था कि 'शेर की एक दिन की ज़िन्दगी गीदड़ की सौ साल की ज़िन्दगी से अच्छी है', इन शर्तों को रद्द कर दिया। 1799 ई॰ में अंग्रेज़ों ने मैसूर की चौथी जंग छेड़ दी। इस बार अंग्रेज़ी फ़ौज की कमान लार्ड वेलेज़ली कर रहा था, जो बाद में 1815 ई॰ में वाटरलू की प्रसिद्ध जंग में नेपोलियन को पराजित करने के बाद जनरल विलिंगटन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस जंग में प्रधानमंत्री मीर सादिक़, ग़ुलाम अली और अन्य ओहदेदारों की ग़द्दारी के कारण, जिन्हें अंग्रेज़ों ने मिला लिया था, सुल्तान को पराजय का मुँह देखना पड़ा और वह राजधानी श्रृंगापट्टनम के क़िले के द्वार पर बहादुरी से लड़ता हुआ 4 मई 1799 ई॰ को शहीद हो गया। सिराजुद्दौला, वाजिद अली शाह और बहादुर शाह ज़फ़र की अपेक्षा उसकी मौत कितनी शानदार थी! अंग्रेज़ जनरल हैरिस को जब सुल्तान की मौत की सूचना मिली तो वह चिल्ला पड़ा, "अब हिन्दुस्तान हमारा है।" अंग्रेज़ों ने गिरजाघरों के घंटे बजाकर और धार्मिक रस्म अदा करके सुल्तान की मौत पर अपनी प्रसन्नता प्रकट की और ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने कर्मचारियों को इनाम एवं सम्मान दिया। यह इस बात का एलान था कि अब हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सत्ता मज़बूत हो गई है और उसे अब कोई ख़तरा नहीं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद इस्लामी हिन्द

निज़ामुल-मुल्क आसिफ़ जाह, हैदर अली और टीपू सुल्तान जैसी अद्भुत क्षमता रखनेवाला कोई तीसरा हुक्मरान नज़र नहीं आता। विशेषकर हैदर अली और टीपू सुल्तान को इस्लामी इतिहास में इसलिए उच्च स्थान प्राप्त है कि उन्होंने हमारे पतन-काल में अंग्रेज़ों से अत्यन्त बहादुरी एवं बुद्धिमानी से लोहा लिया। ये दोनों बाप-बेटे पतन-काल के उन प्राथमिक हुक्मरानों में से हैं जिन्होंने आधुनिक आविष्कारों से फ़ायदा उठाया। वक़्त की माँगों को समझा और अपनी रियासत में फ़ौजी, प्रशासनिक एवं सामाजिक सुधारों की ज़रूरत महसूस की। उन्होंने फ़्रांसीसियों की मदद से अपनी फ़ौजों को आधुनिक शैली में सुसंगठित किया जिसके कारण वह अंग्रेज़ों का 35 साल तक लगातार मुक़ाबला कर सके और उन्हें कई बार पराजित किया। यह कारनामा अट्ठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में कोई दूसरा हुक्मरान नहीं कर सका। हक़ीक़त यह है कि उपमहाद्वीप में अंग्रेज़ों का जितना सफलतापूर्वक मुक़ाबला हैदर अली और टीपू सुल्तान ने किया किसी और मुस्लिम एवं ग़ैर-मुस्लिम हुक्मरान ने नहीं किया। टीपू सुल्तान तुर्की के सलीम तृतीय (1789 ई॰–1800 ई॰) का समकालीन था।

5. मम-ल-कते-आसिफ़ीया (1724 ई॰–1956 ई॰)

दिल्ली की तैमूरी सल्तनत के पतन के बाद मुसलमानों की जो आज़ाद रियासतें उपमहाद्वीप में क़ायम हुईं उनमें सबसे बड़ी और स्थिर रियासत हैदराबाद दक्कन की मुम्ल-कते-आसिफ़ीया थी। इस मम्लकत के संस्थापक निज़ामुल-मुल्क असिफ़ जाह थे। और इसी नाम के आधार पर इस मम्लकत को मम्लकते-आसिफ़ीया या आसिफ़ जाही मम्लकत कहा जाता है। इस मम्लकत के हुक्मरानों ने बादशाहत का कभी दावा नहीं किया। वे ख़ुद को निज़ाम कहलाते थे। वे जब तक आज़ाद रहे तैमूरी बादशाह की अधीनता स्वीकार करते रहे और उसी के नाम का ख़ुतबा एवं सिक्का जारी रखा, और गद्दी पर आसीन होने के समय उनसे फ़रमान (आदेश) प्राप्त करते थे। इस दृष्टि से दक्कन की मम्लकते-आसिफ़ीया वास्तव में तैमूरी सल्तनत ही थी जो दिल्ली के पनत के बाद दक्कन में स्थानान्तरित हो गई थी। इस काल में

तैमूरी शासन-व्यवस्था और तैमूरी सल्तनत के अन्तर्गत पोषित सभ्यता-संस्कृति दक्कन में प्रचलित हुई।

निज़ामुल-मुल्क (1724 ई॰–1748 ई॰)

निज़ामुल-मुल्क का अस्ल नाम मीर क़मरुद्दीन था और यह नाम ख़ुद शहंशाह औरंगज़ेब आलमगीर ने रखा था। निज़ामुल-मुल्क के पूर्वज का सम्बन्ध तुर्किस्तान से था। उन्होंने आलमगीर की देख-रेख में प्रशिक्षण पाया था और अपने स्वभाव, आचरण, आदत एवं योग्यताओं में उससे बहुत मिलते-जुलते थे। निज़ामुल-मुल्क में वे सभी गुण एवं योग्यताएँ थीं जो तैमूरी सल्तनत के पतन को रोक सकती थीं। उन्हें मौक़ा मिलता तो वे उपमहाद्वीप में वही भूमिका निभा सकते थे जो सल्तनते-उस्मानिया में सुलैमान महान के बाद प्रधानमंत्री मुहम्मद सौक़ूली, मुहम्मद कोपरीली और अहमद कोपरीली ने निभाई थी। उन्हें जब मुहम्मद शाह के काल में 1722 ई॰ में हिन्दुस्तान का प्रधानमंत्री बनाया गया तो उन्होंने सल्तनत के पतन को रोकने के लिए आवश्यक सुधार-कार्य करने चाहे, परन्तु जब बादशाह और उसके अक्षम-अयोग्य दरबारी अवरोध पैदा करने लगे तो निज़ामुल-मुल्क निराश होकर 1724 ई॰ में दक्कन चले गए, जहाँ के छह सूबों का उन्हें सूबेदार बना दिया गया था। यहाँ उन्होंने एक आज़ाद हुक्मरान की हैसियत से हुकूमत की, परन्तु वे तैमूरी बादशाह का इतना सम्मान करते थे कि उसके आदेश पर दिल्ली पहुँच जाते थे। अतः नादिर शाह के हमले के समय उन्होंने दिल्ली जाकर तैमूरी बादशाह के अधिकारों की रक्षा के लिए हर सम्भव प्रयास किया।

निज़ामुल-मुल्क ने जो विस्तृत रियासत क़ायम की वह नर्मदा-नदी से रासकुमारी तक फैली हुई थी। और महाराष्ट्र के पश्चिमी एवं उत्तरी क्षेत्रों और वर्तमान केरल के अतिरिक्त यह सारा इलाक़ा उनके क़ब्ज़े में था। हैदराबाद, औरंगाबाद, अहमद नगर, बीजापुर, त्रिचुरापल्ली, तंजौर और मदुरै आसिफ़ जाही मम्लकत के मशहूर शहर थे; जिसका कुल क्षेत्रफल तीन लाख वर्ग मील से कम न था। निज़ामुल-मुल्क ने तैमूरी सल्तनत के बहुत बड़े भूभाग को मराठों के आक्रमणों से सुरक्षित कर दिया था और एक ऐसे समय

में जब कि पूरे उपमहाद्वीप में उथल-पुथल मची हुई थी। उन्होंने दक्कन में अमन-शान्ति का वातावरण बनाए रखा।

निज़ामुल-मुल्क एक ईमानदार, दीनदार (धर्मपरायण) और चरित्रवान हुक्मरान थे। उनकी प्रशासनिक क्षमता एवं दूरदर्शिता को इतिहासकारों ने खुलकर स्वीकार किया है। दक्कन में निज़ामाबाद का शहर उनका ही आबाद किया हुआ है। उनकी बौद्धिक एवं साहित्यिक सरपरस्ती के कारण राजधानी हैदराबाद ज्ञान एवं साहित्य का केन्द्र बन गया। उपमहाद्वीप के इस्लामी इतिहास में औरंगज़ेब के बाद हम जिन तीन हुक्मरानों को महान कह सकते हैं, उनमें एक निज़ामुल-मुल्क हैं और शेष दो हैदर अली और टीपू सुल्तान।

निज़ामुल-मुल्क आसिफ़ जाह प्रथम की मृत्यु के बाद उनके लड़कों नासिरजंग एवं मुज़फ़्फ़रजंग की आपसी ख़ानाजंगी से मम्लकते-आसिफ़ीया को बड़ा नुक़्सान पहुँचा। उन्होंने सत्ता पाने के लिए अंग्रेज़ों एवं फ़्रांसीसियों की मदद ली और इस प्रकार उन्होंने पहली बार यूरोपीय क़ौमों को उपमहाद्वीप की राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर दिया। फलस्वरूप अंग्रेज़ी सत्ता के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ। इस ख़ानाजंगी का दूसरा नुक़्सान यह हुआ कि उत्तरी सरकार, कर्नाटक और दक्षिण के कई इलाक़े जिनमें मैसूर भी शामिल है, निज़ाम की सत्ता से बाहर निकल गए। रियासत के पूर्वी और उत्तरी भागों पर मराठों का क़ब्ज़ा हो गया। इस प्रकार निज़ामुल-मुल्क की मृत्यु के बाद पन्द्रह वर्षों के अन्दर ही रियासत की सीमाएँ सिकुड़कर आधी रह गईं।

बाद के हुक्मरानों में निज़ाम अली ख़ाँ (1762 ई॰—1803 ई॰) का चालीस वर्षीय शासनकाल इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि उसने शेष बचे रियासत को स्थिरता प्रदान की, परन्तु हैदर अली और टीपू सुल्तान से निज़ाम अली ख़ाँ की लड़ाइयाँ उपमहाद्वीप में इस्लामी सत्ता के लिए हानिकारक साबित हुईं। हैदर अली और टीपू सुल्तान ने निज़ाम अली ख़ाँ के साथ संयुक्त मोर्चा बनाकर अंग्रेज़ से मुक्ति पाने की जो योजना बनाई थी, यदि निज़ाम अली ख़ाँ उसमें सहयोग करता तो शायद आज उपमहाद्वीप का इतिहास भिन्न होता। परन्तु टीपू सुल्तान की योजना को अस्वीकार करके

निज़ाम अली ख़ाँ अंग्रेज़ों के झाँसे में आ गया और 1798 ई॰ में अंग्रेज़ के फ़ौजी सहयोग पद्धति (Subsidiary System) को स्वीकार करके अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार कर ली और इस तरह हैदराबाद की आसिफ़ जाही मम्लकत 74 साल की आज़ादी के बाद अंग्रेज़ों के अधीन एक प्रान्त बनकर रह गई। अंग्रेज़ की यह वही पद्धति थी जिसे स्वीकार करने से टीपू सुल्तान ने मना कर दिया था जिसके परिणामस्वरूप उसे अंग्रेज़ों के हमले में वीरतापूर्वक लड़ते हुए अपनी जान गँवानी पड़ी।

निज़ाम अली ख़ाँ की अवसरवादी पॉलिसी ने उसकी जान भी बचा दी और रियासत भी सुरक्षित रही। 1799 ई॰ में टीपू सुल्तान की शहादत के साथ अंग्रेज़ों का सबसे शक्तिशाली शत्रु ख़त्म हो गया, और अब निज़ाम अली ख़ान भी उनके आगे बेबस हो गया। उसकी बची-खुची आज़ादी 1800 ई॰ में समाप्त कर दी गई। अब हैदराबाद ब्रिटिश शासन की एक ग़ुलाम रियासत बन गई।

ब्रिटिश भारत की ग़ुलाम रियासत की हैसियत से हैदराबाद का अस्तित्व लगभग डेढ़ सौ साल तक और क़ायम रहा। क्षेत्रफल और आबादी की दृष्टि से हैदराबाद ब्रिटिश भारत की सबसे बड़ी रियासत थी। अगस्त 1947 ई॰ में जब उपमहाद्वीप से ब्रिटेन का आधिपत्य समाप्त हुआ तो रियासत के अन्तिम नवाब मीर उसमान अली ख़ाँ ने सन्धि के प्रावधानों के अनुसार हैदराबाद को एक आज़ाद रियासत घोषित कर दिया, परन्तु हिन्दुस्तान की हुकूमत ने उसकी आज़ाद हैसियत को स्वीकार नहीं किया और सितम्बर 1948 ई॰ में फ़ौजी कार्रवाई करके हैदराबाद को हिन्दुस्तान में मिला लिया। उसमान अली ख़ाँ को 'देशप्रमुख' के नाम से कुछ वर्षों तक रियासत का मुखिया रहने दिया गया। इसके बाद रियासत को भाषाई आधार पर तीन भागों में बाँट दिया गया। इन भागों को आंध्रा प्रदेश, महाराष्ट्र एवं मैसूर के नज़दीकी प्रान्तों से सम्बद्ध कर दिया गया। इस प्रकार हैदराबाद की उस ऐतिहासिक रियासत का, जो तैमूरी (मुग़ल) परम्परा की वाहक थी, 232 साल के बाद ख़ातिमा हो गया। मीर उसमान अली ख़ाँ का 1956 ई॰ में इन्तिक़ाल हो गया।

ज्ञान एवं साहित्य को प्रोत्साहन

हैदराबाद चूँकि एक धनी रियासत थी और उसके हुक्मरान इल्म-दोस्त (ज्ञान-प्रिय) थे इसलिए तैमूरी (मुग़ल) सल्तनत के पतन के बाद उपमहाद्वीप में ज्ञान एवं साहित्य की सबसे ज़्यादा सरपरस्ती हैदराबाद में की गई। नादिर शाह के हमले में दिल्ली की तबाही के बाद हैदराबाद वह अकेला शहर था जहाँ सबसे ज़्यादा अमन-शान्ति का वातावरण था और जहाँ के हुक्मरान ज्ञान एवं साहित्य के सबसे बड़े सरपरस्त थे। अतः उपमहाद्वीप के हर हिस्से से विद्वान एवं विशेषज्ञ मुसलमान खिंच-खिंचकर हैदराबाद पहुँच गए।

अट्ठारहवीं सदी के प्रमुख लेखकों में, जिनका हैदराबाद से सम्बन्ध रहा, शाहनवाज़ ख़ाँ (1110 हि॰/1700 ई॰–1171 हि॰/1758 ई॰) और गुलाम अली आज़ाद (1704 ई॰–1785 ई॰) के नाम सबसे आगे हैं। शाहनवाज़ ख़ाँ रियासत के एक प्रमुख ओहदेदार थे और कई किताबों के लेखक थे, जिनमें सबसे अहम 'मासिरुल-उमरा' है। यह दिल्ली की मुग़ल-सल्तनत के दरबारियों, राजपदाधिकारियों पर आधारित है। इसमें सभी अमीरों (राजपदाधिकारियों) के हालात लिखे हैं। गुलाम अली आज़ाद भी अपने समय के बहुत बड़े जीवनी लेखक थे। वे सरुआज़ाद, मासिरुल-किराम, ख़ज़ाना-ए-आमिरह और सब्हतुल-मरजान नामक पुस्तकों के लेखक थे। ये किताबें आज भी बड़े सम्मान की नज़र से देखी जाती हैं। इनमें साहित्यकारों, शायरों और औलिया उल्लाह के हालात हैं। इस दौर के दक्षिणी भारत के उलमा (विद्वानों) में मौलाना बहरुल-उलूम (मृत्यु-1235 हि॰/1819 ई॰) का नाम प्रमुख है। उनका सम्बन्ध कर्नाटक से था जो प्रारम्भ में रियासत हैदराबाद का एक प्रान्त था। वहाँ के नवाब मुहम्मद अली ख़ाँ उनके सबसे बड़े सरपरस्त थे। 'बहरुल-उलूम' की उपाधि भी नवाब मुहम्मद अली ने दी थी। वे उस ज़माने में दीनी उलूम (इस्लामी विषय) के सबसे बड़े आलिम (विद्वान) समझे जाते थे।

बाद के दौर में जब हैदराबाद पर ब्रिटिश आधिपत्य हो गया, जिन उलमा (विद्वानों) और साहित्यकारों ने हैदराबाद से जुड़कर बौद्धिक रचनात्मक काम

किए, उनमें शिबली नोमानी, मौलवी चिराग़ अली, सैयद अली बिलग्रामी, डिप्टी नज़ीर अहमद, अब्दुल-हलीम शरर, मौलाना मुनाज़िर अहसन गीलानी और मौलाना ज़फ़र अली ख़ाँ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। शायरों की एक बड़ी संख्या इसके अतिरिक्त है।

रियासत हैदराबाद का एक और बड़ा कारनामा जामिआ-उसमानिया की स्थापना है। 1856 ई॰ में दारुल-उलूम (यूनीवर्सिटी) की हैसियत से इसकी शुरुआत हुई थी। 1918 ई॰ में इसे आधुनिक विश्वविद्यालय की हैसियत दे दी गई। जामिआ-उसमानिया की विशेषता यह है कि यह प्रथम विश्वविद्यालय था जिसने उर्दू को उच्च्य शिक्षा का माध्यम बनाया। मुसलमानों के लिए इस्लामी शिक्षा और हिन्दुओं के लिए नैतिक शिक्षा अनिवार्य थी। जामिआ-उसमानिया के अधीन एक लेखन एवं अनुवाद विभाग स्थापित किया गया था जिसने अरबी, फ़ारिसी, अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी भाषा से हर विषय पर कई सौ किताबों का उर्दू में अनुवाद किया और इस प्रकार न केवल विश्वविद्यालय की पाठ्यक्रम आधारित ज़रूरतों को पूरा किया गया बल्कि उर्दू के बौद्धिक ख़ज़ाने में बहुमूल्य वृद्धि की गई। लेखन एवं अनुवाद के विभाग ने जिन विषयगत एवं कला के आधारित पारिभाषिक शब्दों का उर्दू में अनुवाद किया उनकी तादाद पाँच लाख तक है।

हैदराबाद में 'दाइरतुल-मआरिफ़' के नाम से एक और बौद्धिक संस्था स्थापित थी जिसका काम अरबी की दुर्लभ हस्तलिखित पाण्डुलिपि को जमा करना और उनका संशोधन करके प्रकाशित करना था। इस प्रकार संस्था ने लगभग पाँच सौ किताबें प्रकाशित कीं। उन किताबों के कारण हैदराबाद का नाम पूरी इस्लामी दुनिया में और विशेष रूप से अरब देशों में ज्ञान के पोषक के रूप में फैल गया।

हैदराबाद का आसिफ़ीया पुस्तकालय उपमहाद्वीप के सबसे बड़े पुस्तकालयों में गिना जाता था। विशेष रूप से अरबी, फ़ारिसी किताबों की क़लमी पाण्डुलिपियों की दृष्टि से यह अब भी उपमहाद्वीप का सबसे बड़ा पुस्तकालय है। इसमें हस्तलिखित पाण्डुलिपियों की संख्या पचास हज़ार से ज़्यादा है। इतनी अधिक हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ इस्तम्बूल के सुलैमानिया पुस्तकालय

के अतिरिक्त शायद दुनिया के किसी अन्य पुस्तकालय में मौजूद नहीं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में उपमहाद्वीप में इस्लामी विषयों एवं साहित्य का सबसे बड़ा केन्द्र हैदराबाद था।

हैदराबाद की बौद्धिक सरपरस्ती केवल अपनी रियासत तक सीमित नहीं थी, उपमहाद्वीप के लगभग सभी शैक्षणिक, बौद्धिक, धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं को भी रियासत की ओर से मदद मिलती रहती थी। दारुल-उलूम देवबन्द, अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी, जामिआ मिल्लिया इस्लामिया दिल्ली को नियमित रूप से आर्थिक सहायता मिलती थी। इसके अतिरिक्त अनगिनत विद्वान एवं विशेषज्ञ ऐसे थे जिन्हें रियासत की ओर से वज़ीफ़े मिलते थे। मदद का यह सिलसिला इस्लामी मुल्कों तक फैला हुआ था और उसमें मुस्लिम एवं ग़ैर-मुस्लिम सब सम्मिलित थे।

सल्तनते-आसिफ़ीया (हैदराबाद)

(1137 हि॰/1724 ई॰–1176 हि॰/1956 ई॰)

1. निज़ामुल-मुल्क आसिफ़ जाह प्रथम
   (1137 हि॰/1724 ई॰–1161 हि॰/1748 ई॰)
2. नासिरजंग-बिन-निज़ामुल-मुल्क
   (1161 हि॰/1748 हि॰–1164/1750 ई॰)
3. मुज़फ़्फ़रजंग-बिन-निज़ामुल-मुल्क (1164 हि॰/1750 ई॰)
4. सलाबतजंग-बिन-निज़ामुल-मुल्क
   (1164 हि॰/1750 ई॰–1175 हि॰/1762 ई॰)
5. निज़ाम अली ख़ाँ
   (1175 हि॰/1762 ई॰–1218 हि॰/1803 ई॰)
6. सिकन्दर जाह
   (1218 हि॰/1803 ई॰–1245 हि॰/1829 ई॰)
7. नासिरुद्दौला
   (1245 हि॰/1829 ई॰–1273 हि॰/1857 ई॰)
8. अफ़ज़लुद्दौला
   (1273 हि॰/1857 ई॰–1286 हि॰/1869 ई॰)

9. महबूब अली ख़ाँ-बिन-अफ़ज़लुद्दौला

(1286 हि॰/1869 ई॰—1329 हि॰/1911 ई॰)

10. उसमान अली ख़ाँ-बिन-महबूब अली ख़ाँ

(1329 हि॰/1911 ई॰—1376 हि॰/1956 ई॰)

नवम्बर 1956 ई॰ में रियासत हैदराबाद को तीन भागों में बाँटकर उन्हें महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश और केरल के प्रान्तों में मिला दिया गया।

6. सिंध (1739 ई॰—1843 ई॰)

पलासी की जंग के बाद से उपमहाद्वीप में अंग्रेज़ों का वर्चस्व क्रमशः बढ़ता जा रहा था। 1757 ई॰ में उन्होंने बंगाल एवं बिहार पर कब्ज़ा किया, 1798 ई॰ में हैदराबाद दक्कन पर अधिपत्य जमा लिया, 1799 ई॰ में टीपू सुल्तान की शहादत के बाद सम्पूर्ण दक्षिण भारत उनके क़ब्ज़े में चला गया, 1800 ई॰ में अवध पर आधिपत्य हो गया और 1803 ई॰ में मराठों ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली और दिल्ली पर भी अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा हो गया। अब केवल सिंध और पंजाब उनकी सत्ता से बाहर रह गए थे।

कलहौड़ा और तालपुर

सिंध में 1657 ई॰ से 1783 ई॰ तक स्थानीय कलहौड़ा-ख़ानदान की हुकूमत क़ायम थी। ये हुक्मरान शुरू में दिल्ली-हुकूमत के अधीन थे। परन्तु 1739 ई॰ में नादिर शाह के हमले के बाद उन्होंने पहले ईरान और फिर अब्दाली अफ़ग़ानों की अधीनता स्वीकार कर ली। मियाँ नूर मुहम्मद (1719 ई॰—1756 ई॰) और ग़ुलाम शाह (1756 ई॰—1772 ई॰) इस ख़ानदान के प्रमुख हुक्मरान थे। ग़ुलाम शाह ने 1768 ई॰ में शहर हैदराबाद (सिंध-पाकिस्तान) का निर्माण करके उसे अपनी राजधानी बनाया।

कलहौड़ा-शासनकाल सिंध की खुशहाली का काल है। इस दौर में खेती और उद्योग चरम पर थे और ज्ञान-साहित्य को प्रोत्साहन दिया जाता था। केवल एक शहर ठट्ठा में जो हैदराबाद से पहले सिंध की राजधानी था, साठ हज़ार बुनकर मौजूद थे और मदरसों की तादाद चार सौ थी। कलहौड़ा-दौर सिंधी शायरी का स्वर्णिम दौर समझा जाता है। सिंधी भाषा के सबसे बड़े

शायर शाह अब्दुल-लतीफ़ भट्टाई (1689 ई॰–1752 ई॰) इसी दौर में हुए हैं।

1772 ई॰ से 1783 ई॰ तक सिंध गृह-युद्ध का शिकार रहा। इसके बाद तालपुर-ख़ानदान के बलूचों ने सिंध में तीन हुकूमतें क़ायम कर लीं जिनके मुख्यालय मीरपुरख़ास, हैदराबाद और ख़ैरपुर थे। तालपुरों की ये हुकूमतें 1783 ई॰ से 1843 ई॰ तक क़ायम रहीं। अवध के नवाबों की तरह तालपुर भी शिया थे, परन्तु सबसे सहिष्णुता का व्यवहार करते थे। इस दौर के सबसे बड़े सिंधी शायर सचल सरमस्त (1739 ई॰–1826 ई॰) थे।

1809 ई॰ में अंग्रेज़ों ने सिंध के हुक्मरानों से मैत्री-सन्धि कर ली, परन्तु अंग्रेज़ों ने बार-बार विश्वासघात करके सन्धि की शर्तों को भंग किया और सिंध के हुक्मरानों की कमज़ोरी का अनुचित फ़ायदा उठाना चाहा। 1839 ई॰ में जब अंग्रेज़ों ने अफ़ग़ानिस्तान पर हमला किया तो संधि को तोड़कर सिंध से अपनी फ़ौज अफ़ग़ानिस्तान ले गए। इसके बाद उन्होंने सिंध पर क़ब्ज़ा करने के लिए 1843 ई॰ में सिंध पर हमला कर दिया। नासिर ख़ाँ (हैदराबाद के हुक्मरान) और रुस्तम ख़ाँ (ख़ैरपुर के हुक्मरान) ने हैदराबाद से कुछ मील दूर मयानी नामक स्थान पर 17 फ़रवरी 1843 ई॰ को जंग की, परन्तु पराजित हुए और अंग्रेज़ों के आगे हथियार डाल दिए। मीरपुरख़ास के हुक्मरान शेर मुहम्मद ने भी हैदराबाद से दस मील दूर दूबा (Duba) नामक स्थान पर मुक़ाबला किया, परन्तु पराजित हुआ। अंग्रेज़ों ने अब सिंध पर क़ब्ज़ा कर लिया और रुसतम ख़ाँ के भाई अमीर अली मुराद को ग़द्दारी का पुरस्कार देते हुए ज़िला ख़ैरपुर की हुकूमत दे दी। अब पंजाब, सूबा सरहद और कश्मीर, जहाँ सिखों की हुकूमत थी, को छोड़कर सम्पूर्ण उपमहाद्वीप पर अंग्रेज़ों की हुकूमत क़ायम हो चुकी थी।

(ब्रिटिश सत्ता के बाद से वर्तमान काल तक इस्लामी भारत-पाक के हालात एवं वैचारिक द्वंद के लिए इस पुस्तक का तीसरा भाग देखें।)

सिंध के कलहौड़ा हुक्मरान (1657 ई॰–1783 ई॰)

1. मियाँ नसीर मुहम्मद ख़ाँ (1657 ई॰–1692 ई॰)

2. मियाँ दीन मुहम्मद ख़ाँ	(1692 ई॰—1699 ई॰)
3. मियाँ यार मुहम्मद ख़ाँ	(1701 ई॰—1719 ई॰)
4. मियाँ नूर मुहम्मद ख़ाँ	(1719 ई॰—1753 ई॰)
5. मुहम्मद मुरादयाब ख़ाँ	(1754 ई॰—1757 ई॰)
6. गुलाम शाह ख़ान कलहौड़ा	(1757 ई॰—1772 ई॰)

इसके बाद कलहौड़ा-ख़ानदान में ख़ानाजंगी शुरू हो गई और 1783 ई॰ में तालपुर-ख़ानदान ने कलहौड़ा-ख़ानदान को हुकूमत से बेदख़ल कर दिया।

महत्वपूर्ण घटनाएँ

1714 ई॰	दिल्ली की हुकूमत ने मराठों का चौथ वुसूल करने का अधिकार स्वीकार कर लिया।
1723 ई॰	मालवा पर मराठों का क़ब्ज़ा।
1724 ई॰	गुजरात पर मराठों का क़ब्ज़ा।
1739 ई॰	(16 फ़रवरी) करनाल की जंग। नादिर शाह ने तैमूरी (मुग़ल) फ़ौज को पराजित किया।
1744 ई॰—1748 ई॰	फ़्रांसीसियों एवं अंग्रेज़ों के बीच कर्नाटक की पहली जंग।
1748 ई॰—1754 ई॰	कर्नाटक की दूसरी जंग।
1751 ई॰	उड़ीसा पर मराठों का क़ब्ज़ा।
1756 ई॰—1763 ई॰	कर्नाटक की तीसरी जंग।
1757 ई॰	(22 जून) पलासी की जंग और भारत में अंग्रेज़ी सत्ता का प्रारम्भ।
1758 ई॰	(मई) लाहौर में मराठों का प्रवेश।
1759 ई॰	दिल्ली पर मराठों का क़ब्ज़ा।
1761 ई॰	पानीपत की तीसरी जंग। अहमद शाह अब्दाली ने मराठों को पराजित किया (14 जनवरी)
1765 ई॰	(22 अक्तूबर) बक्सर की जंग।
1767 ई॰—1769 ई॰	मैसूर की पहली जंग।

1779 ई॰–1784 ई॰	मैसूर की दूसरी जंग।
1790 ई॰–1792 ई॰	मैसूर की तीसरी जंग।
1799 ई॰	(फ़रवरी-मई) मैसूर की चौथी जंग। 4 मई को टीपू सुल्तान की शहादत।
1846 ई॰	(16 मार्च) अमृतसर-संधि। अंग्रेज़ों ने कश्मीर जम्मू के डोगरा राजा को बेच दिया।
1857 ई॰	(10 मई) मेरठ से आज़ादी की लड़ाई की शुरुआत। 19 सितम्बर को अंग्रेज़ों का दिल्ली पर कब्ज़ा।
1858 ई॰	(1 सितम्बर) ईस्ट इंडिया कम्पनी ख़त्म कर दी गई और भारत सीधे ब्रिटिश राजशाही के अधीन आ गया।

अध्याय-29

शाह वलीउल्लाह और तहरीके-जिहाद

शाह वलीउल्लाह (रह०)

उपमहाद्वीप भारत-पाक में जब मुसलमानों का पतन प्रारम्भ हुआ तो बहुत-से लोगों ने गम्भीरतापूर्वक पतन के कारणों पर ग़ौर करना शुरू किया। उन लोगों में मुग़ल-काल के मशहूर आलिम एवं लेखक शाह वलीउल्लाह (1114 हि०/1703 ई०–1176 हि०/1763 ई०) का नाम सबसे प्रमुख है। मुजद्दिद अल्फ़सानी और उनके साथियों ने सुधार का जो काम शुरू किया था, शाह वलीउल्लाह ने उस काम की रफ़्तार और तेज़ कर दी। उन दोनों में केवल यह अन्तर था कि मुजद्दिद अल्फ़सानी चूँकि मुसलमानों के उत्थान काल से सम्बन्ध रखते थे, इसलिए उनका ध्यान अधिकतर उन ख़राबियों की ओर रहा जो मुसलमानों में ग़ैर-मुस्लिमों के सम्पर्क के कारण फैली थीं, परन्तु शाह वलीउल्लाह चूँकि एक ऐसे समय से सम्बन्ध रखते थे जब मुसलमानों का पतन शुरू हो गया था, अतः उन्होंने मुसलमानों के पतन के कारकों पर भी सोच-विचार किया और उसके निदान के उपाय भी बताए।

शाह वलीउल्लाह, मुजद्दिद अल्फ़सानी के इन्तिक़ाल के लगभग अस्सी साल बाद दिल्ली में पैदा हुए। वे अभी चार साल के थे कि शहंशाह औरंगज़ेब का इन्तिक़ाल हो गया। उसके कुछ साल बाद मुग़लों की विशाल सल्तनत टुकड़े-टुकड़े होना शुरू हो गई। सारे मुल्क में अशान्ति फैल गई और मराठे मुल्क के बहुत बड़े भूभाग पर क़ाबिज़ होने के बाद दिल्ली पर क़ब्ज़ा जमाने के ख़वाब देखने लगे।

मुसलमानों की न केवल राजनीतिक स्थिति ख़राब थी, बल्कि नैतिक दृष्टि से भी वे पतनोन्मुख थे। आराम-तलबी, विलासिता, धनलोलुपता, स्वार्थ, बेईमानी और इसी प्रकार की अन्य कुरीतियाँ उनमें व्याप्त हो गई थीं। शाह वलीउल्लाह ने अपने लेखन एवं सुधार के कार्य इन्हीं विषम

परिस्थितियों में शुरू किए। उनका प्रयास था कि एक ओर मुसलमानों में एकता स्थापित हो और वे पुनः एक सुदृढ़ सल्तनत स्थापित करें और दूसरी ओर वे अपनी नैतिक बुराइयों को दूर करके एवं ग़ैर-इस्लामी शैली तथा रस्मो-रिवाज को छोड़कर, मुसलमानों जैसी जीवन-शैली अपना लें।

उन्होंने मुसलमानों को राजनीतिक रूप से शक्तिशाली बनाने के लिए बादशाहों और उच्च पदस्थ हाकिमों से पत्र-व्यवहार भी किया। अतः अहमद शाह अब्दाली ने अपना मशहूर हमला जिसमें उसने पानीपत की जंग में मराठों को पराजित किया था, शाह वलीउल्लाह का एक पत्र प्राप्त करने के बाद ही किया था।

शाह वलीउल्लाह ने समाज-सुधार का काम भी किया। मुसलमानों में हिन्दुओं के प्रभाव के कारण विधवा औरतों की शादी बुरी समझी जाने लगी थी। शाह वलीउल्लाह ने इस कुरीति का विरोध किया। इसी प्रकार उन्होंने शादी-ब्याह के अवसर पर लड़कियों के महर बड़ी-बड़ी राशियों में निर्धारित करने तथा खुशी एवं ग़म के अवसर पर लोगों को फ़ुज़ूलख़र्ची करने से रोका।

उन्होंने मुसलमानों के विभिन्न गुटों (पंथों) के मतभेद समाप्त करने की कोशिश की और इसपर बल दिया कि मतभेद उत्पन्न होने की स्थिति में अतिवादी दृष्टिकोण अपनाने के स्थान पर संतुलित मार्ग अपनाया जाए एवं सहिष्णुता बरती जाए। उन्होंने तसव्वुफ़ (सूफ़ीवाद) के क्षेत्र में भी सुधार-कार्य किए और पीरी-मुरीदी के तरीक़े को पाखंड से मुक्त किया।

शाह वलीउल्लाह का एक बड़ा कारनामा क़ुरआन का फ़ारिसी अनुवाद है। भारत-पाक में उस काल में मुसलमानों की बौद्धिक भाषा फ़ारिसी थी। क़ुरआन चूँकि अरबी में है, अतः बहुत कम लोग उसे समझ सकते थे। शाह वलीउल्लाह ने क़ुरआन का फ़ारिसी अनुवाद करके एक बड़ी बाधा दूर कर दी। इस प्रकार ज़्यादा-से-ज़्यादा लोगों तक क़ुरआन का संदेश पहुँचा और लोग इस्लाम की शिक्षाओं से अवगत होने लगे।

शाह वलीउल्लाह क़ुरआन के अनुवाद के अतिरिक्त कई अन्य किताबों

के भी लेखक हैं। ये किताबें तफ़्सीर (क़ुरआन की टीका), हदीस, फ़िक़्ह (इस्लामी विधान), इतिहास एवं तसव्वुफ़ (सूफ़ीवाद) पर हैं। इन उच्च स्तरीय किताबों के कारण वे इमाम ग़ज़ाली, इब्ने-हज़्म और इब्ने-तैमिया की तरह इस्लामी इतिहास में महान विद्वानों एवं लेखकों में गिने जाते हैं।

उनकी सबसे मशहूर किताब 'हुज्जतुल्लाहिल-बालिग़ा' है। इमाम ग़ज़ाली की 'इह्याउल-उलूम' की तरह यह किताब भी दुनिया की उन कुछ किताबों में से है जो हमेशा सराही जाती रहेंगी। इस किताब में शाह वलीउल्लाह ने इस्लामी मान्यताओं एवं इस्लामी शिक्षाओं-आदर्शों की चर्चा की है और प्रमाणों-दलीलों द्वारा इस्लामी आदेशों एवं मान्यताओं की सत्यता साबित की है। मूल पुस्तक अरबी भाषा में है, परन्तु अब इसका उर्दू अनूवाद भी उपलब्ध है।

शाह वलीउल्लाह के उत्तराधिकारी

शाह वलीउल्लाह अपने योगदान के कारण ग़ज़ाली, इब्ने-तैमिया एवं मुजद्दिद अल्फ़सानी की तरह अपनी सदी के मुजद्दिद (इस्लाम के पुनरुद्धारक) समझे जाते हैं। वास्तविकता यह है कि हमारे मुल्क में मुसलमानों के पतन के बाद जो जागृति पैदा हुई और इस समय जो इस्लामी तेहरीकें चल रही हैं, इनके संस्थापक शाह वलीउल्लाह ही हैं। शाह वलीउल्लाह एक ओर जहाँ ख़ुद एक महान विद्वान, सुधारक और मार्गदर्शक थे वहीं वे इस दृष्टि से भी बड़े सौभाग्यशाली थे कि उनके वंश में ऐसे-ऐसे विद्वान-आलिम और सुधारक पैदा हुए जिन्होंने भारत-पाक के मुसलमानों की ज़िन्दगी में इन्क़िलाब पैदा कर दिया।

इनमें से एक शाह वलीउल्लाह के सबसे बड़े लड़के शाह अब्दुल-अज़ीज़ (1159 हि०/1746 ई०—1239 हि०/1823 ई०) थे। वे अरबी एवं फ़ारिसी के निबन्ध-लेखक थे। उन्होंने साठ वर्षों तक इस्लामी शिक्षाओं एवं हदीसों की शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया। जिन लोगों के योगदान से उपमहाद्वीप में हदीस का इल्म फैला, उनमें एक शाह अब्दुल-अज़ीज़ भी थे। उनके समय में अंग्रेज़ बंगाल एवं भारत के अधिकतर भूभाग पर पूर्णतः क़ाबिज़ हो गए

थे और अंग्रेज़ पादरी मुल्क में ईसाई धर्म का प्रचार करते फिर रहे थे और मुस्लिम विद्वानों से वाद-विवाद करते रहते थे। उन वाद-विवाद की गोष्ठियों में शाह अब्दुल-अज़ीज़ ने उन पादरियों का बड़ी सफलतापूर्वक मुक़ाबला किया। वे पादरियों के प्रश्नों के ऐसे उत्तर दिया करते थे कि उनके मुँह बन्द हो जाते।

शाह वलीउल्लाह के दूसरे लड़के शाह रफ़ीउद्दीन (1163 हि॰/1750 ई॰–1233 हि॰/1818 ई॰) थे। उनका सबसे बड़ा कारनामा यह है कि उन्होंने पहली बार उर्दू भाषा में क़ुरआन अनुवाद किया ताकि ज़्यादा-से-ज़्यादा लोग अल्लाह की किताब से लाभांवित हो सकें।

शाह वलीउल्लाह के तीसरे लड़के शाह अब्दुल-क़ादिर (1167 ई॰–1230 हि॰) हुए हैं। उनका सबसे बड़ा कारनामा क़ुरआन की उर्दू तफ़सीर (टीका) है। यह तफ़सीर 'मौज़ेहुल-क़ुरआन' के नाम से मशहूर है। क़ुरआन में जहाँ-जहाँ कठिन बिन्दु हैं वहाँ उन्होंने सरल उर्दू भाषा में उसकी व्याख्या कर दी है। यह तफ़सीर इतनी लोकप्रिय हुई कि आज तक क़ुरआन के बहुत-से नुस्ख़ों (एडीशनों) में पाद-टिप्पणी के रूप में इन्हें ही प्रकाशित किया जाता है।

शाह वलीउल्लाह की औलाद में शाह इसमाईल शहीद (1193 हि॰/1779 ई॰–1246 हि॰/1831 ई॰) का स्थान भी बहुत उच्च हैं। वे शाह वलीउल्लाह के चौथे बेटे शाह अब्दुल-ग़नी के पुत्र थे। उनकी गिनती अपने समय के महान विद्वानों में होती थी। शाह वलीउल्लाह ने मुसलमानों के अन्दर सुधार एवं क़ुरआन, हदीस की शिक्षा को लोकप्रियता प्रदान करने के लिए जो काम शुरू किया था, उसे सबसे ज़्यादा शाह इसमाईल ने आगे बढ़ाया। वे कई अहम किताबों के लेखक हैं। उनमें 'तक़वियतुल-ईमान' जिसे उन्होंने उर्दू में लिखा था, सबसे ज़्यादा लोकप्रिय हुई। इस संक्षिप्त पुस्तिका में शाह साहब ने बताया है कि मुसलमानों की ज़िन्दगी मूल इस्लामी शिक्षा से कितनी दूर हो गई है और कैसी-कैसी नई बातें एवं आडम्बर जिनका इस्लाम से कोई लेना-देना नहीं है, मुसलमानों की ज़िन्दगी में प्रवेश कर गए हैं। इस किताब ने उपमहाद्वीप में मुसलमानों की आस्था एवं आचरण के सुधार में वही

भूमिका निभाई जो अरब में मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब की 'किताबुत-तौहीद' तथा नाइजीरिया एवं पश्चिमी अफ़्रीक़ा में उसमान वान फ़ोदयू की 'इह्याउस्सुन्नह' ने निभाई। इनकी अन्य किताबों में, जो फ़ारिसी में लिखी गई थीं, 'मंसबे इमामत' और 'अबक़ात' बहुत अहम हैं। शाह साहब ने अपने एक साथी मौलाना अब्दुल-हई साहब के साथ मिलकर सैयद अहमद शहीद के कथन एवं उपदेश भी फ़ारिसी भाषा में 'सिराते-मुस्तक़ीम' के नाम से संकलित किया। इस किताब में हिन्दुस्तान के मुसलमानों की मज़हबी एवं सामाजिक बुराइयों की ओर संकेत किया गया है तथा उन्हें दूर करने के उपाय बताए गए हैं। शाह इसमाईल बालाकोट की जंग में अपने गुरु सैयद अहमद साहब के साथ शहीद हो गए।

सैयद अहमद शहीद

इसमें कोई संदेह नहीं कि शाह अब्दुल-अज़ीज़, शाह रफ़ीउद्दीन और शाह अब्दुल-क़ादिर अपने समय के बहुत बड़े आलिम (विद्वान) थे और मुसलमानों पर उनके बड़े उपकार हैं, परन्तु उस ज़माने में सबसे ज़्यादा प्रसिद्धि जिन्हें प्राप्त हुई, वे बरेली के एक मुजाहिद सैयद अहमद शहीद (1201 हि॰/1786 ई॰–1246 हि॰/1831 ई॰) हैं। सैयद अहमद शहीद शाह अब्दुल-अज़ीज़ के शिष्य थे। उन्होंने उस विषम परिस्थिति में जबकि भारत-पाक पर ग़ैर-मुस्लिमों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था, शुद्ध इस्लामी हुकूमत क़ायम करने के लिए एक ज़बरदस्त तेहरीक (आन्दोलन) शुरू की।

सैयद अहमद शहीद का यह मानना था कि मुसलमानों के पतन का एक बड़ा कारण यह है कि मुसलमान इस्लामी शिक्षाओं से विशेषकर जिहाद की ओर से ग़ाफ़िल (उदासीन) हो गए हैं। फलस्वरूप उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार की नैतिक ख़राबियाँ आ गई हैं। सैयद अहमद शहीद की बातों में बड़ा आकर्षण था, जो व्यक्ति उनकी संगति में रहता था वह उनका शिष्य बन जाता था। उनकी तेहरीक (आन्दोलन) की कार्यशैली तेहरीके-मुवह्हिदीन के संस्थापक इब्ने-तोमरत से मिलती-जुलती थी। उनके उपदेश से हज़ारों लोगों ने शराब एवं अन्य बुरी आदतें छोड़ दीं। उस ज़माने में शरीफ़ मुस्लिम परिवारों में तलवार बाँधना एक दोष समझा जाता था। सैयद अहमद शहीद

ने जब जिहाद का जज़्बा पैदा किया तो लोग गर्व से तलवार बाँधने लगे। उन्होंने स्वयं भी तलवार चलाने, बन्दुक़ एवं तोप चलाने का अभ्यास किया और जब उनके पास लोगों का एक बड़ा समूह जमा हो गया, तो वे उन्हें लेकर पेशावर पहुँचे ताकि सिखों के ख़िलाफ़ जिहाद शुरू करें। अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ उन्होंने जिहाद इसलिए शुरू नहीं किया कि अभी इतनी शक्ति नहीं हो पाई थी कि अंग्रेज़ो का मुक़ाबला किया जा सकता।

जिहाद का एलान

सिख-धर्म भारत का एक नवीन धर्म है। इसके संस्थापक गुरुनानक (1469 ई॰–1538 ई॰) थे। उन्होंने मूर्तिपूजा एवं बहुदेववाद का विरोध किया एवं एकेश्वरवाद (तौहीद) की बुनियाद पर एक जमाअत बनाई। औरंगज़ेब के ज़माने में सिखों की इस जमाअत (गुट) ने सैन्य संगठन भी स्थापित कर ली और उसका हुकूमत से टकराव शुरू हो गया। पानीपत की तीसरी जंग के बाद सिखों को पंजाब में आधिपत्य प्राप्त हो गया। अहमद शाह अब्दाली को उनके विद्रोह को दबाने के लिए बार-बार पंजाब आना पड़ा, परन्तु जैसे ही वह वापस जाता सिख पुनः मैदान में आ जाते। अहमद शाह अब्दाली के लड़के ज़मान शाह ने एक सिख सरदार रणजीत सिंह (1801 ई॰–1839 ई॰) को पंजाब का वाली (प्रशासक) बना दिया, परन्तु 1801 ई॰ में उसने अपनी आज़ाद रियासत का एलान कर दिया। उसने 1818 ई॰ में मुल्तान पर, 1819 ई॰ में कश्मीर पर और 1823 ई॰ में पेशावर पर क़ब्ज़ा कर लिया।

अब तक मराठों और अंग्रेज़ों ने जिन इलाकों पर क़ब्ज़ा किया था उनमें हिन्दुओं की जनसंख्या अधिक थी, परन्तु सिखों ने जिन इलाक़ों में अपनी हुकूमत क़ायम की उनमें मुसलमानों की जनसंख्या अधिक थी। सिखों ने अपने अधिपत्यवाले मुस्लिम इलाकों में मुसलमानों पर क्रूरतम अत्याचार किए। उनके समय में शाही मस्जिद के प्रांगण में घोड़ों का अस्तबल बना दिया गया था, छतवाले हिस्से में फ़ौजी गोदाम था, नमाज़ एवं अज़ान पर पाबन्दी थी। मुस्लिम औरतों की इज़्ज़त सुरक्षित नहीं थी। सैयद अहमद शहीद को जब सिखों के इन अत्याचारों का पता चला कि पंजाब में अज़ान

एवं नमाज़ की इजाज़त नहीं, मस्जिदों में घोड़े बाँधे जाते हैं और मुसलमानों की बेटियाँ जबरन वेश्यालयों में बैठा दी जाती हैं तो उन्होंने रण्जीत सिंह के ख़िलाफ़ जिहाद का एलान कर दिया। मुजाहिदीन की जमाअत बहावलपुर, हैदराबाद (सिंध), शिकारपुर, बौलान का दर्रा, क़ंधार और काबुल होती हुई ख़ैबर के रास्ते पेशावर पहुँच गई और शहर पर क़ब्ज़ा करके सैयद अहमद शहीद ने 11 जनवरी 1827 ई॰ को इस्लामी हुकूमत की बुनियाद डाल दी। चार साल तक मुजाहिदीन एवं सिखों के बीच संघर्ष चलता रहा और मुसलमानों ने पेशावर, मरदान एवं हज़ारा ज़िलों पर क़ब्ज़ा कर लिया। इस्लामी इलाक़े में शराब, भंग और अफ़ीम की दुकानें बन्द कर दी गईं। व्यभिचारी मर्द-औरतों ने निर्लज्जता के काम बन्द कर दिए। सैयद साहब ने कई स्थानीय ग़ैर-इस्लामी रस्मो-रिवाज बदल दिए, परन्तु इन सुधारों के कारण स्थानीय पठान जिनका समुचित इस्लामी प्रशिक्षण नहीं हो पाया था, कतिपय स्वार्थी सरदारों के बहकावे में आकर सैयद साहब और मुजाहिदीन की जमाअत के ख़िलाफ़ हो गए। अन्ततः सैयद साहब को पेशावर छोड़कर हज़ारा जाना पड़ा, जहाँ 6 मई 1831 ई॰ (24 ज़ी-क़ादह 1246 हि॰) को बालाकोट के निकट सिखों ने अचानक हमला करके सैयद अहमद साहब, शाह इसमाईल साहब और बहुत-से मुजाहिदीन को शहीद कर दिया। इस प्रकार मुजाहिदीन की तेहरीक (आन्दोलन) अपने मक़्सद को प्राप्त करने में नाकाम हो गई।

सैयद अहमद शहीद के साथियों में जिहाद की भावना कितनी मज़बूत थी इसका अंदाज़ा उस पहली जंग से हो सकता है जो उन्होंने सिखों के ख़िलाफ़ लड़ी। यह लड़ाई अकोड़ा की जंग के नाम से मशहूर है। सैयद अहमद शहीद की फ़ौज ने सिखों की फ़ौज से कुछ मील की दूरी पर पड़ाव डाला। मुजाहिदीन ने यह तय किया कि रात में दुश्मन फ़ौज पर छापा मारा जाए। इस छापे के लिए सैयद अहमद शहीद ने मज़बूत एवं वीर आदमियों को चुना। उनमें एक अब्दुल-मजीद आफ़रीदी भी थे। वे कई दिनों से बीमार थे, इसलिए सैयद साहब ने छापामार दस्ते से उनका नाम हटा दिया। जब अब्दुल-मजीद को पता चला तो वे दौड़े हुए आए और सैयद साहब से आग्रह

करने लगे, और अन्ततः छापामार दस्ते में अपना नाम पुनः लिखवाया। जब इस दस्ते ने दुश्मन-फ़ौज पर छापा मारा तो अब्दुल-मजीद ने चौदह आदमियों को अपने हाथ से क़त्ल किया, इसके बाद उनकी तलवार टूट गई। एक दूसरे मुजाहिद ने उन्हें अपनी तलवार दी। उससे भी उन्होंने कई दुश्मनों का सफ़ाया किया और अन्त में स्वयं भी शहीद हो गए।

मुसलमानों ने अब तक आज़ादी की जो कोशिशें की थीं, सैयद अहमद शहीद का आन्दोलन उन सबसे भिन्न था। अब तक जो भी मुक़ाबले हुए थे वह बादशाहों से हुए थे और मुसलमान बादशाहों ने अपने तख़्त एवं ताज की सुरक्षा के लिए जंग की थी, परन्तु सैयद अहमद शहीद का आन्दोलन यद्यपि असफल हो गया, परन्तु उसने आगे के लिए एक मिसाल पेश कर दी कि इस्लामी आन्दोलन किस तरह चलाया जा सकता है।

बालाकोट की घटना के बाद तहरीके-जिहाद

बालाकोट की घटना 1831 ई॰ में घटी। इसके कुछ साल बाद 1843 ई॰ में अंग्रेज़ों ने सिंध पर क़ब्ज़ा कर लिया और रण्जीत सिंह की मृत्यु के बाद 1846 ई॰ में लाहौर-संधि के तेहत पंजाब की सिख-रियासत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और कश्मीर को सिखों से लेकर अमृतसर-संधि (16 मार्च 1846 ई॰) के अनुसार जम्मू के राजा गुलाब सिंह को 75 लाख रुपए में बेच दिया। इस प्रकार कश्मीर की वही हैसियत हो गई जो क़लात, ख़ैरपुर, बहावलपुर और हैदराबाद की रियासतों की थी। अन्तर केवल यह था कि कश्मीर में मुस्लिम बहुसंख्यक थे परन्तु राजा हिन्दू था और हैदराबाद में ग़ैर-मुस्लिमों की संख्या अधिक थी और नवाब मुसलमान था।

सैयद अहमद शहीद के बाद मौलाना विलायत अली (1205 हि॰/1790 ई॰–1269 हि॰/1852 ई॰) और उनके भाई मौलाना इनायत अली (मृत्यु-1274 हि॰/1858 ई॰) ने तेहरीके-जिहाद (जिहाद आन्दोलन) को जारी रखा, परन्तु अब उसका रुख़ सिखों की ओर नहीं था बल्कि अंग्रेज़ों की ओर था, जिन्होंने पंजाब और सरहद में सिखों का स्थान ले लिया था। मुजाहिदीन ने मालाकुण्ड के इलाक़े में अस्थाना नामक स्थान पर अपना मुख्यालय बना

लिया था। जहाँ से वे सरहद के क़बाइली इलाक़े में अंग्रेज़ों की हिंसक कार्रवाइयों का वर्षों तक मुक़ाबला करते रहे। ब्रिटिश भारत में इस तेहरीक (आन्दोलन) से सहानुभूति रखनेवालों के साथ अंग्रेज़ों ने क्या व्यवहार किया इसकी चर्चा पिछले अध्याय में की जा चुकी है।

महत्वपूर्ण घटनाएँ

1193 हि०/1779 ई०	शाह इसमाईल शहीद का जन्म।
1201 हि०/1786 ई०	24 अक्तूबर (प्रथम मुहर्रम) सैयद अहमद शहीद का जन्म।
1222 हि०	सैयद अहमद शहीद ने शाह अब्दुल-अज़ीज़ के हाथ पर बैअत की।
1236 हि०/1820 ई०	रायबरेली से सैयद साहब का हज के लिए प्रस्थान।
1237 हि०/1822 ई०	सैयद अहमद शहीद और शाह इसमाईल शहीद ने हज किया।
1241 हि०/1826 ई०	17 जनवरी (7 जुमादल-ऊला) जिहाद के लिए प्रस्थान।
1242 हि०/1827 ई०	(11 जनवरी) पेशावर में इस्लामी हुकूमत की बुनियाद डाली।
1246 हि०/1831 ई०	6 मई (24 ज़ी-क़ादह) बालाकोट की जंग में सैयद अहमद और शाह इसमाईल शहीद हो गए।

अध्याय-30

नादिर शाह से अहमद शाह क़ाचार तक

(1732 ई॰–1925 ई॰)

1. अफ़शार ख़ानदान (1148 हि॰/1736 ई॰–1210 हि॰/1798 ई॰)

1722 ई॰ में इस्फ़हान पर अफ़ग़ानों का क़ब्ज़ा हो जाने और शाह हुसैन का मीर महमूद के पक्ष में सत्ता से हट जाने के बाद शाह हुसैन का लड़का तहमासप क़ज़वैन चला गया और वहाँ से अफ़ग़ानों के ख़िलाफ़ जंग जारी रखी। ईरान को मुश्किल में देखकर रूस और उसमानी सल्तनत ने फ़ायदा उठाया। रूस ने दाग़िस्तान, बाकू एवं गीलान के प्रान्तों पर क़ब्ज़ा कर लिया। उधर उसमानी तुर्कों ने गिरजिस्तान, तबरीज़ और हमदान पर क़ब्ज़ा कर लिया, परन्तु ठीक इसी समय तहमासप को एक ऐसे व्यक्ति की सेवा प्राप्त हो गई जो असाधारण सैनिक योग्यता का स्वामी था। यह नादिर क़ुली अफ़शार नामक एक तुर्क था।

नादिर शाह (1145 हि॰/1732 ई॰–1160 हि॰/1746 ई॰)

नादिर क़ुली ख़ुरासान में ग़ाज़-दर्रा नामक स्थान पर एक ख़ानाबदोश परिवार में पैदा हुआ। वह जब जवान हुआ तो विभिन्न सरदारों के फ़ौजी दस्ते में रहकर कई जंगों में अपनी बहादुरी एवं साहस का परिचय दिया। अन्त में उसने तहमासप की नौकरी कर ली। नादिर ने तहमासप के साथ मिलकर मशहद और हरात को स्थानीय सरदारों से छीन लिया और जब अफ़ग़ान सरदार मीर अशरफ़ ने ख़ुरासान पर क़ब्ज़ा करने के लिए हमला किया तो नादिर ने दामफ़ान के निकट महनदोस्त नामक स्थान पर 1729 ई॰ में अफ़ग़ानों को बुरी तरह पराजित किया। इसके बाद इस्फ़हान एवं शीराज़ पर क़ब्ज़ा करके अफ़ग़ानों को ईरान से बाहर निकाल दिया।

अफ़ग़ानों के मुक़ाबले में नादिर की इन सफलताओं को देखकर रूस ने

1732 ई॰ में गीलान और माज़ंदरान के प्रान्त ईरान को वापस दे दिए। उसी साल तहमासप ने उसमानी तुर्कों से संधि कर ली जिसके तेहत तुर्कों ने तबरीज़, हमदान और लरिस्तान के प्रान्त ख़ाली कर दिए, परन्तु गिरजिस्तान और आरमीनिया अपने क़ब्ज़े में रखे। नादिर ने इस संधि को निरस्त कर दिया और इस्फ़हान पहुँचकर 1732 ई॰ में तहमासप को पदच्यूत करके उसके बेटे अब्बास तृतीय को गद्दी पर बैठा दिया। अब्बास तृतीय एक कठपुतली बादशाह था, वास्तव में 1732 ई॰ से नादिर ही ईरान का वास्तविक बादशाह था। इसके बाद नादिर उसमानी सल्तनत के इलाक़ों पर हमलावर हुआ। तीन साल तक तुर्कों से लड़ाई होती रही। जुलाई 1733 ई॰ में बग़दाद के निकट एक लड़ाई में नादिर पराजित भी हुआ, परन्तु उसी साल करकूक नामक स्थान पर और 1735 ई॰ में अरीवान के निकट बाग़वन्द नामक स्थान पर नादिर ने तुर्कों को निर्णायक पराजय का मज़ा चखाया और गिरजिस्तान और आरमीनिया पर क़ब्ज़ा कर लिया। बाग़वन्द की महान सफलता के बाद नादिर ने रूस से बाकू और दाग़िस्तान के सूबे ख़ाली करने की माँग की और धमकी दी कि ये सूबे ख़ाली नहीं किए तो वह उसमानी तुर्कों के साथ मिलकर रूस के ख़िलाफ़ कार्रवाई करेगा। रूस ने नादिर की इस धमकी पर बिना जंग किए बाकू एवं दाग़िस्तान ख़ाली कर दिया।

राज्याभिषेक

इन सैन्य सफलताओं ने नादिर की प्रसिद्धि को चार चाँद लगा दिए। ईरानी जनता उसे मुक्तिदाता समझने लगी और ईरान का राजसिंहासन उसे पेश कर दिया। परन्तु नादिर ने ईरानियों से यह माँग की कि वे जब तक ख़ुलफ़ा-ए-राशिदीन और प्यारे नबी (सल्ल॰) के साथियों (सहाबियों) की निन्दा-अपमान करना एवं सुन्नी मुसलमानों पर अत्याचार करना बन्द नहीं करेंगे, वह बादशाहत क़बूल नहीं करेगा। उसका तर्क था कि ईरानियों के इस आचरण के कारण ही ईरान कठिनाइयों में घिरा है। जब अल्लाह एक है तो हमारा मज़हब भी एक होना चाहिए। ईरानियों ने उसकी यह माँग स्वीकार कर ली और नादिर शाह ने अब्बास तृतीय को सत्ताच्युत करके 1148 हि॰/1736 ई॰ में मुग़ान नामक स्थान पर बादशाहत का एलान कर दिया।

17 अक्तूबर 1736 ई॰ को ईरान एवं तुर्की के मध्य एक संधि हो गई, जिसके अनुसार तुर्की ने गिरजिस्तान एवं आरमीनिया पर ईरान का क़ब्ज़ा स्वीकार कर लिया, और दोनों सल्तनत की सीमाएँ वही निर्धारित हुईं जो सुल्तान मुराद चतुर्थ के ज़माने में निर्धारित हुई थीं।

भारत पर आक्रमण

अब नादिर ने अस्सी हज़ार फ़ौज के साथ क़ंधार का रुख़ किया, जो अभी तक अफ़ग़ानों के क़ब्ज़े में था। नौ माह के लम्बे घेराव के बाद 1738 ई॰ के आरम्भ में क़ंधार फ़तूह कर लिया गया। अफ़ग़ानों की एक बड़ी संख्या ने काबुल में जाकर पनाह ली जो दिल्ली की तैमूरी (मुग़ल) सल्तनत के अधीन था। नादिर ने उन शरणार्थियों की वापसी की माँग की, परन्तु जब उसे कोई जवाब नहीं मिला तो नादिर ने काबुल भी फ़तूह कर लिया। इस घटना से तैमूरी सल्तनत का खोखलापन स्पष्ट हो चुका था, अतः नादिर ने अब दिल्ली का रुख़ किया। वह ख़ैबर-दर्रा के रास्ते उपमहाद्वीप की सीमा में प्रवेश कर गया और पेशावर एवं लाहौर को फ़तूह करता हुआ करनाल तक पहुँच गया, जो दिल्ली से मात्र सत्तर मील की दूरी पर उत्तर में स्थित है। तैमूरी सल्तनत की प्रशासनिक अक्षमता एवं आपसी मतभेद का अंदाज़ा इस बात से किया जा सकता है कि नादिर तो काबुल से छह सौ मील की दूरी तय करके करनाल तक पहुँच गया, परन्तु मुहम्मद शाह अपनी पूरी फ़ौज सत्तर मील दूर तक नहीं पहुँचा सका और उसके तोपख़ाने के पहुँचने से पहले ही लड़ाई शुरू हो गई। परिणाम स्पष्ट था। नादिर के तोपख़ाने ने हज़ारों भारतीय फ़ौजियों को भून डाला जबकि ईरानी फ़ौज के कुछ सिपाही ही काम आए। नादिर मार्च 1739 ई॰ में विजेता के रूप में दिल्ली में दाख़िल हुआ। वह दो माह तक दिल्ली में रहा। इस बीच दिल्ली के अपराधी क़िस्म के लोगों ने शहर में घूमने-फिरनेवाले ईरानी फ़ौजियों पर हमले शुरू कर दिए और बड़ी संख्या में उनकी हत्या भी कर दी। नादिर की चेतावनी के बाद भी जब हमले बन्द नहीं हुए तो उसने क़त्ले-आम का हुक्म दे दिया, जिसमें लगभग बीस हज़ार लोग मारे गए। नादिर शाह दिल्ली को छोड़कर और बादशाहत पुनः मुहम्मद शाह को लौटाकर चला तो गया, परन्तु दो सौ साल की जमा की हुई

शाही महल की दौलत और शाहजहाँ का प्रसिद्ध सिंहासन 'तख़्ते-ताऊस' अपने साथ ईरान ले गया। उसकी वापसी सिंध के रास्ते से हुई। सिंध-नदी तक का सारा इलाक़ा उसने ईरानी सल्तनत में मिला लिया। ईरान पहुँचने से पहले नादिर शाह ने 1740 ई॰ में बुख़ारा और ख़ेवा पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। दोनों रियासतों ने ईरान की अधीनता स्वीकार कर ली।

अब ईरान की सल्तनत अपने चरामोत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी और उसकी सीमाएँ बादशाह अब्बास के काल से ज़्यादा विस्तृत हो गई थीं। 1741 ई॰ और 1743 ई॰ के बींच नादिर शाह दाग़िस्तान के पहाड़ों में बग़ावत को कुचलने में व्यस्त रहा, परन्तु इसमें उसे सफलता नहीं मिली। 1158 हि॰/1745 ई॰ में एक लाख चालीस हज़ार उसमानी तुर्कों की फ़ौज को एक बार फिर पराजित किया, जो उसकी अन्तिम महान फ़त्ह थी। कहा जाता है कि दाग़िस्तान के उपद्रव को दबाने में असफलता ने उसे चिड़चिड़ा बना दिया था। अब वह शक्की (शंकालु) और बद-मिज़ाज हो गया था। अपने योग्य बेटे और उत्तराधिकारी रज़ा क़ुली को मात्र इस बेबुनियाद शक के कारण कि वह बाप को सत्ता से हटाना चाहता है, अंधा कर दिया। इसके बाद ईरान में जगह-जगह बग़ावतें फूटने लगीं। इन बग़ावतों को जब नादिर ने ज़्यादा कठोरतापूर्वक कुचलना चाहा तो उसका विरोध ज़ोर पकड़ गया। शिया-लोग विशेष रूप से उसके विरोधी हो गए। अन्ततः 1747 ई॰ में उसके सुरक्षा-दस्ते के सिपाहियों ने ही एक रात उसके ख़ेमे में घुसकर सोने की हालत में उसकी हत्या कर दी।

एशिया का नेपोलियन

नादिर शाह को स्वाभाविक ही एशिया का अन्तिम विजेता कहा जाता है। एक निपुण सिपहसालार के रूप में उसकी सैन्य क्षमता अद्‌भुत थी और इस मामले में इस्लामी दुनिया में उसके बाद इबराहीम पाशा मिस्री एवं मुस्तफ़ा कमाल के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति उसका समकक्ष नहीं हुआ। अपनी सैन्य क्षमता और विजयों के विस्तार की दृष्टि से उसे एशिया का नेपोलियन कहा जाता है।

नादिर शाह ने शिया-सुन्नी एकता के लिए प्रशंसनीय कार्य किए। उसने एक ओर ईरानी शियों को सहाबियों की निन्दा से रोका तो दूसरी ओर सुन्नियों को प्रेरित किया कि जाफ़रिया पंथ (शिया-पंथ) को सुन्नियों के पाँचवें पंथ के रूप में स्वीकार कर लें, परन्तु उसमानी तुर्कों की कठोरता के कारण वह इसमें सफल न हो सका।

नादिर शाह में जितनी सैन्य क्षमता थी उतनी प्रशासनिक क्षमता नहीं थी। दिल्ली के नरसंहार का उसपर ज़्यादा इल्ज़ाम नहीं आता, परन्तु अन्त में वह बहुत ज़ालिम हो गया था। इतिहासकार कहते हैं कि यदि नादिर शाह बुख़ारा और ख़ेवा की फ़तूह के बाद मर जाता तो ईरान का एक नामी हुक्मरान कहलाता।

नादिर शाह के बाद ईरान एक बार फिर बिखराव और अराजकता का शिकार हो गया। नादिर के बाद उसका भतीजा अली क़ुली बादशाह बना जो आदिल शाह के नाम से ख़ुरासान में गद्दी पर बैठा। आदिल शाह मात्र एक साल शासन कर पाया था कि नादिर के अंधे लड़के रज़ा क़ुली का बेटा शाहरुख़ पन्द्रह वर्ष की उम्र में 1748 ई॰ में मशहद में सत्तासीन हो गया, परन्तु एक शिया सरदार ने उसे सत्ताच्युत करके उसे भी अंधा बना दिया। नादिर के एक अफ़ग़ान सरदार अहमद शाह अब्दाली ने अफ़ग़ानिस्तान में अपनी आज़ाद हुकूमत क़ायम कर ली और उसने शाहरुख़ को 1949 ई॰ में दुबारा तख़्त दिलाया और उसको अपने संरक्षण में ले लिया। अफ़शार-ख़ानदान की यह हुकूमत अफ़ग़ानों की अधीनता में 1210 हि॰/1796 ई॰ तक क़ायम रही। ईरान के दूसरे भागों में विभिन्न ईरानी सरदार केन्द्रीय ईरानी सत्ता के लिए संघर्षशील रहे। उनमें अन्ततः करीम ख़ाँ ज़िन्द सफल हुआ और उसने ख़ुरासान को छोड़कर सम्पूर्ण ईरान पर क़ब्ज़ा जमा लिया। ख़ुरासान में शाहरुख़ से उसकी लड़ाइयाँ चलती रहीं।

2. ज़िंद-ख़ानदान (1163 हि॰/1750 ई॰–1208 हि॰/1794 ई॰)

करीम ख़ाँ ज़िंद (1163 हि॰/1750 ई॰–1193 हि॰/1779 ई॰)

करीम ख़ाँ ज़िंद फ़ारिस-प्रान्त में एक छोटे से क़बीले का सरदार था,

परन्तु अपनी मेहनत एवं सदाचरण के कारण तरक़्क़ी करता गया। नादिर शाह के बाद होनेवाले गृह-युद्ध में उसने अपने सबसे बड़े प्रतिद्वंद्वी मुहम्मद हुसैन क़ाचार को पराजित किया जो माज़ंदरान और उससे सम्बद्ध प्रान्तों पर क़ाबिज़ था। इसके बाद अफ़ग़ान सिपहसालार आज़ाद ने, जो आज़रबाइजान पर क़ाबिज़ था, उसके आगे हथियार डाल दिए। करीम ख़ाँ ज़िंद ने कुल 29 साल हुकूमत की। इसमें बीस साल वह ख़ुरासान को छोड़कर पूरे ईरान पर हुक्मरान रहा। उसने शाह (बादशाह) की उपाधि धारण नहीं की और स्वयं को वकील (कार्यपाल) कहता था। उसके काल में ईरान में अमन-शान्ति रही और मुल्क ने ख़ुशहाली की ओर क़दम बढ़ाया। करीम ख़ाँ ज़िंद की राजधानी शीराज़ थी जहाँ उसने कई सुन्दर इमारतें बनवाईं जो आज भी शीराज़ में मौजूद हैं।

अफ़शार-ख़ानदान की भाँति ज़िन्द-ख़ानदान की हुकूमत भी स्थिर नहीं रह सकी। करीम ख़ाँ की मृत्यु के बाद मुल्क एक बार फिर गृह-युद्ध का शिकार हो गया। इस गृह-युद्ध में आग़ा मुहम्मद क़ाचार सफल रहा और उसने एक नए हुक्मरान ख़ानदान की बुनियाद डाली। करीम ख़ाँ के उत्तराधिकारियों[1] और आग़ा मुहम्मद क़ाचार के बीच दस-बारह साल तक लड़ाइयाँ चलती रहीं। अन्ततः आग़ा मुहम्मद क़ाचार सफल हो गया और उसने 1794 ई॰ में एक नए हुक्मरान ख़ानदान की बुनियाद डाली।

3. क़ाचार-बादशाह (1193 हि॰/1779 ई॰–1344 हि॰/1925 ई॰)

क़ाचार ख़ानदान का संस्थापक आग़ा मुहम्मद क़ाचार (1193 हि॰/1779 ई॰–1211 हि॰/1797 ई॰) एक ख़्वाजा सरा (शाही महल में महिला-कक्ष का सेवक, नरदारा) था। वह ईरान की गद्दी प्राप्त करने के लिए करीम ख़ाँ ज़िन्द के उत्तराधिकारियों से कई साल तक जंग करता रहा और अन्ततः 1794 ई॰

1. 1779 ई॰ से 1782 ई॰ तक करीम ख़ाँ के भाई और आग़ा मुहम्मद क़ाचार एक-दूसरे से मुक़ाबला करते रहे। इसके बाद ज़िन्द-ख़ानदान में अली मुराद शाह (1782 ई॰–1785 ई॰), जाफ़र शाह (1785 ई॰–1789 ई॰) और लुत्फ़ अली ख़ाँ (1789 ई॰–1794 ई॰) हुक्मरान हुए। आख़िरी हुक्मरान आग़ा मुहम्मद क़ाचार से पराजित होकर मारा गया और ज़िन्द-ख़ानदान ख़त्म हो गया।

में वह सम्पूर्ण ईरान का बादशाह बनने में सफल हो गया। हालाँकि उसने 1779 ई॰ में ही तेहरान पर क़ब्ज़ा कर लिया था और उसी शहर से अपनी विजयों का आरम्भ किया किया था, इसलिए उसने इस्फ़हान अथवा शीराज़ के बदले तेहरान को ईरान की राजधानी बनाया। तेहरान की यह हैसियत आज भी बरक़रार है। आग़ा मुहम्मद उन उच्च गुणों से वंचित था जो प्रायः एक सल्तनत के संस्थापक में होते हैं। वह अतिक्रूर एवं प्रतिशोधप्रिय था। उसके अत्याचारों से तंग आकर 1797 ई॰ में उसके गुलामों ने उसे क़त्ल कर दिया।

फ़तूह अली शाह क़ाचार

फ़तूह अली शाह (1797 ई॰—1834 ई॰) आग़ा मुहम्मद क़ाचार का भतीजा एवं उत्तराधिकारी था। उसके काल में ईरान की वह महानता एवं श्रेष्ठता जो नादिर शाह के काल में प्राप्त हुई थी, समाप्त हो गई। हरात पहले ही ईरान के हाथ से निकल चुका था[1] फ़तूह अली शाह के समय में रूसियों ने 1797 ई॰ में दाग़िस्तान पर और 1802 ई॰ में गिरजिस्तान पर क़ब्ज़ा कर लिया। रूसियों के इन दुस्साहसिक कार्यों के कारण ईरानी जनता उग्र हो उठी। फलस्वरूप फ़तूह अली शाह को रूस से जंग करनी पड़ी। पहली जंग 1811 ई॰ से 1813 ई॰ तक चली और दूसरी जंग 1826 ई॰ से 1828 ई॰ तक। नामज़द उत्तराधिकारी शहज़ादा अब्बास मिर्ज़ा ने यद्यपि प्रारम्भ में रूसियों के विरुद्ध कुछ सफलता प्राप्त की, परन्तु यह दोनों जंग ईरान के लिए तबाहकारी सिद्ध हुई। पहली जंग के कारण ईरान 13 अक्तूबर 1813 ई॰ को गुलिस्तान-संधि करने पर विवश हुआ, जिसके अनुसार ईरान को गिरजिस्तान, दाग़िस्तान एवं उत्तरी आज़रबाइजान पर अपना दावा छोड़ना पड़ा। दूसरी जंग के नतीजे में रूसी तबरीज़ पर क़ाबिज़ हो गए और ईरानियों को 1828 ई॰ में तुर्कमांची-संधि करने पर मजबूर कर दिया। इसके प्रावधानों के अनुसार आरमीनिया पर से भी ईरान को अपना दावा छोड़ना पड़ा। अरस-

1. 1798 ई॰ में जब ज़मान शाह ने हिन्दुस्तान पर हमला किया तो हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ गवर्नर जेनरल लॉड वेलेज़ली के इशारे पर फ़तूह अला शाह ने हरात वापस लेने की कोशिश की, जिसकी वजह से ज़मान शाह को लाहौर से वापस लौटना पड़ा।

नदी को ईरान एवं रूस के बीच की सीमा मानी गई। रूस को ईरान में कई सुविधाएँ देनी पड़ीं। इन जंगों ने यह सिद्ध कर दिया कि अब ईरान बड़ी ताक़त नहीं रहा।

नासिरुद्दीन शाह क़ाचार

क़ाचार-हुक्मरानों के सम्बन्ध में इतिहासकारों की आम धारणा यह है कि वे अयोग्य, विवेकहीन एवं स्वार्थी थे। इनमें से किसी बादशाह ने कोई ऐसा कारनामा नहीं किया जो उनकी लोकप्रियता का कारण बनता। फिर भी इन बादशाहों में सबसे अच्छा नासिरुद्दीन शाह (1264 हि॰/1848 ई॰–1313 हि॰/1896 ई॰) को माना जाता है। उसके काल में ईरान में पहली बार आधुनिक विचारधारा का आगमन हुआ। वह मुहम्मद शाह का लड़का था। उसके प्रारम्भिक शासनकाल में उसके प्रधानमंत्री मिर्ज़ा तक़ी ख़ाँ (मृत्यु-1851 ई॰) ने कुछ अच्छे सुधार-कार्य किए, परन्तु उसे बादशाह और शाही ख़ानदान के विरोध का सामना करना पड़ा, और बादशाह ने अन्ततः उसकी हत्या करा दी। नासिरुद्दीन शाह ने 1873 ई॰ से 1878 ई॰ के मध्य और 1889 ई॰ में कुल तीन बार यूरोप की यात्रा की, परन्तु यूरोप के ये दौरे फ़ुज़ूलख़र्ची साबित हुए। हुकूमत की प्रशासनिक कुव्यवस्था ने ईरान की आर्थिक स्थिति बिगाड़ दी। व्यापारिक एवं औद्योगिक कार्यों में तथा सड़क-निर्माण के लिए बाहरी मुल्कों को अनुदान दिए गए। बादशाह ने बड़ी-बड़ी राशि क़र्ज ली, परन्तु उन्हें फ़ुज़ूलख़र्ची में उड़ा दिया। सत्ता की तानाशाही एवं आर्थिक बदहाली के कारण बुद्धिजीवि वर्ग में बादशाह के तानाशाही रवैये के विरुद्ध भावनाएँ उभरने लगीं। जमालुद्दीन अफ़ग़ानी की ईरान में मौजूदगी ने इन भावनाओं को और भड़काया। अन्ततः नासिरुद्दीन एक राष्ट्र प्रेमी युवक की गोली का निशाना बन गया।

नासिरुद्दीन शाह के दौर की एक अहम घटना शीराज़ में मिर्ज़ा अली मुहम्मद बाब (1820 ई॰–1850 ई॰) का प्रकट होना है जिसने एक नए धर्म की बुनियाद डाली जो बाबी धर्म कहलाता है। बहाई मज़हब उसी की एक शाखा है। अली मुहम्मद बाब को नासिरुद्दीन शाह के आदेश पर क़त्ल कर दिया गया।

इस काल की दूसरी अहम घटना 1856 ई॰ में हरात पर ईरान का क़ब्ज़ा है, परन्तु अंग्रेज़ों के दबाव में अगले ही साल ईरानियों को हरात छोड़ना पड़ा। हरात पर क़ब्ज़ा करने की यह अन्तिम कोशिश थी। 1857 ई॰ में पेरिस-संधि के तेहत ईरान की हुकूमत हरात पर अपने दावे से पीछे हट गई।

संवैधानिक संघर्ष

नासिरुद्दीन शाह के बेटे और उत्तराधिकारी मुज़फ़्फ़रुद्दीन शाह (1896 ई॰–1906 ई॰) ने यूरोप की यात्रा करके और रूस से बड़े-बड़े क़र्ज़ लेकर ईरान को दीवालिया कर दिया। प्रान्तों में अशान्ति फैल गई, रास्ते असुरक्षित हो गए। 1905 ई॰ में ईरान में सांवैधानिक आन्दोलन शुरू हो गया। अयोग्य प्रधानमंत्री, जिसे जमालुद्दीन अफ़ग़ानी ने नासिरुद्दीन शाह के समय ही ईरान की बदहाली का ज़िम्मेदार घोषित कर दिया था, को निलम्बित करने एवं संविधान आधारित हुकूमत स्थापित करने की माँग ने ज़ोर पकड़ लिया। आख़िर मुज़फ़्फ़रुद्दीन शाह ने प्रदर्शनकारियों के आगे हथियार डाल दिए। अक्तूबर 1906 ई॰ में संविधान को स्वीकार कर लिया गया।

मुज़फ़्फ़रुद्दीन के उत्तराधिकारी मुहम्मद अली शाह (1907 ई॰–1908 ई॰) के ज़माने में सांवैधानिक आन्दोलन ने क्रान्ति का रूप ले लिया, क्योंकि नए शासक ने संविधान लागू करने का वादा पूरा नहीं किया और रूसियों की मदद से संविधान को निरस्त करना चाहा। इसपर मुल्क में विद्रोह शुरू हो गया। प्रदर्शनकारियों ने इस्फ़हान, तबरीज़ और तेहरान पर क़ब्ज़ा कर लिया और मुहम्मद अली शाह को रूसी दूतावास में शरण लेनी पड़ी। संविधान के पक्षधरों ने हुकूमत पर क़ब्ज़ा कर लिया और मुहम्मद अली शाह को अपदस्थ करके ईरान में संविधान आधारित हुकूमत क़ायम कर दी। संविधान के पक्षधरों ने अहमद शाह (1909 ई॰–1925 ई॰) को बादशाह बना दिया।

तुर्की की दूसरी संधि की तरह, जो ईरानी संधि से एक साल पूर्व हुई थी, ईरानी संधि भी बाहरी हस्तक्षेप के कारण सफल नहीं हो सकी। 31 अगस्त 1907 ई॰ में एक अन्य संधि के द्वारा रूस और ब्रिटेन ने ईरान को अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र में बाँट लिया था और यह तय कर लिया था कि कोई पक्ष दूसरे के क्षेत्र में राजनीतिक एवं व्यापारिक गतिविधियाँ नहीं चला

सकता। इसके बाद दोनों मुल्कों ने फ़ौजी हस्तक्षेप भी किया। उत्तर-पश्चिम में तबरीज़ और क़ज़वैन पर रूस ने क़ब्ज़ा कर लिया और दक्षिण में इस्फ़हान तक ब्रिटेन की फ़ौज क़ाबिज़ हो गई। यह स्थिति द्वितीय विश्व-युद्ध तक बनी रही। 22 फ़रवरी 1921 ई॰ को ईरानी फ़ौज के एक दस्ते कासक-ब्रिगेड के कमांडर रज़ा ख़ाँ ने तेहरान पर क़ब्ज़ा कर लिया। यह दस्ता 1882 ई॰ में नासिरुद्दीन शाह ने क़ायम किया था और रूसी अफ़सरों के मातेहत था। इसी की मदद से मुहम्मद अली शाह ने संविधान को निरस्त करने का प्रयास किया था। चार दिन बाद 26 फ़रवरी को रूस की साम्यवादी सरकार और ईरान के बीच एक संधि हो गई जिसके अनुसार रूस न केवल ईरान में उन सुविधाओं से वंचित हो गया जो ज़ार के समय प्राप्त की गई थीं, बल्कि रूसी क़र्ज़े भी माफ़ कर दिए गए। रज़ा ख़ाँ अब युद्ध-मंत्री (रक्षा-मंत्री) और सेनाध्यक्ष हो गए और एक प्रकार से ईरान के वास्तविक शासक भी बन गए। शुरू में तो उन्होंने अहमद शाह क़ाचार को बरक़रार रखा जो 1923 ई॰ में फ़रार होकर यूरोप चला गया था, परन्तु अक्तूबर 1925 ई॰ में राष्ट्रीय संसद के माध्यम से अहमद शाह क़ाचार को बरख़ास्त करके स्वयं शासक बन गए। इस प्रकार ईरान में क़ाचार-ख़ानदान की हुकूमत ख़त्म होकर पहलवी ख़ानदान की सावैधानिक राजशाही का प्रारम्भ हो गया जो अब तक क़ायम है।[1] अहमद शाह का 1930 ई॰ में यूरोप में इन्तिक़ाल हो गया।

कहा जाता है कि राष्ट्रीय संसद रज़ा ख़ाँ को बादशाह के बदले राष्ट्रपति चुनना चाहती थी, परन्तु उसी ज़माने में तुर्की में लोकतंत्र की स्थापना एवं बादशाहत और ख़िलाफ़त के अन्त ने इस्लामी संविधान के पक्षधरों को नई लोकतांत्रिक एवं धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था से भयभीत कर दिया और उन्होंने विशुद्ध लोकतांत्रिक शासन की अपेक्षा सावैधानिक राजशाही को ज़्यादा पसंद किया।

(आधुनिक ईरान के हालात के लिए देखें इस पुस्तक का तीसरा खण्ड।)

1. मार्च 1979 ई॰ में इस बादशाहत का भी इमाम ख़ुमैनी के हाथों ख़ातिमा हो गया और ईरान इस्लामी जम्हूरिया बन गया।

क़ाचार बादशाह (1193 हि०/1779 ई०–1344 हि०/1925 ई०)

1. आग़ा मुहम्मद शाह (1193 हि०/1779 ई०–1211 हि०/1797 ई०)
2. फ़तह अली शाह (1211 हि०/1797 ई०–1250 हि०/1835 ई०)
3. मुहम्मद शाह (1250 हि०/1835 ई०–1264 हि०/1848 ई०)
4. नासिरुद्दीन शाह (1264 हि०/1848 ई०–1313 हि०/1896 ई०)
5. मुज़फ़्फ़रुद्दीन शाह (1313 हि०/1896 ई०–1324 हि०/1906 ई०)
6. मुहम्मद अली शाह (1324 हि०/1906 ई०–1327 हि०/1909 ई०)
7. अहमद शाह (1327 हि०/1909 ई०–1344 हि०/1925 ई०)

महत्वपूर्ण घटनाएँ

1726 ई०–1728 ई०– नादिर शाह और तहमासप ने ख़ुरासान पर कब्ज़ा किया।

1729 ई० – मैहन दोस्त की जंग में नादिर ने अफ़ग़ानों को पराजित किया और इस्फ़हान पर क़ब्ज़ा कर लिया।

1730 ई० – शीराज़ के पास नादिर ने अफ़ग़ानों को निर्णायक शिकस्त दी और ईरान से निकाल दिया।

1732 ई० – रूसी माज़ंदरान, गीलान और उस्तराबाद से हट गए।

1733 ई० – करकूक की जंग में तुर्कों से नादिर की पराजय।

1735 ई० – बाग़वंद की जंग में नादिर ने तुर्कों को पराजित किया एवं रूसियों ने नादिर की धमकी के बाद दाग़िस्तान एवं आज़रबाइजान ख़ाली कर दिया।

1738 ई० – नादिर का क़ंधार पर क़ब्ज़ा।

1739 ई० – करनाल की जंग में मुहम्मद शाह की पराजय और दिल्ली पर नादिर का क़ब्ज़ा।

1740 ई० – बुख़ारा एवं ख़ेवा के सरदारों ने नादिर की अधीनता स्वीकार की।

1745 ई० – क़ारस की जंग में नादिर ने तुर्कों को पराजित

किया। उसके बाद तुर्की और ईरान में सुलह हो गई।

1800 ई॰ — रूस ने गिरजिस्तान पर क़ब्ज़ा कर लिया।

1813 ई॰ — (12 अक्तूबर) गुलिस्तान-संधि। ईरान ने दाग़िस्तान, आज़रबाइजान गिरजिस्तान पर रूस का अधिकार स्वीकार किया।

1821 ई॰–1823 ई॰– तुर्की और ईरान की आख़िरी जंग एवं सीमा का निर्धारण।

1825 ई॰–1828 ई॰– रूस और ईरान की जंग।

1826 ई॰ — गंजा नामक स्थान पर ईरानियों की पराजय।

1828 ई॰ — (22 फ़रवरी) तुर्कमांची-संधि। ईरानी हुकूमत आरमीनिया एवं क़ुरह बाग़ से हट गई।

1856 ई॰ — हरात पर ईरान का क़ब्ज़ा, परन्तु ब्रिटेन के दबाव में 1857 ई॰ में पेरिस-संधि हुई, जिसके अनुसार ईरान ने अफ़ग़ानिस्तान की आज़ादी स्वीकार कर ली।

1878 ई॰ — कासक-ब्रिगेड का गठन।

1906 ई॰ — मुज़फ़्फ़रुद्दीन शाह ने जनता की माँग पर संविधान स्वीकृत किया।

1908 ई॰ — मस्जिदे-सलमान में पहली बार तेल के भण्डार का पता लगा।

1909 ई॰ — एंग्लो-परशियन ऑयल कम्पनी का गठन।

1921 ई॰ — (21 फ़रवरी) रज़ा ख़ाँ ने हुकूमत पर क़ब्ज़ा किया।

1925 ई॰ — (31 अक्तूबर) संसद ने अहमद शाह को बरख़ास्त कर दिया और 31 दिसम्बर को रज़ा ख़ाँ बादशाह को चयनित कर लिया।

1926 ई॰ — (25 अप्रैल) रज़ा ख़ाँ सत्तासीन हुए।

अध्याय-31

अफ़ग़ानों की अपनी हुकूमत की स्थापना

1. अब्दाली ख़ानदान (1747 ई॰–1826 ई॰)

अफ़ग़ानिस्तान की आबादी का एक बड़ा भाग पठान-नस्ल से है जो स्वयं को अफ़ग़ान कहते हैं। ये लोग हज़ारों साल से इस क्षेत्र में आबाद हैं। यद्यपि इतिहास में इन अफ़ग़ानों ने कई बड़ी-बड़ी हुकूमतें क़ायम कीं, परन्तु अट्ठारहवीं सदी से पहले इनकी कोई ऐसी क़ौमी हुकूमत क़ायम नहीं हुई जो सम्पूर्ण अफ़ग़ानिस्तान की हुकूमत कहलाती। इस्लामी इतिहास में मुहम्मद ग़ौरी, शेर शाह सूरी और सिकन्दर लोधी जैसे महान पठान हुक्मरान हुए हैं, परन्तु उनकी हुकूमतें या तो अफ़ग़ानिस्तान के बाहर थीं– जैसे सिकन्दर लोधी और शेर शाह सूरी, या उनकी हैसियत अफ़ग़ान हुकूमत से ज़्यादा एक इस्लामी हुकूमत की थी–जैसे मुहम्मद ग़ौरी की हुकूमत जिसके ओहदेदारों, सिपहसालारों और फ़ौजों में तुर्क और ईरानी भी बड़ी संख्या में शामिल थे। इसके अतिरिक्त शेर शाह सूरी का सम्बन्ध उन पठानों से था जो अफ़ग़ानिस्तान में नहीं बल्कि पाकिस्तान में आबाद हैं। अफ़ग़ानों की पहली क़ौमी हुकूमत नादिर शाह के मशहूर सिपहसालार अहमद शाह अब्दाली ने क़ायम की।

अहमद शाह अब्दाली

सोलहवीं और सतरहवीं सदी में अफ़ग़ानिस्तान का मुल्क तीन भागों में बँटा हुआ था। पूर्वी भाग जिसमें काबुल-शहर भी आता है दिल्ली की तैमूरी (मुग़ल) सल्तनत के अधीन था। पश्चिमी एवं दक्षिणी भाग पर, जिसमें क़ंधार और हरात के शहर आते हैं, ईरान का क़ब्ज़ा था और उत्तरी भाग जिसमें बदख़्शाँ एवं बल्ख़ के क्षेत्र थे उज़्बेकों के पास था। ये उज़्बेक कभी-कभी हरात पर भी क़ाबिज़ हो जाते थे। अफ़ग़ानिस्तान के उत्तरी भाग के वासी नस्ल की दृष्टि से अधिकतर ताज़िक और उज़्बेक हैं। वहीं पश्चिमी

भाग के वासी ईरानी या मंगोल की नस्ल के हैं। अफ़ग़ान यानी पठान की आबादी का मूल केन्द्र दक्षिणी एवं पूर्वी अफ़ग़ानिस्तान है जिसका सबसे बड़ा शहर क़ंधार है। यहाँ के ग़लज़ई पठानों ने मीर उवैस के नेतृत्व में पहली बार आज़ाद होने की जो कोशिश की थी उसकी चर्चा हम सफ़वी काल के हालात में कर चुके हैं, परन्तु नादिर शाह ने अफ़ग़ानों को ईरान से निकालकर और 1738 ई॰ में क़ंधार पर क़ब्ज़ा करके उस कोशिश को असफल बना दिया था।

नादिर शाह ने जब 1728 ई॰ में हरात पर क़ब्ज़ा किया था तो वहाँ अफ़ग़ानों का एक क़बीला, जिसे अब्दाली कहते हैं, आबाद था और बारह साल से वहाँ हुकूमत कर रहा था। नादिर शाह ने अपनी फ़ौज में अब्दाली पठानों को भी भर्ती कर लिया। अहमद ख़ाँ उसी दस्ते का सरदार था। अहमद ख़ाँ ने नादिर की लड़ाइयों में बड़ी प्रमुख भूमिका निभाई। वह दिल्ली की फ़तूह के समय भी मौजूद था। उसकी गिनती नादिर के वफ़ादार साथियों में होती थी। जून 1747 ई॰ में जब कोचान (ख़ुरासान) नामक स्थान पर नादिर शाह को उसके शिया सरदारों ने क़त्ल कर दिया तो अहमद ख़ाँ फ़रार होकर क़ंधार आ गया। वह अपने साथ नादिर के ख़ज़ाने का एक बड़ा भाग भी ले आया, जिसमें मशहूर हीरा कोहिनूर भी सम्मिलित था जिसे नादिर दिल्ली से ले गया था। क़ंधार में 1160 हि॰/1747 ई॰ में अफ़ग़ानों ने अहमद ख़ाँ को सरदार चुन लिया और वह अहमद शाह के नाम से गद्दी पर बैठा। उसने अपने लिए 'दरदूरान' की उपाधि धारण की जिसके कारण उसे अहमद शाह दुर्रानी भी कहा जाता है।

पानीपत की तीसरी जंग

अहमद शाह ने उपमहाद्वीप भारत-पाक पर 1747 ई॰ और 1769 ई॰ के बीच नौ बार हमले किए और सरहिन्द तक का इलाक़ा अपनी सल्तनत में मिला लिया। 1752 ई॰ में कश्मीर पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। वह दो बार दिल्ली आया। 14 जनवरी 1761 ई॰ को हिन्दुस्तान के मुसलमान अमीरों (नवाबों) के साथ मिलकर पानीपत के मैदान में उसने मराठों को पराजित किया। अहमद शाह अब्दाली के ज़माने में पंजाब में मराठों के बाद सिखों

की शक्ति बहुत बढ़ गई और उसे उनके कारण बार-बार पंजाब आना पड़ता था। वह जब आता था तो ये सिख सरदार फ़रार हो जाते थे और पहाड़ों में शरण ले लेते थे, परन्तु जब वह वापस चला जाता था तो सिख पुनः मुसलमानों पर अत्याचार करने लगते थे। 1765 ई॰ के बाद तो व्यावहारिक रूप से लाहौर तक का इलाक़ा अब्दाली के हाथ से निकल गया। पश्चिम में अहमद शाह ने 1751 ई॰ तक हरात, मशहद और नीशापुर फ़त्ह कर लिया था और मशहद के इलाक़े पर उसने नादिर शाह के पोते शाहरुख़ को गद्दी पर बैठा दिया था, परन्तु उसकी हैसियत एक अधीनस्थ हुक्मरान की थी और ख़ुरासान में अहमद शाह के नाम का सिक्का चलता था। अहमद शाह के अन्तिम समय में बलूचिस्तान में मीर नसीर ख़ाँ ने भी आज़ादी का एलान कर दिया था, परन्तु बाद में अहमद शाह की अधीनता स्वीकार कर ली। अहमद शाह का जब इन्तिक़ाल हुआ तो वह सम्पूर्ण भूभाग जो आज अफ़ग़ानिस्तान कहलाता है उसके क़ब्ज़े में था। कश्मीर, सरहद-प्रान्त और मुल्तान भी उसकी सल्तनत में शामिल थे। सिंध, बलूचिस्तान और ख़ुरासान उसकी अधीनता स्वीकार करते थे।

अहमद शाह अपने आचरण, स्वभाव, सैन्य क्षमता, न्याय व इनसाफ़ और दीनदारी (धर्मपरायणता) के कारण इस्लामी इतिहास के महान हुक्मरानों में सम्मिलित किए जाने योग्य है, परन्तु उसमें कुछ अवगुण भी थे। उसने पानीपत की जंग में मराठों को बुरी तरह पराजित किया परन्तु दिल्ली में एक शक्तिशाली हुकूमत क़ायम करने के बजाय वापस क़ंधार चला गया। पंजाब में वह सिखों को क़ाबू में न रख सका। लाहौर और दिल्ली में उसकी फ़ौजों ने जिस प्रकार क़त्ले-आम किया वह एक मुसलमान हुक्मरान को शोभा नहीं देता। इससे स्पष्ट होता है कि उसका अपनी फ़ौज पर पूरी तरह नियंत्रण नहीं था।

अहमद शाह अब्दाली के उत्तराधिकारी

अहमद शाह अब्दाली के बाद उसका बेटा तैमूर शाह (1773 ई॰—1793 ई॰) गद्दी पर बैठा। उसके काल में सिंध और बलूचिस्तान पर से अफ़ग़ानों का वर्चस्व समाप्त हो गया और वे आज़ाद हो गए। मर्व पर बुख़ारा के अमीर

(गवर्नर) का क़ब्ज़ा हो गया और ख़ुरासान में मशहद एवं नीशापुर भी हाथ से निकल गए, परन्तु शेष सल्तनत में तैमूर शाह ने अमन-शान्ति बनाए रखी। तैमूर अपनी राजधानी क़ंधार से काबुल ले गया और उसी समय से काबुल अफ़ग़ानिस्तान की स्थायी राजधानी हो गया।

तैमूर शाह के बाद उसका लड़का ज़मान शाह (1793 ई०–1801 ई०) गद्दी पर बैठा। किन्तु उसका दौर ख़ानाजंगी में गुज़र गया। 1765 ई० के बाद से लाहौर पर सिखों का कब्ज़ा हो गया था। ज़मान शाह ने पंजाब पर पुनः क़ब्ज़ा करने का प्रयास किया और 1798 ई० में वह लाहौर पर क़ाबिज़ हो भी गया। सिख हमेशा की तरह इस बार भी फ़रार हो गए, परन्तु ज़मान शाह के वापस जाने पर उन्होंने पुनः लाहौर पर क़ब्ज़ा कर लिया। 1799 ई० में ज़मान शाह ने एक सिख सरदार रणजीत सिंह को लाहौर का सूबेदार नियुक्त कर दिया परन्तु यह एक मात्र काग़ज़ी कार्रवाई थी, वरना पंजाब स्थायी रूप से दुर्रानी सल्तनत (अब्दाली सल्तनत) के हाथ से निकल चुका था और अब वहाँ एक आज़ाद सिख हुकूमत क़ायम हो चुकी थी।

1801 ई० में ज़मान शाह को उसके भाई महमूद शाह ने अंधा करके क़ैद कर दिया। अब अफ़ग़ानिस्तान पूरी तरह ख़ानाजंगी की चपेट में आ गया। 1803 ई० में अंग्रेज़ों से दोस्ती की संधि की तो उसके ख़िलाफ़ बग़ावत का स्वर उभरने लगा। 1810 ई० में महमूद शाह पुनः गद्दी पर बैठा, परन्तु महमूद शाह ने बारकज़ई क़बीले के सरदारों को अपनी ग़लत नीतियों के कारण विरोधी बना लिया और एक बारकज़ई सरदार दोस्त मुहम्मद ख़ाँ ने 1826 ई० में काबुल पर क़ब्ज़ा करके दुर्रानी सल्तनत का अन्त कर दिया।

दोस्त मुहम्मद ख़ाँ के काबुल पर क़ाबिज़ हो जाने के बाद शाह शुजाअ ने रणजीत सिंह और अंग्रेज़ों से मदद लेकर काबुल पर क़ब्ज़ा करना चाहा। रणजीत सिंह की मदद से वह काबुल पर तो क़ब्ज़ा न कर सका, परन्तु क़ीमती कोहिनूर हीरा खो बैठा, जिसे रणजीत सिंह ने धूर्तता से प्राप्त कर लिया। अंग्रेज़ों ने शुजाअ की ज़रूर कुछ मदद की। अंग्रेज़ी फ़ौज 1839 ई० में सिंध के इलाक़े से सिंध के सरदारों के प्रतिरोध को झेलते हुए बलपूर्वक कोयटा के रास्ते अफ़ग़ानिस्तान में दाख़िल हुई और शाह शुजाअ को काबुल

की गद्दी पर बैठा दिया। दोस्त मुहम्मद ख़ाँ भागकर बुख़ारा चला गया। शाह शुजाअ अंग्रेज़ों की मदद से ज़्यादा समय तक शासन नहीं कर सका। 1842 ई॰ में उसके ख़िलाफ़ बग़ावत शुरू हो गई। अंग्रेज़ी दस्ते के चार-पाँच हज़ार सिपाही क़त्ल कर दिए गए। इस हंगामे में शाह शुजाअ भी मारा गया। सितम्बर के महीने में अंग्रेज़ों ने जवाबी कार्रवाई की और काबुल को जलाकर राख कर दिया। अंग्रेज़ों की वापसी के बाद दोस्त मुहम्मद ख़ाँ जनवरी 1843 ई॰ में पुनः काबुल पर क़ाबिज़ हो गया।

अफ़ग़ानिस्तान के इन हंगामों से पंजाब के सिखों ने फ़ायदा उठाया। 1819 ई॰ में रणजीत सिंह ने कश्मीर पर और 1823 ई॰ में पेशावर पर भी क़ब्ज़ा कर लिया।

2. बारकज़ई ख़ानदान (1826 ई॰–1929 ई॰)

दोस्त मुहम्मद ख़ाँ बारकज़ई ख़ानदान का संस्थापक है। उसने अफ़ग़ानिस्तान पर पहली बार 1826 ई॰ से 1839 ई॰ तक शासन किया और उसके बाद 1843 ई॰ से 1863 ई॰ तक दोबारा अफ़ग़ानिस्तान का हुक्मरान बना। उसी के काल में पेशावर पर सिखों का क़ब्ज़ा हुआ, और यह दोस्त मुहम्मद ख़ाँ का ही काल था जब सैयद अहमद शहीद ने पेशावर और निकटवर्ती इलाकों में पहली इस्लामी रियासत क़ायम करके पाकिस्तान के उत्तरी भाग को सिखों के क़ब्ज़े से आज़ाद कराने की कोशिश की थी। दोस्त मुहम्मद ख़ाँ के काल में पहली बार अफ़ग़ानों और अंग्रेज़ों के बीच टक्कर हुई और अंग्रेज़ों ने काबुल की गद्दी पर शाह शुजाअ को बैठाकर अपनी कठपुतली सरकार स्थापित करने की कोशिश की थी, परन्तु जैसा कि बताया जा चुका है अफ़ग़ान स्वतंत्रता प्रेमियों ने इस कोशिश को जल्द ही नाकाम बना दिया।

दोस्त मुहम्मद ख़ाँ के बाद उसका लड़का अमीर शेर अली (1863 ई॰–1879 ई॰) गद्दी पर बैठा। अंग्रेज़ों ने उसके काल में पुनः अपना प्रभाव बढ़ाना चाहा। यह वह ज़माना था जब रूसी तुर्किस्तान पर क़ाबिज़ हो गए थे और रूस की सीमाएँ अफ़ग़ानिस्तान से मिल गई थीं। रूस के बढ़ते ख़तरे को देखते हुए ब्रिटेन चाहता था कि अफ़ग़ानिस्तान पर उसका प्रभाव क़ायम रहे, परन्तु जब अमीर शेर अली अंग्रेज़ों के आगे नहीं झुका और उसने रूस से

सम्बन्ध बढ़ाना चाहा तो अंग्रेज़ों ने अफ़ग़ानिस्तान में खुले रूप से हस्तक्षेप किया। उस समय तक सिंध, पंजाब और सरहद उनके क़ब्ज़े में आ चुके थे और 1876 ई॰ में उन्होंने कोयटा और बलूचिस्तान पर भी अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। इसके बाद अंग्रेज़ों ने 1878 ई॰ में काबुल पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। अमीर शेर अली फ़रार होकर तुर्किस्तान चला गया और उसके बेटे याक़ूब ख़ाँ ने 16 मई 1879 को अंग्रेज़ों से एक संधि कर ली जो गंदामक- संधि कहलाती है। इस संधि के द्वारा अंग्रेज़ अन्ततः अफ़ग़ानिस्तान पर अपना प्रभाव जमाने में सफल हो गएं। अब अफ़ग़ानिस्तान अंग्रेज़ों की इच्छा के विरुद्ध किसी अन्य मुल्क से सम्बन्ध नहीं रख सकता था। अमीर याक़ूब ने अंग्रेज़ों को अपनी फ़ौज की टुकड़ी काबुल में रखने की अनुमति दे दी, परन्तु अफ़ग़ान स्वतंत्रता प्रेमियों ने अंग्रेज़ों की इस टुकड़ी पर हमले करके उसको ख़त्म कर दिया। यह घटना अफ़ग़ानिस्तान एवं अंग्रेज़ों के बीच दूसरी जंग का कारण बनी जो 1879 ई॰ से 1880 ई॰ तक चलती रही, और जिसके दौरान अंग्रेजों ने क़ाबुल पर क़ब्ज़ा कर लिया। अब अंग्रेज़ों ने काबुल की गद्दी पर एक ऐसे व्यक्ति को बैठाना चाहा जो अफ़ग़ान नागरिकों को भी क़ाबू में रख सके और अंग्रेजों का दोस्त भी हो। अतः उन्होंने 22 जुलाई 1880 ई॰ को दोस्त मुहम्मद ख़ाँ के पोते अब्दुर्रहमान ख़ाँ को अफ़ग़ानिस्तान का अमीर (गवर्नर) बना दिया और अपनी फ़ौजें काबुल से वापस बुला लीं।

अब्दुर्रहमान ख़ाँ (1880 ई॰–1901 ई॰)

अब्दुर्रहमान ख़ाँ गद्दी पर बैठा तो सम्पूर्ण अफ़ग़ानिस्तान में अशान्ति फैली हुई थी और मुल्क में गद्दी के कई दावेदार भी मौजूद थे। अब्दुर्रहमान ने जल्द ही सभी विरोधियों को कुचलकर अमन-शान्ति का वातावरण स्थापित कर दिया। अगर अहमद शाह अब्दाली अफ़ग़ानिस्तान का प्रथम बादशाह था, तो अब्दुर्रहमान ख़ाँ को आधुनिक अफ़ग़ानिस्तान का संस्थापक कहा जा सकता है। वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान की सीमाएँ उसी के काल में निर्धारित हुई थीं। 1887 ई॰ में उत्तर में तुर्किस्तान के साथ सीमा निर्धारित की गई, पूरब में 1888 ई॰ में ईरान एवं अफ़ग़ानिस्तान के बीच सीमा निर्धारित की गई और दक्षिण एवं पश्चिम में 1893 ई॰ में अंग्रेज़ों से एक

संधि के द्वारा ब्रिटिश भारत के साथ सीमा निर्धारण हुआ। यह नई सीमा ब्रिटिश भारत के विदेश सचिव सर मोरटीमार डयूरंड (Sir Mortimar Durand) के नाम पर 'डयूरंड लाईन' कहलाती है और अब अफ़ग़ानिस्तान एवं पाकिस्तान के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय सीमा मानी जाती है।

अमीर अब्दुर्रहमान के बाद उसका लड़का अमीर हबीबुल्लाह (1901 ई॰–1919 ई॰) गद्दी पर बैठा। उसके काल में पहली बार अफ़ग़ानिस्तान में बिजली-घर एवं कारख़ाने स्थापित हुए और पक्की सड़कें बनीं। अफ़ग़ानिस्तान का पहला आधुनिक मदरसा 'हबीबिया कॉलेज' उसी के काल में बना। हबीबुल्लाह ख़ाँ के काल में आधुनिक विचार एवं मूल्य अफ़ग़ानिस्तान में आए और एक ऐसा गरोह पैदा हो गया जो तुर्की एवं ईरान की तरह अफ़ग़ानिस्तान में सुधार चाहता था और अफ़ग़ानिस्तान को ब्रिटिश के प्रभाव से निकालना चाहता था। उसी समय प्रथम विश्व-युद्ध शुरू हो गया और अफ़ग़ानिस्तान में तुर्कों का साथ देने का आन्दोलन ज़ोर पकड़ गया। अमीर हबीबुल्लाह कुछ कारणों से अफ़ग़ानिस्तान को तटस्थ रखना चाहता था और ब्रिटिश भारत से टकराव नहीं चाहता था। इस पॉलिसी का परिणाम यह हुआ कि अमीर हबीबुल्लाह क़त्ल कर दिए गए।

अमानुल्लाह ख़ाँ (1919 ई॰–1929 ई॰)

अमीर हबीबुल्लाह के क़त्ल के बाद उसका लड़का अमानुल्लाह ख़ाँ गद्दी पर बैठा। उसने अंग्रेज़ों से लड़ाई शुरू कर दी। भारत में उस समय स्वतंत्रता आन्दोलन अति तीव्रता से चल रहा था, इसलिए अंग्रेज़ों ने अफ़ग़ानिस्तान से सुलह करना उचित समझा। गंदामक-संधि के समय से अफ़ग़ानिस्तान की विदेश-नीति अंग्रेज़ों की इच्छानुसार तय होती थी, अमीर अमानुल्लाह ख़ाँ केवल यह चाहता था कि अफ़ग़ानिस्तान की विदेश-नीति को अंग्रेज़ों के प्रभाव से मुक्त करा लें और अफ़ग़ानिस्तान को सच्चे अर्थों में एक आज़ाद मुल्क बना दे। अतः 8 अगस्त 1919 ई॰ में रावलपिंडी में ब्रिटिश सरकार एवं अफ़ग़ानिस्तान के बीच एक संधि हो गई और अंग्रेज़ों ने अफ़ग़ानिस्तान की पूर्ण सम्प्रभुता स्वीकार कर ली। यह अमानुल्लाह ख़ाँ का बहुत बड़ा कारनामा है।

उसी काल में रूस में साम्यवादी क्रान्ति आ गई थी। अफ़ग़ानिस्तान की हुकूमत ने साम्यवादी सरकार को मान्यता दे दी और 1921 ई॰ में रूस से मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया। उसी साल अफ़ग़ानिस्तान ने ईरान एवं तुर्की से भी मैत्री संधि कर ली। अभी तक अफ़ग़ानिस्तान के बारकज़ई हुक्मरान स्वयं को अमीर (नवाब, गवर्नर) कहलाते थे, 1926 ई॰ में अमानुल्लाह ख़ाँ ने शाह (बादशाह) की उपाधि धारण कर ली।

अमानुल्लाह ख़ाँ एक सजग एवं विवेकशील हुक्मरान था। वह चाहता था कि अफ़ग़ानिस्तान तरक़्क़ी करके एक आधुनिक देश बन जाए। इसके लिए उसने बहुत-से सुधार-कार्य किए। काबुल में पहला विश्वविद्यालय उसी ने स्थापित किया और इस प्रकार अफ़ग़ानिस्तान में आधुनिक विषयों की शिक्षा दी जाने लगी। उसने कृषि एवं उद्योग की ओर भी ध्यान दिया और कई कारख़ाने स्थापित किए। अफ़ग़ानिस्तान के क़ानून में तुर्की की तरह कई सुधार-कार्य किए गए, जिनके फलस्वरूप नागरिकों को पहले से ज़्यादा आज़ादी मिली, परन्तु अमानुल्लाह ख़ाँ अति-उत्साह का शिकार हो गया। उसने ऐसी सामाजिक रीतियों को प्रचलित करना चाहा जो अफ़ग़ानिस्तान की जनता के स्वभाव के अनुकूल नहीं थी। यद्यपि अमानुल्लाह ख़ाँ अतातुर्क और रज़ा ख़ाँ की अपेक्षा ज़्यादा इस्लामपसन्द था, परन्तु उसके कतिपय आचरणों के कारण विशेष रूप से पत्नी मलिका सुरैया को बेपरदा कराने के कारण देश में उसकी बड़ी आलोचना हुई एवं नागरिकों में असन्तोष की भावना जागृत हुई। क़बाइली हर ओर से उठ खड़े हुए। अंग्रेज़ों ने भी इन परिस्थितियों का फ़ायदा उठाया और विद्रोहियों को गुप्त रूप से प्रोत्साहित किया। अतः एक साधारण व्यक्ति जो 'बच्चा सक़्क़ा' के नाम से प्रसिद्ध है और वास्तव में वह एक डाकू एवं लुटेरा था, सशस्त्र क़बाइलियों की मदद से काबुल पर क़ाबिज़ हो गया। अमानुल्लाह ख़ाँ मुल्क को ख़ून-ख़राबे से बचाने के लिए 14 जनवरी 1929 ई॰ को गद्दी से हट गया और अफ़ग़ानिस्तान को छोड़कर इटली चला गया और वहीं निवास करने लगा। उसका रूम में 1951 ई॰ में इन्तिक़ाल हो गया।

अमानुल्लाह ख़ाँ के सत्ता से हट जाने के बाद अफ़ग़ानिस्तान के

बारकज़ई ख़ानदान की उस शाखा की हुकूमत समाप्त हो गई जो दोस्त मुहम्मद ख़ाँ के ख़ानदान से सम्बन्ध रखती थी।

(आधुनिक अफ़ग़ानिस्तान के हालात के लिए देखें इस पुस्तक का तीसरा खण्ड।)

अफ़ग़ानिस्तान के अब्दाली हुक्मरान

(1160 हि०/1747 ई०–1258 हि०/1842 ई०)

1. अहमद शाह दुर्रानी (अब्दाली)–(1160 हि०/1747 ई०–1187 हि०/1773 ई०)
2. तैमूर शाह–(1187 हि०/1773 ई०–1207 हि०/1793 ई०)
3. ज़मान शाह–(1207 हि०/1793 ई०–1216 हि०/1801 ई०)
4. शुजाअ शाह–(1216 हि०/1801 ई०)
5. महमूद शाह–(1216 हि०/1801 ई०–1218 हि०/1803 ई०)
6. शुजाअ शाह (दूसरी बार)–(1218 हि०/1803 ई०–1224 हि०/1809 ई०)
7. महमूद शाह (दूसरी बार)–(1224 हि०/1809 ई०–1233 हि०/1817 ई०)

1242 हि०/1826 ई० में काबुल पर अमीर दोस्त मुहम्मद ख़ाँ के क़ब्ज़े के बाद महमूद शाह हरात चला गया, जहाँ 1245 ई० तक हुकूमत की। शुजाअ शाह अंग्रेज़ों की मदद से 1255 हि०/1839 ई० में तीसरी बार काबुल पर क़ाबिज़ हो गया, परन्तु 5 अप्रैल 1843 ई० (1258 हि०) के विद्रोह में मारा गया। उसकी मौत पर अब्दाली ख़ानदान की हुकूमत समाप्त हो गई।

बारकज़ई ख़ानदान के हुक्मरान

(1242 हि०/1826 ई०–1347 हि०/1929 ई०)

1. अमीर दोस्त मुहम्मद ख़ाँ–(1242 हि०/1826 ई०–1255 हि०/1839 ई०) फिर (1258 हि०/1842 ई०–1280 हि०/1863 ई०)
2. अमीर शेर अली ख़ाँ–(1280 हि०/1863 ई०–1296 हि०/1879 ई०)
3. अमीर याक़ूब ख़ाँ–(1296 हि०/1879 ई०–1296 हि०/1880 ई०)
4. अमीर अब्दुर्रहमान ख़ाँ–(1296 हि०/1880 ई०–1319 हि०/1901 ई०)
5. अमीर हबीबुल्लाह ख़ाँ–(1319 हि०/1901 ई०–1337 हि०/1919 ई०)
6. शाह अमानुल्लाह ख़ाँ–(1337 हि०/1919 ई०–1347 हि०/1929 ई०)

महत्वपूर्ण घटनाएँ

1752 ई॰ — लाहौर और कश्मीर पर अहमद शाह अब्दाली का क़ब्ज़ा।

1757 ई॰ — अहमद शाह अब्दाली का दिल्ली में प्रवेश।

1761 ई॰ — (12 जनवरी) पानीपत की तीसरी जंग।

1762 ई॰ — अहमद शाह अब्दाली ने सिखों को पराजित किया जो लाहौर पर क़ाबिज़ हो गए थे।

1799 ई॰ — ज़मान शाह ने रणजीत सिंह को पंजाब का गवर्नर नियुक्त किया।

1816 ई॰ — हरात पर ईरान का अस्थायी क़ब्ज़ा।

1819 ई॰ — कश्मीर पर सिखों का क़ब्ज़ा।

1823 ई॰ — पेशावर पर सिखों का क़ब्ज़ा।

1839 ई॰—1842 ई॰— पहली अफ़ग़ान जंग। दोस्त मुहम्मद ख़ाँ के लड़के अकबर ख़ाँ ने मैदान छोड़नेवाली तीन हज़ार ब्रिटिश फ़ौज का ख़ातिमा किया (जनवरी 1842 ई॰)।

1856 ई॰ — हरात पर ईरान का क़ब्ज़ा।

1857 ई॰ — पेरिस-संधि, ईरान ने अफ़ग़ानिस्तान की आज़ादी स्वीकार की।

1863 ई॰ — हरात पर अफ़ग़ानिस्तान का स्थायी क़ब्ज़ा।

1878—1879 ई॰ — दूसरी अफ़ग़ान जंग। शेर अली के लड़के याक़ूब ख़ाँ को 1879 ई॰ (16 मई) को गंडामक-संधि के लिए मजबूर होना पड़ा।

1885 ई॰ — (18 जून) रूस के साथ सीमाओं के निर्धारण की संधि।

1893 ई॰ — (13 नवम्बर) डयूरंड लाइन का निर्धारण।

1895 ई॰ — (11 मार्च) पामीर के इलाक़े में अफ़ग़ानी सीमाओं का निर्धारण।

1919 ई॰ — (18 अगस्त) रावलपिंडी-संधि, अंग्रेज़ों ने अफ़ग़ानिस्तान की आज़ादी स्वीकार की।

1921 ई॰ — अफ़ग़ानिस्तान ने रूस, तुर्की और ईरान से मैत्री सम्बन्ध बनाए।

1923 ई॰ — अफ़ग़ानिस्तान में मूल अधिकारों के लागू करने का एलान।

1928 ई॰ — (जनवरी से जुलाई) अमानुल्लाह ख़ाँ और महारानी सुरैया ने भारत, मिस्र और यूरोप की यात्रा की। उसी साल नवम्बर में अफ़ग़ानिस्तान में बग़ावत।

1929 ई॰ — (17 जनवरी) काबुल पर बच्चा सक़्क़ा का क़ब्ज़ा। जनरल नादिर ख़ाँ ने 8 अक्तूबर को काबुल पर क़ब्ज़ा करके बच्चा सक़्क़ा की हुकूमत ख़त्म कर दी और 16 अक्तूबर को नादिर शाह के नाम से काबुल की सत्ता पर सत्तासीन।

अध्याय-32

तुर्किस्तान गुलामी की ज़ंजीरों में

1. पूर्वी तुर्किस्तान

प्राचीन काल में चीन की दीवार से लेकर काला सागर के उत्तरी तट तक मध्य एशिया एवं रूस का वह सारा इलाक़ा जो आधुनिक अफ़ग़ानिस्तान एवं ईरान के उत्तर में स्थित है, तुर्कों का वतन था। तूरान के इस भूभाग से इस्लाम के पूर्व भी बड़े-बड़े विजेता उठे और इस्लाम के बाद भी अतीला के नेतृत्व में हूणों की यलग़ार और फिर ख़ज़र-क़बीले की यलग़ार इसी विस्तृत भूभाग से शुरू हुई। मध्य एशिया और पाकिस्तान का कुषाण ख़ानदान, जिसका हुक्मरान कनिष्क था, एक तुर्की मूल का ख़ानदान था। थ्यान शान पर्वत जो तुर्किस्तान को दो भागों में विभक्त करता है और जिसे तुर्क 'तज़ीदाग़' कहते हैं, उसकी तराई तुर्क-क़ौम का गढ़ है। इस्लाम से पूर्व यह भूभाग कई सौ साल तक चीन की हिंसक कार्रवाइयों का केन्द्र बना रहा। कभी चीनी सफल हो जाते थे और कभी तुर्क। चीन की दीवार इन्हीं तुर्क हमलावरों से बचने के लिए बनाई गई थी।

आठवीं सदी ईसवी के मध्य में चीनियों ने अन्तिम बार हमला किया, परन्तु तुर्कों ने अरब के सिपहसालार नसर-बिन-सियार से, जो ख़ुरासान एवं मावराउन-नह्र के गवर्नर थे, मदद माँगी और 751 ई॰ में अरबों और तुर्कों की संयुक्त फ़ौज ने 'तालास' के मैदान में चीनियों को निर्णायक शिकस्त दी और तुर्किस्तान को स्थायी रूप से आज़ाद करा लिया। इस जंग ने इस बात का भी फैसला कर दिया कि आगे तुर्किस्तान का भविष्य इस्लामी संस्कृति से प्रभावित होगा न कि चीनी संस्कृति से।

इसके बाद धीरे-धीरे तुर्कों ने इस्लाम क़बूल कर लिया। तुर्क-क़बीले एक बार फिर तुर्किस्तान से निकलकर सारी इस्लामी दुनिया में फैल गए। तुर्किस्तान से बाहर सलजूक़ी तुर्कों और उसमानी तुर्कों ने महान सल्तनतें

क़ायम कीं। महमूद ग़ज़नवी के पूर्वज और दिल्ली के सुल्तानों के पूर्वज भी तुर्क थे और तुर्किस्तान से उपमहाद्वीप में आए थे। ख़ास तुर्किस्तान में पहली इस्लामी हुकूमत क़ुरह ख़ानियों की थी जिनको इलक ख़ानी भी कहते हैं और जो ग़ज़नी के सुल्तानों के समकालीन थे। क़ुरह ख़ानियों की राजधानी काशग़र-शहर में थी। उसी काल में तुर्की साहित्य आकार लेने लगा और पहली बार तुर्की भाषा में किताबें लिखी गईं। तुर्की साहित्य की प्रारम्भिक प्रसिद्ध पुस्तक 'कुतादग़ू बलीग़' (Kutadgu-Bilig) उसी ज़माने में काशग़र में लिखी गई। 'दीवान लुग़ातुत-तुर्क' जो तुर्की साहित्य एवं संस्कृति का शाहकार (महान रचना) समझा जाता है, यद्यपि 1072 ई॰ में बग़दाद में पूरा हुआ, परन्तु उसका लेखक पूर्वी तुर्किस्तान ही का एक नागरिक 'महमूद काशग़री' था।

क़ुरह ख़ानियों के बाद मंगोलों ने इस क्षेत्र पर हुकूमत की। चुग़ताई-मंगोल नस्ल से तुर्क थे। उन्होंने इस्लाम क़बूल करने के बाद तुर्की भाषा और इस्लामी संस्कृति अपना ली जिसका इस भूभाग में सदियों से वर्चस्व था। 1699 ई॰ में ख़्वाजा हिदायतुल्लाह नामक एक पीर-बुज़ुर्ग ने चुग़ताई-हुकूमत के विरुद्ध बग़ावत कर दी और हुकूमत पर क़ाबिज़ हो गया। तुर्कों के इस पारस्परिक संघर्ष से एक मंगोल-क़बीले क़ालमुक़ ने, जो ग़ैर-मुस्लिम था, फ़ायदा उठाया और पूर्वी तुर्किस्तान के उत्तरी भाग पर क़ाबिज़ होकर इपली-शहर को अपना मुख्यालय बना लिया। बाद में ख़्वाजा हिदायतुल्लाह ने भी उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। इन क़ालमुक़ों की हुकूमत, जिन्हें 'जुनगार' भी कहा जाता है, 1760 ई॰ तक क़ायम रही।

चीन का क़ब्ज़ा

'तालास' की जंग के बाद चीनियों ने पूरे एक हज़ार साल तक पूर्वी तुर्किस्तान का रुख़ नहीं किया था, परन्तु क़ालमुक़ों ने पूर्वी तुर्किस्तान पर क़ाबिज़ होने के बाद चीन पर हमले शुरू कर दिए और चीन के शहर पेकिंग तक धावे बोलने लगे। अतः उनकी इस कार्रवाई ने चीनियों को एक बार फिर तुर्किस्तान पर क़ब्ज़ा करने का बहाना पैदा कर दिया और उनकी फ़ौजों ने क़ालमुक़ों को पराजित करके 1760 ई॰ में पूर्वी तुर्किस्तान के उत्तरी भाग

पर क़ब्ज़ा कर लिया। इसके बाद काशग़र, यारक़ंद और ख़तन भी उनके अधीन चला गया। यहाँ के हुक्मरान ख़्वाजा बुरहानुद्दीन और उसके भाई ख़्वाजा जहाँ ने बदख़्शाँ में शरण ली, परन्तु बदख़्शाँ के हुक्मरान अमीर सुल्तान ने चीनियों की धमकी पर उन दोनों भाइयों को क़त्ल करके उनके सिर चीन भेज दिए। अमीर सुल्तान ने ख़्वाजा जहाँ की पत्नी दिलशाद सुल्तान को भी चीन भेज दिया। चीन के शहंशाह ने दिलशाद से शादी रचानी चाही परन्तु दिलशाद ने कठोरतापूर्वक इनकार कर दिया। अन्ततः उसे गला घोंटकर मार डाला गया। दिलशाद सुल्तान चीन एवं पूर्वी तुकिस्तान में इज़्ज़त और पाकदामनी का पर्याय बन गई और बाद में वह चीन एवं यूरोप में कई उपन्यासों का विषय बनी।

पूर्वी तुर्किस्तान पर क़ब्ज़ा करने के बाद चीनियों ने उस इलाक़े को चीन का स्थायी भाग बनाने की योजना पर काम करना शुरू कर दिया। तुर्कों का व्यापक जनसंहार किया गया जिसमें लाखों तुर्क मारे गए, लाखों विस्थापन के लिए मजबूर हुए और चीनियों को बड़ी संख्या में चीन से लाकर पूर्वी तुर्किस्तान में बसाया गया। इस्लामी काल में जो मस्जिदें, मदरसे, महल, स्नानागार एवं सराय बनाए गए थे, वे सब ढहा दिए गए और उनके स्थान पर चीनी शैली की इमारतें बनाई गईं ताकि मुसलमान अपने अतीत को भूल जाएँ और स्वयं को चीनी संस्कृति एवं चीनी क़ौम में समाहित कर दें।

याक़ूब बेग

चीनियों के इन अत्याचारों के विरुद्ध पूर्वी तुर्किस्तान के नागरिकों ने एक सौ साल की अवधि में सत्रह बार बग़ावत की और अन्ततः 1865 ई॰ में महान तुर्क-नेता याक़ूब बेग, जो ख़ोक़ंद और फ़रग़ाना के इलाक़े में रूसियों से कई लड़ाइयाँ लड़ चुका था, चीनियों को भगाने और पूर्वी तुर्किस्तान की आज़ाद हुकूमत क़ायम करने में सफल हो गया। उसकी हुकूमत को रूस, ब्रिटेन और उसमानी सल्तनत ने भी मान्यता दे दी। यद्यपि रूस ने इपली की उपजाऊ वादी पर, जहाँ से रूसी तुर्किस्तान को रास्ता जाता है, और काशग़र के निकट तज़ीदाग़-पर्वत के कई दर्रों पर क़ब्ज़ा कर लिया, क्योंकि ये वादी और दर्रे तुर्किस्तान में वही अहमियत रखते हैं, जो

अफ़ग़ानिस्तान और पाकिस्तान के बीच ख़ैबर-दर्रे की है। याक़ूब ने उसमानी हुक्मरान सुल्तान अब्दुल-अज़ीज़ को ख़लीफ़ा स्वीकार कर लिया और उसके नाम का खुत्बा (जुमा का अभिभाषण) तुर्किस्तान की मस्जिदों में पढ़ा जाने लगा और उसके नाम के सिक्के भी ढाले गए। सुल्तान अब्दुल-अज़ीज़ ने याक़ूब बेग के निवेदन पर एक फ़ौजी दस्ता और कुछ शस्त्र, जिनमें तोप और बन्दूक़ें भी थीं, बम्बई के रास्ते काशग़र भेजा। इन तुर्की फ़ौजी अफ़सरों के सहयोग से याक़ूब बेग ने अस्सी हज़ार फ़ौजी तैयार किए, परन्तु अभी ये तैयारियाँ पूरी नहीं हो पाई थीं कि चीन ने पूरी ताक़त से हमला कर दिया। अभी जंग जारी-थी कि याक़ूब बेग का इन्तिक़ाल हो गया। उसकी इस अचानक मौत के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसने आत्महत्या की थी, परन्तु पूर्वी तुर्किस्तान के एक नेता एवं लेखक अलप्तगीन ने लिखा है कि याक़ूब बेग को ज़हर देकर मारा गया था। यह भी कहा जाता है कि चीन ने यह हमला रूस के इशारे पर किया था, जिसने परिस्थितिवश यद्यपि पूर्वी तुर्किस्तान की हुकूमत को मान्यता दे दी थी, लेकिन वह पूर्वी तुर्किस्तान में एक ताक़तवर एवं आज़ाद हुकूमत की स्थापना को पश्चिमी तुर्किस्तान के अपने उपनिवेश के लिए ख़तरा समझता था।

इस बार चीन ने पूर्वी तुर्किस्तान को सीधे चीन में मिलाकर उसे चीन का एक प्रान्त बना लिया और उसका नाम 'शिनचांग' रख दिया, जिसका अर्थ 'नया प्रान्त' होता है। सिंकयांग उसी शिनचांग की बिगड़ी हुई अंग्रेज़ी शक्ल है। आज़ादी की कई कोशिशों के बावजूद पूर्वी तुर्किस्तान आज भी चीन की गुलामी में है।

2. पश्चिमी तुर्किस्तान

तुर्किस्तान पर रूसी यलग़ार

वोल्गा-नदी की वादी, जो तुर्कों की धरती या तुरान का उत्तर पूर्वी भाग था, में मुसलमानों का पतन सोलहवीं सदी में शुरू हो गया था। ठीक उस समय जब उसमानी तुर्क वियेना का घेराव करके मध्य यूरोप पर हमले कर रहे थे, वोल्गा की तराई के उज़्बेक और दूसरे तुर्क-क़बीले रूसियों के मुक़ाबले

में पूरब की ओर भाग रहे थे। रूसियों ने 1552 ई॰ में काज़ान पर और चार साल बाद 1556 ई॰ में अस्त्राख़ान पर क़ब्ज़ा करके वोल्गा की तराई में मुसलमानों एवं तुर्कों की सत्ता समाप्त कर दी थी। उस ज़माने में रूस का हुक्मरान ऐवान चतुर्थ (1533 ई॰–1584 ई॰) था जिसे ऐवान मुहीब (ख़ौफ़नाक) भी कहा जाता है और जिसने पहली बार 'ज़ार' की उपाधि धारण की, जो रूसी भाषा में 'सीज़र', 'क़ैसर' अथवा शहंशाह का पर्यायवाची शब्द है। ऐवान चतुर्थ ने कासक-क़बीले के एक लुटेरे सरदार यरमक को यूराल के पूरब में चढ़ाई करने और रूसियों को आबाद करने की इजाज़त दे दी। इस प्रकार रूसी, ज़ार के नाम पर जो रूसी सभ्यता का एक प्रतिनिधि था, ऐशिया के एक छोर से दूसरे छोर तक मारकाट करते और बस्तियों को उजाड़ते-जलाते हुए बिना किसी दयाभाव या लज्जा-भाव के बढ़ते चले गए।[1] बन्दूक़ों और अग्न्यस्त्र की वजह से, जिनसे साइबेरियावासी अनभिज्ञ थे, उन्हें अपने उद्देश्य की प्राप्ति में आसानी हो गई। क़ाज़िक़ तुर्कों के मुसलमान सरदार कचम ख़ाँ ने अरतश-नदी के किनारे अपनी राजधानी सिबरी से निकलकर 1580 ई॰ में रूसी आक्रमणकारियों का मुक़ाबला किया, परन्तु पराजित हुआ और सिबरी पर रूसियों का क़ब्ज़ा हो गया। यह मुल्क कम आबादीवाला परन्तु विस्तृत था, मुक़ाबला करनेवाला अब कोई बचा नहीं था, इसलिए रूसी आसानी से सम्पूर्ण पश्चिमी एवं मध्य साइबेरिया पर क़ाबिज़ हो गए। उन्होंने वहाँ आबाद तुर्क-क़बीलों को, जिनमें मुस्लिम एवं ग़ैर-मुस्लिम दोनों थे, अपना आज्ञाकारी बना लिया, और 1637 ई॰ तक वे प्रशान्त-महासागर तक पहुँच गए। 1587 ई॰ में रूसियों ने टोबोलिस्क-शहर की बुनियाद डाली। 1604 ई॰ में टोमिस्क की, 1619 ई॰ में यनीसेक की, 1632 ई॰ में काटस्क की और 1638 ई॰ में खोटस्क की बुनियाद डाली। इसके बाद रूसियों ने साइबेरिया के दक्षिण में स्थित उन इलाक़ों की ओर रुख़ किया जो आज क़ाज़क़िस्तान का हिस्सा हैं। यहाँ क़ाज़िक़ों के सरदार क़ाज़िक़ ख़ाँ ने 1741 ई॰ में रूसियों की अधीनता स्वीकार कर ली। यह

---

1. **Philp Var Ness Myers: The Modern Age, Part III, p. 276, Ginn and Lo London 1904.**

स्थिति लगभग एक सौ साल तक बनी रही। इसके बाद रूस ने एक क़दम और बढ़ाया। 1820 ई॰ से 1830 ई॰ के बीच क़ाज़िक़ों की उन सभी आज़ाद हुकूमतों को समाप्त कर दिया जिन्होंने रूसी अधीनता स्वीकार कर ली थी और 1834 ई॰ में कैस्पियन-सागर के उत्तरी तट पर नोवा एलेक्ज़ेंड्रोस का क़िला निर्मित किया। 1835 ई॰ और 1837 ई॰ के बीच ओरस्क (Orsk) एवं ट्रोइटस्क (Troitsk) के क़िले बनाए गए।

कैनेसरी

रूसियों की इस अत्याचारी नीतियों ने सारे क़ाज़िक़स्तान में आग लगा दी और क़ाज़िक़-क़बीले रूसियों के विरुद्ध उठ खड़े हुए। उन सरदारों में कैनेसरी का नाम सबसे प्रमुख है। उसने 1837 ई॰ से 1846 ई॰ तक रूसियों का सख़्त मुक़ाबला किया और उन्हें क़ाज़िक़स्तान से निकल जाने पर विवश कर दिया, परन्तु यह महान मुस्लिम सरदार आपसी उलझन का शिकार होकर अपने ही सहधर्मी किरग़िज़ों के हाथ मारा गया। तुर्क उसे तुर्किस्तान का हीरो मानते हैं और क़ाज़िक़स्तान के इतिहास में उसका वही स्थान है जो उत्तरी क़फ़क़ाज़ या दाग़िस्तान में इमाम शामिल का है। क़ाज़िक़-लोकगीतों में उसे आज भी याद किया जाता है। अब क़ाज़िक़ों की शक्ति क्षीण हो गई थी। रूसियों ने क़ाज़िक़स्तान में औरनबर्ग, सेमीप्लाटंस्क एवं कैस्पियन-सागर के पूर्वी तट पर क्रास्नोवोडस्टिक (Crasno Vodstk) नामक सैनिक छावनियाँ बनाईं। 1847 ई॰ में रूसी फ़ौजें सेहून-नदी के मुहाने तक पहुँच गईं तथा अराल-झील एवं औरनबर्ग के बीच सड़क भी बना ली। अब रूसी सल्तनत की सीमाएँ ख़ोक़ंद, बुख़ारा एवं ख़ेवा की तीन रियासतों से मिल गईं जो उज़्बेकों के पतन के बाद तुर्किस्तान में स्थापित हुई थीं। इनमें सबसे पहले ख़ोक़ंद की रियासत रूसियों की हिंसक कार्रवाइयों का निशाना बनी, जहाँ 1852 ई॰ में रूसियों ने सैहून-नदी के किनारे आक़ मस्जिद (क़ज़ल औरदह) पर क़ब्ज़ा कर लिया जो रियासत ख़ोक़न्द का इलाक़ा था।

दाग़िस्तान और इमाम शामिल

रूस के दक्षिण में क़फ़क़ाज़ के इलाक़े पर मुसलमान ख़िलाफ़ते-राशिदा के ज़माने में ही क़ाबिज़ हो गए थे। इस इलाक़े में गिरजिस्तान, आरमीनिया, दाग़िस्तान एवं आज़रबाइजान आते हैं। इनमें गिरजिस्तान और आरमीनिया में ईसाइयों की संख्या अधिक है, परन्तु दाग़िस्तान और आज़रबाइजान में मंगोलों के बाद अर्थात् तेरहवीं सदी से मुसलमान बहुसंख्यक हो गए। यहाँ के लोग भिन्न-भिन्न भाषा बोलते हैं, जिनमें तुर्की का प्रचलन सबसे ज़्यादा है। जिस प्रकार मध्य एशिया की तुर्की मध्यकाल में चुग़ताई-तुर्की कहलाती थी, आज़रबाइजान की तुर्की आज़री कहलाती है।

रूसियों के क़ब्ज़े से पहले क़फ़क़ाज़ के ये इलाक़े कभी ईरान की हुकूमत के अधीन आ जाते थे और कभी उनपर उसमानी तुर्क क़ाबिज़ हो जाते थे। शेरवान का इलाक़ा, जहाँ से इसमाईल सफ़वी ने अपनी हुकूमत का आग़ाज़ किया था, आज़रबइजान का एक भाग है। जब अफ़ग़ानों ने इस्फ़हान पर क़ब्ज़ा करके सफ़वी सल्तनत का अन्त कर दिया था, तो ईरान की ख़राब स्थिति का फ़ायदा उठाकर रूस ने दाग़िस्तान और उत्तरी आज़रबाइजान पर एवं उसमानी तुर्कों ने गिरजिस्तान तथा आरमीनिया पर क़ब्ज़ा कर लिया था, लेकिन नादिर शाह ने उन इलाक़ों को जल्द ही वापस छीन लिया। उसके बाद रूसी 1797 ई॰ में फिर दाग़िस्तान पर क़ाबिज़ हो गए और कुछ वर्षों में अरदस-नदी तक सम्पूर्ण आज़रबाइजान पर क़ब्ज़ा कर लिया। फ़त्ह अली शाह क़ाचार 1828 ई॰ में तुर्कमांची-संधि के तेहत उन सभी इलाक़ों पर से ईरान के पक्ष में दस्तबरदार हो गया।

रूसियों की इस हिंसक आक्रमण के दौरान जिस इलाक़े के लोगों ने आक्रमणकारियों का ख़ूब जमकर मुक़ाबला किया, वह दाग़िस्तान है। यहाँ के निडर लोगों ने बार-बार बग़ावत की और रूसियों को अपने देश से निकाल कर ही दम लिया। आज़ादी की इस जंग में जिस व्यक्ति ने सबसे ज़्यादा प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता प्राप्त की वे इमाम शामिल (1797 ई॰–1871 ई॰) हैं। 1834 ई॰ में इमाम हमज़ा बेग की शहादत के बाद इमाम शमिल को दाग़िस्तान का नेता चुना गया। इसके बाद उन्होंने पच्चीस सालों तक

अद्वितीय साहस का परिचय देते हुए रूसियों की असंख्य फ़ौज का मुक़ाबला किया और 1845 ई॰ तक दाग़िस्तान के हर क्षेत्र से रूसियों को निकाल दिया, परन्तु रूसी बार-बार हमलावर होते थे और इमाम शामिल के लिए उनकी विशाल सैन्य शक्ति, जो आधुनिक हथियारों से लैस थी, से अकेले मुक़ाबला करना सम्भव नहीं रहा। उन्होंने उसमानी सल्तनत और ब्रिटेन से मदद माँगी, परन्तु उन्हें मदद नहीं मिली। अंततः उन्होंने 25 अगस्त 1859 ई॰ को अब्दुल-क़ादिर अल-जज़ायरी की तरह हथियार डाल दिए। रूसी कमाण्डर ने, जो रूस के ज़ार का भाई था, ज़ार को बधाई संदेश भेजा कि आज क़फ़क़ाज़ की जंग, जो एक सौ साल से जारी थी, ख़त्म हो गई। उस दिन गिरजाघरों में इस सफलता पर प्रार्थनाएँ की गईं।

रूसी हुकूमत इमाम शामिल के साथ इज़्ज़त-सम्मान से पेश आई, उनकी पेंशन निर्धारित कर दी गई और रहने के लिए मकान दिया गया। 1870 ई॰ तक इमाम शामिल रूस में रहे, उसके बाद वे रूसी हुकूमत से इजाज़त लेकर हज के लिए मक्का चले गए और अगले साल 1871 ई॰ में उनकी मृत्यु हो गई।

इमाम शामिल की महानता केवल उनकी वीरता एवं साहसिक जंग के कारण नहीं है, बल्कि उनकी राजनीतिक सूझबूझ, प्रशासनिक क्षमता एवं सदाचरण ने उन्हें अब्दुल-क़ादिर अल-जज़ायरी एवं टीपू सुल्तान की तरह महान बना दिया था। उनका ज़माना दाग़िस्तान के इतिहास में 'शरीअत का दौर' कहलाता है। इमाम शामिल तसव्वुफ़ (सूफ़ीवाद) के नक़्शबन्दी पंथ के नेता थे। उनकी बनाई हुई प्रशासनिक एवं क़ानूनी नियमावली 'निज़ाम शामिल' कहलाती है। उसके अनुसार दाग़िस्तान 32 प्रशासनिक ज़िलों में बाँट दिया गया था। व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका अलग-अलग थी। हर ज़िले का मुफ़्ती न्याय-विभाग का ज़िम्मेदार होता था और ज़िले का प्रशासनिक हाकिम (अधिकारी) उसके कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। हर मुफ़्ती के मातेहत चार क़ाज़ी होते थे। यदि किसी मामले का निपटारा क़ाज़ी नहीं कर पाते थे तो वह मुफ़्ती के समक्ष पेश किया जाता था और मुफ़्ती उस मामले को इमाम शामिल या मजलिसे-शूरा (परामर्श

सभा) के सामने पेश करता था, जिसे दीवान का नाम दिया गया था। इमाम शामिल ने जाँच-विभाग (Accountability Department) भी क़ायम किया था जिसके द्वारा पदाधिकारियों पर निगरानी रखी जाती थी। फ़ौज का संगठन भी आधुनिक तरीक़े से किया गया था और राजधानी वदेनो (Vedeno) में बन्दूक़ एवं तोप बनाने का कारख़ाना भी स्थापित किया गया था। एक समय में दाग़िस्तान की फ़ौजों की संख्या साठ हज़ार सवार व पैदल तक पहुँच गई थी। फ़ौजी प्रशिक्षण के लिए जो केन्द्र बनाए गए थे उनमें क़ैद किए जानेवाले रूसी अफ़सर प्रशिक्षण देते थे।

इमाम शामिल के हथियार डाल देने के बाद दाग़िस्तान में पाँच साल तक रूसियों से संघर्ष होता रहा। यहाँ तक कि 21 मई 1864 ई० को दाग़िस्तान का अन्तिम पहाड़ी क़िला भी रूसियों के क़ब्ज़े में आ गया। दाग़िस्तान की आज़ादी की जंग अब समाप्त हो चुकी थी। रूसी फ़ौजों के कमाण्डर ग्रांड डयूक ने अपने भाई ज़ार को बधाई का संदेश भेजा और सूचना दी कि क़फ़क़ाज़ की सौ साला जंग आज समाप्त हो गई।

रूसी फ़ौजें अब अपना काम पूरा कर चुकी थीं। रूस के ज़ार ने अब उन्हें तुर्किस्तान का रुख़ करने का आदेश दिया, परन्तु तुर्किस्तान पर रूसी हमले से पहले आइए हम उन तीन रियासतों के हालात पर भी एक नज़र डाल लें जो उज़्बेकों के पतन के बाद ख़ोक़ंद, बुख़ारा और ख़ेवा में क़ायम हुई थीं और जो अब रूस की हिंसक कार्रवाइयों का निशाना बननेवाली थीं।

ख़ोक़न्द

अस्त्रख़ानी हुक्मरान अब्दुल-अज़ीज़ की 1680 ई० में मृत्यु के बाद बुख़ारा की सल्तनत टुकड़े-टुकड़े हो गई। ख़ेवा पर बुख़ारा का वर्चस्व पहले ही ख़त्म हो चुका था। 1700 ई० के आसपास एक मंगोल-शहज़ादे शाहरुख़ ने फ़रग़ाना की आज़ादी का एलान कर दिया और फ़रग़ाना के शहर ख़ोक़न्द के नाम पर नई रियासत का नाम ख़ोक़न्द रखा। 1760 ई० में चीन ने पूर्वी तुर्किस्तान पर क़ब्ज़ा कर लिया तो यहाँ के हुक्मरान ने भी कुछ समय के लिए चीन की अधीनता स्वीकार कर ली थी।

अट्ठारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में दो भाइयों आलम और उमर ने ख़ोक़न्द की रियासत को इतना बढ़ा लिया कि वह बुख़ारा के टक्कर की हो गई। ख़ोक़न्द की जामा मस्जिद 1815 ई॰ में उमर ख़ाँ ने बनवाई जो मदरसा की हैसियत से इस्तेमाल होने के कारण 'मदरसा-ए-जामे' कहलाती थी। उमर ख़ाँ ने कृषि को भी तरक़्क़ी दी और 75 मील लम्बी एक नहर खुदवाई। उमर के बेटे मुहम्मद अली के दौर में ख़ोक़न्द की रियासत अपने विकास के चरम-बिन्दु पर पहुँच चुकी थी। किरग़िज़ एवं क़ाज़िक़ क़बीलों को इन्होंने क़ाबू में करके अपना आज्ञाकारी बना लिया था। मुहम्मद अली ने भी एक मदरसा बनवाया। ताशक़न्द के 'बैगलरबेगी' यानी सूबेदार ने, जो उत्तरी भाग का सूबेदार था, एक आलीशान मदरसा बनवाया जो उसके नाम पर मदरसा 'बैगलरबेगी' कहलाता है।

रूसियों ने जब ख़ोक़न्द पर हमला किया तो वहाँ का हुक्मरान मुज़फ़्फ़र (1862 ई॰–1865 ई॰) था। 1864 ई॰ में रूसियों ने 'औलिया अता' पर क़ब्ज़ा किया, फिर ताशक़न्द पर। ताशक़न्द में रूसियों का एक-एक घर और एक-एक इंच पर मुक़ाबला किया गया और उन्हें खदेड़ दिया गया। अन्ततः शहरवासियों ने 28 अक्तूबर 1865 ई॰ को हथियार डाल दिए। और ख़ोक़न्द की रियासत की हुकूमत रूसियों का उपनिवेश बन गई। 1865 ई॰ में खुदायार ख़ोक़न्द का हुक्मरान बना, परन्तु जनता उसके करतूतों से परेशान थी, उन्होंने 1875 ई॰ में उसे सत्ता से उखाड़ फेंका और उसके लड़के नसरुद्दीन को गद्दी पर बैठाया। ख़ान खुदायार ने रूसियों से मदद माँगी और रूसी सुरक्षा में ताशक़न्द पहुँच गया। ख़ोक़न्दवासियों ने रूसियों के ख़िलाफ़ जिहाद का एलान कर दिया लेकिन रूसियों ने उनको शिकस्त देकर खोक़न्द पर क़ब्ज़ा कर लिया और 2 मार्च 1876 ई॰ को उसे रूस में मिलाकर उसका नाम फ़रग़ाना कर दिया जो उस इलाक़े का प्राचीन नाम था।

बुख़ारा

रूस ने जब मध्य एशिया की मुस्लिम रियासतों के ख़िलाफ़ कार्रवाई शुरू की तो उसने अपनी हिंसक कार्रवाइयों को वैध साबित करने के लिए और यूरोपीय हुकूमतों को संतुष्ट करने के लिए 21 नवम्बर 1864 ई॰ को एक पत्र

यूरोपीय हुकूमतों को भेजा, जिसमें कहा गया था कि रूस यह कार्रवाई इसलिए कर रहा है कि इन असभ्य हुकूमतों की ओर से उसे ख़तरा है और रूस की यह कार्रवाई बिलकुल वैसी ही है जैसी अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस अपने-अपने इलाक़ों में कर चुके हैं।

बुख़ारा में अस्त्रख़ानी हुकूमत के अन्त के बाद मंगीत-ख़ानदान की हुकूमत क़ायम हुई। उस ख़ानदान का पहला हुक्मरान मीर मासूम (1199 हि॰/1784 ई॰–1215 हि॰/1800 ई॰) था, जो अस्त्रख़ानियों का एक पदाधिकारी था, परन्तु अन्ततः वह इतना शक्तिशाली हो गया कि अस्त्रख़ानी हुक्मरान अबुल-ग़ाज़ी को हटाकर स्वयं बुख़ारा का अमीर (गवर्नर) बन गया। अमीर मासूम सादा एवं सरल जीवन गुज़ारता था। उसके काल में शरीअत पर कठोरता से अमल किया जाता था। उसने 'रईसे-शरीअत' (शरीअत का प्रमुख) का पद सृजित किया। डाकुओं, चोरों, शराबियों एवं तम्बाकू खानेवालों को उसके काल में कठोर सजाएँ दी जाती थीं। बुख़ारा के ये हुक्मरान सम्भवतः इस्लाम के आदेशों के पालन में ऊपरी दिखावा ही करते थे, इस्लाम की मूल आत्मा उनके बीच से समाप्त होती जा रही थी। अमीर मासूम ख़ुरासान पर बारह वर्षों तक हमले करता रहा, जिसका कोई मक़्सद इसके सिवा नहीं था कि ईरानी शियों को तबाह किया जाए। इन हमलों में उसने मर्व का ऐतिहासिक शहर और वहाँ की सिंचाई की व्यवस्था को बरबाद कर दिया।

अमीर मासूम का उत्तराधिकारी अमीर सईद हैदर (1215 हि॰/1800 ई॰–1242 हि॰/1826 ई॰) एक इबादतगुज़ार (ईश-भक्त) परन्तु कमज़ोर हुक्मरान था। उसने शरीअत का पालन बाप से भी अधिक दृढ़ता से किया एवं कराया। उसका उत्तराधिकारी अमीर नसरुल्लाह ख़ाँ (1242 हि॰/1826 ई॰–1277 हि॰/1860 ई॰) एक स्वार्थी उद्दण्ड एवं हिंसा प्रिय हुक्मरान था। उसके काल में रूस सैहून-नदी तक पहुँच गया था, परन्तु इसके बाद भी वह ख़ोक़न्द की रियासत से झड़प में व्यस्त रहा। उसके बाद जब उसका बेटा अमीर मुज़फ़्फ़रुद्दीन (1277 हि॰/1860 ई॰–1287 हि॰/1885 ई॰) गद्दी पर बैठा, तो रूस सैहून-नदी को पार कर चुके थे। 1865 ई॰ में ख़ोक़न्द को

पराजित करने के बाद रूसियों ने 1866 ई॰ के बसंत ऋतु में बुख़ारा के विरुद्ध फ़ौजी कार्रवाई शुरू कर दी। 20 मई 1866 ई॰ की 'सीरजार' के निर्णायक युद्ध में बुख़ारा को शिकस्त हुई। एक हज़ार मुसलमान शहीद हुए और पचास रूसी मारे गए। इसके बाद एक के बाद दूसरा शहर उनके क़ब्ज़े में आते चले गए और 14 मई 1868 ई॰ को समरक़न्द पर भी रूसियों का क़ब्ज़ा हो गया। 18 जून को बुख़ारा के अमीर ने जंग का हरजाना देकर रूसियों की अधीनता स्वीकार कर ली। इस बीच समरक़न्द में बग़ावत हो गई जिसे रूसियों ने कठोरतापूर्वक कुचल दिया और तीन दिनों तक शहर में क़त्ले-आम होता रहा प्रोफ़ैसर वैम्बरी समरक़न्द पर रूसी आधिपत्य की चर्चा करते हुए लिखते हैं–

> "रूसी ईसाइयों ने समरक़न्द पर क़ब्ज़ा कर लिया, जो कभी तैमूर का शानो-शौकतवाला मुख्यालय था। यह शहर इस्लामी इतिहास में प्रमुख स्थान बनानेवालों की जन्मस्थली एवं अन्तिम आरामगाह था और इस्लामी ज्ञान एवं साहित्य का उत्कृष्ट केन्द्र भी।"

रूसियों ने बुख़ारा की रियासत को ख़ोक़न्द की तरह ख़त्म नहीं किया। उन्होंने समरक़न्द समेत रियासत के उर्वर-उपजाऊ इलाक़े छीन लिए और शेष इलाक़े को एक अधीन रियासत (उपनिवेश) के रूप में बरक़रार रखा। अमीर मुज़फ़्फ़रुद्दीन के बाद अमीर अब्दुल-अहद (1885 ई॰–1910 ई॰) और फिर अमीर आलम (1910 ई॰–1920 ई॰) ने रूसियों की छत्रछाया में अपनी गद्दी बचाए रखी। 1920 ई॰ में रूस के साम्यवादियों के समर्थन से बुख़ारा को एक लोकतांत्रिक गणराज्य बना दिया गया और अमीर आलम फ़रार होकर अफ़ग़ानिस्तान चला गया, जहाँ द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त तक काबुल में रहा।

ख़ेवा

तुर्किस्तान में अब केवल ख़ेवा की आज़ाद रियासत बची थी। 'ख़ेवा' वास्तव में 'ख़ुवारिज़्म' का प्राचीन नाम है। 'ख़ुवारिज़्म' के नाम से, शहर से ज़्यादा इलाक़े का तात्पर्य है। जैहून-नदी के उत्तरी किनारे पर नदी की उर्वर

घाटी में औरगंज तथा औरकास के नाम से दो शहर विभिन्न कालों में मौजूद रहे हैं। ख़ेवा उनमें तीसरा और अन्तिम शहर है। उनमें जो भी शहर राजधानी बनी, उसे ख़ुवारिज़्म के नाम से प्रसिद्धि मिली।

मंगोलों के पतन के बाद 1360 ई॰ में हुसैन सूफ़ी नामक एक मंगोल-सरदार ने यहाँ एक आज़ाद हुकूमत बना ली जो 1379 ई॰ के बाद तैमूरियों के प्रभाव में रही। 911 हि॰/1505 ई॰ में शैबाई ख़ाँ ने ख़ेवा पर क़ब्ज़ा कर लिया, परन्तु 921 हि॰/1555 ई॰ में यहाँ 'तोनफ़रत' ख़ानदान ने अपनी आज़ाद हुकूमत स्थापित कर ली। यह हुकूमत बुख़ारा से संघर्षरत रहती थी। कभी बुख़ारा की अधीनता स्वीकार कर लेती थी और कभी आज़ाद हो जाती थी। इस ख़ानदान का सबसे प्रमुख हुक्मरान अबुल-ग़ाज़ी बहादुर ख़ाँ (1054 हि॰/1644 ई॰–1074 हि॰/1663 ई॰) हुआ है जो अपने आचरण एवं व्यवहार में बाबर जैसा था। वह अरब मुहम्मद ख़ाँ का बेटा था जो शैबाई उज़्बेकों के ख़ानदान से था। उसने 1644 ई॰ में बुख़ारा से आज़ादी प्राप्त कर ली और ख़ेवा को एक आज़ाद रियासत बना दिया, परन्तु अबुल-ग़ाज़ी बहादुर ख़ाँ एक हुक्मरान से ज़्यादा एक महान लेखक के रूप में प्रसिद्ध है। वह आधुनिक काल से पूर्व चुग़ताई तुर्की भाषा का अंतिम महान लेखक था। उसकी दो किताबें 'शजरा-ए-तुर्क और 'श-ज-र-ए-तराकमा' बड़ी ऐतिहासिक अहमियत रखती हैं। ये किताबें सराये और ख़ुवारिज़्म की हुकूमतों एवं उज़्बेकों का हाल मालूम करने का एक प्रामाणिक स्रोत हैं।

ख़ेवा के अन्तिम हुक्मरानों में मुहम्मद अमीन (1846 ई॰–1855 ई॰) का नाम उल्लेखनीय है। आधुनिक ख़ेवा की सबसे प्रमुख इमारत 'नीला मीनार' जो एक सौ साठ फ़ीट ऊँची है, उसी के काल में निर्मित हुआ।

ख़ेवा पर रूसियों ने सतरहवीं सदी से ही हमले शुरू कर दिए थे। अबुल-ग़ाज़ी बहादुर ख़ाँ को भी उन हमलों का मुक़ाबला करना पड़ा था, परन्तु उन हमलों में रूसियों को हमेशा मुँह की खानी पड़ी। पीटर महान ने 1717 ई॰ और उसके बाद दो बार ख़ेवा पर आक्रमण किए, परन्तु दोनों बार उसे शिकस्त का मुँह देखना पड़ा और भारी नुक़्सान उठाना पड़ा। 1834 ई॰ में कैस्पीयन-सागर के निकटवर्ती शहर एलेक्ज़ेन्ड्रोस्क की ओर से और 1839

ई॰ में औरनबर्ग की ओर से रूसियों ने हमले किए, परन्तु सफल नहीं हुए। रूसियों ने ख़ेवा पर अन्तिम बार 1872 ई॰ में बुख़ारा पर सफलता प्राप्त करने के बाद हमला किया। उस समय सैयद मुहम्मद रहीम ख़ाँ (1864 ई॰–1910 ई॰) ख़ेवा का 'ख़ान' था। सैयद मुहम्मद रहीम ख़ाँ ने ईरान और भारत की ब्रिटिश हुकूमत से मदद माँगी, परन्तु किसी ने उसकी मदद नहीं की। अन्ततः जून 1873 ई॰ में उसने रूस की अधीनता स्वीकार कर ली। उन्होंने आमूर-नदी के दाँए तट और डेल्टा के इलाक़े को अपने कब्ज़े में ले लिया और शेष ख़ेवा पर 'ख़ान' की अधीनस्थ सत्ता बरक़रार रहने दी। सैयद मुहम्मद रहीम ख़ाँ के उत्तराधिकारी ख़ान इस्फ़न्दयार (1910 ई॰–1918 ई॰ और सैयद अब्दुल्लाह (1918 ई॰–1920 ई॰) रूसियों के टैक्सदाता की हैसियत से 1920 ई॰ तक हुकूमत करते रहे। उसके बाद ख़ेवा में साम्यवादी हुकूमत स्थापित कर दी गई।

तुर्किस्तान में रूसियों की अन्तिम फ़ौजी कार्रवाई उन तुर्कमानों के ख़िलाफ़ थी जो आमू-नदी (जैहून) और कैपस्यिन-सागर के मध्य ईरान की उत्तरी सीमा से लगे हुए क्षेत्र में आबाद थे। यह कार्रवाई 1881 ई॰ से 1884 ई॰ तक चलती रही। 9 फ़रवरी 1884 ई॰ को रूसियों ने इश्क़ाबाद पर और 14 फ़रवरी 1884 ई॰ में मर्व पर क़ब्ज़ा कर लिया और इस प्रकार यह अभियान भी पूर्ण हुआ। इन फ़ौजी कार्रवाइयों में रूसियों ने तुर्कमानों के साथ जिस बर्बरियत एवं पाशविकता का व्यवहार किया, और उन्होंने तुर्कमान औरतों एवं बच्चों का जिस नृशंसता से क़त्ले-आम किया, उसे देखते हुए पश्चिम के इतिहासकारों ने भी इसे 'आधुनिक इतिहास का महानतम अपराध' माना है।

इस्लामी दौर का अन्त

रूसियों के हाथों तुर्किस्तान की पराजय से इस्लामी इतिहास का वह ग्यारह सौ साला दौर ख़त्म हो गया, जिसका आग़ाज़ पहली सदी हिजरी में उमवी विजेता क़ुतैबा-बिन-मुस्लिम की तुर्किस्तान फ़तूह से हुआ था। हंगरी के पूर्व विद्या विशारद प्रोफ़ेसर वैम्बरी ने, जो रूसी फ़तूह के बाद तुर्किस्तान गए थे, तुर्किस्तान पर रूसी दबदबा की चर्चा इन शब्दों में की है–

"जिस समय समरक़न्द पर रूसी झंडा लहराया था, उस समय यह प्राचीन एवं सुदूर मुल्क एक नई दुनिया और नए विचार के मार्ग पर अग्रसर हुआ। ऐसे शहर और बस्तियाँ, जो पश्चिमवालों से छुपी थीं, अब सामने आ गईं। वे स्थान, जहाँ यूरोपीय पर्यटक भेष बदलकर और जान हथेली पर लेकर जाया करते थे, अब न केवल सुरक्षित एवं आज़ाद हैं बल्कि ईसाइयों के शासनान्तर्गत हैं। ताशक़न्द में गिरजे और क्लब बन गए हैं और यही हाल ख़ंजद एवं समरक़न्द का है। ताशक़न्द में एक अख़बार भी है। वहाँ मुअज़्ज़िन की उदास आवाज़ में यूनानी गिरजे के घण्टे रोचकता पैदा करते हैं और घण्टों की यह आवाज़ मुसलमानों को तोप की आवाज़ से भी बुरी लगती है। उन स्थानों पर जहाँ कुछ साल पहले यह लेखक मुसलमानों की दुआ पढ़ता हुआ बाहर निकलता था, अब पादरी, सिपाही एवं व्यापारी गर्व के साथ बुख़ारा की गलियों में घूमते हैं। तैमूर के शानदार महल में रूसी चिकित्सालय और मालगोदाम बनाए गए हैं। इस महल में विगत ज़माने में एशिया के तमाम शहज़ादों की ओर से राजदूत प्रवेश की अनुमति माँगा करते थे। उसके लिए तोहफ़े लाते थे, जहाँ स्पेन के महान बादशाह ने अपना राजदूत भेजा और विनम्रतापूर्वक दोस्ती की इच्छा प्रकट की, और जहाँ तूरानियों के वंशज इस नेक मक़सद के लिए आते थे कि उस 'नीले पत्थर' पर माथा रगड़ें जो तैमूर के तख़्त का निचला भाग था... यह अहम घटना कि मध्य एशिया में रूसी कामयाब हुए, इस्लाम पर ऐसी ज़बरदस्त चोट है कि एक हज़ार साल की अवधि में ऐसी चोट नहीं लगी। मक्का के बाद बुख़ारा इस्लाम का रूहानी केन्द्र बन गया था। उसमानी सल्तनत, मिस्र और मराकश तक के मुसलमान शिक्षा प्राप्ति हेतु यहाँ आते थे जिसके कारण वे (बुख़ारावासी) मज़हब के ऐसे दीवाने बन गए थे। इस्लामी दुनिया के मुसलमानों के दिलों में इस बात का बहुत अफ़सोस होगा कि यह पवित्र धरती काफ़िरों की उपस्थिति से नापाक हुई। इस्लाम के इस स्तम्भ के गिरने से जो गर्द

उड़ी है वह काले बादल की तरह इस्लाम के भविष्य पर छाई रहेगी।[1]

वास्तविकता यह है कि तुर्किस्तान पर रूसियों का क़ब्ज़ा इस्लामी इतिहास की सबसे बड़ी दुर्घटना है। यह अन्दलुस की दुर्घटना से ज़्यादा भयानक है और हिन्दुस्तान पर अंग्रेज़ी अधिकार से ज़्यादा हृदयविदारक। इसलिए कि अन्दलुस में मुसलमानों की बहुलता नहीं थी और भारत से अंग्रेज़ी सत्ता समाप्त होने पर मुस्लिम बहुल इलाकों में पाकिस्तान एवं बांगलादेश अस्तित्व में आ गए, परन्तु तुर्किस्तान मुसलमानों और तुर्कों का हज़ार साला वतन है लेकिन वहाँ के वासी आज तक गुलामी की ज़ंजीरों में जकड़े हुए हैं और अपने ही वतन में अल्पसंख्यक होते जा रहे हैं।

(रूसी क़ब्ज़े के बाद से वर्तमान समय तक रूसी मुसलमानों के हालात जानने के लिए देखें इस पुस्तक का तीसरा खण्ड।)

महत्वपूर्ण घटनाएँ

1580 ई॰ — रूसियों ने साइबेरिया का मुख्यालय सबरी फ़त्ह किया।

1587 ई॰ — अरतश-नदी के किनारे 'टेबोलिस्क' के शहर की बुनियाद पड़ी।

1697 ई॰—1698 ई॰—रूस के ज़ार पीटर महान ने यूरोप का दौरा किया ताकि तुर्कों के विरुद्ध सहयोगी बनाए और रूस को पश्चिमी शैली में तरक़्क़ी दे सके।

1717 ई॰ — ख़ेवा पर पीटर ने चढ़ाई की, ख़ेवा के सरदार के मुक़ाबले में सम्पूर्ण फ़ौज मारी गई।

1760 ई॰ — पूर्वी तुर्किस्तान पर चीन का क़ब्ज़ा।

1813 ई॰ — दाग़िस्तान, उत्तरी आज़रबाइजान एवं गिरजिस्तान पर रूस का क़ब्ज़ा।

1820 ई॰—1830 ई॰—क़ाज़िक़-क़बीलों पर रूस का कन्ट्रोल।

---

1. वैम्बरी : तारीख़े-बुख़ारा, पृष्ठ-518 से 520 (उर्दू तरजिमा)

1828 ई॰ — आरमीनिया पर रूस का क़ब्ज़ा।

1834 ई॰ — कैस्पियन-सागर के उत्तरी तट पर क़िला नोवा एलेक्ज़ेन्ड्रोज़ का निर्माण।

1837 ई॰—1846 ई॰— क़ाज़िक़-सरदार कैनेसरी ने रूसियों को क़ाज़िक़स्तान से खदेड़ा, परन्तु उसकी मृत्यु के बाद रूसियों ने पुनः क़ाज़िक़स्तान पर वर्चस्व प्राप्त किया।

1839 ई॰ — ख़ेवा के विरुद्ध रूसियों की दूसरी असफल मुहिम।

1847 ई॰ — सैहून-नदी के मुहाने पर रूस का क़ब्ज़ा।

1853 ई॰ — आक़ मस्जिद (क़ज़्ल औरदा) पर, जो ख़ोक़न्द का इलाक़ा था, रूस का क़ब्ज़ा।

1859 ई॰ — दाग़िस्तान में इमाम शामिल ने हथियार डाल दिए।

1863 ई॰ — पूर्वी तुर्किस्तान से चीनी निकाल दिए गए।

1864 ई॰ — चमक़न्द, औलिया अता और ताशक़न्द पर रूस का क़ब्ज़ा।

1865 ई॰ — पूर्वी तुर्किस्तान पर याक़ूब बेग की हुकूमत का आग़ाज़।

1868 ई॰ — (14 मई) समरक़न्द पर रूस का क़ब्ज़ा।

1870 ई॰ — याक़ूब बेग ने उसमानी ख़लीफ़ा के नाम का ख़ुत्बा एवं सिक्का जारी किया।

1873 ई॰ — ख़ेवा पर रूस का क़ब्ज़ा।

1876 ई॰ — पूर्वी तुर्किस्तान पर चीन का दोबारा क़ब्ज़ा।

1884 ई॰ — 9 फ़रवरी को इश्काबाद और 14 फ़रवरी मर्व पर रूस का क़ब्ज़ा।

अध्याय-33

उसमान-वंश की तलवार टूट गई

(उसमानियों का पतन) (1700 ई०–1924 ई०)

1. कार्लोविट्ज़-संधि से द्वितीय संविधान तक

1699 ई० में कार्लोविट्ज़-संधि के बाद उसमानी सल्तनत के इतिहास को दो स्पष्ट भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(1) 1699 ई० से 1774 ई० तक का काल।

(2) 1774 ई० से 1924 ई० तक का काल।

कार्लोविट्ज़-संधि के बाद यूरोप में तुर्कों की पेशक़दमी रुक गई और हंगरी से भी हाथ धोना पड़ा, परन्तु वे शेष सल्तनत को 1774 ई० तक बचाए रहे। इस अवधि में उन्हें यूरोप के विरुद्ध सफलता भी मिली और असफलता भी, परन्तु 1774 ई० के बाद तुर्कों का तेज़ी से पतन शुरू हो गया। अब वे लगातार पराजित होने लगे और उनके जीते हुए भूभाग एक-एक करके हाथ से निकलने लगे। दूसरे शब्दों में 1774 ई० के बाद से उसमानी तुर्कों का पतन शुरू हो गया लेकिन उसमानी तुर्क भारत-पाक उपमहाद्वीप के मुसलमानों की तरह इतने कमज़ोर कभी नहीं हुए कि दुश्मन आसानी से उन्हें ख़त्म कर देता। इस्लामी हिन्द में औरंगज़ेब के बाद कोई शक्तिशाली हुक्मरान पैदा नहीं हुआ जो मराठों और उनके बाद अंग्रेज़ों का सफलतापूर्वक मुक़ाबला करता। मुग़ल-सल्तनत की इमारत 50 सालों के अन्दर ढह गई, मात्र दक्षिण भारत में हैदर अली और टीपू सुल्तान ने मुसलमानों की लाज रख ली और अंग्रेज़ों का लगभग चालीस साल तक सफलतापूर्वक मुक़ाबला किया।

अहमद तृतीय

इस्लामी हिन्द एवं शेष इस्लामी दुनिया के विपरीत उसमानी तुर्क बड़े

जानदार साबित हुए और उन्होंने यूरोप की बढ़ती हुई शक्ति का दो सौ साल तक सख़्त मुक़ाबला किया। इस अवधि में उसमानी सल्तनत में कई उच्च क्षमतावाले बादशाह हुए। अहमद तृतीय (1703 ई॰–1730 ई॰) के ज़माने में रूस और आस्ट्रिया से लड़ाइयाँ चलती रहीं। उन लड़ाइयों में 1717 ई॰ में बेलग्राद भी तुर्कों के हाथ से निकल गया, परन्तु रूस से तुर्कों ने 1711 ई॰ में काला सागर के उत्तर-पूर्वी तट पर ओज़ोफ़ का इलाक़ा छीन लिया। ईरान में अफ़ग़ानों के हमले के बाद जो अशान्ति उत्पन्न हुई थी उसका लाभ उठाकर तुर्कों ने गिरजिस्तान, हमदान एवं तबरीज़ तक ईरान पर क़ब्ज़ा कर लिया।

अहमद तृतीय का काल विकास एवं निर्माण की दृष्टि से भी अहम है। वह स्वयं एक ज्ञानी व्यक्ति था एवं ज्ञान के विकास का पोषक था। उसके काल में 1727 ई॰ में इस्तंबूल में प्रथम छपाई का कारख़ाना खुला। यह इस्लामी दुनिया का भी प्रथम छापाख़ाना था। सल्तनत के सर्वोच्च मुफ़्ती (मुख्य न्यायाधीश) ने इस शर्त पर उसे स्थापित करने की इजाज़त दी थी कि उसमें क़ुरआन एवं दीनी किताबें न छापी जाएँ। अहमद तृतीय का प्रधानमंत्री इबराहीम पाशा नवशहरली, जो उसका दामाद भी था और जिसने 1718 ई॰ से 1730 ई॰ तक प्रधानमंत्री का कार्य किया, उसमानी सल्तनत के योग्य मंत्रियों में गिना जाता है। उसने विकास एवं निर्माण के कई काम किए, परन्तु वह युद्ध-काल से ज़्यादा शान्ति-काल में मुल्क के लिए उपयुक्त था।

महमूद प्रथम

महमूद प्रथम (1730 ई॰–1754 ई॰) पहला उसमानी बादशाह है जिसने तुर्कों की सैन्य व्यवस्था की कमज़ोरी को महसूस किया और इस परिणाम पर पहुँचा कि तुर्कों की पराजय का कारण यूरोप की अपेक्षा तुर्क सैन्य प्रणाली की त्रुटि एवं आधुनिक हथियारों की कमी है। फ़ौज की इस कमज़ोरी को दूर करने के लिए महमूद प्रथम ने फ़्रांसीसी सैन्य विशेषज्ञों की सेवाएँ लीं। उन विशेषज्ञों के प्रयासों से तुर्क-फ़ौज की व्यवस्था अच्छी हो गई और जब रूस एवं आस्ट्रिया ने जंग छेड़ी तो तुर्क-फ़ौज ने दोनों मुल्कों को पराजित किया

और 1739 ई॰ में उन्हें सुलह करने पर विवश कर दिया। इस संधि के तेहत, जो बेल्ग्राद-संधि कहलाती है, बेल्ग्राद, बोस्निया, सर्विया और विलाचिया के इलाक़े तुर्कों को वापस मिल गए और रूस ने यह स्वीकार कर लिया कि वह ओज़ोफ़-सागर एवं काला सागर में अपना समुद्री बेड़ा नहीं रखेगा। इन समुद्रों में रूस के जंगी एवं व्यापारिक दोनों प्रकार के जहाज़ों का प्रवेश प्रतिबंधित हो गया। उनमें केवल तुर्की के व्यापारिक जहाज़ों को प्रवेश की अनुमति दी गई। पूरब में महमूद प्रथम ने ईरानी हुक्मरान नादिर शाह से 1736 ई॰ में समझौता कर लिया और यह तय पाया कि अब आगे उसमानी सल्तनत एवं ईरान के बीच वह सीमा मानी जाएगी जो सुल्तान मुराद चतुर्थ के काल में तय हुई थी। महमूद प्रथम ज्ञान-विज्ञान को प्रोत्साहन देनेवाला हुक्मरान था। उसने इस्तंबूल में चार पुस्तकालय स्थापित किए।

मुस्तफ़ा तृतीय (1757 ई॰–1773 ई॰) के काल में रूस से लड़ाइयाँ चलती रहीं और रूस ने 1771 ई॰ में क्रीमिया पर क़ब्ज़ा कर लिया, परन्तु प्रायद्वीप पर सीधे क़ब्ज़ा करने के बदले हुक्मरान ख़ानदान को बरक़रार रखकर उनपर अपना नियंत्रण बनाए रखा। उस ज़माने में उसमानी नौसेनाध्यक्ष हसन अल-जज़ायरी ने तुर्की समुद्री बेड़े को तरक़्क़ी दी और रूस के मुक़ाबले में समुद्री जंगों में सफलता प्राप्त की।

कोचक किनारी संधि (छोटी किनारी संधि)

मुस्तफ़ा तृतीय के काल में रूस से जो जंग शुरू हुई थी वह उसके उत्तराधिकारी सुल्तान अब्दुल-हमीद प्रथम (1773 ई॰–1789 ई॰) के काल में भी चलती रही, परन्तु इस जंग में तुर्कों को लगातार पराजय का मुँह देखना पड़ा और वे 16 जुलाई 1774 ई॰ को कोचक किनारी संधि करने पर मजबूर हुए। इसके प्रावधानों के अनुसार क्रीमिया को एक आज़ाद रियासत घोषित कर दिया गया। साथ ही रूस को उसमानी सल्तनत की ईसाई प्रजा का पक्ष लेने का अधिकार प्राप्त हो गया। इस प्रकार रूस को उसमानी सल्तनत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार मिल गया, जिससे फ़ायदा उठाकर उन्नीसवीं सदी में रूस ने बलक़ान की ईसाई आबादी को बार-बार उसमानी सल्तनत के विरुद्ध बग़ावत पर उकसाया और उस आबादी का

सहारा लेकर उसमानी सल्तनत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप किया। कोचक किनारी संधि ने यह सच्चाई उजागर कर दी कि अब तुर्कों के लिए अपने अधिकृत क्षेत्रों को सुरक्षित रखना भी कठिन हो गया है। तुर्कों की इस कमज़ोरी से फ़ायदा उठाकर रूस ने 1782 ई॰ में सल्तनते-उस्मानिया को रूस और आस्ट्रीया के बीच बाँट देने का प्रस्ताव पेश किया, परन्तु अगली सदी में तुर्कों के सख़्त प्रतिरक्षात्मक प्रयास ने इस कुचेष्टा को सफल नहीं होने दिया।

रूस ने कोचक किनारी संधि का उल्लंधन करते हुए 1783 ई॰ में क्रीमिया की आज़ादी समाप्त करके उसपर पूर्णतः अपना क़ब्ज़ा जमा लिया।[1]

---

1. क्रीमिया, जिसे तुर्की में Kirim लिखा जाता है, सराय की सल्तनत का एक अंग था। पन्द्रहवीं सदी में जब सराय की शक्ति क्षीण हुई और उसका पतन शुरू हुआ तो क्रीमिया के तातारियों ने अपनी आज़ाद हुकूमत क़ायम कर ली। उस हुकूमत का संस्थापक सराय के आलतन औरदह ख़ानदान ही का एक व्यक्ति हाजी गिराई (1441 ई॰–1467 ई॰) था। क्रीमिया की इस हुकूमत में क्रीमिया के अतिरिक्त वह सारा इलाक़ा सम्मिलित था जो डेनीपर एवं डान नदी के निचले भागों और नौबान नदी के बीच है। हाजी गिराई के बाद उसका लड़का मंगली गिराई (1467 ई॰–1515 ई॰) सत्तासीन हुआ। उसके काल में मुहम्मद फ़ातेह ने 1475 ई॰ में क्रीमिया की अहम बन्दरगाह काफ़ा, जो जेनेवा-वासियों के क़ब्ज़े में थी, फ़त्ह कर ली। मंगली गिराई ने इस अवसर पर खुद को उसमानी सल्तनत की सुरक्षा में देकर अपनी रियासत को बचा लिया। अब क्रीमिया एक अर्द्ध स्वतंत्र रियासत बनकर रह गई। मंगली गिराई अपनी राजधानी सोलख़्त से बाग़चीसराय ले गया। यहाँ उसने तुर्क-विशेषज्ञों की सहायता से शानदार महल और प्रसिद्ध ज़ंजीरली मदरसा बनवाया। मंगली गिराई ने लगभग पचास सालों तक हुकूमत की। वह क्रीमिया के हुक्मरानों में सबसे प्रमुख हुक्मरान समझा जाता है।
क्रीमिया के ख़ानों की ताक़त का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि ज़रूरत पड़ने पर तीस हज़ार सवार सैनिक एवं एक लाख बीस हज़ार से दो लाख तक पैदल सैनिक मैदान में ला सकते थे। इस अपार शक्ति के बल पर और उसमानी सल्तनत के समर्थन के कारण क्रीमिया के ख़ान वर्षों तक रूस एवं पूर्वी यूरोप के मामलात में हस्तक्षेप करते रहे। 1521 ई॰ में ख़ान साहब गिराई ने काज़ान पर क़ब्ज़ा
(शेष फुटनोट अगले पृष्ठ प

सलीम तृतीय

उसमानी सल्तनत के पतन को रोकने और उसे विकास के मार्ग पर ले जाने के लिए जिन उसमानी हुकमरानों ने विशेष उल्लेखनीय प्रयास किए

(पिछले पृष्ठ के फुटनोट का शेष)

कर लिया और मास्को का घेराव करके ग्रांड ड्यूक बासल से ख़िराज वुसूल किया। 1552 ई॰ में रूसियों ने काज़ान पर और 1554 ई॰ में इस्तरख़ान पर क़ब्ज़ा कर लिया। क्रीमिया के ख़ान यद्यपि इन शहरों को रूसियों के क़ब्ज़े में जाने से बचा नहीं सके परन्तु रूस दो सौ साल तक क्रीमिया की ओर नज़र उठाकर नहीं देख सका, उल्टे क्रीमिया ही हमेशा रूसियों के लिए सिर-दर्द बना रहा। 1571 ई॰ में ख़ान दौलत गिराई (1551 ई॰–1577 ई॰) ने मास्को पर क़ब्ज़ा कर लिया और ऐवान मुहीब को ख़िराज देने पर विवश कर दिया। मास्को पर मुसलमानों का यह अन्तिम सफल हमला था। दौलत गिराई के लड़के ग़ाज़ी गिराई (1588 ई॰–1606 ई॰) ने, जिसे तीव्र आक्रमण के कारण बोरा अर्थात् तूफ़ान का ख़िताब मिला था, 1591 ई॰ में पुनः मास्को पर हमला किया, परन्तु वह पराजित हुआ। क्रीमिया के ख़ान रूस के अतिरिक्त पोलैण्ड और लिथवानिया तक हमले करते थे। 1649 ई॰ में उन्होंने पोलैण्ड से ख़िराज भी वुसूल किया। उनका अन्तिम बड़ा फ़ौजी कारनामा उसमानी तुर्कों एवं यूक्रेन के कासकों के साथ मिलकर 1672 ई॰ में रूसियों को डेनीपर-नदी के उस पार धकेलना है। कार्लोविट्ज़-संधि के बाद जब उसमानी सल्तनत कमज़ोर पड़ गई तो क्रीमिया के ख़ानों की शक्ति भी क्षीण हो गई और रूसियों का पुनः वर्चस्व प्रारम्भ हो गया। सुल्तान महमूद प्रथम के ज़माने में जब तुर्की और रूस के बीच जंग शरू हुई तो रूसियों ने 1736 ई॰ में क्रीमिया में प्रवेश करके बड़ी तबाही मचाई। बाग़चीसराय की ईंट-से-ईंट बजा दी और सलीम गिराई (1095 हि॰/1684 ई॰–1102 हि॰/1691 ई॰) का स्थापित किया हुआ आलीशान पुस्तकालय भी जला दिया। 1771 ई॰ में रूसियों ने क्रीमिया पर क़ब्ज़ा करके उसे एक आज़ाद रियासत की हैसियत दे दी, परन्तु शीघ्र ही संधि के प्रावधानों का उल्लंधन करते हुए 1783 ई॰ में क्रीमिया को रूस का एक अंग बना लिया। अब क्रीमिया के ख़ानों की हुकूमत हमेशा के लिए समाप्त कर दी गई। जब क्रीमिया के नागरिकों ने बग़ावत कर दी तो उसे कठोरतापूर्वक कुचल दिया गया और क़त्ले-आम में तीस हज़ार बूढ़े, औरतें और बच्चे मारे गए। रूसी अत्याचार से तंग आकर मुसलमानों ने क्रीमिया से पलायन शुरू कर दिया जिसका सिलसिला उन्नीसवीं सदी तक चलता रहा। इस बीच रूसियों को

(शेष फुटनोट अगले पृष्ठ पर)

उनमें सुल्तान सलीम तृतीय (1789 ई॰—1807 ई॰) का नाम सबसे प्रमुख है। सुल्तान सलीम मैसूर के टीपू सुल्तान का समकालीन था। उसने शिक्षा के प्रसार एवं आधुनिक ज्ञानों को बढ़ावा देने में बहुमूल्य योगदान दिया। उसके काल में युद्ध-कौशल से सम्बन्धित पुस्तकों का फ़्रांसीसी भाषा से तुर्की भाषा में अनुवाद किया गया। थल-सेना एवं नौसेना को नए सिरे से संगठित किया गया और इस नई व्यवस्था को 'निज़ामे-जदीद' (अर्थात आधुनिक प्रणाली) का नाम दिया गया। फ़्रांसीसी इंजीनियरों एवं तोपचियों के सहयोग से तोप-निर्माण के आधुनिक कारख़ाने स्थापित किए गए। जागीरदारी प्रणाली मुल्क के सुधार एवं विकास में रुकावट पैदा करती थी, अतः सलीम ने जागीरदारी व्यवस्था समाप्त कर दी।

(पिछले पृष्ठ के फुटनोट का शेष)

ला-लाकर क्रीमिया में आबाद किया गया। अनुमान है कि 1783—1900 ई॰ तक लगभग बीस लाख मुसलमानों ने क्रीमिया और उसके आसपास के इलाक़ों से हिजरत की। नतीजतन एक शुद्ध मुस्लिम आबादीवाला इलाक़ा मुसलमानों से ख़ाली हो गया और 1897 ई॰ में वहाँ मुसलमानों की आबादी का अनुपात मात्र 35 प्रतिशत रह गया।

क्रीमिया के ख़ानों के ज़माने में क्रीमिया एक ख़ुशहाल इलाक़ा था। रियासत 2[illegible] प्रशासनिक खण्डों में बँटी हुई थी। अंगूर, गेहूँ, तम्बाकू और रूई प्रमुख कृषि उत्पा[illegible] थीं। पशुपालन बहुत व्यापक स्तर पर होता था। दो लाख मवेशी और बहुत बड़ी मात्र[illegible] में ग़ल्ला प्रत्येक वर्ष इस्तम्बूल भेजा जाता था। क़ालीन तैयार करने का उद्योग [illegible] विकसित था। वास्तुकला ने भी तुर्कों के प्रभाव में बड़ी तरक़्क़ी कर ली थी। शानदा[illegible] महल, मस्जिदें, पुस्तकालय और मदरसे निर्मित किए गए, परन्तु ख़ान के महल ए[illegible] ज़ंजीरली मदरसे के अतिरिक्त रूसियों ने बाग़चीसराय तथा अन्य शहरों की तमा[illegible] इमारतें तबाह कर दीं। ख़ान का महल तातारियों का 'अल-हमरा' कहलाता था अ[illegible] रूस के महान कवि पुश्किन ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'बाग़चीसराय का फ़व्वारा' उसे अपनी कविता का विषय बनाया है। बागचीसराय में मात्र दो हज़ार घर थे, पर[illegible] बन्दरगाह काफ़र में मकानों की संख्या अस्सी हज़ार थी। 70 मस्जिदें, 44 गिरजे [illegible] यहूदियों के दो पूजास्थल थे। जामा मस्जिद के मुख्य गुम्बद का व्यास 65 फ़ीट [illegible] दो मीनारों की ऊँचाई एक सौ पन्द्रह फ़ीट थी।

परन्तु सलीम अपने सुधार-कार्यों में ज़्यादा सफल नहीं हो सका। सुल्तान टीपू की तरह, स्वार्थी तत्व एवं संकीर्णतावादी उसके भी विरोधी हो गए। सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि यनीचरी फ़ौज, जो किसी ज़माने में तुर्की की सबसे सुसंगठित एवं शक्तिशाली फ़ौज थी, निज़ामे-जदीद (आधुनिक प्रणाली) का विरोध करती थी और वह अपना एकाधिकार खोना नहीं चाहती थी। यनीचरी के सिपाहियों ने आधुनिक यूरोपीय शस्त्र एवं युद्ध-प्रणाली को स्वीकार करने से भी इनकार कर दिया। शैख़ुल-इस्लाम असअद आफ़ंदी सुधार के समर्थक थे, परन्तु 1807 ई॰ में उनका इन्तिक़ाल हो गया। नए शैख़ुल-इस्लाम अताउल्लाह आफ़ंदी यनीचरी के प्रभाव में थे। जाहिल सूफ़ियों, संकीर्णतावादी उलमा, जो इस्लाम के ज्ञान एवं उसकी आत्मा से बिलकुल अनभिज्ञ थे, ने मज़हब के नाम पर सुधार-कार्यों का विरोध किया। यूरोपीय शैली में फ़ौजों के पुनर्गठन को इस्लाम विरोधी क़रार दिया। आधुनिक फ़ौजी वर्दियों को ग़ैर-इस्लामी लोगों की नक़ल बताया। संगीनों तक के इस्तेमाल का विरोध किया गया क्योंकि काफ़िरों के हथियारों का उपयोग करना उनके निकट गुनाह का काम था। सलीम के ख़िलाफ़ यह कहकर नफ़रत फैला दी गई कि वह काफ़िरों के तौर-तरीक़े स्थापित करके इस्लाम को ख़राब कर रहा है। शैख़ुल-इस्लाम अताउल्लाह आफ़ंदी ने फ़तवा दिया कि ऐसा बादशाह जो क़ुरआन के ख़िलाफ़ अमल करता हो, वह बादशाही के योग्य नहीं। अन्ततः 1807 ई॰ में सलीम को पद से हटाकर क़त्ल कर दिया गया। "यह पहला अवसर था जब मज़हबी पेशवाओं ने अपनी अज्ञानता एवं रूढ़ीवादिता के द्वारा इस्लाम के विकास-विरोधी होने का ग़लत विचार पैदा किया।"[1]

महमूद द्वितीय

सलीम तृतीय के बाद जिस सुल्तान ने सुधार-कार्यों को जारी रखने की कोशिश की वह महमूद द्वितीय (1808 ई॰–1839 ई॰) है। महमूद द्वितीय

---

1. सैयद अबुल-आला मौदूदी : तनक़ीहात, पृष्ठ-73, इस्लामिक पब्लिकेशन लिमिटेड, लाहौर

सुल्तान अब्दुल-हमीद प्रथम का बेटा था। अशान्ति, विद्रोह और बग़ावतों से उसके काल का आग़ाज़ हुआ। मिस्र में स्थानीय ममलूक (गुलाम) सरदार बेलगाम हो चुके थे और अरब में नज्द के सऊदी ख़ानदान का उत्थान हुआ और सऊदी फ़ौजों ने हिजाज़ (वर्तमान सऊदी अरब) पर क़ब्ज़ा करके इराक़ एवं शाम (सीरिया) तक छापे मारने शुरू कर दिए। यूनान ने भी अपनी आज़ादी का एलान कर दिया। महमूद ने अट्ठारह साल के अन्दर सभी बग़ावतों का ख़ातिमा कर दिया। मिस्र के वाली (गवर्नर) मुहम्मद अली ने मिस्र एवं शाम (सीरिया) में शान्ति स्थापित कर दी। हिजाज़ को सऊदी फ़ौजों से पुनः वापस ले लिया गया और 1826 ई॰ में यूनान की बग़ावत भी दबा दी गई। इसी वर्ष यनीचरी फ़ौज का भी ख़ातिमा कर दिया गया, जिसके पदाधिकारी एवं आम सिपाही सल्तनत के लिए सिर-दर्द बने हुए थे। महमूद ने अब उनके स्थान पर एक नई फ़ौज गठित की थी जिसकी वर्दी यूरोपीय ढंग की थी, जो पगड़ी के बदले टोपी पहनती थी। सुल्तान ने बक्ताशी दरवेशों (जाहिल सन्तों) का भी ख़ातिमा कर दिया जो सुधार-कार्यों में रोड़े अटकाते थे। इसके अतिरिक्त महमूद ने जागीरदारी व्यवस्था पर भी अंकुश लगाए, और यह आदेश जारी किया कि बिना मुक़द्दमा चलाए किसी व्यक्ति को क़त्ल न किया जाए। सुलैमान क़ानूनी के ज़माने से यह नियम बन गया था कि सुल्तानों ने दरबार में आना-जाना छोड़ दिया था, जहाँ सम्पूर्ण कार्रवाई प्रधानमंत्री की देखरेख में चलती थी। महमूद ने इस नियम को तोड़ा और पाबन्दी से दरबार में आना शुरू किया। इन सुधारों के बाद अपेक्षा तो यह थी कि उसमानी सल्तनत तरक़्क़ी के मार्ग पर चल पड़ती, परन्तु पश्चिमी शक्तियाँ विशेषकर रूस नहीं चाहता था कि उसमानी सल्तनत पुनः एक बड़ी शक्ति बन जाए। अतः उन्होंने उसमानी सल्तनत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया और उनसे जंग भी छेड़ दी। 20 अक्तूबर 1827 ई॰ को यूनान में नवारीनियो नामक स्थान पर रूस, ब्रिटेन और फ़्रांस के संयुक्त समुद्री बेड़े ने हमला करके उसमानी बेड़े को पूर्णतः ध्वस्त कर दिया। रूसी फ़ौजें बलकान की ओर से बढ़ती हुई 1829 ई॰ में अदरना तक पहुँच गईं। सुल्तान को रूस से फिर संधि करनी पड़ी। रूसी दबाव के कारण

यूनान को आज़ादी दे दी गई। (1829 ई॰) रूसी फ़ौजों ने युद्ध में जीते क्षेत्र वापस कर दिए, परन्तु रूस डेन्यूब-नदी के मुहाने और नदी के उत्तर में स्थित रोमानिया पर क़ाबिज़ हो गया। उधर से इत्मीनान हुआ तो 1830 ई॰ में फ़्रांस अल-जज़ायर पर क़ाबिज़ हो गया। 1831 ई॰ में मिस्र के वाली मुहम्मद अली ने भी बग़ावत कर दी और मुहम्मद अली की फ़ौजें उसके लड़के इबराहीम के नेतृत्व में, जो अपने समय का अनुभवी सिपहसालार था, शाम (सीरिया) को फ़तह करती हुई तुर्की के मध्य में कोताहिया तक पहुँच गईं। ऐसा लगता था कि अब वे जल्द ही इस्तंबूल पर भी क़ब्ज़ा कर लेंगे। इन्हीं परिस्थितियों में महमूद द्वितीय की मृत्यु हो गई।

अब्दुल-मजीद ख़ाँ (1839 ई॰–1861 ई॰)

महमूद द्वितीय के बाद उसका बड़ा लड़का अब्दुल-मजीद ख़ाँ सोलह वर्ष की उम्र में गद्दी पर बैठा। उसने मिस्र से समझौता कर लिया। शाम (सीरिया) उसमानी सल्तनत को वापस मिल गया और मुहम्मद अली ने मिस्र पर उसमानी सल्तनत का आधिपत्य भी स्वीकार कर लिया। महमूद द्वितीय ने मृत्यु से पहले सुधार-कार्यों से सम्बन्धित एक प्रोग्राम बनाया था परन्तु उसे लागू करने का उसे अवसर नहीं मिला। सुल्तान अब्दुल-मजीद ने सत्तासीन होने के बाद 3 नवम्बर 1839 ई॰ को उन सुधारों का एलान कर दिया। ये सुधार तुर्की में 'तंज़ीमाते-ख़ैरिया' (अर्थात भलाई के नियम) के नाम से मशहूर हैं। इन सुधारों के द्वारा प्रजा की जान, माल, इज़्ज़त की ज़मानत (गारंटी) दी गई। सबके साथ धर्म एवं वर्ग के भेद के बिना समान व्यवहार का वादा किया गया। क़ानून की सर्वोच्चता स्थापित की गई। प्रशासनिक, सैनिक और शैक्षणिक क्षेत्रों में सुधार किए गए। सुल्तान अब्दुल-मजीद ने ग़ुलामी की प्रथा को भी बन्द कर दिया।

क्रीमिया की जंग

रूस ने जब सल्तनते-उसमानिया को एक बार फिर विकासोन्मुख देखा तो उसने पुनः हस्तक्षेप शुरू कर दिया।

रूस ने उसमानी सल्तनत को कमज़ोर करने के लिए सल्तनत के यूरोपीय

प्रान्तों में बसनेवाले ईसाई नागरिकों को अपना कार्यसिद्धि का साधन बनाने की कोशिश की। इस उद्देश्य के लिए उसने ईसाई नागरिकों पर आधारित एक संगठन 1840 ई॰ में स्थापित किया, जिसका नाम 'जमीअते-सलाफ़िया' था। यह सलाफ़ी नस्ल के लोगों का संगठन था और उसका मक़सद रोमानिया, बुलग़ारिया और यूगोस्लाविया के नागरिकों को बग़ावत पर उकसाना तथा उन मुल्कों में आज़ाद हुकूमतें क़ायम करना था। इस साल के बाद से रूस ने बलक़ान की जंग तक सलाफ़ी लोगों की सुरक्षा के बहाने बार-बार हस्तक्षेप किया। इस सिलसिले में प्रथम बड़ा हस्तक्षेप 1854 ई॰ में किया। रूस के ज़ार ने तुर्की को 'यूरोप का बीमार आदमी' जैसी अपमानजनक भाषा शैली का प्रयोग करते हुए ब्रिटेन के सामने प्रस्ताव रखा कि उसमानी सल्तनत को रूस और ब्रिटेन के बीच बाँट लिया जाए परन्तु ब्रिटेन ने रूस का साथ देने से इनकार कर दिया। रूस ने अकेले उसमानी सल्तनत पर हमला कर दिया और इस प्रकार क्रीमिया की जंग शुरू हो गई। यह जंग 1854 ई॰ से 1856 ई॰ तक दो साल चलती रही। इसमें ब्रिटेन ने तुर्कों का साथ दिया, जिसके कारण रूस अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सका और जंग का कोई नतीजा नहीं निकला।

सुल्तान महमूद द्वितीय और सुल्तान अब्दुल-मजीद के ज़माने में सुधार कार्यों के परिणामस्वरूप उसमानी सल्तनत ने जो तरक़्क़ी की उसका उल्लेख ब्रिटिश प्रधानमंत्री लार्ड पामर्सटन (Palmerston) ने 1853 ई॰ में ब्रिटिश पार्लियामेंट में इन शब्दों में किया–

> "जितनी तरक़्क़ी एवं सुधार-कार्य उसमानी सल्तनत ने विगत बीस वर्षों में किए हैं किसी अन्य हुकूमत ने नहीं किए।"

यह वही समय था जब भारत-पाक में अंग्रेज़ों की हुकूमत पूरी तरह क़ायम हो चुकी थी और 1857 ई॰ में अन्तिम मुग़ल-बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र को अंग्रेजों ने देश निकाला देकर दिल्ली के मुग़ल-ख़ानदान का पूर्णतः सफ़ाया कर दिया था। जब हम मुस्लिमकाल के भारत की इस स्थिति का तुर्कों से मुक़ाबला करते हैं तो आश्चर्य होता है कि हम जो औरंगज़ेब के ज़माने में इतने बड़े मुल्क के मालिक थे, डेढ़ सौ साल के अन्दर-अन्दर

राजनैतिक रूप से ख़त्म कर दिए गए, परन्तु तुर्कों की अपेक्षाकृत छोटी क़ौम ने अपने पतन के डेढ़ सौ साल बाद भी इतनी शक्ति अर्जित कर ली थी और इतनी तरक़्क़ी कर ली थी कि विरोधी भी उनकी प्रशंसा करने को विवश थे।

सुल्तान अब्दुल-मजीद के बाद उसका भाई अब्दुल-अज़ीज़ (1861 ई०–1876 ई०) गद्दी पर बैठा। उसके ज़माने में उसमानी सल्तनत के समुद्री बेड़े को इतनी तरक़्क़ी दी गई कि उसमानी तुर्क यूरोप की तीसरी बड़ी नौसैनिक शक्ति बन गए। प्रशासनिक व्यवस्था के मुख्य सुधारक प्रधानमंत्री मुस्तफ़ा रशीद पाशा (1800 ई०–1858 ई०) थे, जिन्होंने 3 नवम्बर 1839 ई० को सुधार का एलान किया था। उनके बाद प्रधानमंत्री फ़ुवाद पाशा (1815 ई०–1869 ई०) और प्रधानमंत्री आली पाशा (1815 ई०–1871 ई०) ने यह काम जारी रखा, परन्तु सुधार-अभियान की दृष्टि से रशीद पाशा के बाद सबसे ज़्यादा प्रसिद्धि जिस व्यक्ति ने प्राप्त की वह हैं मिदहत पाशा (1820 ई०–1883 ई०)। सुल्तान अब्दुल-अज़ीज़ के ज़माने में सुधार के कामों में रुकावटें बढ़ीं और बादशाह ने राजशाही एवं तानाशाही का परिचय देते हुए फ़ुज़ूलख़र्चियाँ कीं और बड़े-बड़े महलों के निर्माण पर मोटी रक़म ख़र्च की गई। ख़र्च पूरा करने के लिए क़र्ज़ लिए और नए टैक्स भी लगाए। 1867 ई० में सर्विया ने आज़ादी प्राप्त कर ली। बादशाह के इन कार्यों के कारण देश में असंतोष एवं बेचैनी बढ़ने लगी। कुछ राष्ट्र-प्रेमी लोगों ने, जिनमें नामिक़ कमाल पाशा शामिल हैं, 1865 ई० में 'यनी उसमानी जमीअत' (अर्थात उसमानी नवयुवक संघ) के नाम से एक गुप्त संगठन स्थापित किया जिसका उद्देश्य बादशाह के तानाशाही अधिकारों पर अंकुश लगाकर संविधान के आधारित हुकूमत क़ायम करना था। अतः जब सुल्तान अब्दुल-अज़ीज़ के ख़िलाफ़ बेचैनी बढ़ी तो मिदहत पाशा ने, जो सांवैधानिक हुकूमत के ज़बरदस्त समर्थक थे, उसमानी राष्ट्रभक्त लोगों के सहयोग से सुल्तान अब्दुल-अज़ीज़ को सत्ता से हटा दिया और सुल्तान अब्दुल-मजीद के लड़के मुराद को गद्दी पर बैठा दिया जो सांवैधानिक सरकार के सिद्धांत में रुचि रखता था, परन्तु कुछ महीने बाद ही मानसिक बीमारी के कारण मुराद को भी गद्दी से हटाना पड़ा और उसके स्थान पर सुल्तान अब्दुल-मजीद के दूसरे

लड़के अब्दुल-हमीद ख़ाँ को सत्तासीन किया गया। मिदहत पाशा ने सुल्तान अब्दुल-हमीद को गद्दी पर बैठाने से पहले उनसे संवैधानिक हुकूमत क़ायम करने का वादा ले लिया था।

अब्दुल-हमीद ख़ाँ द्वितीय (1876 ई॰–1909 ई॰)

23 दिसम्बर 1876 ई॰ को जब सुल्तान अब्दुल-हमीद ख़ाँ ने वादे के अनुसार अन्तरिम संविधान की घोषणा की तो उसमानी सल्तनत में नागरिकों ने अपनी प्रसन्नता प्रकट की। शहरों में ख़ुशियों के दीप जलाए गए और लोगों ने 'सुल्तान ज़िन्दाबाद' और 'मिदहत पाशा ज़िन्दाबाद' के नारे लगाए। दो सदनों पर आधारित संसद का गठन किया गया, जिसका 20 मार्च 1877 ई॰ को शुभारम्भ हुआ। इस्लामी दुनिया में पश्चिम की शैली में यह पहली मजलिसे-शूरा (मंत्रीमंडल) थी और उसमानी सल्तनत पहली इस्लामी सल्तनत थी जिसने सांवैधानिक और क़ानूनी पाबंदियों को स्वीकार किया।

तुर्कों ने अभी अपनी संविधान आधारित हुकूमत प्रारम्भ ही की थी कि 24 अप्रैल 1877 ई॰ को रूस ने हमला कर दिया। डेन्यूब-नदी के दक्षिण में पलोना नामक स्थान पर जनरल उसमान पाशा ने असाधारण वीरता एवं साहस का परिचय देते हुए रूस के दो (2) लाख प्रशिक्षित फ़ौज के हमले को मात्र पचास हज़ार प्रशिक्षित एवं अप्रशिक्षित फ़ौज की मदद से पाँच महीने तक रोके रखा और उन्हें पीछे हटने पर विवश करते रहे। अन्ततः चारों ओर से घिर जाने और रसद बन्द हो जाने के कारण 10 दिसम्बर 1877 ई॰ को हथियार डालने पर मजबूर हुआ। रूस का ज़ार उसमान पाशा की वीरता से इतना प्रभावित हुआ कि उन्हें अपने दरबार में सम्मान के साथ बुलाकर मुबारकबाद दी। और उनके बचाव प्रक्रिया को विश्व सामरिक इतिहास की एक असाधारण घटना क़रार दिया।

उसमान पाशा के हथियार डाल देने के बाद रूसी फ़ौजें आसानी से आगे बढ़ गईं और 28 जनवरी 1878 ई॰ को अदरना के ऐतिहासिक शहर में दाख़िल हो गईं, जो राजधानी इस्तंबूल से मात्र सवा सौ मील दूर था। अन्ततः यूरोपीय देशों के हस्तक्षेप से जंग बन्द हुई। 13 जुलाई 1878 ई॰

को बर्लिन में एक संधि हुई जिसके अनुसार रूस ने अपने अधिकतर उद्देश्य प्राप्त कर लिए। रोमानिया पर से उसमानी आधिपत्य समाप्त हो गया और वह पूर्णतः एक आज़ाद राष्ट्र बन गया। बुल्गारिया, सर्विया और क़ुरह दाग़ (मोन्टीनिग्रो) में आज़ाद हुकूमतें क़ायम कर दी गईं जिनका उसमानी सल्तनत से सम्बन्ध मात्र सालाना ख़िराज देने तक सीमित रह गया। ब्रिटेन ने अपनी सहानुभूतिपूर्ण हस्तक्षेप के मूल्य के रूप में जून 1878 ई॰ में क़बरस (साइप्रस) द्वीप उसमानी सल्तनत से पट्टा पर ले लिया। रूस से जंग के परिणामस्वरूप अब तुर्कों के पास यूरोप में दक्षिणी यूनान और बलक़ान-पहाड़ के मध्य का सीमित क्षेत्र ही रह गया। जिसका क्षेत्रफल कुछ ही वर्गमील था। तूनिस (Tunisia) और मिस्र यद्यपि पहले ही वास्तविक रूप में आज़ाद हो गए थे लेकिन उसमानिया सल्तनत का आधिपत्य स्वीकार करते थे। अब उसमानी तुर्कों की कमज़ोरी से फ़ायदा उठाकर फ़्रांस ने 1881 ई॰ में तूनिस पर और ब्रिटेन ने 1882 ई॰ में मिस्र पर क़ब्ज़ा कर लिया।

प्रथम संविधान का अन्त

रूस और तुर्की की जंग का दूसरा नतीजा यह निकला कि सुल्तान अब्दुल-हमीद ने जंग की असाधारण परिस्थिति का बहाना बनाकर 14 जनवरी 1878 ई॰ को संविधान निरस्त कर दिया, संसद बरख़ास्त कर दी गई एवं मिदहत पाशा को गिरफ़्तार कर लिया गया। कुछ वर्षों के बाद मिदहत पाशा को जेल में ही मौत के घाट उतार दिया गया। तुर्की का प्रथम संविधान जिसका प्रारम्भ 23 दिसम्बर 1876 ई॰ को हुआ था, मात्र एक वर्ष चल सका। इसके बाद तुर्की में जो काल शुरू हुआ उसे तुर्की के इतिहास में तानाशाही काल कहा जाता है।

सुल्तान अब्दुल-हमीद ख़ाँ द्वितीय ने संसद को भंग करके पूरे तीस साल एक तानाशाह के रूप में हुकूमत की। इसमें संदेह नहीं कि इस अवधि में उसने बाहरी साज़िशों के बाद भी उसमानी सल्तनत की एक इंच ज़मीन भी हाथ से नहीं निकलने दी। जर्मनी के सहयोग से फ़ौजी व्यवस्था को आधुनिक शैली में पुनर्गठित किया। 1897 ई॰ में जब पश्चिमी देशों के उकसावे पर यूनान ने उसमानी इलाक़े पर हमला किया तो तुर्क-फ़ौजों ने

यूनानियों को पराजित करके अपनी फ़ौजी शक्ति की धाक जमा दी। इसी काल में तुर्की में रेल की पटरियाँ बिछाई गईं। दिमश्क़ (Damascus) और बग़दाद तक रेलवे-लाइन का विस्तार किया गया। हिजाज़-रेलवे का निर्माण भी उसी काल में शुरू हुआ। मदीना तक बिजली का तार और टेलीग्राम का सिलसिला फैलाया गया। क़ानून (Law), व्यापार, इंजीनियरिंग और कृषि महाविद्यालय बनाए गए। इस्तंबूल-यूनीवर्सिटी में स्वास्थ्य एवं चिकित्सा विभाग स्थापित हुआ। ललित-कलाओं की अकादमी क़ायम हुई। प्रकाशन-सामग्रियों पर सख़्त निगरानी के बावजूद मात्र प्रारम्भिक पन्द्रह सालों में तुर्की में चार हज़ार किताबें प्रकाशित हुईं।

सुल्तानी तानाशाही

सुल्तान के काल के ये सभी कारनामे यक़ीनन प्रशंसनीय हैं, परन्तु इन सभी ख़ूबियों के बावजूद तुर्क के राष्ट्र-प्रेमियों की नज़र में सुल्तान अब्दुल-हमीद एक अति अप्रिय व्यक्तित्व रहा। उसका एक कारण तो वैचारिक मतभेद था। सुल्तान अब्दुल-हमीद उसमानी ख़िलाफ़त को तुर्कों एवं अरबों के सहयोग से एक मुस्लिम राष्ट्र का रूप देना चाहता था जबकि नवयुवक तुर्कों में राष्ट्रभक्ति की भावना दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी, परन्तु सुल्तान से नफ़रत का सबसे बड़ा कारण उसकी तानाशाही हुकूमत थी। सुल्तान ने 1878 ई॰ में संविधान निरस्त करके उस प्रजातांत्रिक प्रक्रिया को रोक दिया था जिसका आरम्भ 1839 ई॰ में हुआ था और तुर्कों के शिक्षित एवं बुद्धिजीवी वर्ग में, जिसने अपनी जड़ें मज़बूत बना ली थीं, आधुनिक शिक्षा के विकास के साथ-साथ सांवैधानिक हुकूमत के प्रति लोगों की हमदर्दी बढ़ती चली गई। जो छात्र उच्च एवं विशेष शिक्षा के लिए यूरोप भेजे जाते थे वे वहाँ के लोकतांत्रिक वातावरण से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते थे। यहाँ तक कि तुर्क-फ़ौजों में भी संविधान के समर्थक ज़ोर पकड़ने लगे। सुल्तान ने अपने राजनैतिक विरोधियों को कुचलने के लिए तरह-तरह की कठोरता की। हज़ारों की संख्या में लोगों को क़ैद किया, लीबिया और यमन जैसे दूर-दराज़ के देशों में उन्हें निर्वासित किया। ज़बरदस्त जासूसी-व्यवस्था क़ायम की और अख़बारों, पत्र-पत्रिकाओं एवं अन्य प्रकाशनों पर कड़ी

निगरानी बैठा दी। परन्तु तानाशाही व्यवस्था के विरुद्ध आन्दोलन ज़ोर पकड़ता गया। तुर्कों के इस जज़्बे को नामिक़ कमाल ने अपनी प्रसिद्ध नज़्म (कविता), क़सीदा-ए-हुर्रियत (आज़ादी के तराने) में इस प्रकार प्रकट किया है–

> "आह ऐ आज़ादी! तुझमें क्या जादू है कि हमने सब ज़ंजीरों को तोड़कर फेंका पर तेरी गुलामी का फंदा ख़ुशी से गले में डाल लिया।"

एकता एवं विकास समिति

उसमानी सल्तनत की सीमाओं में चूंकि राजनीतिक गतिविधियाँ सम्भव नहीं थीं, इसलिए नवयुवक तुर्कों ने मई 1889 में स्वीट्ज़रलैण्ड के जेनेवा के शहर में 'एकता एवं विकास समिति' के नाम से एक संगठन स्थापित किया और इसने 1876 ई॰ के संविधान की बहाली के लिए अभियान छेड़ा। फ़ौज में इस संगठन का प्रभाव इतना बढ़ गया था कि जुलाई 1908 ई॰ में मक़दूनिया में रह रहे फ़ौजी दस्तों ने अनवर पाशा एवं नियाज़ी बे के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया और 1876 ई॰ के संविधान की बहाली की माँग करने लगे। सुल्तान ने राष्ट्रभक्तों की बढ़ती हुई शक्ति के आगे हथियार डाल दिए और 24 जुलाई 1908 ई॰ को माँग स्वीकार करते हुए संविधान को पुनः बहाल कर दिया। इस प्रकार तीस वर्षों की तानाशाही समाप्त हुई और तुर्कों में द्वितीय संविधान काल का आरम्भ हुआ जो 1918 ई॰ में विश्व-युद्ध में तुर्कों की पराजय तक चलता रहा। 14 अप्रैल 1909 ई॰ को वह मशहूर हादसा पेश आया जिसे तुर्की के इतिहास में 31 मार्च का हादसा कहा जाता है। उस दिन राजधानी इस्तंबूल के एक गुट ने शहर के फ़ौजी दस्तों को मिलाकर नई संविधान आधारित हुकूमत के ख़िलाफ़ बग़ावत कर दी और शरीअत की हुक्मरानी की माँग रखी। महमूद शौकत पाशा ने इस बग़ावत को जल्द ही दबा दिया। सुल्तान अब्दुल-हमीद को बग़ावत कराने के आरोप में 27 अप्रैल को सत्ता से हटा दिया गया और उसके स्थान पर उसके एक भाई रशाद (1909 ई॰–1918 ई॰) को ख़लीफ़ा एवं बादशाह नियुक्त किया गया।

2. द्वितीय संविधान से लोकतंत्र की स्थापना तक

संवैधानिक हुकूमत की पुनर्स्थापना के बाद तुर्की में सियासी आज़ादी दे दी गई जिसके नतीजे में कई सियासी पार्टियाँ अस्तित्व में आईं, संसदीय चुनाव हुए और उनमें उसमानी सल्तनत के सभी नागरिकों को बिना मज़हब एवं मिल्लत (सम्प्रदाय) के भेदभाव के आबादी के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ। परन्तु यूरोपीय इलाक़ों में आबाद ईसाई नागरिक उसमानी सल्तनत के प्रति निष्ठावान नहीं थे। वे लोकतांत्रिक संस्थाओं का उपयोग अपनी अलग आज़ादी के लिए करना चाहते थे। रूस ऐसे तत्वों को खुल्लम-खुल्ला प्रोत्साहन दे रहा था तथा इस्तंबूल एवं बासफ़ोरस पर क़ब्ज़ा करने के सपने देख रहा था। पश्चिमी देशों ने नवयुवक तुर्कों को शान्ति से काम करने नहीं दिया। 1911 ई॰ में इटली ने तराबुलुस (Tripoli) पर हमला कर दिया और साल-भर के अन्दर पूरे इलाक़े पर क़ाबिज़ हो गया। इटली ने इस जंग में रोड्स और आइजन सागर के कई टापुओं पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। इसके बाद बलक़ान की जंग (1912 ई॰–1913 ई॰) छिड़ गई जिसमें यूनान, सर्विया और बुल्ग़ारिया ने तुर्कों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बना लिया और पश्चिमी देशों ने उन्हें परोक्ष रूप से सहयोग दिया। इस जंग के नतीजे में इस्तंबूल से अदरना तक के इलाक़े को छोड़कर उसमानी सल्तनत के सम्पूर्ण यूरोपीय अधिकृत इलाक़े हाथ से निकल गए जिनका क्षेत्रफल 55 हज़ार वर्गमील एवं आबादी 42 लाख थी।

विश्व-युद्ध

बल्क़ान की जंग ख़त्म हुई तो 1914 ई॰ में प्रथम विश्व-युद्ध (1914 ई॰–1918 ई॰) छिड़ गया जिसमें उसमानी तुर्क जर्मनी के मित्रराष्ट्र के रूप में शामिल हुए। इस जंग में तुर्कों ने गठबन्धन शक्तियों का, जिसमें रूस, ब्रिटेन, एवं फ्रांस सम्मिलित थीं, चार वर्षों तक सफलतापूर्वक मुक़ाबला किया। दानियाल के दर्रे, क़फ़क़ाज़ एवं इराक़ के मोर्चों पर दुश्मनों को कई बार पराजित किया, लेकिन जर्मनी के हथियार डाल देने के बाद तुर्कों को भी हथियार डालने पड़े। 30 अक्तूबर 1918 ई॰ को जंग बन्द हो गई। अनवर

पाशा, तलअत पाशा, और जमाल पाशा जो तुर्कों को जंग में शामिल करने के ज़िम्मेदार थे, गठबन्धन देशों की नई अपमानजनक शर्तों को स्वीकार नहीं कर सकते थे और अब ज़्यादा विरोध करने की स्थिति में भी नहीं थे, इसलिए वे तुर्की से बाहर चले गए। अनवर पाशा तुर्किस्तान की आज़ादी की जिद्दो-जुहद करते हुए शहीद हो गए और तलअत पाशा बर्लिन में एवं जमाल पाशा तिफ़लिस में आरमेनी राष्ट्रवादियों की गोली का निशाना बन गए। 12 जनवरी 1920 ई॰ को उसमानी संसद का आख़िरी इजलास हुआ और 16 मार्च 1920 ई॰ को गठबन्धन देशों की फ़ौजें इस्तंबूल में प्रवेश कर गईं। साढ़े चार सौ साल के बाद यह पहला अवसर था कि उसमानी सल्तनत की राजधानी पर दूसरों का क़ब्ज़ा हुआ। इस घटना ने न केवल तुर्की बल्कि सारी इस्लामी दुनिया को ग़म एवं गुस्से में डाल दिया। इस्लाम का ख़लीफ़ा अब अंग्रेज़ों के वश में था। गठबन्धन शक्तियाँ तुर्की को टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहती थीं, परन्तु इस बीच अनातोलिया में मुस्तफ़ा कमाल के नेतृत्व में आज़ादी की जंग शुरू हो चुकी थी। 1922 ई॰ के अन्त तक तुर्की ने सभी दुश्मनों को अनातोलिया से बाहर निकाल दिया था। सुल्तान वहीदुद्दीन जिसे अंग्रेज़ों ने अपने आधिपत्य के काल में बादशाह नियुक्त किया था, 17 अक्तूबर 1922 ई॰ को ब्रिटेन के एक जहाज़ में बैठकर फ़रार हो गया। राष्ट्रवादी तुर्कों ने उसकी जगह अब्दुल-मजीद को ख़लीफ़ा चुना, परन्तु 29 अक्तूबर 1923 ई॰ को राजशाही समाप्त करके तुर्की को एक लोकतांत्रिक देश घोषित कर दिया गया। 3 मार्च 1924 ई॰ को ख़िलाफ़त भी ख़त्म कर दी गई। इस प्रकार उसमानी सल्तनत का 625 वर्षों बाद ख़ातिमा हो गया। इस्लामी इतिहास में किसी मुसलमान ख़ानदान ने इतनी लम्बी अवधि तक हुकूमत नहीं की।

अनवर पाशा

वे तुर्क रहनुमा (नेता) जिनकी कोशिशों से 1877 ई॰ में पहला संविधान लागू हुआ, नवयुवक उसमानी कहलाते हैं और वे रहनुमा जो दूसरे संविधान के वाहक बने नवयुवक तुर्क (यंग तुर्क) कहलाते हैं। संविधान के इस दौर में महमूद शौकत पाशा (1856 ई॰—1913 ई॰) और अनवर पाशा (1881 ई॰—

1922 ई॰) सबसे प्रभावशाली व्यक्ति थे। 1913 में महमूद शौकत पाशा की शहादत के बाद यद्यपि सईद हलीम पाशा प्रधानमंत्री चुने गए लेकिन 1913 से 1918 ई॰ तक वास्तविक सत्ता तीन महत्वपूर्ण लोगों की समिति के हाथ में थी जिसके सदस्य थे अनवर पाशा, तलअत पाशा (1874 ई॰–1921 ई॰) और जमाल पाशा (1872 ई॰–1922 ई॰) और जिनमें सबसे अहम व्यक्तित्व अनवर पाशा का था। अनवर पाशा ने तरबुलुस (Tripoli) की जंग एवं बल्कान की जंग में अपनी वीरता एवं साहस का परिचय दिया जिसके कारण वह इस्लामी दुनिया के सर्वाधिक लोकप्रिय व्यक्ति बन गए थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने सुल्तान अब्दुल-हमीद की तानाशाही को ख़त्म करके संवैधानिक सरकार की स्थापना में प्रमुख भूमिका निभाई थी। विश्व-युद्ध के समय वह युद्धमंत्री (रक्षामंत्री) थे, बल्कि एक प्रकार से पूरी सल्तनत के सर्वेसर्वा थे। उनके काल में तुर्की फ़ौज का जर्मन विशेषज्ञों की देखरेख में पुनर्गठन हुआ और यह उसी नई फ़ौजी व्यवस्था का परिणाम था कि तुर्की जैसे छोटे और पतनोन्मुख देश ने, जो यूरोप का बीमार देश कहलाता था, रूस, ब्रिटेन और अन्य गठबंधन देशों का चार साल तक मुक़ाबला किया। अनवर पाशा सदाचारी एवं शुद्ध चरित्र के स्वामी थे और मानसिक एवं व्यावहारिक दोनों स्तरों पर सच्चे मुसलमान थे, परन्तु इन सभी गुणों के बावजूद अनवर पाशा एक बड़े चिन्तक एवं सुधारक नहीं थे। वह विचारक भी नहीं थे बल्कि एक जज़्बाती इनसान थे। एक जोशीले मुजाहिद (योद्धा) थे। उनका व्यक्तित्व बड़ा दिलकश था।

अरबों की बग़ावत

एकता एवं विकास समिति, जिसके वह (अनवर पाशा) एक रहनुमा थे, कोई वैचारिक संगठन नहीं था। वह तुर्क एवं ग़ैर-तुर्क, इस्लामपसन्द एवं इस्लाम-दुश्मन, रूढ़िवादी एवं मध्यमार्गी राष्ट्रप्रेमी और तूरानी एकता एवं इस्लाम की एकता के समर्थकों पर आधारित तत्त्वों का एक समूह था। इसी कारण यह समिति कोई वैचारिक क्रान्ति नहीं ला सकी। इसका एकमात्र उद्देश्य अब्दुल-हमीद ख़ाँ की तानाशाही को समाप्त करके संवैधानिक हुकूमत क़ायम करना था। और जब यह उद्देश्य पूरा हो गया तो समिति बिखर गई।

नवयुवक तुर्क अपने उद्देश्य की प्राप्ति में नाकाम रहे। उनके सत्ता में आने के तुरन्त बाद 1908 ई॰ में बुल्ग़ारिया आज़ाद हो गया और 1913 ई॰ तक यूरोप के सभी इलाक़े उनके हाथ से निकल गए। अब उसमानी सुल्तान की हुकूमत केवल तुर्क एवं अरब के इलाक़ों पर रह गई। 1914 ई॰ में सल्तनत की आबादी में सवा करोड़ तुर्क एवं 53 लाख अरब आबाद थे और उसमानी संसद के 259 सदस्यीय सदन में 144 तुर्क एवं 84 अरब थे। अर्थात् अरबों का संसद में प्रतिनिधित्व उनकी आबादी के अनुपात में अधिक था, इसके बावजूद अरबों में असंतोष पाया जाता था। वे अरब राष्ट्रवादी विचारधारा के शिकार हो चुके थे। यूरोपीय क़ौमों की भाँति वे भी अपनी आज़ाद अरब-रियासत क़ायम करना चाहते थे। कुछ इस्लामपसन्द अरब के रहनुमाओं अर्थात् शरीफ़ सनोसी, रशीद रज़ा मिस्री और अमीर शकेब अरसलान आदि ने अरबों एवं तुर्कों के बीच एकता बनाए रखने की पूरी कोशिश की परन्तु उनकी आवाज़ दबकर रह गई। अरबों ने हिजाज़ (वर्तमान सऊदी क्षेत्र), शाम (सीरिया) और इराक़ में विश्व-युद्ध के दौरान अंग्रेज़ों की साज़िश का शिकार होकर तुर्कों के ख़िलाफ़ बग़ावत कर दी (1916 ई॰) और इस प्रकार अरब के इलाक़े उसमानी सल्तनत से आज़ाद हो गए।

इस तमाम कशमकश में केवल अरबों का दोष नहीं था, तुर्क भी इसमें बराबर के साझीदार थे। अरबों की तरह उनमें भी एक समूह तुर्क राष्ट्रवाद का शिकार हो चुका था। वह कभी तूरान की एकता, कभी उसमानी राष्ट्रीयता के नारे लगाता था और उसमानी सल्तनत में तुर्कों के वर्चस्व को हर प्रकार से क़ायम रखना चाहता था। इसमें संदेह नहीं कि तुर्कों में भी सईद हलीम पाशा, मुहम्मद आकिफ़ और अशरफ़ अदीब जैसे इस्लामपसन्द तत्व मौजूद थे जो उदारवादी मार्ग अपनाना चाहते थे, परन्तु उनके पास कोई स्पष्ट वैचारिक प्रोग्राम नहीं था, जिसके कारण उनकी आवाज़ भी दबकर रह गई और अन्ततः जीत तुर्क राष्ट्रीयता एवं अरब राष्ट्रीयता की ही हुई और इस्लाम की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई।

तुर्कों का राष्ट्रीय चरित्र

उसमानी सल्तनत छह सौ साल से ज़्यादा क़ायम रही। इस्लामी इतिहास में किसी एक ख़ानदान ने इतने अधिक समय तक हुकूमत नहीं की और न किसी क़ौम को इतना उत्थान प्राप्त हुआ जितना उसमानी तुर्कों को। उनमें हुकूमत करने की अद्भुत योग्यता थी। चार सौ साल तक तो उन्हें चरमोत्कर्ष प्राप्त रहा और उसके बाद जब पतन प्रारम्भ हुआ तो उनकी सल्तनत उमवियों, अब्बासियों और मुग़लों की तरह एकदम ख़त्म नहीं हुई, बल्कि दो सौ साल का समय लग गया। दुश्मनों को उन्होंने अपने इलाक़े आसानी से नहीं दिए, बल्कि एक-एक क़दम के लिए जंग करते रहे और कई-कई बार उन्होंने अपने बिगड़े हुए हालात को सम्भाल लिया। उसमानी तुर्कों की यह एक ऐसी विशेषता है जिसकी मिसाल इस्लामी इतिहास में दूसरी जगह नहीं मिलती।

उसमानी सल्तनत की इस मज़बूती और स्थिरता के कई कारक थे। एक कारण तो यह था कि उनकी हुकूमत अन्य हुकूमतों के मुक़ाबले में ज़्यादा क़ानून पर आधारित थी। बादशाह के सलाह-मशवरे के लिए 'बाबे-आली' के नाम से एक संस्था थी जिसमें विशेष योग्यता के लोग रखे जाते थे। इस परामर्शदात्री संस्था के कारण सल्तनत का काम ज़्यादा सुचारू रूप से चलता था और बादशाह भी अधिक मनमानी नहीं कर सकता था।

दूसरा कारण यह था कि उसमानी बादशाहों के पास 'यनीचरी' नामक एक नियमित एवं सुसंगठित फ़ौज थी। यह दुनिया की पहली स्थायी और नियमित फ़ौज थी। इसे कठोर प्रशिक्षणों से गुज़रना पड़ता था। यह फ़ौज अपने समय के आधुनिकतम हथियारों से लैस रहती थी। यही कारण था कि दुश्मन इस फ़ौज का सदियों तक मुक़ाबला नहीं कर सके।

परन्तु उसमानी सल्तनत की मज़बूती एवं स्थिरता का सबसे प्रमुख कारण तुर्कों का अच्छा अख़लाक़ एवं सदाचार था। तुर्क हमेशा सादगी-पसन्द, मेहनती एवं साहसी रहे हैं। ऐश-विलासिता की ज़िन्दगी से, जो इनसान को आराम-तलब एवं स्वार्थी बनाती है, वह ज़्यादा-से-ज़्यादा दूर रहे। इसी प्रकार

वे बेईमानी, धोखा, शराब, जुआ एवं अश्लील कर्मों से भी अन्य मुस्लिम समुदायों की अपेक्षा ज़्यादा बचे रहे, और यही कारण है कि उनके अख़लाक़ एवं आचरण में ज़्यादा समय तक ख़राबियाँ पैदा न हो सकीं। तुर्कों की इन ख़ूबियों को सभी इतिहासकारों ने जिनमें मुस्लिम एवं ग़ैर-मुस्लिम दोनों शामिल हैं, खुले तौर पर स्वीकार किया है। उन इतिहासकारों एवं लेखकों की राय हम यहाँ पेश करते हैं।

उर्दू के प्रसिद्ध लेखक मौलाना शिबली लिखते हैं—

"तुर्क-समाज में मुझे जो चीज़ सबसे ज़्यादा पसन्द है, वह यह है कि श्रेष्ठ मानसिक एवं बौद्धिक क्षमता तथा सुरुचिपूर्ण स्वभाव के बावजूद उनमें निरर्थक शान-शौकत, अभिमान का नाम नहीं है। बड़े-बड़े पदाधिकारी, मंत्री बाज़ार में निकलते हैं तो मामूली हैसियत से निकलते हैं। उनके मकानों एवं रहन-सहन में भी सादगी एवं सरलता पाई जाती है। सच्चाई तो यह है कि तुर्क इस बात पर चाहे जितना गर्व करें, उचित है, कि उन्होंने छह सौ वर्षों तक सल्तनत की छाया मे रहकर भी सिपाहियानापन नहीं छोड़ा, वरना अब्बासी, फ़ातिमी, अन्दलुस के उमवी और तैमूरी (मुग़ल) तो सौ-दो-सौ वर्ष में ही अच्छे ख़ासे रंगीले बन गए थे।"

"तुर्कों की सामाजिक जीवन-शैली बहुत अच्छी एवं अनुकरनीय है। उच्च पदाधिकारी एवं गणमान्य लोगों को तो छोड़िए, साधारण हैसियत का आदमी भी जिस सफ़ाई एवं सुन्दर तरीक़े से जीवन व्यतीत करता है, हमारे मुल्क में बड़े-बड़े रईसों का भी सम्भव नहीं। मैंने दस हज़ार की तनख़ाह से लेकर बीस रुपये आमदनीवालों तक के मकान देखे, यद्यपि दोनों की परिस्थितियों में बड़ा अन्तर था, और होना भी चाहिए था, परन्तु साफ़-सफ़ाई एवं रहन-सहन की सुन्दर शैली में दोनों बराबर थे।"

एक अंग्रेज़ लिखता है—

"इस तथ्य का दावा पूर्ण विश्वास के साथ किया जा सकता है कि

इस्लाम ने अनातोलिया के तुर्कों को एक परहेज़गार क़ौम बना दिया है। इस्लाम ने उन्हें शारीरिक रूप से भी एक साफ़-सुथरी क़ौम बना दिया है। उन्हें दिन में कम-से-कम पाँच बार नमाज़ पढ़नी पड़ती है और हर नमाज़ से पहले वुज़ू करना ज़रूरी होता है। कुछ परिस्थितियों में गन्दगी से पाक होने के लिए पूरे जिस्म को धोने की शिक्षा दी गई है। खाने से पहले हाथ धोना, हमेशा अपने घरों और जिस्मों को साफ़-सुथरा रखना, इन चीज़ों ने उनमें सफ़ाई की आदत पैदा कर दी है। ग़रीब-से-ग़रीब तुर्की व्यक्ति के घर की असाधारण साफ़-सफ़ाई को देखकर आश्चर्य होता है। इनके स्वभाव का कुछ प्रभाव इनके पड़ोसी ईसाइयों पर भी हुआ है। हालाँकि अब भी ईसाई प्रायः अपने घरों के क़रीब कूड़ा करकट एवं गन्दगी डाल देते हैं। कोई तुर्क अपने मकान के निकट ऐसी गन्दगी सहन नहीं करता। शारीरिक स्वच्छता एवं सफ़ाई के मामले में भी दोनों में यही अन्तर है। एक उदाहरण, एक देहाती क़हवाख़ाने में जब एक ईसाई किसान से यह पूछा गया कि सफ़र पर जाने से पहले क्या वह पसन्द नहीं करता कि हाथ-मुँह धो डाले तो उसने जवाब दिया, मैं कोई तुर्क हूँ जो हमेशा अपने मुँह को धोता रहूँ।"

(दौलते-उसमानिया, भाग-2, पृष्ठ 449, 450)

"डाका, सेंधमारी यहाँ तक कि छोटी-छोटी एवं मामूली चीज़ों की चोरी भी, तुर्कों के यहाँ बिलकुल नहीं होती। चोर प्रायः बुल्ग़ारिया के लोग होते हैं। सड़कों पर झगड़ा-फ़साद कभी-कभी ही देखने को मिलता है। परन्तु जो चीज़ पर्यटकों के मन से कभी नहीं मिट सकती, वह है सड़कों पर बदमस्त औरतों एवं मर्दों का न होना। यदि कहीं कोई शराब के नशे में मस्त देखा भी जाएगा तो वह यक़ीनन तुर्क न होगा। इस गुण का महत्व उस समय बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि हमारे शहरों में प्रत्येक झगड़ा-फ़साद एवं अपराध की मूल जड़ यही शराब है।"

(दौलते-उसमानिया, भाग-2 पृष्ठ-453)

एक और यूरोपीय लेखक डब्लू॰ एस॰ मुनरो लिखता है—

"मुझसे कुस्तनतीनिया में कारोबारी आदमियों ने कई बार बताया कि जब उन्हें कोई ऐसा काम किसी व्यक्ति को सौंपना होता जिसके लिए पूर्ण विश्वासी एवं ईमानदार व्यक्ति की आवश्यकता होती तो हमेशा वे किसी यूनानी, आरमेनी या यहूदी के बदले किसी तुर्क को वह काम सौंपते।"

अंग्रेज़ लेखक लारनपिट लिखता है—

"यदि कोई व्यक्ति सड़क पर किसी औरत से मिलता है तो उसकी ओर से मुँह फैर लेता है। तुर्क बेशर्म औरतों से बेहद नफ़रत करते हैं और उनसे बचते हैं। यही कारण है कि प्रायः देखा जाता है कि अगर ईसाइयों एवं तुर्कों के बीच किसी कारण झगड़ा हो जाता है और उस ईसाई की बीवी लड़ाका होती है तो ईसाई मर्द अपनी औरतों को लड़ाई में आगे करते हैं और इस प्रकार वे अपने मक़सद में कामयाब हो जाते हैं। किसी तुर्क के लिए सबसे बड़ा अपमान एवं शर्म की बात यह है कि वह औरत पर हाथ उठाए।"

जुए के खेल से वे बेहद नफ़रत करते हैं। और जुआ के खिलाड़ी को वे चोर से भी बुरा समझते हैं।"

"उच्च बल्कि मध्य वर्ग के लोग भी नाच-गाने एवं नृत्य को मानव-मर्यादा के विपरीत समझते हैं और इस कला को मानव-जाति के अति तुच्छ लोगों के लिए ही ठीक समझते हैं। उनका कहना है कि कोई भी नहीं नाचता जब तक कि वह बदमस्त या पागल न हो।"

"तुर्क-जाति के लोग औरतों से सड़क पर कभी बात करना पसन्द नहीं करते, यहाँ तक कि अपनी पत्नियों से भी नहीं । कोई व्यक्ति औरतों को घूरता नहीं। यह रिवाज पूरोप के ईसाई देशों तक सीमित है।"

"प्रायः तुर्क शराबख़ोरी को नफ़रत की निगाह से देखते हैं और अफ़ीम खाने की आदत को बहुत ही घटिया समझते हैं।"

उसमानी तुर्कों को इस्लामी इतिहास में जो महत्व प्राप्त है उसका उल्लेख हंगरी के एक नवमुस्लिम लेखक जूलियस जरमानोस ने बड़ी सुन्दरता से किया है। वह लिखते हैं—

"तुर्क स्वभावतः सिपाही, संगठनकर्त्ता, न्यायप्रिय एवं शान्ति का रक्षक और प्रहरी था। उसकी सारी दौलत या तो उसकी अपनी जायदाद होती थी या फिर किसी सेवा के बदले में मिलनेवाली निजी तनख़ाह। ईसाई नागरिक व्यापार के सभी लाभ देनेवाले क्षेत्रों पर हावी थे और इतने धनी हो गए थे कि मुसलमान नागरिक, जो सल्तनत की सुरक्षा के लिए जंग के मैदान में सर कटाते थे, उन्हें हसरत एवं ईर्ष्या की दृष्टि से देखने लगे थे। ईसाई, सैनिक सेवा से आज़ाद थे, और जिसका बोझ पूर्णरूपेण मुस्लिम तुर्कों ही के ऊपर था, और जिस वीरता एवं अल्लाह के आदेशों का पालन करते हुए यह मुसलमान तुर्क इस बोझ को उठाए हुए थे, वह निश्चित रूप ही प्रशंसनीय है। यही लोग इस्लाम के अत्यन्त बहादुर मुजाहिद थे और ऐसे समय में जब कोई और मुस्लिम क़ौम यूरोप के ज़ुल्म-अत्याचार को झेल नहीं पा रही थी, इस्लामी सभ्यता, इस्लामी ज्ञान एवं कला, इस्लामी साहित्य व संस्कृति की सेवा करनेवाले एवं इसे ज़िन्दा रखनेवाले यही तुर्क थे। अपने कारनामों से उन्होंने दृढ़ निश्चय एवं इच्छा-शक्ति की ऐसी मिसाल दुनिया के सामने पेश कर दी है कि यदि दूसरी मुसलमान क़ौमें इसे समझें और इससे काम लें तो उनमें आत्मगौरव एवं आत्मविश्वास पैदा हो जाए।"

संगठनों का दौर एवं वैचारिक कशमकश

तुर्की में आधुनिक दौर का आरम्भ संगठनों एवं विभागों के सुधार से होता है। इन सुधारों ने निस्सन्देह आर्थिक क्षेत्र में तुर्कों को बहुत फ़ायदा पहुँचाया। वे पहली बार आधुनिक विचार, आधुनिक विज्ञान एवं आधुनिक ज्ञानों से परिचित हुए और मुसलमानों की बौद्धिक जड़ता जिसमें वे बग़दाद के पतन के बाद से घिरे हुए थे, टूट गई। परन्तु इस दौर में एक बुनियादी

ग़लती यह हुई कि उन्होंने शिक्षा-व्यवस्था को दो भागों में विभक्त कर दिया, अर्थात् दीनी तालीम (धार्मिक शिक्षा) और दुनियावी तालीम। ऐसा करना यूरोप में तो ठीक था क्योंकि ईसाइयत दुनियावी मामलात में लोगों का कोई मार्गदर्शन नहीं कर सकती थी, परन्तु मुसलमानों के लिए दीन एवं दुनिया अथवा मज़हब एवं सियासत के दोहरे मापदण्ड सही नहीं थे। इस्लाम मुसलमानों की हमेशा से ज़िन्दगी के सभी मामलात में मार्गदर्शन करता चला आ रहा था और इसका परिणाम सामज एवं सल्तनत के लिए हमेशा लाभकारी साबित हुआ था। संगठन काल में जब शिक्षा को दो हिस्सों में बाँट दिया गया तो आधुनिक शिक्षित वर्ग जिसने आधुनिक स्कूलों में तालीम पाई थी इस्लाम के मार्गदर्शन से वंचित हो गया और दीनी मदरसों में शिक्षा पानेवाला वर्ग केवल मस्जिद का मुल्ला बनकर रह गया। इस शिक्षण-व्यवस्था ने उलमा के एक वर्ग को रूढ़ीवादी बना दिया और आधुनिक शिक्षित वर्ग को इस्लाम की ओर से असंवेदनशील एवं निस्पृह कर दिया।

संगठन काल के रहनुमाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने इस्लामी शिक्षाओं और पश्चिमी विचारधाराओं में संतुलन बनाए रखा और ख़ालिदा ख़ानम के कथनानुसार उनकी रगों में इस्लामियत बैठी हुई थी। उनके दिल एवं दिमाग़ दोनों मुसलमान थे। उनमें अपनी कमज़ोरी का एहसास ज़रूर था, परन्तु पश्चिम के मुक़ाबले में वे हीन भावना के शिकार कदापि नहीं थे। वे पश्चिम से प्रभावित नहीं थे। उनका उद्देश्य केवल यह था कि पश्चिम की लाभकारी चीज़ों को लेकर अपनी और अपनी सल्तनत की कमज़ोरियों को दूर कर दें। परन्तु संगठन काल के आधुनिक स्कूलों और यूरोप में शिक्षा प्राप्त करके जो नई नस्ल तैयार हुई वह ऐसे लोगों पर आधारित थी जो ख़ालिदा अदीब के कथनानुसार संगठन काल के सुधारवादियों से बिलकुल भिन्न थे। उनमें एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं था जो बौद्धिक, शैक्षिक योग्यता एवं विवेकशीलता में संगठन काल के सुधारकों की टक्कर का हो। यह कुछ ऐसे नौजवानों का समूह था जो इस्लामी शिक्षाओं के मामले में कोरे थे, इस्लामी प्रशिक्षण की दृष्टि से अयोग्य थे। पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान में भी गहरी नज़र नहीं रखते थे। अपने मज़हब, अपनी सभ्यता,

अपनी शिक्षाओं एवं शिष्टाचारों और अपने प्राचीन सामूहिक संगठनों के विरुद्ध उनके दिलो-दिमाग़ में भेदभाव की भावना जड़ पकड़ चुकी थी। पश्चिम से प्रभावित होकर हीन भावना उनमें बहुत अधिक पाई जाती थी।

यह वह नस्ल थी जो सुल्तान अब्दुल-हमीद का तख़्ता उलटकर सत्ता में आई थी। सुल्तान अब्दुल-हमीद ने अपने दौर में रुढ़िवादी उलमा की मदद से संगठन काल के सुधारकों की उठाई हुई बुनियादें ढहाने और तुर्की क़ौम के साहित्यिक एवं मानसिक विकास को अवरुद्ध करने तथा सियासी एवं सांगठनिक सुधारों को तबाह करने की जो कोशिशें कीं उनके कारण यह नई नस्ल मज़हब को विकास के मार्ग का रोड़ा समझने लगी।

उन्नीसवीं सदी में तुर्कों की आधुनिक शिक्षित नस्ल को जिन पश्चिमी विचारों-अवधारणाओं ने प्रभावित किया उनमें एक राष्ट्रभक्ति और राष्ट्रीयता की राजनीतिक अवधारणा भी थी। आरम्भ में यह अवधारणा देशप्रेम तक सीमित थी, परन्तु बाद में इस अवधारणा ने तुर्कों में वंशवाद एवं राष्ट्रीय श्रेष्ठता की भावना का संचार किया और जब इसका अरब राष्ट्रीयता की विचारधारा से टकराव हुआ तो उसमानी सल्तनत छिन्न-भिन्न हो गई। राष्ट्रवाद एवं धर्मनिरपेक्षता के रुझान को तुर्कों में विकसित करने में पश्चिमी विचारकों एवं दार्शनिकों के अतिरिक्त 'फ्रीमेसन आन्दोलन' की भी प्रमुख भूमिका है जिसने उन्नीसवीं सदी के मध्य में इस्तंबूल एवं सालोनिका में अपने लॉज बना लिए थे। संगठन काल एवं द्वितीय संविधान के अधिकतर नेता फ्रीमेसन आन्दोलन के इरादों से अनभिज्ञ होने के कारण उनके जाल में फंस गए थे और इस आन्दोलन के सदस्य भी बन गए थे। सुल्तान अब्दुल-हमीद को सत्ता से हटाने के लिए एकता एवं विकास समिति के सदस्यों पर आधारित जो ग्रूप नियुक्त किया गया था उनमें सालोनिका के फ्रीमेसन लॉज का यहूदी मास्टर करासो भी सम्मिलित था।

3. आधुनिक तुर्की साहित्य

अट्ठारहवीं सदी में तुर्की के सियासी पतन के साथ-साथ बौद्धिक एवं साहित्यिक क्षेत्र में भी पतन आरम्भ हो गया। इसके बावजूद अट्ठारहवीं सदी

के साहित्यिक जगत् में तीन नाम बहुत प्रमुख हैं। उनमें एक शायर नदीम (1681 ई॰–1730 ई॰) है जो अपनी विशुद्ध एवं लालित्यपूर्ण तुर्की भाषा की वजह से आज भी पसंद किया जाता है। नदीम ने मुनजिम बाशी की किताब 'शक़ाइक़ुन-नोमानिया' का तुर्की भाषा में अनुवाद किया। इसमें तुर्की के उलमा के हालात लिखे हैं। इस दौर का दूसरा प्रमुख शायर शैख़ ग़ालिब (1757 ई॰–1799 ई॰) है जिसकी मस्नवी 'हुस्नो-इश्क़' तुर्की भाषा की सबसे अच्छी मस्नवी है। नदीम और ग़ालिब की गिनती क्लासिकी दौर के सबसे बड़े पाँच शायरों में होती है। इस सदी के गद्यकारों में मुस्तफ़ा नईमा (1655 ई॰–1716 ई॰) बहुत प्रमुख हैं। वे तुर्की के पाँच सबसे बड़े इतिहासकारों में गिने जाते हैं और कतिपय लेखक उन्हें क्लासिकी दौर का सबसे बड़ा इतिहासकार मानते हैं। उनका इतिहास 1591 ई॰–1659 ई॰ तक के हालात पर केन्द्रित है। यह पुस्तक 1702 ई॰ में तैयार हुई।

उन्नीसवीं सदी में आधुनिक तुर्की साहित्य अस्तित्व में आया, जो तुर्की के इतिहास में 'संगठनकाल का साहित्य' के नाम से प्रसिद्ध है। 1822 ई॰ में उसमानी हुकूमत ने पश्चिमी भाषाओं से तुर्की में किताबों के अनुवाद के लिए एक अनुवाद विभाग का गठन किया। उस दौर में अरबी एवं फ़ारिसी से भी बहुत अधिक अनुवाद हुए। तुर्क साहित्यकारों एवं कवियों ने पुरानी लीक से हटकर नए-नए प्रयोग किए, परिणामस्वरूप आधुनिक तुर्की साहित्य की बुनियाद पड़ी। इस दौर के तुर्क-साहित्यकारों में ज़िया पाशा (1825 ई॰–1880 ई॰), इबराहीम शनासी (1821 ई॰–1871 ई॰), नामिक़ कमाल (1840 ई॰–1888 ई॰), अब्दुल-हक़ हामिद (1852 ई॰–1937 ई॰) और तौफ़ीक़ फ़िकरित (1867 ई॰–1915 ई॰) के नाम बहुत मशहूर हैं। इन साहित्यकारों की हैसियत आधुनिक तुर्की साहित्य में वही है जो उर्दू में सर सैयद, नज़ीर अहमद, हाली और मुहम्मद हुसैन आज़ाद की है। इस दौर में अरबी, फ़ारिसी एवं उर्दू की तरह तुर्की में भी पश्चिमी प्रभाव के अन्तर्गत उपन्यास, कहानी और एकांकी लेखन का आरम्भ हुआ। यह नया साहित्य चूँकि संगठनकाल में पैदा हुआ इसलिए संगठनकाल का साहित्य कहलाता है।

नामिक़ कमाल

इन तुर्क-साहित्यकारों में नामिक़ कमाल इस दृष्टि से ज़्यादा प्रमुख हैं कि वे साहित्य की हर नई विधा में अग्रिम पंक्ति में देखे जाते हैं। वे इतिहासकार, शायर, नाटककार, उपन्यासकार एवं आलोचक सब कुछ थे, और भविष्य के तुर्की साहित्य पर उन्होंने गहरा प्रभाव डाला। वे अपने स्वभाव की दृष्टि से इस्लामी हिन्द के रहनुमा मौलाना मुहम्मद अली जौहर से बहुत मिलते-जुलते थे। वे आज़ादी एवं लोकतंत्र के ध्वजावाहक थे। उन्होंने अपनी किताबों एवं लेखों के द्वारा बड़े साहस से अपने विचार प्रकट किए और परिणामस्वरूप क़ैद एवं देश निकाला की मुसीबतें झेलीं। नामिक़ कमाल सच्चे एवं उत्साही मुसलमान थे। उन्होंने पश्चिमी सभ्यता एवं ज्ञानों से फ़ायदा उठाने के मामले में अन्य तुर्क-रहनुमाओं की अपेक्षा ज़्यादा संतुलित एवं संयमित रुख़ अपनाया। उनकी विचारधारा इस्लामी थी। उन्होंने संगठनकाल के रहनुमाओं की तथ्यपरक और तीखी आलोचना की। उन्होंने कहा कि वे इस्लामी मान्यताओं की सुरक्षा में नाकाम रहे और यूरोप का अंधानुकरण किया। उन्होंने सुल्तान अब्दुल-हमीद की तानाशाही पालिसी का सख़्त विरोध किया और उसमानी ख़िलाफ़त को एक सांवैधानिक और इस्लामी हुकूमत बनाने के लिए संघर्षरत रहे। नामिक़ कमाल ने इस्लामी मान्यताओं का बचाव किया और यूरोपीय लेखकों ने इस्लाम पर जो आरोप लगाए उनके तर्कसंगत जवाब दिए। नामिक़ कमाल ने उसमानी तुर्कों के नेतृत्व में एक अन्तर्राष्ट्रीय इस्लामी एकता की अवधारणा भी पेश की जो जमालुद्दीन अफ़ग़ानी की इस्लामी एकता की सोच से निकटतम थी। मशहूर तुर्क-लेखिका ख़ालिदा अदीब ख़ानम लिखती हैं कि "नामिक़ कमाल आधुनिक तुर्की के सबसे लोकप्रिय व्यक्ति थे। तुर्की की विचारधारा एवं राजनीति के इतिहास में उनसे ज़्यादा किसी दूसरे व्यक्ति को मान्यता नहीं दी गई।"

नामिक़ कमाल एक बेबाक पत्रकार भी थे। उन्होंने 'तस्वीरे-अफ़कार', 'हुर्रियत' और 'इबरत' जैसे अख़बारों का संपादन किया जो तुर्की की पत्रकारिता के इतिहास में बहुत प्रमुख माने जाते हैं। लेखों, बौद्धिक एवं

आलोचनात्मक पुस्तकों के अतिरिक्त नामिक़ कमाल ने नाटकों एवं उपन्यासों के द्वारा आज़ादी तथा देशप्रेम की भावना को फैलाया। उनके नाटकों में 'वतन' नामक नाटक बहुत प्रसिद्ध है। उनके एक अन्य नाटक 'जलालुद्दीन ख़ुवारिज़्म शाह' का उर्दू में भी अनुवाद हो गया है।

अब्दुल-हक़ हामिद आधुनिक तुर्की कविता के जनक समझे जाते हैं। वे बड़े प्रतिभावान शायर थे। उन्होंने पद्य एवं गद्य में कई नाटक लिखे जो बड़े विचारोत्तेजक हैं। ख़ालिदा अदीब ने लिखा है कि यदि उनकी रचनाओं का पश्चिमी भाषाओं में अनुवाद हो जाए तो अब्दुल-हक़ हामिद को विश्वख्याति प्राप्त हो जाएगी। उनका नाटक 'तारिक़' उनके इस्लामी रुझान का द्योतक है।

उन्नीसवीं सदी की एक और अहम बौद्धिक शख़्सियत जूदत पाशा (1822 ई०—1895 ई०) की है। उन्हें तुर्की के क्लासिकी दौर के पाँच सबसे बड़े इतिहासकारों के सिलसिले की आख़िरी कड़ी समझा जाता है। उनकी रचनाओं में 'तारीख़े-जूदत' (बारह खण्ड) और क़-ससुल-अम्बिया व तारीख़ुल ख़ुलफ़ा' (बारह खण्ड) बहुत मशहूर हैं। सुल्तान अब्दुल-अज़ीज़ के ज़माने में उसमानी ख़िलाफ़त के क़ानून को इस्लाम के अनुरूप ढालने के लिए 'मजल्ला' के नाम से एक आयोग गठित किया गया था। जूदत पाशा उसके अध्यक्ष थे। इस आयोग ने 'मजल्ला' नाम से ही क़ानून का एक संकलन भी तैयार किया था।

इस दौर के उपन्यासकारों में अहमद मिदहत (1844 ई०—1912 ई०) ने अपनी अनगिनत रचनाओं के कारण बहुत नाम कमाया। उन्होंने हर विषय पर लिखा, परन्तु सबसे ज़्यादा उपन्यास लिखे। उनकी डेढ़ सौ रचनाओं में से एक सौ उपन्यास हैं। अहमद मिदहत को हम तुर्की का शरर (अब्दुल-हलीम शरर) कह सकते हैं।

उन्नीसवीं सदी में तुर्की में जो उपन्यास लिखे गए, वे शिल्प की दृष्टि से कमज़ोर थे, परन्तु उनमें इस्लामी मान्यताओं के प्रति सम्मान पाया जाता है। इसके विपरीत बीसवीं सदी में तुर्की उपन्यास एवं कहानी पूर्णतः पश्चिम

के प्रभाव में आ गई और कुछ उपन्यासकारों ने इस्लामी एवं पूर्वी मान्यताओं-परम्पराओं की खुलकर मुख़ालफ़त की। समीअ पाशा ज़ादह शीराई (1860 ई॰–1936 ई॰) इस शैली के आधुनिक उपन्यास के जनक हैं और शैली का विकसित एवं प्रौढ़ नमूना ख़ालिद ज़िया उशाकिलीगिल (1866 ई॰–1945 ई॰) हैं। इन आधुनिक शैली के उपन्यासकारों में हुसैन रहमी गोरपनार (1864 ई॰–1944 ई॰) अपवाद समझे जाते हैं। उनके उपन्यासों में इस्लामी मान्यताओं का सम्मान पाया जाता है। वे सजग एवं सटीक व्यंगकार एवं हास्य लेखक थे। उन्होंने अपने उपन्यासों में पश्चिम का अंधानुकरण करनेवालों को अपने हास्य-व्यंग्य का निशाना बनाया है।

सईद हलीम पाशा

बीसवीं सदी में पश्चिम एवं पूरब अथवा इस्लामी एवं ग़ैर-इस्लामी विचारधारा की कश-मकश चरम पर पहुँच गई। इसका प्रभाव उस ज़माने के साहित्य पर भी पड़ा। बीसवीं सदी के आरम्भ से लोकतंत्र की स्थापना तक के ज़माने में इस्लामी गुट का बौद्धिक नेतृत्व सईद हलीम पाशा (1865 ई॰–1922 ई॰) ने किया। वे मिस्र के वाली (गवर्नर) मुहम्मद अली के ख़ानदान से सम्बन्ध रखते थे जिसके कारण शहज़ादा सईद हलीम कहलाते थे। वे एकता एवं विकास समिति के सेक्रेटरी थे और 1913 ई॰ से 1917 ई॰ तक उसमानी ख़िलाफ़त के प्रधानमंत्री भी रहे। उन्होंने तुर्कों की सियासत पर जो लेख लिखे वे लगभग सभी एक किताब 'हमारे बुहरान' (हमारी अराजकता) में जमा कर दिए गए हैं। एक लेख जो उस किताब में सम्मिलित नहीं है उसका उर्दू अनुवाद 'अल्लाह की बादशाहत और इस्लामी हुकूमत की व्यावहारिक रूप में स्थापना' शीर्षक से पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो चुका है। सईद हलीम पाशा का दृष्टिकोण संक्षेप में इस प्रकार था–

"इस्लाम विश्व-धर्मों का सबसे उच्च एवं सबसे पूर्ण रूप है और वह एक व्यापक सभ्यता एवं संस्कृति है। जिस प्रकार इस्लाम से हटकर पारलौकिक मुक्ति सम्भव नहीं उसी प्रकार सांसकृतिक रूप से भी मुक्ति नहीं मिल सकती। शरीअत की हुक्मरानी का क़ानून बनाकर इस्लाम ने मानव की

वास्तविक समानता एवं स्वतंत्रता की बुनियाद स्थापित कर दी है। शरीअत ईशवरीय विधान है जो स्वाभाविक एवं प्राकृतिक क़ानूनों पर आधारित है।"[1]

इस दौर के अन्य इस्लामपसन्द लेखकों में इसमाईल हक़्क़ी अज़मीरली (1868 ई॰–1946 ई॰), मुहम्मद ताहिर बरसाली (1861 ई॰–1926 ई॰) और मुहम्मद आकिफ़ (1873 ई॰–1936 ई॰) के नाम उल्लेखनीय हैं। इसमाईल हक़्क़ी ने दीनी (धार्मिक) एवं दार्शनिक विषय पर कई किताबें लिखीं और मुहम्मद ताहिर जीवनी-पुस्तकों के लेखक है जिनमें तीन खण्डों में 'उसमानी मोवल्लिफ़री' (उसमानी लेखक) सबसे प्रमुख है तथा उसमानी तुर्की साहित्य के इतिहास में बहुत महत्व रखती है। मुहम्मद आकिफ़ तुर्की भाषा के सबसे बड़े इस्लामपसंद शायर थे। उन्होंने अपनी नज़्मों (कविताओं) से वही काम लिया जो उर्दू फ़ारिसी में इक़बाल ने अपनी शायरी से लिया। हम उन्हें तुर्की का इक़बाल कह सकते हैं। ये सभी इस्लामपसंद लेखक तुर्की के प्रसिद्ध पत्रकार अशरफ़ अदीब (मृत्यु-1971 ई॰) के साप्ताहिक 'सबीलुर-रशाद' में लेख लिखते थे जो इस्लामपसंदों का सबसे बड़ा अख़बार था और तुर्की के बाहर वोल्गा और काशग़र तक तुर्की बोलनेवाले सभी देशों में शौक़ से पढ़ा जाता था। उसकी तुर्की में वही हैसियत थी जो इस्लामी हिंद में मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद के साप्ताहिक 'अल-हिलाल' की थी।

ज़िया गोक अलप

पश्चिम से प्रभावित लेखकों के सबसे बड़े प्रतिनिधि जलाल नूरी उसैदी (1877 ई॰–1938 ई॰) और ज़िया गोक अलप (1875 ई॰–1924 ई॰) थे। इन दोनों ने अपने-अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए कई किताबें लिखीं। इनमें ज़िया गोक अलप की 'तुर्की राष्ट्रवाद की बुनियाद' को बहुत

---

1. सईद हलीम पाशा : इस्लामी हुकूमत की अमली तशकील (शिरकत इल्मी लिमिटेड, लाहौर 1949 ई॰)। सईद हलीम पाशा ने किताबें नहीं लिखी जैसा कि आमतौर पर समझा जाता है। इनका बहुत ज़्यादा मशहूर लेख 'इस्लाम शमक़' भी कोई किताब नहीं है और दूसरे विषयों के साथ 'बेहरान लरइमीज़' में शामिल है।

प्रमुख माना जाता है। ज़िया गोक अलप का दृष्टिकोण यह था कि "मज़हब को आस्था एवं उपासना तक सीमित रखना चाहिए और सियासत को मज़हब के प्रभाव से दूर रहना चाहिए।" वह तुर्की राष्ट्रवाद का बहुत बड़ा समर्थक एवं ध्वजावाहक था। उसकी इच्छा यह थी कि सभी तुर्की भाषी क़ौमों के बीच नज़दीकी सम्बन्ध स्थापित हो। उसे आधुनिक तुर्की का बौद्धिक निर्माता कहा जाता है, परन्तु लोकतंत्र की स्थापना के तुरंत बाद तुर्की में जो सुधार- कार्य हुए, वे सब उसके दृष्टिकोण के अनुरूप नहीं थे। वह ख़िलाफ़त का समर्थक था, तुर्की भाषा से अरबी एवं फ़ारिसी के शब्दों को निकालने के पक्ष में नहीं था और यद्यपि वह धर्मनिरपेक्षता का समर्थक था, परन्तु मज़हबों का शत्रु नहीं था। साथ ही मुस्लिम छात्रों के लिए दीनी तालीम (इस्लामी शिक्षा) को ज़रूरी समझता था।

(लोकतंत्र की स्थापाना के बाद से वर्तमान ज़माने तक तुर्की के इतिहास के लिए देखें इस किताब का तीसरा खण्ड।)

उसमानी सुल्तान

पतन काल (1699 ई॰–1922 ई॰)

1. मुस्तफ़ा द्वितीय	(1106 हि॰/1695 ई॰–1115 हि॰/1703 ई॰)
2. अहमद तृतीय	(1115 हि॰/1703 ई॰–1143 हि॰/1730 ई॰)
3. महमूद प्रथम	(1143 हि॰/1730 ई॰–1167 हि॰/1754 ई॰)
4. उसमान तृतीय	(1167 हि॰/1754 ई॰–1171 हि॰/1757 ई॰)
5. मुस्तफ़ा तृतीय	(1171 हि॰/1757 ई॰–1187 हि॰/1773 ई॰)
6. अब्दुल-हमीद प्रथम	(1187 हि॰/1773 ई॰–1203 हि॰/1789 ई॰)
7. सलीम तृतीय	(1203 हि॰/1789 ई॰–1222 हि॰/1807 ई॰)
8. मुस्तफ़ा चतुर्थ	(1222 हि॰/1807 ई॰–1223 हि॰/1808 ई॰)
9. महमूद द्वितीय	(1223 हि॰/1808 ई॰–1255 हि॰/1839 ई॰)
10. अब्दुल-मजीद ख़ाँ	(1255 हि॰/1839 ई॰–1277 हि॰/1861 ई॰)

11. अब्दुल-अज़ीज़ (1277 हि०/1861 ई०–1293 हि०/1876 ई०)

12. अब्दुल-हमीद द्वितीय (1293 हि०/1876 ई०–1327 हि०/1909 ई०)

13. मुहम्मद पंचम् (1909 ई०–1918 ई०)

14. मुहम्मद षष्ट (1918 ई०–1922 ई०)

क्रीमिया के ख़ान (844 हि०/1440 ई०–1197 हि०/1783 ई०)

1. हाजी गिराई ख़ाँ (844 हि०/1440 ई०–871 हि०/1466 ई०)
2. नूर दौलत ख़ाँ (871 हि०/1466 ई०–873 हि०/1469 ई०)
3. मंगली गिराई ख़ाँ प्रथम–(873 हि०/1469 ई०–878 हि०/1474 ई०)
4. नूर दौलत ख़ाँ (पुनः)–(878 हि०/1474 ई०–882 हि०/1477 ई०)
5. जानबक (आलतन औरदह का अमीर)–(882 हि०/1477 ई०–883 हि०/1478 ई०)
6. मंगली गिराई ख़ाँ (पुनः)–(883 हि०/1478 ई०–920 हि०/1514 ई०)
7. मुहम्मद गिराई ख़ाँ प्रथम–(921 हि०/1515 ई०–929 हि०/1523 ई०)
8. ग़ाज़ी गिराई ख़ाँ प्रथम–(929 हि०/1523 ई०)
9. सआदत गिराई ख़ाँ प्रथम–(929 हि०/1523 ई०–938 हि०/1532 ई०)
10. इस्लाम गिराई ख़ाँ प्रथम–(938 हि०/1532 ई०)
11. साहब गिराई ख़ाँ प्रथम–(938 हि०/1532 ई०–958 हि०/1551 ई०)
12. दौलत गिराई ख़ाँ प्रथम–(958 हि०/1551 ई०–985 हि०/1577 ई०)
13. मुहम्मद गिराई ख़ाँ द्वितीय–(985 हि०/1577 ई०–992 हि०/1583 ई०)
14. इस्लाम गिराई ख़ाँ द्वितीय–(992 हि०/1583 ई०–996 हि०/1588 ई०)
15. ग़ाज़ी गिराई ख़ाँ द्वितीय (बोरा)–(996 हि०/1588 ई०–1002 हि०/1594 ई०)
16. फ़तह गिराई ख़ाँ–(1002 हि०/1594 ई०–1002 हि०/1594 ई०)
17. ग़ाज़ी गिराई ख़ाँ द्वितीय (पुनः)–(1002 हि०/1594 ई०–1017 हि०/1608 ई०)
18. तोक़्तिमिश गिराई ख़ाँ–(1017 हि०/1608 ई०–1017 हि०/1608 ई०)

19. सलामत गिराई ख़ाँ प्रथम–(1017 हि॰/1608 ई॰–1019 हि॰/1610 ई॰)

20. जानबक गिराई ख़ाँ–(1019 हि॰/1610 ई॰–1031 हि॰/1622 ई॰)

21. मुहम्मद गिराई ख़ाँ तृतीय–(1031 हि॰/1622 ई॰–1036 हि॰/1627 ई॰)

22. जानबक गिराई ख़ाँ (पुनः)–(1036 हि॰/1627 ई॰–1045 हि॰/1635 ई॰)

23. इनायत गिराई ख़ाँ–(1045 हि॰/1635 ई॰–1048 हि॰/1638 ई॰)

24. बहादुर गिराई ख़ाँ प्रथम–(1048 हि॰/1638 ई॰–1052 हि॰/1642 ई॰)

25. मुहम्मद गिराई ख़ाँ चतुर्थ–(1052 हि॰/1642 ई॰–1054 हि॰/1644 ई॰)

26. इस्लाम गिराई ख़ाँ तृतीय–(1054 हि॰/1644 ई॰–1064 हि॰/1654 ई॰)

27. मुहम्मद गिराई ख़ाँ चतुर्थ (पुनः)–(1064 हि॰/1654 ई॰–1075 हि॰/1665 ई॰)

28. आदिल गिराई ख़ाँ–(1075 हि॰/1665 ई॰–1081 हि॰/1670 ई॰)

29. हाजी सलीम गिराई ख़ाँ प्रथम–(1081 हि॰/1670 ई॰–1088 हि॰/1677 ई॰)

30. मुराद गिराई–(1088 हि॰/1677 ई॰–1094 हि॰/1683 ई॰)

31. हाजी गिराई ख़ाँ द्वितीय–(1094 हि॰/1683 ई॰–1095 हि॰/1684 ई॰)

32. सलीम गिराई ख़ाँ प्रथम (पुनः)–(1095 हि॰/1684 ई॰–1102 हि॰/1691 ई॰)

33. सआदत गिराई ख़ाँ द्वितीय–(1102 हि॰/1691 ई॰)

34. सफ़ा गिराई ख़ाँ–(1102 हि॰/1691 ई॰–1103 हि॰/1692 ई॰)

35. सलीम गिराई ख़ाँ प्रथम (तीसरी बार)–(1103 हि॰/1692 ई॰–1109 हि॰/1698 ई॰)

36. दौलत गिराई ख़ाँ द्वितीय–(1109 हि॰/1698 ई॰–1114 हि॰/1702 ई॰)

37. सलीम गिराई ख़ाँ प्रथाम (चौथी बार)–(1114 हि॰/1702 ई॰–1116 हि॰/1704 ई॰)

38. ग़ाज़ी गिराई तृतीय–(1116 हि॰/1704 ई॰–1109 हि॰/1707 ई॰)

39. कपलान गिराई ख़ाँ प्रथम–(1119 हि॰/1707 ई॰)

40. दौलत गिराई ख़ाँ द्वितीय (पुनः)–(1119 हि॰/1707 ई॰–1125 हि॰/1713 ई॰)
41. कपलान गिराई ख़ाँ प्रथम (पुनः)–(1125 हि॰/1713 ई॰–1128 हि॰/1716 ई॰)
42. क़ुरह दौलत गिराई ख़ाँ–(1128 हि॰/1716 ई॰–1129 हि॰/1717 ई॰)
43. सआदत गिराई ख़ाँ तृतीय–(1129 हि॰/1717 ई॰–1136 हि॰/1724 ई॰)
44. मंगली गिराई ख़ाँ द्वितीय–(1136 हि॰/1724 ई॰–1143 हि॰/1730 ई॰)
45. कपलान गिराई ख़ाँ प्रथम (तीसरी बार)–(1143 हि॰/1730 ई॰–1149 हि॰/1736 ई॰)
46. फ़तह गिराई ख़ाँ द्वितीय–(1149 हि॰/1736 ई॰–1150 हि॰/1737 ई॰)
47. मंगली गिराई ख़ाँ द्वितीय (पुनः)–(1150 हि॰/1737 ई॰–1152 हि॰/1739 ई॰)
48. सलामत गिराई ख़ाँ द्वितीय–(1152 हि॰/1739 ई॰–1156 हि॰/1743 ई॰)
49. सलीम गिराई ख़ाँ द्वितीय–(1156 हि॰/1743 ई॰–1161 हि॰/1748 ई॰)
50. अर्सलान गिराई ख़ाँ–(1161 हि॰/1748 ई॰–1169 हि॰/1756 ई॰)
51. हलीम गिराई ख़ाँ–(1169 हि॰/1756 ई॰–1172 हि॰/1758 ई॰)
52. क़ुरम गिराई ख़ाँ–(1172 हि॰/1758 ई॰–1178 हि॰/1764 ई॰)
53. सलीम गिराई ख़ाँ तृतीय–(1178 हि॰/1764 ई॰–1180 हि॰/1767 ई॰)
54. अर्सलान गिराई ख़ाँ (पुनः)–(1180 हि॰/1767 ई॰–1181 हि॰/1768 ई॰)
55. मक़सूद गिराई ख़ाँ–(1181 हि॰/1768 ई॰)
56. क़ुरम गिराई ख़ाँ (पुनः)–(1181 हि॰/1768 ई॰–1182 हि॰/1769 ई॰)
57. दौलत गिराई ख़ाँ तृतीय–(1182 हि॰/1769 ई॰–1183 हि॰/1770 ई॰)
58. कपलान गिराई ख़ाँ द्वितीय–(1183 हि॰/1770 ई॰–1184 हि॰/1770 ई॰)
59. सलीम गिराई तृतीय (पुनः)–(1184 हि॰/1770 ई॰–1185 हि॰/1771 ई॰)
60. मक़सूद गिराई ख़ाँ (पुनः)–(1185 हि॰/1771 ई॰–1185 हि॰/1772 ई॰)

61. साहिब गिराई ख़ाँ द्वितीय—(1185 हि./1772 ई.—1189 हि./1775 ई.)

62. दौलत गिराई ख़ाँ तृतीय—(1189 हि./1775 ई.—1191 हि./1777 ई.)

63. शाहीन गिराई ख़ाँ—(1191 हि./1777 ई.—1196 हि./1782 ई.)

64. बहादुर गिराई ख़ाँ द्वितीय—(1196 हि./1782 ई.—1197 हि./1783 ई.)

65. शाहीन गिराई ख़ाँ (पुनः)—(1197 हि./1783 ई.)

महत्वपूर्ण घटनाएँ

1715 ई.— तुर्की और वेनिस की जंग।

1716 ई.— तुर्की और आस्ट्रीया की जंग।

1717 ई.— बेल्ग्राद तुर्कों के हाथ से निकला।

1718 ई.— 21 जुलाई (22 शाबान 1130 हि.) पसारोविच-संधि बेल्ग्राद, विलाचिया और सर्विया पर आस्ट्रीया का क़ब्ज़ा स्वीकार कर लिया गया।

1727 ई.— तुर्की में पहला छापाख़ाना स्थापित।

1736 ई.— तुर्की से रूस और आस्ट्रीया की जंग शुरू।

1739 ई.— बेल्ग्राद-संधि, तुर्कों को बोसनिया, सर्विया और विलाचिया पुनः प्राप्त हुए। रूस आज़ोफ़ से हटा।

1768 ई.— तुर्की और रूस की जंग।

1770 ई.— चश्मा (अनातोलिया) नामक स्थान घर रूस ने तुर्की बेड़े को तबाह कर दिया।

1774 ई.— कोचक किनार्जी का समझौता।

1783 ई.— क्रीमिया पर रूस का कब्ज़ा।

1787 ई.— तुर्की से रूस और आस्ट्रीया की जंग।

1798 ई.— मिस्र पर नेपोलियन का कब्ज़ा।

1802 ई.— मिस्र से फ्रांसीसियों की वापसी।

1806 ई॰— रूस से तुर्की की जंग। सर्विया आज़ाद हुआ।

1812 ई॰— (28 मई) बुख़ारिस्ट का समझौता। विलाचिया और पर्थ का नदी के पश्चिम में मोलडाविया का इलाक़ा तुर्कों को पुनः प्राप्त हुआ।

1821 ई॰— मोरिया में तुर्कों का क़त्ले-आम।

1825 ई॰— यूनान की बग़ावत।

1826 ई॰— (15 जून) यनीचरी फ़ौज का ख़ातिमा।

1827 ई॰— मिस्र के वाली (गवर्नर) मुहम्मद अली की मदद से यूनान की बग़ावत का अन्त। 20 अक्तूबर को नोरानियो (मोरिया) में संयुक्त यूरोपीय बेड़े ने उसमानी और मिस्री बेड़े को तबाह किया।

1828 ई॰— तुर्की और रूस की जंग का आरम्भ।

1829 ई॰— (20 अगस्त) अदरना पर रूसी क़ब्ज़ा। अदरना-संधि के तेहत रूस अधिकतर अतिक्रमण से पीछे हटा।

1830 ई॰— (जुलाई) अल-जज़ायर पर फ़्रांस का क़ब्ज़ा।

1831 ई॰— मुहम्मद अली पाशा, मिस्र के वाली, की बग़ावत।

1833 ई॰— (8 अप्रैल) कोताहिया की संधि। मुहम्मद अली को फ़लस्तीन एवं शाम (सीरिया) का वाली बना दिया गया।

1839 ई॰— (3 नवम्बर) संगठनवाद की घोषणा, गुलामों के व्यापार का अन्त।

1853 ई॰— तुर्की और रूस की जंग।

1854 ई॰— क्रीमिया की जंग। अंग्रेज़ों ने तुर्की के समर्थक के रूप में रूस से जंग की।

1856 ई॰— 30 मार्च (23 रजब) पेरिस का समझौता। दानों पक्षों ने जीते हुए इलाक़े वापस किए।

1867 ई०— सर्विया की आज़ादी।

1876 ई०— (23 दिसम्बर) अंतरिम संविधान की घोषणा।

1878 ई०— तुर्की और रूस में जंग आरम्भ।

1877 ई०— (20 मार्च) प्रथम उसमानी पार्लियामेन्ट की स्थापना।

1878 ई०— (फ़रवरी) सुल्तान अब्दुल-हमीद ने पार्लियामेन्ट तोड़ दी। 12 जुलाई बर्न्स-संधि— यूनान, रोमानिया, सर्विया, मोन्टीनिग्रो और बुल्ग़ारिया की हैसियत उसमानी प्रान्तों के बदले आज़ाद हुकूमतों की हो गई जिनका सम्बन्ध उसमानी सत्ता से मात्र ख़िराज अदा करने तक सीमित था। क़बरस पर ब्रिटेन का कब्ज़ा

1881 ई०— तूनिस (Tunisia) पर फ़्रांस का क़ब्ज़ा।

1889 ई०— (21 मई) एकता एवं विकास समिति की स्थापना।

1890 ई०— जर्मनी के राष्ट्राध्यक्ष का तुर्की दौरा।

1897 ई०— तुर्की और रूस में जंग।

1898 ई०— जर्मनी के राष्ट्राध्यक्ष का तुर्की का दूसरा दौरा।

1908 ई०— (24 जुलाई) तुर्की में द्वितीय संविधानवाद की घोषणा।

1909 ई०— अंजुमन इत्तिहादे-मुहम्मदी की स्थापना (5 अप्रैल)। 13 अप्रैल को इस्तंबूल में फ़ौजी दस्तों की बग़ावत जिसे तुर्की के इतिहास में 31 मार्च की घटना कहा जाता है। 27 अप्रैल को सुल्तान अब्दुल-हमीद गद्दी से बेदख़ल।

1911 ई०— तराबुलुस (Tripoli) की जंग।

1912-1913 ई०— बलक़ान की जंग। 10 जुलाई 1913 ई० को अदरना तुर्कों ने पुनः प्राप्त किया।

1914 ई०— विश्व-युद्ध में तुर्की शामिल (30 अक्तूबर)।

1918 ई०— विश्व-युद्ध समाप्त। 30 अक्तूबर को युद्धविराम-संधि।

1919 ई०— (15 मई) यूनानी फ़ौज का अज़मीर (समरना) में प्रवेश।

1919 ई०— (18 दिसम्बर) उसमानी संसद का अन्तिम चुनाव।

1920 ई०— (16 मार्च) गठबन्धन (मित्र राष्ट्र) फ़ौज का इस्तम्बूल में प्रवेश।

(18 मार्च) उसमानी पार्लियामेन्ट की अन्तिम बैठक।

(11 अप्रैल) सुल्तान ने पार्लियामेन्ट तोड़ दी।

(23 अप्रैल) अंक़रा में राष्ट्रीय उच्च सदन का इजलास।

(10 अगस्त) सीवर-संधि पर हस्ताक्षर।

1921 ई०— (12 मार्च) राष्ट्रीय उच्च सदन ने तुर्की का राष्ट्रगान स्वीकृत किया जो मुहम्मद आकिफ़ द्वारा रचित था।

1922 ई०— (30 अगस्त) अतातुर्क ने यूनानियों को निर्णायक पराजय दी और 9 सितम्बर तक सम्पूर्ण अनातोलिया हमलावरों से ख़ाली करा लिया। पहली नवम्बर को राष्ट्रीय उच्च सदन ने बादशाहत का अन्त कर दिया। 17 नवम्बर को सुल्तान वहीदुद्दीन ब्रिटेन के जहाज़ द्वारा फ़रार। राष्ट्रीय उच्च सदन ने अब्दुल-मजीद को ख़लीफ़ा चुना।

1923 ई०— (29 अक्तूबर) तुर्की में लोकतंत्र की स्थापना की विधिवत् घोषणा।

1924 ई०— (3 मार्च) राष्ट्रीय उच्च सदन ने ख़िलाफ़त प्रथा का अन्त कर दिया।

अध्याय-34

उत्तरी अफ़्रीक़ा उसमानी तुर्कों के पतन के बाद

1. अल-जज़ायर

मिस्र से लेकर अल-जज़ायर (Algiers) तक सम्पूर्ण उत्तरी अफ़्रीक़ा सोलहवीं सदी में उसमानी सल्तनत का एक हिस्सा बन चुका था। केवल मराकश (Morocco) एक ऐसा मुल्क था जिसपर उसमानी तुर्कों की सत्ता स्थापित न हो सकी, फिर भी वहाँ की प्रशासनिक व्यवस्था, फ़ौजी एवं सांस्कृतिक ज़िन्दगी पर तुर्कों की गहरी छाप पड़ी। उत्तरी अफ़्रीक़ा के उन देशों में सबसे पहले अल-जज़ायर तुर्कों के हाथ से निकला और सबसे अन्त में लीबिया निकला।

अल-जज़ायर पर तुर्कों का क़ब्ज़ा 1553 ई॰ से 1830 ई॰ तक रहा। अल-जज़ायर ने अपना वर्तमान रूप उसी ज़माने में ले लिया था और अल-जज़ायर शहर के नाम पर पूरे मुल्क का नाम अल-जज़ायर पड़ा। यहाँ जो तुर्क-गवर्नर नियुक्त किए जाते थे वे पहले 'बे' कहलाते थे। फिर उन्हें 'दाईयादे' कहा जाने लगा। ये गवर्नर धीरे-धीरे तुर्की केन्द्रीय सत्ता से आज़ाद हो गए और सतरहवीं सदी में पूर्णतः आज़ादी की घोषणा कर दी। परन्तु अल-जज़ायर के ये सभी हुक्मरान उसमानी सल्तनत की अधीनता स्वीकार करते थे। यही वह ज़माना है जब उत्तरी अफ़्रीक़ा के तीन मुल्कों तूनिस, अल-जज़ायर और मराकश के तटीय इलाकों में उन समुद्री अभियानकर्ताओं को उत्थान प्राप्त हुआ जिन्हें यूरोपीय इतिहास में बरबर के समुद्री लुटेरे लिखा जाता है। अल-जज़ायर उन समुद्री अभियानकर्ताओं का सबसे बड़ा केन्द्र था। प्रसिद्ध तुर्क के नौसेनाध्यक्ष ख़ैरुद्दीन बारबरूसा शुरू में एक समुद्री डाकू ही था और वही तुर्कों के तेहत अल-जज़ायर की पहली हुकूमत का संस्थापक था।

समुद्री डाकुओं की गतिविधियों के कारण यूरोप की हुकूमतें उनसे भयभीत रहती थीं क्योंकि उनके व्यापारिक जहाज़ उन डाकुओं के हमलों का निशाना बनते रहते थे, परन्तु उसमानी तुर्कों का इलाक़ा होने के कारण यूरोपीय हुकूमतें हस्तक्षेप करने का साहस नहीं कर सकती थीं। उन्नीसवीं सदी में जब महमूद द्वितीय के दौर में उसमानी सल्तनत आन्तरिक अशान्ति एवं बाहरी हमलों के कारण कमज़ोर हो गई तो फ़्रांस को हस्तक्षेप का अवसर मिल गया। हुआ यह कि अप्रैल 1827 ई॰ में फ़्रांस को गेहूँ की आपूर्ति के सवाल पर अल-जज़ायर और फ़्रांस में मतभेद हो गया। समझौते के लिए बातचीत हो ही रही थी कि अल-जज़ायर के हुक्मरान दाई हुसैन ने फ़्रासीसी वार्ताकार एवं राजदूत को एक छड़ी मार दी। बस फ़्रांस ने इसी को बहाना बनाकर अल-जज़ायर के विरुद्ध कार्रवाई शुरू कर दी।

फ़्रांसीसी बेड़े ने तीन वर्षों तक बन्दरगाह अल-जज़ायर की नाकाबन्दी जारी रखी और जब इस नाकाबन्दी से फ़्रांस अपना मक़सद हासिल न कर सका तो 14 जून 1830 ई॰ को फ़्रांस ने 73 हज़ार फ़ौज अल-जज़ायर के तट पर उतार दी और 5 जुलाई को शहर अल-जज़ायर पर क़ब्ज़ा कर लिया। अगले कुछ सालों में वहरान (Oran), बजाया, बोना एवं अन्य तटीय शहर भी फ़्रांस के क़ब्ज़े में आ गए और फ़्रांसीसी सत्ता भीतरी अल-जज़ायर में भी फैल गई।

अब्दुल-क़ादिर अल-जज़ायरी

अल-जज़ायर को फ़्रांस की घुसपैठ एवं अधिपत्य से बचाने में जिस रहनुमा ने मुख्य भूमिका निभाई एवं सार्थक प्रयास किए तथा आज़ादी के आन्दोलन को जनसंघर्ष बना दिया, वे अब्दुल-क़ादिर अल-जज़ायरी हैं। अब्दुल-क़ादिर 1808 ई॰ में एक दीनदार घराने में पैदा हुए। प्रारम्भिक शिक्षा अपने वतन में प्राप्त की। 21 वर्ष की आयु में हज के लिए मक्का गए। उस सफ़र के दौरान उन्हें बग़दाद, दिमश्क़ और क़ाहिरा में ठहरने और वहाँ के उलमा से मिलने का अवसर मिला। मुहम्मद अली पाशा जो मिस्र का वाली था, अपने देश के विकास के लिए जिस प्रकार प्रयास कर रहा था,

अब्दुल-क़ादिर उससे बहुत प्रभावित हुए।[1] वे अपने सफ़र से उस साल वापस आए जिस साल फ्रांस अल-जज़ायर पर क़ाबिज़ हुआ था। इस नई परिस्थिति ने अब्दुल-क़ादिर को बेचैन कर दिया और उन्होंने फ्रांस से जंग करने की ठान ली।

उस ज़माने में मुल्क के भीतर मुसलमानों की छोटी-छोटी रियासतें क़ायम थीं जो आपस में लड़ती रहती थीं और इस योग्य नहीं थीं कि सब मिलकर फ्रांस का मुक़ाबला कर सकें। अब्दुल-क़ादिर ने विभिन्न क़बीलों के मतभेद समाप्त कराए और उन्हें आमादा किया कि वे सब मिलकर फ्रांस का मुक़ाबला करें। उन क़बीलों ने 22 नवम्बर 1832 ई॰ को अब्दुल-क़ादिर को, जिनकी उम्र उस समय केवल 25 वर्ष थी, अपना अमीर (नेता) बना लिया। अल-जज़ायरी मुसलमानों का नेतृत्व सम्भालने के बाद अब्दुल-क़ादिर ने मसकरा-क़स्बे की मस्जिद में फ्रांसीसियों के ख़िलाफ़ जिहाद का एलान कर दिया। उन्होंने जल्द ही पश्चिमी अल-जज़ायर के क़बीलों को अपने झण्डे के नीचे ला खड़ा किया और फ्रांसीसी फ़ौजों को कई बार पराजित किया। यहाँ तक कि फ़रवरी 1834 ई॰ में फ्रांस अब्दुल-क़ादिर को पश्चिमी अल-जज़ायर का अमीर (राष्ट्राध्यक्ष) स्वीकार करने को विवश हो गया, परन्तु अगले साल

---

1. इस जगह यह बात बड़ी दिलचस्प है कि इसी ज़माने में सन्नूसी क़ाहिरा से नाख़ुश होकर गए थे। उन्होंने मुहम्मद अली के ग़ैर-इस्लामी सुधारों को नापसन्दीदगी की नज़र से देखा था, लेकिन अब्दुल-क़ादिर अल-जज़ायरी ने सन्नूसी के प्रतिकूल मुहम्मद अली के सुधारों को पसन्दीदगी की नज़र से देखा, हालाँकि अब्दुल-क़ादिर ख़ुद भी इस्लामी सोच के अलमबरदार थे। सम्भवतः दोनों के दृष्टिकोण का फ़र्क़ उनके मैलान को ज़ाहिर करता था। सन्नूसी की ज़िन्दगी में परहेज़गारी ग़ालिब थी, जबकि अब्दुल-क़ादिर की ज़िन्दगी में सियासी सूझ-बूझ का ग़लबा था। अब्दुल-क़ादिर ख़ुद भी ग़ैर-इस्लामी मैलान को पसन्द नहीं करते थे, लेकिन मुहम्मद अली के सुधारों की सारी तरकीबें ग़ैर-इस्लामी नहीं थीं। उसकी यह कोशिश कि मिस्र एक आधुनिक देश बन जाए एक क़ाबिले-क़द्र कोशिश थी। आधुनिक काल के एक सुधारक की हैसियत से अब्दुल-क़ादिर को उसके सुधारों का यह हिस्सा पसन्द था, लेकिन वे उन सुधारों को इस्लामी रंग देना चाहते थे, जबकि सन्नूसी वक़्त की इन ज़रूरतों को समझ नहीं सके थे और उन्होंने अपने सुधार के काम को सिर्फ़ अख़लाक़ी हदों तक रोके रखा।

फ़्रांस से पुनः टकराव हो गया और जंगों का सिलसिला कई साल जारी रहा। 1839 ई॰ तक अब्दुल-क़ादिर अल-जज़ायर के एक तिहाई हिस्से पर क़ाबिज़ हो गए। इसके बाद उनकी मुश्किलें बढ़ गईं और फ़्रांसीसी फ़ौज की अधिक संख्या एवं आधुनिक हथियारों के कारण अब्दुल-क़ादिर 21 दिसम्बर 1847 ई॰ को हथियार डालने पर मजबूर हो गए।

अमीर अब्दुल-क़ादिर ने जो शासन-व्यवस्था स्थापित की थी उसमें आज़ाद इलाक़े 'दारुल-इस्लाम' कहलाते थे और फ़्रांसीसी इलाक़े 'दारुल-कुफ़्र' और मुसलमानों के लिए दारुल-कुफ़्र से दारुल-इस्लाम में आना अनिवार्य था। अमीर अब्दुल-क़ादिर ने अपने लिए 'अमीरुल-मोमिनीन' का लक़ब (उपाधि) धारण किया और विचार-विमर्श के लिए एक परामर्शदात्री सभा गठित की, जिसमें ग्यारह उलमा सदस्य के रूप में थे। शासन-व्यवस्था विभिन्न विभाग के मंत्रियों द्वारा चलाई जाती थी। रियासत विभिन्न प्रशासनिक खण्डों (विकास-खण्ड) में बँटी हुई थी और हर खण्ड में एक क़ाज़ी होता था जो प्रशासनिक कार्यों को शरीअत के उसूलों पर आधारित रखने का ज़िम्मेदार था। किसी कठिनाई अथवा अड़चन के समय फ़ास के उलमा या जामिया अज़हर के मालिकी मसलक के शैख़ से फ़तवा मंगाया जाता था। अमीर अब्दुल-क़ादिर ने फ़ौज को आधुनिक शैली में पुनर्गठित किया था। इस कार्य में यूरोप के देशों से मदद भी ली। कई दृष्टि से अमीर अब्दुल-क़ादिर की फ़ौज मराकश की फ़ौज से अच्छी थी। अमीर अब्दुल-क़ादिर ने अपनी रियासत में हथियारों के निर्माण एवं बन्दूक़ों के निर्माण का कारख़ाना भी स्थापित किया। अल-जज़ायर में अमीर अब्दुल-क़ादिर की यह रियासत बालाकोट में सैयद अहमद शहीद (रह॰) की शहादत के एक साल बाद क़ायम हुई थी। दोनों की क़ायम की हुई रियासतों में बहुत समानता थी। परन्तु एक बड़ा अन्तर यह था कि अमीर अब्दुल-क़ादिर आधुनिक काल की अपेक्षाओं एवं आवश्यकताओं को तेहरीके-मुजाहिदीन (मुजाहिदीन आन्दोलन) के रहनुमाओं की अपेक्षा ज़्यादा अच्छी तरह समझते थे। शायद यूरोप से निकटता और मुहम्मद अली के मिस्र से सम्बन्ध इसका बड़ा कारण हो।

अल-जज़ायर के इतिहास में उक़बा-बिन-नाफ़े और ख़ैरुद्दीन बारबरूसा

के अतिरिक्त किसी और व्यक्ति को वह प्रसिद्धि, महानता एवं लोकप्रियता प्राप्त नहीं हुई जो अब्दुल-क़ादिर अल-जज़ायरी को प्राप्त हुई। उन्होंने मानवशक्ति एवं संसाधन के अभाव के बाद भी जिस निडरता से फ़्रांसीसी हमलावरों का पन्द्रह सालों तक मुक़ाबला किया, उसकी मिसालें कम मिलती हैं। इतिहासकारों ने उनकी प्रशासनिक क्षमता एवं सूझ-बूझ की बड़ी प्रशंसा की है। वह इस्लामी इतिहास की उन महान हस्तियों में से एक हैं जिनकी उनके विरोधियों ने भी दिल खोलकर प्रशंसा की है।

कुछ साल नज़रबन्द रखने के बाद फ़्रांसीसियों ने अब्दुल-क़ादिर को रिहा कर दिया। वे शुरू में बरूसा (तुर्की) गए फिर दिमश्क़ में स्थायी रूप से बस गए। यहाँ सुल्तान अब्दुल-मजीद के दौर में 1860 ई॰ में जब दरोज़ियों ने ईसाई आबादी का क़त्ले-आम किया तो अब्दुल-क़ादिर ने अपनी जान जोखिम में डालकर हज़ारों ईसाइयों की जानें बचाईं। उनके इस सद्व्यवहार के कारण यूरोप में उनकी बड़ी प्रशंसा हुई। अमीर अब्दुल-क़ादिर का दिमश्क़ में 26 मई 1883 ई॰ में इन्तिक़ाल हुआ।

अमीर अब्दुल-क़ादिर की पराजय के बाद अल-जज़ायर में फ़्रांस का मुक़ाबला करनेवाला कोई नहीं रहा और एक साल के अन्दर पूरे अल-जज़ायर पर फ़्रांस का क़ब्ज़ा हो गया और अल-जज़ायर को फ़्रांस का एक भाग घोषित कर दिया गया।

2. तूनिस (Tunisia)

तूनिस 1574 ई॰ से 1881 ई॰ तक उसमानी सल्तनत का एक हिस्सा रहा। अल-जज़ायर की तरह यहाँ भी शुरू में इस्तम्बूल से गवर्नर नियुक्त होकर आते रहे, परन्तु 1590 ई॰ से यनीचरी फ़ौज स्वयं अपने गवर्नर नियुक्त करने लगी। उसमानी अल-जज़ायर की तरह यहाँ के गवर्नर भी 'दाई' कहलाते थे। उसमानी केन्द्रीय सत्ता की अधीनता भी नाममात्र ही रह गई और 1640 ई॰ से 1704 ई॰ तक मुराद बे और उसकी औलाद स्वतंत्रता-पूर्वक हुकूमत करती रही। ये नए हुक्मरान 'दाई' न कहलाकर 'बे' या 'बाए' कहलाते थे। 1710 ई॰ हुसैन 'बे' ने एक नए राजवंश की बुनियाद रखी जो

1957 ई॰ में तूनिस के लोकतांत्रिक राष्ट्र बनने तक पहले आज़ाद हुक्मरान के रूप में और बाद में फ्रांस के प्रतिनिधि के रूप में सत्ता में रहा।

उन्नीसवीं सदी में हुसैन बे के ख़ानदान में कई बुद्धिमान एवं विवेकशील हुक्मरान पैदा हुए। उनमें एक अहमद बे (1839 ई॰–1855 ई॰) था, जो सुल्तान अब्दुल-मजीद ख़ाँ का समकालीन था। उन्नीसवीं सदी के मध्य में तूनिस और यूरोप के बीच व्यापारिक सम्बन्ध शुरू हुए, और इनके माध्यम से पहली बार पश्चिमी विचारधारा तूनिस में फैलने लगे। अहमद बे ने यूरोप की ईसाई संस्थाओं को स्कूल खोलने की अनुमति दी और उसमानी अधीनता से मुक्ति प्राप्त करने के लिए अहमद बे ने आधुनिक शैली में फ़ौज का पुनर्गठन किया। इस कार्य में अंग्रेज़ एवं फ्रांसीसी विशेषज्ञों से सहयोग भी लिया। अहमद बे ने तूनिस से दास की प्रथा को भी समाप्त कर दिया। उसने क्रीमिया की जंग में तुर्की की मदद के लिए चौदह हज़ार फ़ौज भी भेजी थी।

अहमद बे के उत्तराधिकारी मुहम्मद बे (1855 ई॰–1859 ई॰) ने, जो एक दीनदार मुसलमान था, 9 सितम्बर 1857 ई॰ को मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित एक घोषणापत्र जारी किया। यह सम्भवतः तुर्की में आए सुधार एवं संगठनवाद की प्रतिध्वनी थी, क्योंकि तुर्की में आए मौलिक अधिकार और संगठनवाद से सम्बन्धित पहला फ़रमान 1839 ई॰ में और दूसरा 1856 ई॰ में जारी हुआ था।

मुहम्मद बे के उत्तराधिकारी सादिक़ बे (1859 ई॰–1882 ई॰) का दौर तूनिस के इस ख़ानदान के इतिहास में सबसे प्रमुख है। इस दौर में तूनिस की हुकूमत ने विभिन्न निर्माण एवं विकास के कार्यों के लिए विदेशी पूँजी इतनी प्रचुरता से प्राप्त की कि मुल्क यूरोपीय देशों का कर्ज़दार बन गया और उन देशों को तूनिस के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप का मौक़ा मिल गया। 1869 ई॰ में तूनिस के दिवालिया हो जाने पर ब्रिटेन, फ्रांस और इटली ने तूनिस के वित्तीय मामलों पर अपना कन्ट्रोल स्थापित कर लिया। इन निराशाजनक हालात में ख़ैरुद्दीन पाशा तूनिस के सियासी पटल पर प्रकट हुए जो इस्लामी दुनिया के महान सुधारकों एवं रहनुमाओं में गिने जाने के लायक़ हैं।

ख़ैरुद्दीन पाशा (1810 ई०–1889 ई०)

ख़ैरुद्दीदन पाशा सरकेशी चरकस तुर्क-नस्ल के थे। उन्हें बचपन में गुलामों के व्यापारियों ने गुलाम के रूप में बेच दिया था। अहमद बे ने इस्तंबूल की एक यात्रा में उन्हें ख़रीद लिया और अपने पास रखकर उनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की। मुहम्मद बे और सादिक़ बे के ज़माने में ख़ैरुद्दीन पाशा ने अपनी योग्यता एवं प्रतिभा के बल पर विकास के कई पायदान तय किए। 1861 ई० में सादिक़ बे ने जो संविधान लागू किया और जिसे हम इस्लामी दुनिया का प्रथम आधुनिक संविधान कह सकते हैं उसके प्रावधानों के तेहत जो परामर्शदात्री सभा गठित हुई उसके अध्यक्ष ख़ैरुद्दीन पाशा ने जब अहम सियासी प्रशासनिक एवं सामाजिक सुधार लागू किए तो रूढ़िवादी एवं संकीर्णतावादी तत्व उनके विरोधी बन गए और उन्हें अगले वर्ष ही इस पद से इस्तीफ़ा देना पड़ा। इसके कुछ साल बाद सादिक़ बे ने ख़ैरुद्दीन पाशा को 1873 ई० में प्रधानमंत्री बना दिया और वे चार साल तक इस पद पर बने रहे।

ख़ैरुद्दीन पाशा ने अपने प्रधानमंत्रीत्व काल में और उससे पूर्व भी ऐसे सुधार-कार्य किए जिनसे देश की राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति मज़बूत हो गई। उनका सबसे बड़ा कारनामा परामर्शदात्री सभा या स्टेट कौंसिल का गठन है। ख़ैरुद्दीन पाशा का कहना था कि इल्म (ज्ञान) सभी प्रकार के विकासों की बुनियाद है, परन्तु ज्ञान का प्रसार अथवा फैलाव केवल ऐसे समाज में सम्भव है जिसमें इनसाफ़ एवं आज़ादी हो। परन्तु इनसाफ़ और आज़ादी की ज़मानत केवल प्रतिनिधि संस्थाएँ ही दे सकती हैं। ख़ैरुद्दीन पाशा जनता की प्रतिनिधि सरकार को मुस्लिम देशों के लिए मील का पत्थर समझते थे और उन्होंने इसी भावना के तेहत प्रतिनिधि सरकार की स्थापना पर बल दिया और इस सिलसिले में पहले क़दम के रूप में परामर्शदात्री सभा अथवा स्टेट कौंसिल गठित की। फ्रांस उस ज़माने में अल-जज़ायर पर क़ाबिज़ हो चुका था। उसके लिए अल-जज़ायर के पड़ोस में एक विकासशील राष्ट्र का अस्तित्व बड़ी चिन्ता का विषय बन रहा था। अतः कहा जाता है कि जब फ्रांस के सम्राट नेपोलियन तृतीय के सामने तूनिस की स्टेट कौंसिल

का मसौदा पेश किया गया तो उसने कहा, "यदि अरब आज़ादी एवं इनसाफ़ के आदी (अभ्यस्त) हो गए तो हमें उनकी ओर से अल-जज़ायर में सुकून नसीब न होगा।"

परामर्शदात्री सभा के अतिरिक्त ख़ैरुद्दीन पाशा ने एक कालेज स्थापित किया जिसमें आधुनिक ज्ञानों एवं पश्चिमी भाषाओं की शिक्षा के साथ-साथ इस्लामी शिक्षा भी दी जाती थी। उन्होंने तूनिस की जामे-ज़ैतूनिया में, जो जामे-अज़हर (मिस्र) के स्तर का एक विश्वविद्यालय था, कई लाभदायक सुधार कार्य किए ताकि दीनी तालीम (इस्लामी शिक्षा) का स्तर उच्च हो सके। ख़ैरुद्दीन पाशा जनसाधारण की शिकायतों को बहुत ध्यान से खुद सुनते थे। इस मक़सद के लिए तूनिस के चौक पर उन्होंने एक बक्स रख दिया था जिसमें पीड़ित व्यक्ति अपनी पीड़ा अथवा शिकायत लिखकर डाल सकता था। इस बक्स की कुंजी खुद ख़ैरुद्दीन पाशा के पास रहती थी। ख़ैरुद्दीन पाशा स्वयं अपने मंत्रित्व काल के आख़िरी ज़माने में यूरोपीय देशों, विशेषकर फ्रांस के ख़तरनाक मन्सूबों का मुक़ाबला करने के लिए सल्तनते-उसमानिया से और अधिक निकटता पैदा करनी चाही, परन्तु ख़ैरुद्दीन पाशा की इस पॉलिसी से सादिक़ बे के दिल में सन्देह पैदा हो गया कि कहीं ख़ैरुद्दीन पाशा तूनिस को फिर सल्तनते-उसमानिया में शामिल न कर दें। अतः सादिक़ बे ने उन सन्देहों के कारण उन्हें 1877 में प्रधानमंत्री के पद से हटा दिया। ख़ैरुद्दीन पाशा इसके बाद तुर्की चले गए जहाँ सुल्तान अब्दुल-हमीद ख़ाँ ने उन्हें दिसम्बर 1878 ई॰ में उसमानी ख़िलाफ़त का प्रधानमंत्री नियुक्त कर लिया, परन्तु सुल्तान की उनसे पट न सकी और वे एक साल बाद वहाँ भी प्रधानमंत्री पद से हटा दिए गए। उन्होंने शेष ज़िन्दगी तुर्की में ही गुज़ारी और 1889 ई॰ में इस्तंबूल में उनका देहान्त हुआ।

अक़्वामुल-ममालिक

ख़ैरुद्दीन पाशा 'अक़्वमुल-ममालिक फ़ी मअरिफ़तिल-अहवालिल-ममालिक' नामक एक पुस्तक के रचयिता भी थे। तूनिस के प्रधानमंत्री बनने से पूर्व वे एक सरकारी काम से फ्रांस भेजे गए थे। इस अवसर पर उन्हें कई वर्ष यूरोप में रहकर यूरोपीय क़ौमों को देखने और यूरोप के उत्थान एवं विकास के

कारकों को देखने-समझने का अवसर मिला। उन्होंने अपनी उपरोक्त किताब में उन्हीं अनुभवों को इस प्रकार लिपिबद्ध किया कि इस्लामी देश उनसे फ़ायदा उठा सकें। इस्लामी दुनिया को आधुनिक काल में प्रवेश करने के बाद जिस वैचारिक कश-मकश से गुज़रना पड़ा यह किताब उस कश-मकश के इतिहास में बड़ा महत्व रखती है।

इस किताब में ख़ैरुद्दीन पाशा ने यह विचार व्यक्त किया है कि हिकमत मोमिन का गुमशुदा माल है, इसलिए यूरोप में हमें जो चीज़ अच्छी एवं लाभदायी नज़र आए उसे स्वीकार कर लेना चाहिए और जो चीज़ें नापसन्द हो उन्हें रद्द कर देना चाहिए। उन्होंने इस पुस्तक में एक और पते की बात यह कही है कि मुसलमानों की तरक़्क़ी में सबसे बड़ी रुकावट यह है कि वे दो ऐसे वर्गों में बँट गए हैं जो एक दूसरे के विरोधी हैं। एक वर्ग दीन के उलमा का है जो शरीअत का ज्ञान तो रखता है परन्तु आधुनिक ज्ञानों से अनभिज्ञ है और दूसरा वर्ग सियासतदानों का है जो आधुनिक एवं सामयिक ज्ञानों से तो परिचित है परन्तु दीन (इस्लाम) से पूरी तरह वाक़िफ़ नहीं और चाहता है कि यूरोप की सम्पूर्ण व्यवस्था शरीअत को नज़रअन्दाज़ करते हुए मुसलमानों पर थोप दे। ख़ैरुद्दीन पाशा लिखते हैं कि इन दोनों वर्गों का यह अन्तर समाप्त होना चाहिए। उलमा को आधुनिक ज्ञान भी सीखना चाहिए और सियासतदानों को दीनी प्रावधानों की रौशनी में क़दम उठाना चाहिए। ख़ैरुद्दीन पाशा के ये विचार लगभग वही थे जो तुर्की में उनके समकालीन नामिक़ कमाल और संगठनवाद के कुछ रहनुमाओं के थे।

ख़ैरुद्दीन पाशा के चले जाने के बाद तूनिस के हालात बिगड़ गए। देश विदेशी क़र्ज़ों के बोझ तले दबा हुआ था और उन क़र्ज़ों के बहाने पश्चिमी देशों ने तूनिस में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया था। क़र्जों को चुकाने के लिए जब टैक्स में बढ़ोत्तरी की गई तो देश में हुकूमत के ख़िलाफ़ असन्तोष फैलने लगा। और इसका फ़ायदा उठाकर फ़्रांस ने जो तूनिस पर नज़रें लगाए हुए था, 12 मई 1881 ई॰ को फ़ौजी हस्तक्षेप करके सादिक़ बे को 'क़सरुस-सईद' की सन्धि करने पर मजबूर कर दिया। इसके अनुसार तूनिस को फ़्रांस का सामरिक नियंत्रणवाला इलाक़ा घोषित कर दिया गया। बे की हुकूमत तो

बहाल रखी गई परन्तु अब यह बेबस हुकूमत थी, वास्तविक हुक्मरान तूनिस में स्थित फ़्रांस का रेज़ीडेन्ट जनरल था।

तूनिस के हुसैनी बे (1117 हि०/1705 ई०–1376 हि०/1957 ई०)

1. हुसैन-बिन-अली (1705 ई०–1735 ई०)
2. अली पाशा (1735 ई०–1756 ई०)
3. मुहम्मद बे (1756 ई०–1759 ई०)
4. अली बे (1759 ई०–1782 ई०)
5. हम्मूदह (1782 ई०–1814 ई०)
6. महमूद-बिन-मुहम्मद (1814 ई०–1824 ई०)
7. बे हुसैन (1824 ई०–1835 ई०)
8. बे अहमद (1837 ई०–1855 ई०)
9. बे मुहम्मद (1855 ई०–1859 ई०)
10. मुहम्मद सादिक़ बे (1859 ई०–1882 ई०)

मुहम्मद सादिक़ बे के ज़माने में 1881 ई० में फ़्रांस का तूनिस पर आधिपत्य स्थापित हो गया और तूनिस की आज़ादी समाप्त हो गई।

11. मुहम्मद सादिक़ अली (1882 ई०–1902 ई०)
12. मुहम्मद हादी (1902 ई०–1906 ई०)
13. मुहम्मद नासिर (1906 ई०–1922 ई०)
14. मुहम्मद हबीब (1922 ई०–1929 ई०)
15. अहमद (1929 ई०–1942 ई०)

गठबन्धन देशों ने द्वितीय विश्व-युद्ध के समय जून 1943 ई० में गद्दी से हटा दिया।

16. मुहम्मद अल-मुनसिफ़ (1942 ई०–1943 ई०)
17. मुहम्मद अल-अमीन (1943 ई०–1957 ई०)

25 जुलाई 1957 ई० (1376 हि०) को तूनिस में राजशाही समाप्त कर दी गई।

3. मिस्र के ख़दयू

मिस्र पर उसमानी तुर्कों का क़ब्ज़ा 1517 ई॰ में हुआ। अट्ठारहवीं सदी से यहाँ उसमानी तुर्कों की सत्ता कमज़ोर पड़ने लगी और यहाँ के उसमानी वाली (गवर्नर), जो प्रायः ममलूक (ग़ुलाम) तुर्क होते थे, मिस्र को अर्द्ध स्वतन्त्र रखने में बड़ी हद तक सफल हो गए। उन ममलूक वालियों के दौर में फ़्रांस ने अपने प्रसिद्ध सिपहसालार नेपोलियन के नेतृत्व में 1798 ई॰ में मिस्र पर क़ब्ज़ा कर लिया। नेपोलियन हिन्दुस्तान पर क़ब्ज़ा करने के लिए मिस्र को अड्डे के रूप में इस्तेमाल करना चाहता था, परन्तु मिस्र पर फ़्रांस का यह आधिपत्य ज़्यादा समय तक नहीं रहा और तुर्कों ने ब्रिटिश फ़ौज की मदद से 1801 ई॰ में फ़्रांसीसी फ़ौज को मिस्र से निकाल दिया। ब्रिटेन के इस सहयोग के कारण सुल्तान सलीम तृतीय (1789 ई॰–1807 ई॰) मैसूर के टीपू सुल्तान को अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ मदद नहीं दे सका और टीपू के राजदूत को नाकाम वापस होना पड़ा। फ़्रांसीसियों के साथ इस जंग में उसमानी फ़ौज के एक अलबानवी अधिकारी मुहम्मद अली ने मुख्य भूमिका निभाई थी, इसलिए उसमानी हुकूमत ने 1805 ई॰ में उसी को मिस्र का वाली नियुक्त कर दिया।

मुहम्मद अली पाशा (1805 ई॰–1849 ई॰)

मुहम्मद अली ने शुरू में उसमानी सल्तनत के एक वफ़ादार वाली की हैसियत से काम किया। हिजाज़ (अरब-प्रायद्वीप) को मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब की अनुयायी सऊदी हुकूमत से वापस छीन लिया और नज्द पर चढ़ाई करके 1818 ई॰ में नज्द की इस हुकूमत का ख़ातिमा कर दिया। इसके बाद 1826 ई॰ में यूनान की बग़ावत को दबाया परन्तु जब सुल्तान महमूद द्वितीय ने उसकी कतिपय माँगों को स्वीकार नहीं किया तो 1831 ई॰ में उसने बग़ावत कर दी। उसका लड़का इबराहीम जो अपने समय का बहुत बड़ा सिपहसालार और युद्ध-कौशल का धनी व्यक्ति था, शाम (सीरिया) और अनातोलिया को फ़त्ह करता हुआ और तुर्कों को लगातार पराजित करता हुआ क़ौनिया फिर कोताहिया तक पहुँच गया। यदि 1832 ई॰ में पश्चिमी

शक्तियाँ मुहम्मद अली पर दबाव डालकर उसे सुल्तान से सुलह कर लेने पर मजबूर न कर देतीं तो शायद इबराहीम पाशा इस्तंबूल तक पहुँच जाता। सुलह के परिणामस्वरूप मुहम्मद अली को शाम (सीरिया) का वाली भी बना दिया गया, परन्तु इस मुल्क को वह ज़्यादा समय तक अपने पास न रख सका और 1841 ई॰ में सुल्तान ने शाम (सीरिया) वापस लेकर मुहम्मद अली को पैतृक बुनियाद पर मिस्र का स्थायी वाली बना दिया। मुहम्मद अली इससे पूर्व 1820 ई॰ में नोबिया और 1821 में शहर सनार तक सूडान भी फ़त्ह कर चुका था। उसके पोते इसमाईल के ज़माने में 1870 ई॰ तक सूडान के दक्षिणी भाग भी फ़त्ह कर लिए गए और हबशा और ज़ील के तटीय इलाक़ों पर भी मिस्र एवं तुर्की केन्द्रीय सत्ता का अधिकार क़ायम हो गया।

इस सैनिक सफलताओं से हटकर मुहम्मद अली की अस्ल अहमियत यह है कि वह आधुनिक मिस्र का जनक समझा जाता है। वह पहला हुक्मरान है जिसने मुल्क की फ़ौजी, सियासी एवं सामाजिक व्यवस्था को मध्यकाल की व्यवस्था से हटाकर आधुनिक शैली में ढालने की कोशिश की। मुहम्मद अली के दौर से मिस्र की वह पहलेवाली ख़ुशहाली, जो ममलूकों की हुकूमत के पतन के बाद उसमानी तुर्कों के शासनकाल में समाप्त हो गई थी,[1] पुनः बहाल होना शुरू हो गई।

---

1. इस जगह यह ग़लतफ़हमी न होनी चाहिए कि मिस्र की ख़ुशहाली में इस पतन की वजह उसमानी तुर्क थे, जैसा कि आमतौर पर क़ौमपरस्त अरब के इतिहासकार और कुछ पश्चिमी लेखक इलज़ाम लगाते हैं। उसमानी तुर्कों ने जब मिस्र पर क़ब्ज़ा किया तो वह ज़माना इस्लामी दुनिया के बौद्धिक एवं नैतिक पतन का दौर था और इन मैदान में इस्लामी दुनिया के हर हिस्से में मुसलमान पतन का शिकार थे। ख़ुद उसमानी तुर्क अरबों के दौर की तरह तख़लीक़ी एवं उच्च इल्मी कारनामा अंजाम न दे सके। इसके अलावा 1492 ई॰ में यूरोप से एशिया तक पहुँचने का समुद्री रास्ता भी मालूम हो गया था। इस रास्ते के बारे में मालूम होने से पहले एशिया और यूरोप का ज़्यादातर व्यापार मिस्र और शाम (सीरिया) के रास्ते होता था, जिसकी वजह से इन दोनों देशों में ख़ुशहाली पैदा हो गई थी। लेकिन जब दक्षिणी अफ़्रीक़ा की तरफ़ से गुज़रनेवाले समुद्री रास्ते के बारे में मालूम चल गया तो यह व्यापार ख़त्म हो गया और मिस्र एवं शाम (सीरिया) की आर्थिक स्थिति ख़राब हो गई। यह सूरते-हाल उन्नीसवीं सदी के दूसरे हिस्से में सुइज़-नदी तैयार होने तक बाक़ी रही। सुइज़-नदी का रास्ता खुल जाने के बाद मिस्र को फिर आर्थिक ख़ुशहाली हासिल हो गई।

मुहम्मद अली ने फ़्रांसीसी विशेषज्ञों एवं सलाहकारों के सहयोग से आधुनिक फ़ौजी व्यवस्था गठित की और मिस्र के नागरिकों को पहली बार फ़ौज में भर्ती किया। इससे पहले चरकस, तुर्क और अरब मूल के नागरिक फ़ौज में भर्ती किए जाते थे। मुहम्मद अली ने आधुनिक शैली के सैनिक स्कूल, इंजीनियरिंग कॉलेज एवं मेडिकल कॉलेज स्थापित किए और मिस्री नागरिकों को विभिन्न विषयों की तकनीकी शिक्षा के लिए यूरोप भी भेजा। उसने स्कन्दरिया बन्दरगाह का विस्तार किया और जहाज़ के निर्माण का कारख़ाना स्थापित किया। इसके अतिरिक्त मुल्क में और भी कारख़ाने स्थापित किए और मुल्क की विकास-योजनाओं के लिए विदेशी निवेश को प्रोत्साहन दिया। शासन-व्यवस्था में आधुनिक उसूलों के अनुरूप सुधार-कार्य किए। खेती का विकास किया। नील-नदी पर क़ाहिरा के पास बाँध बनाया जो इस्लामी दुनिया में आधुनिक सिंचाई प्रणाली की सम्भवतः पहली बड़ी परियोजना थी। इसके अतिरिक्त लम्बे रेशे की रुई जो आज मिस्र की सबसे क़ीमती पैदावार है, उसकी खेती का आग़ाज़ भी मुहम्मद अली के ज़माने में हुआ। 1849 ई॰ में जब मुहम्मद अली का इन्तिक़ाल हुआ तो मिस्र फ़ौजी दृष्टि से शक्तिशाली और सियासी एवं आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ मुल्क बन चुका था और आधुनिक युग में प्रवेश कर चुका था।

1822 ई॰ में मुहम्मद अली ने क़ाहिरा के पास बोलाक़ में एक छापाख़ान खोला जो मिस्र का पहला प्रेस था। इस प्रेस से 1822 ई॰ से 1844 ई॰ वे बीच दो सौ तैंतालीस (243) किताबें तुर्की एवं अरबी भाषा में प्रकाशित हुईं ये किताबें ज़्यादातर युद्ध-कला, गणित एवं इतिहास के विषय पर थीं औ इन किताबों में अधिकतर का पश्चिमी भाषाओं से अनुवाद किया गया।

मुहम्मद अली मैसूर के हैदर अली की तरह अनपढ़ था, परन्तु उसी क तरह असाधारण क्षमता का स्वामी था। यदि वह ज़ुल्म-अत्याचार ए तानाशाही नीति न अपनाता तो हैदर अली की भाँति ख्याति भी पाता बहरहाल 1849 ई॰ में जब मुहम्मद अली का इन्तिक़ाल हुआ तो मि सामरिक, राजनीतिक व आर्थिक दृष्टि से एक सुदृढ़ मुल्क बन चुका था तथ आधुनिक युग में प्रवेश कर चुका था।

इसमाईल पाशा (1863 ई॰–1879 ई॰)

मुहम्मद अली का बड़ा लड़का इबराहीम अपने पिता की मृत्यु से कुछ महीने पहले ही मर चुका था, इसलिए मुहम्मद अली के बाद पहले उसका पोता अब्बास (1849 ई॰–1854 ई॰), जो मुहम्मद अली के दूसरे लड़के तोसोन का पुत्र था, मिस्र का वाली बना फिर मुहम्मद अली का एक अन्य बेटा मुहम्मद सईद (1854 ई॰–1863 ई॰) इस पद पर नियुक्त हुआ। सुइज़-नहर का निर्माण-कार्य सईद के दौर में ही शुरू हुआ।

सईद के बाद इबराहीम पाशा का लड़का इसमाईल (1863 ई॰–1879 ई॰) सत्तासीन हुआ। तुर्की के सुल्तान ने उसे 'मिस्र का ख़दयू' का ख़िताब दिया और उसके बाद से मिस्र के सभी हुक्मरान ख़दयू कहलाने लगे। इसमाईल पाशा ने अपने दादा के शुरू किए हुए कामों को जारी रखा। उसके काल में निर्माण एवं विकास के इतने काम हुए कि मिस्र के इतिहासकार इसमाईल को 'ज़ीशान' के लक़ब (उपाधि) से याद करते हैं, परन्तु इस लक़ब में केवल आधा ही सच था।

इसमाईल पाशा के काल में कस्टम-विभाग का नए सिरे से गठन किया गया। डाक की आधुनिक व्यवस्था स्थापित हुई, रेलवे-लाईन बिछाई गई, तार (टेलीग्राम) का सिलसिला शुरू हुआ, संचार एवं यातायात की व्यवस्था ठीक की गई, बन्दरगाहों का विकास किया गया और मिस्र में गन्ने की खेती शुरू की गई। सुइज़-नहर जिसका निर्माण सईद पाशा के काल में प्रारम्भ हुआ था, इसमाईल पाशा के काल में पूर्ण हुआ। मिस्री जहाज़ों ने सोमालिया एवं कीनिया तक अभियान चलाकर हिन्द-महासागर तक मिस्र के प्रभाव की दस्तक दे दी।

इसमाईल ही के काल में 1870 में क़ाहिरा में सार्वजनिक पुस्तकालय स्थापित हुआ। 1875 ई॰ में भौगोलिक सोसाइटी अस्तित्व में आई। सृजनात्मक लेखन एवं अनुवाद का काम तीन सौ साल के अन्तराल के बाद पुनः उत्साह के साथ शुरू हुआ। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि मिस्र में उन्नीसवीं सदी के अन्त में इस्लामी ज्ञानों का जो पुनरुत्थान

हुआ और आधुनिक ज्ञानों का जो विकास हुआ, उसकी बुनियाद इसमाईल ही के काल में पड़ चुकी थी।

लन्दन टाइम्स ने 1876 ई॰ में मिस्र की आश्चर्यजनक तरक़्क़ी का उल्लेख करते हुए स्वीकार किया कि मिस्र ने सत्तर साल के अन्दर ऐसी तरक़्क़ी की है जैसी बहुत-से दूसरे देशों ने पाँच सौ साल की अवधि में की। मिस्र की इस तेज़ रफ़्तार तरक़्क़ी ने इसमाईल को इस ग़लतफ़हमी में डाल दिया कि मिस्र पूर्वी दुनिया का भाग नहीं है, बल्कि यूरोप का एक भाग है। हीन भावना से ग्रसित इस सोच ने मिस्र में यूरोप के अन्धानुकरण के एक आन्दोलन का सुत्रपात किया, जो मिस्र को मूल इस्लामी पथ पर बढ़ानेवाले लोगों की राह में बहुत बड़ी रुकावट साबित हुई।

निर्माण एवं विकास के ढेर सारे कामों के बावजूद इसमाईल में मुहम्मद अली जैसी गहन चेतना और दूरदर्शिता नहीं थी। मुहम्मद अली ने मिस्र की आर्थिक स्थिति सुधार दी, परन्तु इसमाईल ने फ़ुजूलख़र्ची की तथा ऐसी अलाभकारी योजनाओं पर बेतहाशा ख़र्च किया जो केवल शान-शौकत, दिखावे के लिए थी। इससे देश का दीवालिया निकल गया। उसने केवल सुइज़-नहर के उद्घाटन के अवसर पर एक करोड़ बीस लाख पौंड ख़र्च कर डाले। जब देश के अपने संसाधन उसकी योजनाओं के लिए कम पड़ गए तो उसने यूरोपीय देशों से बड़े-बड़े क़र्ज़ लेना शुरू कर दिए, हालाँकि मुहम्मद अली विदेशी कर्ज़ों के जाल में कभी नहीं फँसा और उसने यूरोपवालों को कभी यह अवसर नहीं दिया कि वे उसे अपने इशारों पर नचाने का साहस कर सकें। परन्तु इसमाईल ने इतने अधिक क़र्ज़ लिए कि देश उन क़र्ज़ों को चुकाने में सक्षम नही हो सका, और जब क़र्ज़ चुकाने के लिए उसने अतिरिक्त टैक्स लगाए तो जनता में असन्तोष फैल गया। अतः मिस्र में भी वही स्थिति पैदा हो गई जो इसमाईल के समकालीन सादिक़ बे के ज़माने में तूनिस में पैदा हो गई थी। देश की बिगड़ती हुई हालत और जनता की बेचैनी से भयभीत होकर ब्रिटेन और फ़्रांस ने, जिन्होंने सबसे ज़्यादा क़र्ज़ दिए थे, देश के आन्तरिक मामलात में हस्तक्षेप शुरू कर दिए, और 1878 ई॰ में इसमाईल को मजबूर कर दिया कि वित्त-विभाग की निगरानी के लिए

ब्रिटिश एवं फ्रांसीसी प्रतिनिधि की नियुक्ति स्वीकार कर ले। उन प्रतिनिधियों के हस्तक्षेप से तंग आकर जब इसमाईल ने बग़ावत की तो ब्रिटेन एवं फ्रांस ने तुर्की पर दबाव डालकर इसमाईल को पद से हटवा दिया और उसकी जगह उसके लड़के तौफ़ीक़ (1879 ई०–1892 ई०) को मिस्र का ख़दयू बना दिया गया। इसमाईल इसके बाद तुर्की चला गया, जहाँ उसका इस्तंबूल में 1895 ई० में इन्तिक़ाल हुआ।

तौफ़ीक़ पाशा और ब्रिटिश आधिपत्य

तौफ़ीक़ जब गद्दी पर बैठा तो मुल्क दीवालिया हो चुका था और मिस्र में सियासी उथल-पुथल मची हुई थी। देश के आन्तरिक मामलों में विदेशी हस्तक्षेप एवं वित्तीय व्यवस्था पर ब्रिटेन एवं फ्रांस के नियंत्रण ने देश में सुधार-आन्दोलन एवं क्रान्ति के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था। 1871 ई० से 1879 ई० तक महान मुस्लिम रहनुमा जमालुद्दीन अफ़ग़ानी भी क़ाहिरा में ही थे और विदेशी हस्तक्षेप के ख़िलाफ़ लगातार आवाज़ बुलन्द करके राष्ट्रवादी आन्दोलन को प्रोत्साहन दे रहे थे। एक फ़ौजी अधिकारी अहमद अराबी पाशा (1839 ई०–1911 ई०) ने जल्द ही इस नए राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व सम्भाल लिया। ख़दयू तौफ़ीक़ उनके प्रभाव में आ गया और 1882 ई० में उन्हें युद्ध-मंत्री (रक्षा मंत्री) बना दिया, परन्तु ब्रिटेन के दबाव में जल्द ही उन्हें इस पद से हटा दिया। राष्ट्रवादी रहनुमाओं की ओर से इस अवसर पर ऐसे संविधान की माँग की जा रही थी जो ग़ैर-मुल्की हस्तक्षेप की रोक- थाम कर सके, परन्तु ठीक उसी समय ब्रिटेन और फ्रांस ने अपनी पूँजी की रक्षा के लिए हस्तक्षेप की धमकी दी, बल्कि ब्रिटिश समुद्री बेड़े ने जुलाई 1882 ई० में इस्कन्दरिया पर गोलीबारी भी शुरू कर दी। पश्चिमी शक्तियों के इस आतंकवादी रवैये ने मिस्र की शान्तिप्रिय जनता और वहाँ उठे एक ठोस संविधान के आन्दोलन को युद्ध के रास्ते पर धकेल दिया। अराबी पाशा ने बग़ावत कर दी जिसे कुचलने के लिए ब्रिटेन ने इसमाईलिया में अपनी फ़ौज उतार दी। 13 सितम्बर 1882 ई० को तल-अलकबीर नामक स्थान पर अराबी पाशा ने उन्हें रोकना चाहा, परन्तु असफल रहा और ब्रिटिश फ़ौज क़ाहिरा में प्रवेश कर गई। अराबी पाशा को गिरफ़्तार कर लिया गया। पहले

उन्हें सज़ा-ए-मौत दी गई, फिर मौत की सज़ा को उम्रक़ैद में बदल दिया और श्रीलंका भेज दिया गया। अन्त में उनकी सज़ा माफ़ कर दी गई और वे 1901 ई॰ में वतन वापस आ गए, जहाँ 1911 ई॰ में उनकी मृत्यु हुई।

इस प्रकार मिस्र में ब्रिटेन के शासन का आरम्भ हुआ जो 1922 ई॰ तक चलता रहा। मिस्र पर उसमानी ख़िलाफ़त का कथित आधिपत्य अब भी क़ायम रहा और वह 1914 ई॰ में प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ने पर समाप्त हुआ।

तहतावी

इस दौर के विद्वानों में दो नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। एक अब्दुर्रहमान जबरूती (1753 ई॰–1826 ई॰) और दूसरे रफ़ाआ राफ़ेअ तहतावी (1801 ई॰–1873 ई॰)। जबरूती मुहम्मद अली के समय के इतिहासकार हैं। उनकी किताब 'अजाइबुल-आसार' 1100 हि॰/1688 ई॰–1236 हि॰/1821 ई॰ तक का मिस्र का विस्तृत इतिहास है। यह इतिहास की पुस्तक फ़्रांसीसी क़ब्ज़े के बाद के वर्षों के लिए सबसे बड़ा स्रोत है। इसमें लोगों की जीवनियाँ भी हैं। जबरूती ने मुहम्मद अली की हुकूमत की बड़ी आलोचना की है। उन्होंने मिस्र पर फ़्रांसीसी आधिपत्य का इतिहास एक अन्य पुस्तक में विस्तार से लिखा है।

रफ़ाआ-राफ़ेअ तहतावी इस दौर के सबसे बड़े विद्वान एवं चिन्तक हैं। इस्लाम एवं पश्चिमी विचारधारा की कश-मकश के इतिहास में उन्हें जमालुद्दीन अफ़ग़ानी, नामिक़ कमाल और ख़ैरुद्दीन पाशा की तरह एक अहम स्थान प्राप्त है।

मुहम्मद अली पाशा ने 1825 ई॰ में मिस्री छात्रों के समूह को शिक्षा प्राप्त करने हेतु फ़्रांस भेजा था। तहतावी उस समूह के साथ धार्मिक गुरु एवं इमाम के रूप में भेजे गए थे, क्योंकि मुहम्मद अली चाहता था कि मिस्री छात्र यूरोप में रहकर मज़हब से बे-परवाह न हो जाएँ। तहतावी 1831 ई॰ तक यूरोप में रहे। उन्होंने फ़्रांसीसी भाषा सीखी और फ़्रांसीसी साहित्य, आधुनिक ज्ञान एवं सभ्यता का अध्ययन एवं साक्षात दर्शन किया। मिस्र वापस आने के बाद वे विदेशी भाषा के मदरसे के निदेशक नियुक्त हुए। यह मदरसा

मुहम्मद़ अली ने क़ाहिरा में स्थापित किया था। इस महाविद्यालय ने अरबों के बौद्धिक एवं मानसिक विकास में मुख्य भूमिका निभाई। यहाँ तहतावी और इस महाविद्यालय के छात्रों ने विभिन्न विषयों पर विदेशी भाषा की दो हज़ार किताबों का अनुवाद किया।

तहतावी ने अनुवाद के अतिरिक्त कई किताबें स्वयं भी लिखीं। इनमें कुछ किताबें यूरोप और वहाँ की सभ्यता-संस्कृति पर आधारित हैं। ख़ैरुद्दीन पाशा की तरह उनका भी यह मक़सद था कि मिस्रवासी यूरोप के उत्थान के कारकों को समझें एवं लाभ उठाएँ।

तहतावी फ़्रांस को कुफ़्र एवं बुराई की धरती समझने के बावजूद फ़्रांसीसियों की सच्चाई, न्याय, सदाचरण एवं परिश्रम की प्रशंसा करते थे। उनका कहना था कि पश्चिमी सभ्यता मिस्र की सभ्यता से अच्छी है और मिस्रवासी इस सभ्यता को अपनाकर अपनी कमज़ोरियाँ दूर कर सकते हैं, परन्तु तहतावी पश्चिमी सभ्यता को इस्लामी सीमाओं का पालन करते हुए अपनाना चाहते थे। पश्चिमी लिब्रलिज़्म के बारे में वे कहते हैं कि यह वही चीज़ है जिसे इस्लाम में अदल व इनसाफ़ कहा गया है, और सांवैधानिक एवं प्रतिनिधि सरकार को वे 'शूरा' ही का एक रूप मानते थे और इसे तानाशाही से अच्छा समझते थे। तहतावी ने मिस्री जागीरदारी व्यवस्था की घोर निन्दा की। अरबों में वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने 'वतन' शब्द पश्चिम अवधारणा के अनुरूप इस्तेमाल किया। एक प्रकार से वे अरबों के नामिक़ कमाल थे। इसके बावजूद वे यह भी लिखते हैं कि हर मुस्लिम मुल्क उन सभी मुसलमानों का वतन हो सकता है जो वहाँ रहते हैं। वे पहले अरब हैं जिन्होंने 'वतन' पर देशप्रेम की कविताएँ लिखीं और उनमें मिस्र की महानता का गुणगान किया और इस्लाम से पूर्व के दौर पर भी गर्व किया।

मिस्र के ख़दयू-हुक्मरान (1220 हि॰/1805 ई॰–1371 हि॰/1952 ई॰)

1. मुहम्मद अली पाशा (1220 हि॰/1805 ई॰–1264 हि॰/1848 ई॰)
2. अब्बास प्रथम (1264 हि॰/1848 ई॰–1270 हि॰/1854 ई॰)
3. सईद पाशा (1270 हि॰/1854 ई॰–1280 हि॰/1863 ई॰)

4. इसमाईल पाशा	(1280 हि॰/1863 ई॰—1296 हि॰/1879 ई॰)
5. तौफ़ीक़ पाशा	(1296 हि॰/1879 ई॰—1310 हि॰/1892 ई॰)
6. अब्बास हिल्मी	(1310 हि॰/1892 ई॰—1333 हि॰/1914 ई॰)
7. हुसैन कामिल	(1914 ई॰—1917 ई॰)
8. फ़ुवाद प्रथम	(1917 ई॰—1936 ई॰)
9. फ़ारूक़	(1355 हि॰/1936 ई॰—1371 हि॰/1952 ई॰)

4. मराकश या अल-मग़रिब

मौलाए-ए-इसमाईल के बाद जो हुक्मरान मराकश की गद्दी पर बैठे उनमें सब अयोग्य नहीं थे, परन्तु मराकश के पतन को उनमें से कोई भी न रोक सका। इसके अतिरिक्त मराकश में अपनी कमियों-कमज़ोरियों के सुधार के लिए वैसी कोशिशें भी नहीं की गईं जैसी अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में तुर्की और मिस्र में की गईं और ख़ुद उत्तरी अफ़्रीक़ा में ख़ैरुद्दीन पाशा के मंत्रित्व काल में एवं सादिक़ बे के शासनकाल में की गई थीं। परन्तु इन सभी बातों के बावजूद मराकश शायद अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण यूरोप के आक्रमण से सुरक्षित रहा। मराकश उत्तरी अफ़्रीक़ा का वह मुल्क है जो सबसे आख़िर में पश्चिमी देशों के आधिपत्य में गया।

मौला-ए-इसमाईल के बाद मराकश में जो हुक्मरान हुए उनका सबसे प्रबल पक्ष यह है कि वे मुल्क में अम्न-शान्ति स्थापित करने में सफल रहे और उन्होंने मदरसों, मस्जिदों और अन्य इमारतों के रूप में निर्माण एवं विकास-कार्य सम्पन्न किया। इसमाईल के बाद उसके लड़के मौला-ए-अब्दुल्लाह (1727 ई॰—1757 ई॰) का दौर अशान्ति की भेंट चढ़ गया। वह पाँच बार गद्दी से हटा और फिर बैठा। अब्दुल्लाह का लड़का मौला-ए-मुहम्मद (1757 ई॰—1790 ई॰) मुल्क में शान्ति स्थापित करने में सफल हुआ। उसने यूरोपीय देशों से व्यापक स्तर पर कूटनीतिक सम्बन्ध बनाए और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की हुकूमत को मान्यता दे दी। मराकश की गणना अमेरिका को मान्यता देनेवाले प्राथमिक देशों में होती है। मौला-ए-सुलैमान (1792 ई॰—

1822 ई॰) इस दृष्टि से मराकश का अन्तिम शक्तिशाली हुक्मरान है कि उसके ज़माने तक मराकश का सम्मान क़ायम रहा। उसके दौर में पश्चिमी देशों से सम्बन्ध और मज़बूत हुए तथा निर्माण एवं विकास का काम भी किसी हद तक होता रहा। उसके बाद मराकश स्पष्ट रूप से पतन की ओर उन्मुख हो गया।

मौला-ए-अब्दुर्रहमान (1822 ई॰–1859 ई॰) के ज़माने में, जो मौलाए-सुलैमान का भतीजा था, जब मरकश एवं फ़्रांस के बीच पहली बार भिड़ंत हुई तो मराकश की आन्तरिक कमज़ोरियाँ स्पष्ट हो गईं। फ़्रांस ने जब अल-जज़ायर पर क़ब्ज़ा किया तो मराकश में मौला-ए-अब्दुर्रहमान की हुकूमत थी, परन्तु यह हुकूमत न केवल यह कि अल-जज़ायर को बचा न सकी बल्कि स्वयं उसका अस्तित्व भी ख़तरे में पड़ गया। घटना इस प्रकार है कि 1843 ई॰ में अमीर अब्दुल-क़ादिर अल-जज़ायरी फ़्रांस से जंग के समय मराकश में पनाह लेने पर मजबूर हो गए थे। मौला-ए-अब्दुर्रहमान को जनता के दबाव के कारण उनकी मदद करनी पड़ी। इस मदद का नतीजा यह हुआ कि अगस्त 1844 ई॰ में तंजा (Tangier) और अस्सवेरह (Mogador) की बन्दरगाहों पर फ़्रांसीसी नौसेना ने बमबारी की और वजदह के सीमा-स्थल पर फ़्रांस ने मराकशी सेना को पराजित करके मराकशी हुकूमत को मजबूर कर दिया कि यदि अमीर अब्दुल-क़ादिर ने पुनः मराकश में पनाह लेने की कोशिश की तो वह उन्हें निकाल देगी या नज़रबन्द कर देगी। इसके बाद मार्च 1845 ई॰ में मराकश एवं अल-जज़ायर के बीच सीमा निर्धारित की गई जो आज तक मान्य है।

फ़्रांस के इस हस्तक्षेप ने मराकश की फ़ौजी दुर्बलता सबपर स्पष्ट कर दी और कुछ साल बाद स्पेन ने भी इस कमज़ोरी से फ़ायदा उठाते हुए 1860 ई॰ में उत्तरी मराकश के शहर क़तवान पर क़ब्ज़ा कर लिया। मराकश के अन्तिम दौर के हुक्मरानों में मौला-ए-हसन (1873 ई॰–1894 ई॰) एक शक्तिशाली हुक्मरान साबित हुआ। उसने अपने काल में पूरे मुल्क में अम्न-शान्ति क़ायम रखी और बाहरी मुल्कों को हस्तक्षेप से रोके रखा, परन्तु यह सब कुछ मौला-ए-हसन की व्यक्तिगत योग्यता का नतीजा था, वरना

मराकश आधुनिक युद्ध-कौशल एवं नए सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक धाराओं से अब भी उतना ही दूर था जितना पहले के हुक्मरानों के ज़माने में दूर था।

उन्नीसवीं सदी के अन्त में यूरोप की हुकूमतों ने एशिया और विशेषकर अफ्रीक़ा में अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र बना लिए थे और उन्होंने तय कर लिया था कि एक मुल्क के प्रभाव-क्षेत्र में दूसरा मुल्क हस्तक्षेप नहीं करेगा। फ्रांस मिस्र पर ब्रिटिश अधीनता पर और ब्रिटेन तूनिस पर फ्रांस की अधीनता पर सहमत हो चुके थे। 1902 ई॰ में फ्रांस और स्पेन ने भी एक ऐसे ही गुप्त समझौते के द्वारा मराकश को बाँट लिया। दो साल के बाद ब्रिटेन ने भी इसको मान्यता दे दी। यूरोप की तीन बड़ी हुकूमतों के बीच इस सहमति के बाद मराकश में फ्रांस एवं स्पेन का हस्तक्षेप बढ़ता चला गया। यहाँ तक कि 1912 ई॰ में स्पेन ने उत्तरी मराकश पर जो रेफ़ कहलाता है और फ्रांस ने शेष मुल्क पर क़ब्ज़ा कर लिया। मार्च 1912 ई॰ में मौला-ए-अब्दुल-हफ़ीज़ (1909 ई॰–1912 ई॰) को फ़ास नामक एक स्थान पर एक संधि पर हस्ताक्षर करने पर मजबूर किया गया, जिसके अनुसार मराकश को तूनिस की तरह फ्रांस का संरक्षित (Protectorate) क्षेत्र घोषित कर दिया गया। नवम्बर में एक और समझौते द्वारा 'रेफ़' को स्पेन का संरक्षित क्षेत्र क़रार दिया गया। यद्यपि 'रेफ़' पर मराकश के सुल्तान का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया गया, फ्रांस के आगे इस प्रकार हथियार डाल देने पर विरोध प्रदर्शन के रूप में पूरे मुल्क में बग़ावत फैल गई, लेकिन फ्रांस की फ़ौज ने इस बग़ावत को कठोरतापूर्वक कुचल दिया।

मराकश उत्तरी अफ्रीक़ा का अन्तिम मुल्क है जिसपर यूरोप का आधिपत्य स्थापित हुआ। लीबिया पर एक वर्ष पूर्व इटली क़ब्ज़ा जमा चुका था।

(फ्रांसीसी आधिपत्य के बाद मिस्र और उत्तरी अफ्रीक़ा के इतिहास एवं आर्थिक, सामाजिक हालात के लिए देखिए इस किताब का तीसरा खण्ड।)

(फ़लाली सुल्तानों की वंशावली के लिए देखिए अध्याय-25)

महत्वपूर्ण घटनाएँ

1811 ई॰— (एक मार्च) मुहम्मद अली ने क़ाहिरा में सभी गुलाम सरदारों को क़त्ल करा दिया।

1818 ई॰— नज्द पर क़ब्ज़ा और सऊद-वंश के साथ सात वर्षीय जंग का ख़ातिमा।

1822 ई॰— मिस्री फ़ौज ने सूडान फ़तह किया। बोलाक़ (क़ाहिरा) में छापाख़ाना (प्रेस) क़ायम हुआ।

1823 ई॰— सूडान में 'ख़रतूम' नामक शहर बसाया गया।

1826 ई॰— इबराहीम पाशा का मोरिया (यूनान) में सफल अभियान।

1830 ई॰— (5 जुलाई) अल-जज़ायर पर फ़्रांसीसी क़ब्ज़ा।

1832 ई॰— मसकरह में अमीर अब्दुल-क़ादिर की हुकूमत का आरम्भ। 29 जुलाई को इबराहीम पाशा ने हलब के पास और 29 अक्तूबर को क़ौलियो की जंग में तुर्कों को शिकस्त दी।

1833 ई॰— (8 अप्रैल) कोताहिया-संधि, जिसके अनुसार मुहम्मद अली को मिस्र के अतिरिक्त अदरना एवं शाम (सीरिया) का उसमानी गवर्नर मान लिया गया।

1835 ई॰— तराबुलुस में क़ुरह मानली-ख़ानदान की हुकूमत का ख़ातिमा और तुर्क-गवर्नर की नियुक्ति। यह ख़ानदान 1714 ई॰ से स्वतंत्र रूप से हुकूमत कर रहा था।

1837 ई॰— तफ़ना (Tafna) की संधि। फ़्रांसीसियों ने अल-जज़ायर का अधिकतर भाग अमीर अब्दुल-क़ादिर के हवाले किया।

1839 ई॰— (25 जून) तरीब की जंग में इबराहीम पाशा ने तुर्कों को पराजित किया।

1841 ई॰— अमीर अब्दुल-क़ादिर ने अल-जज़ायर में पनाह ली। 30 सितम्बर को मिस्र की हुकूमत मुहम्मद अली के ख़ानदान

में पैतृक कर दी गई। शाम (सीरिया) उसमानी सल्तनत को वापस कर दिया गया।

1844 ई॰— फ़्रांसीसियों ने तंजा पर बमबारी की और अस्सवेरह (मराकश) पर क़ब्ज़ा कर लिया।

1845 ई॰— अल-जज़ायर एवं मराकश के बीच सीमा का निर्धारण।

1847 ई॰— (23 दिसम्बर) अमीर अब्दुल-क़ादिर ने हथियार डाल दिए।

1857 ई॰— इस्कन्दरिया एवं क़ाहिरा के बीच रेल-लाइन का काम पूर्ण। तूनिस में मौलिक अधिकारों के प्रावधान लागू किए गए। (9 सितम्बर)।

1861 ई॰— तूनिस में संविधान लागू, जो इस्लामी दुनिया में पहला आधुनिक संविधान था।

1869 ई॰— (17 नवम्बर) सुइज़-नहर का उदघाटन।

1882 ई॰— (12 मई) तूनिस पर फ़्रांस का क़ब्ज़ा। (11 जुलाई) इस्कन्दरिया पर ब्रिटिश नौसेना की बमबारी। (13 सितम्बर) कुल कबीर की जंग में आराबी पाशा को पराजय और मिस्र पर अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा।

1906 ई॰— अल-जज़ीरा (Algeciras) कान्फ्रेंस। मराकश के सुल्तान ने सुधार लागू करने से सम्बन्धित फ़्रांस एवं स्पेन का नियंत्रण स्वीकार कर लिया।

1907 ई॰— फ़्रांसीसियों का वजदह (मराकश) पर क़ब्ज़ा और दारुल-बैज़ा पर बमबारी।

1910 ई॰— सुल्तान की ओर से सुधार के प्रावधान स्वीकृत करने पर फ़्रांस ने वजदह ख़ाली कर दिया।

1911 ई॰— फ़्रांस ने अप्रवासी नागरिकों की सुरक्षा का बहाना बनाकर फ़ास (मराकश) पर क़ब्ज़ा कर लिया।

1912 ई॰— (30 मार्च) मराकश पर फ़्रांस का क़ब्ज़ा।

अध्याय-35

अफ़्रीक़ा पश्चिमी उपनिवेशवाद के चंगुल में

1. पश्चिमी अफ़्रीक़ा

गुलामों का व्यापार

पन्द्रहवीं सदी में यूरोपीय क़ौमों ने, जिनमें पुर्तगाली आगे-आगे थे, अफ़्रीक़ा का सम्पूर्ण पश्चिमी तट खोज लिया था। उन यूरोपीय क़ौमों को शुरू में केवल सोने और हाथी के दाँत से दिलचस्पी थी जो उन मुल्कों में प्रचुरता से मौजूद था। इसके बाद इन क़ौमों ने अफ़्रीक़ी गुलामों (दासों) का व्यापार शुरू कर दिया। यूरोपीय क़ौमों का गुलामों का यह व्यापार, जो 1500 ई० से 1800 ई० तक पूरे तीन सौ साल चलता रहा, मानव-इतिहास का अत्यन्त भयानक एवं कष्टदायक अध्याय है। अमेरिका में जब स्थानीय आबादी को खेतों और खदानों में जानवरों की तरह काम लेकर और उसपर अत्याचार करके ख़त्म कर दिया गया, तो वहाँ के गोरे मालिकों ने अफ़्रीक़ा से काले गुलाम लाने शुरू कर दिए। इस काम में यूरोप की लगभग सभी क़ौमों ने दिल खोलकर हिस्सा लिया। अफ़्रीक़ा के सम्पूर्ण तटीय क्षेत्रों पर विशेषकर पश्चिमी अफ़्रीक़ा के तटों पर इन क़ौमों ने, जिनमें पुर्तगाली, स्पेनी, फ़्रांसीसी, अंग्रेज़, जर्मन, डेनमार्कवासी एवं स्वीडेनवासी शामिल थे, जगह-जगह क़िले और फ़ौजी चौकियाँ बना लीं, जहाँ से उन क़ौमों के बन्दूक़धारी सिपाही भीतरी मुल्क में काले नागरिकों की शान्तिप्रिय बस्तियों पर छापे मारा करते और मर्दों एवं औरतों को पकड़कर लाते थे। फिर उन बेबस लोगों को जानवरों की तरह जहाज़ों में ठूँसकर अमेरिका पहुँचा देते थे। रास्ते में अनगिनत अफ़्रीक़ी हिंसा एवं भूख का शिकार होकर दम तोड़ देते थे। पश्चिमी क़ौमों का यह अमानवीय व्यापार पूरे तीन सौ साल तक चलता रहा। इनसानों के साथ उनके इस घोर अत्याचार ने अंततः कुछ संवेदनशील लोगों को प्रभावित किया और यूरोप में गुलामी (दास-प्रथा) के ख़िलाफ़ आन्दोलन शुरू हुआ

और 1820 ई॰ तक सम्पूर्ण यूरोप एवं अमेरिका में गुलामी की प्रथा एवं व्यापार पर प्रतिबंध लगा दिया गया।

अफ़्रीक़ा का बँटवारा

गुलामों का व्यापार बन्द हो जाने के बाद यूरोपवालों ने अफ़्रीक़ा को लूटने का दूसरा तरीक़ा अपनाया। उन्होंने तय किया कि अफ़्रीक़ा को सभ्य बनाने की ज़रूरत है और यह काम इस प्रकार किया जा सकता है कि अफ़्रीक़ा के जो मुल्क, मौसम एवं जलवायु की दृष्टि से यूरोपवालों के बसने के लिए उपयुक्त हैं वहाँ यूरोपीय नागरिकों को आबाद कर दिया जाए और शेष अफ़्रीक़ा पर क़ब्ज़ा करके उसे यूरोपीय उपनिवेश में बदल दिया जाए। 1830 ई॰ से 1882 ई॰ तक अल-जज़ायर, तूनिस और मिस्र पर फ़्रांस और ब्रिटेन पहले ही क़ाबिज़ हो गए थे, अब 1885 ई॰ में बर्लिन की कान्फ़्रेंस में यूरोप की क़ौमों ने शेष अफ़्रीक़ा को अपने बीच बाँट लिया। इसके बाद फ़्रांसीसी, अंग्रेज़, जर्मन और बेल्जियमवासी शिकारी जानवरों की तरह अपने-अपने शिकार पर झपट पड़े और पन्द्रह साल के अन्दर ही सम्पूर्ण अफ़्रीक़ा के महादेश को गुलामी की ज़ंजीरों में जकड़ लिया। हमारा विषय चूँकि इस्लामी इतिहास पर केन्द्रित है इसलिए हम यहाँ अफ़्रीक़ा के केवल उन मुल्कों पर यूरोपीय आधिपत्य का इतिहास बयान करेंगे जहाँ मुसलमानों की हुकूमतें क़ायम थीं।

अफ़्रीक़ा के विभाजन की योजना के अनुसार पश्चिमी अफ़्रीक़ा फ़्रांस के हिस्से में आया था, अतः फ़्रांसीसियों ने अपनी फ़ौजी कार्रवाई सबसे पहले सेनगाल, गिनी और माली से शुरू की।

हम बयान कर चुके हैं कि सोलहवीं सदी में माली पर मराकश ने क़ब्ज़ा कर लिया था। परन्तु माली पर मराकश का प्रभुत्व ज़्यादा समय तक क़ायम नहीं रहा। महान मरुस्थल (सहारा) की रुकावट के कारण माली के मराकशी फ़ौजी अपने वतन से कट गए और उन्होंने यहाँ अपनी आज़ाद हुकूमत क़ायम कर ली जो किसी-न-किसी रूप में 1820 ई॰ तक क़ायम रही।

हाजी उमर तजानी

उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में सूफ़ियों की विभिन्न धाराओं एवं पंथों के प्रभाव से माली, सेनेगाल और आसपास के इलाक़ों में ज़िन्दगी की एक नई लहर दौड़ गई। विशेषकर माली में नाइजीरिया के उसमान दान फ़ोदयू के एक साथी अहमद वलूबू (1810 ई॰–1844 ई॰) ने एक शुद्ध इस्लामी हुकूमत क़ायम की। सेनेगाल में हाजी उमर तजानी (1797 ई॰–1825 ई॰) की कोशिशों से हज़ारों मज़ाहिर-परस्तों (प्रकृतिपूजकों) ने इस्लाम क़बूल किया और इस प्रकार सभ्य दुनिया की सीमाएँ दक्षिण में तटीय क्षेत्रों तक पहुँचा दी। गिनी के उत्तरी भागों में बारहवीं सदी ही में ही इस्लाम पहुँच चुका था। 1720 ई॰ में यहाँ के सुन्दर पहाड़ी इलाक़ों में शरई हुकूमत क़ायम हो गई। इस हुकूमत के बनने से गिनी के इलाक़े में इस्लाम के प्रसार एवं प्रचार में बड़ी मदद मिली। दक्षिण के इलाक़े में क्रमशः इस्लाम फैलता गया, यहाँ तक कि अट्ठारहवीं सदी के आख़िर तक क़बीले के प्रचारकों ने अटलांटिक महासागर के तट तक इस्लाम फैला दिया। अहमद वलूबू के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने जो हुकूमत माली में क़ायम की थी वह शरई दृष्टिकोण से महान मरुस्थल (सहारा) के दक्षिण में क़ायम होनेवाली पूर्णतः इस्लामी हुकूमत थी।

फ़्रांसीसी सेनेगाल-नदी के मुहाने पर 1645 ई॰ से क़ाबिज़ थे। वहाँ उन्होंने सेंटलुई के नाम से एक शहर की बुनियाद डाल दी थी। इसके बाद उन्होंने गिनी एवं आइवरीकोस्ट तक तटीय इलाकों में जगह-जगह अपनी चौकियाँ बना ली थीं। हाजी उमर तजानी ने जब सेनेगाल के भीतरी इलाकों में एक मज़बूत हुकूमत क़ायम कर ली तो ये चौकियाँ ख़तरे में पड़ गईं। 1854 ई॰ में फ़्रांसीसी गवर्नर जनरल फ़ेद हरबे (Faid Harbe) ने, जो फ़्रांसीसी उपनिवेशों का नेपोलियन कहलाता है, हाजी उमर तजानी का मुक़ाबला करने के लिए मदीना नामक स्थान पर एक क़िला बनवाया जिसके निर्माण के बाद फ़्रांसीसियों एवं हाजी उमर तजानी के बीच जंग का एक लम्बा सिलसिला शुरू हो गया। हाजी उमर तजानी 1864 ई॰ में जबकि वह क़ौलानियों की बग़ावत को दबाने के लिए प्रयासरत थे, शहीद हो गए। उस समय तक फ़्रांसीसी सेनेगल पर क़ाबिज़ हो चुके थे।

इमाम समद

फ्रांसीसियों ने बीस साल बाद जब दूसरी बार चढ़ाई की तो माली के इलाक़े में हाजी उमर तजानी के बेटे अहमदू ने और गिनी के इलाक़े में इमाम समद (1846 ई॰–1900 ई॰) ने, जो समूरी के नाम से मशहूर हैं, उनका क़दम-क़दम पर मुक़ाबला किया, परन्तु आधुनिक हथियार एवं आधुनिक फ़ौजी संगठन न होने के कारण वे फ्रांसीसियों का जमकर मुक़ाबला नहीं कर सके। 1881 ई॰ में फ्रांसीसियों ने फ़ौताजल्लों पर, 1890 ई॰ में शहर सेगो पर और 1893 ई॰ में जीनी एवं टिम्बकटू पर क़ब्ज़ा कर लिया। इमाम समद ने फ्रांसीसियों की पेशक़दमी रोकने की पूरी कोशिश की, परन्तु असफल रहे और फ्रांसीसियों ने 1893 ई॰ में उनकी राजधानी बिसांदूगू (Bisandugu) पर, जो लाइबेरिया की सीमा पर स्थित थी, क़ब्ज़ा कर लिया। परन्तु इस उत्साही एवं महत्वकांक्षी इनसान ने फिर भी हिम्मत नहीं हारी और उन्होंने ऊपरी नाईजर और स्याहदोल्टा के बीच मज़ाहिर-परस्तों (प्रकृतिपूजकों) को हराकर एक नई रियासत क़ायम कर ली और लाइबेरिया की सीमा से 'अशान्ति' एवं ड्यूहमी नामक सीमा तक फ्रांसीसी इलाकों पर छापे मारना शुरू कर दिए। अपने इन हमलों के कारण इमाम समद ने उस ज़माने में विश्वव्यापी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। अन्ततः 1898 ई॰ में लाइबेरिया के उत्तर में कवाल्ला (Cavalla) नामक स्थान पर उन्हें पराजित होना पड़ा और वे गिरफ़्तार कर लिए गए। फ्रांसीसियों ने उन्हें मध्य अफ्रीक़ा के इलाक़े गायोन में देश-निकाला कर दिया जहाँ इस महान मुजाहिद (योद्धा) का 1900 ई॰ में इन्तिक़ाल हो गया। अहमदू का इन्तिक़ाल इससे दो साल पूर्व 1898 ई॰ में हो चुका था। पश्चिमी अफ्रीक़ा में फ्रांसीसियों की लड़ाई ख़त्म हो चुकी थी। फ्रांसीसियों ने नए अधिग्रहित इलाक़ों को फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीक़ा का नाम दिया और एक गवर्नर जनरल नियुक्त कर दिया, जिसका मुख्यालय सेनेगाल में डाकर नामक शहर था।

इसके बाद अल-जज़ायर, सेनेगल और लिबरियल[1] से तीन फ़ौजें पश्चिमी

1. अब यह शहर सल्तनत गाबून की बन्दरगाह और राजधानी है।

अफ़्रीक़ा और मध्य अफ़्रीक़ा के फ़्रांसीसी अधिकृत क्षेत्रों को एक-दूसरे से मिलाने के लिए रवाना हुईं। सेनेगाल से जो फ़ौज रवाना हुई वह रास्ते में मुसलमानों का क़त्ले-आम करती और उनकी बस्तियों को जलाती और बरबाद करती आगे बढ़ी। ये तीनों फ़ौजें 22 अप्रैल 1900 ई० को चाड-झील के पास एक-दूसरे से मिल गईं। इन्हें यूरनो के सुल्तान रबीअ ज़ुबैर को कुचलने का हुक्म दिया गया था, जिसका उल्लेख आगे आ रहा है।

(पश्चिमी अफ़्रीक़ा के मुस्लिम देशों पर फ़्रांसीसी आधिपत्य के बाद उनके वर्तमान काल तक के हालात के लिए देखें, इस पुस्तक का तीसरा खण्ड।)

2. नाईजीरिया

अफ़्रीक़ा के इतिहास के सिलसिले में अब तक हमने नाईजीरिया का उल्लेख नहीं किया, जो इस वक़्त आबादी की दृष्टि से अफ़्रीक़ा के महादेश का सबसे बड़ा मुल्क है। नाइजीरिया में इस्लाम का अग़ाज़ ग्यारहवीं सदी में बोर्नो-प्रान्त से हुआ जो वर्तमान नाईजीरिया का अन्तिम उत्तर पूर्वी प्रान्त है और चाड-झील के किनारे स्थित है। उस काल में यह इलाक़ा कानम की सल्तनत का एक भाग था। नाईजीरिया के अन्य उत्तरी प्रान्तों में इस्लाम का प्रचार-प्रसार बहुत बाद में, चौदहवीं सदी में हुआ। इस सदी में पश्चिमी अफ़्रीक़ा से आनेवाले व्यापारियों ने नाइजर-क्षेत्र एवं उत्तरी नाईजीरिया के फ़ौलानी एवं हावसा क़बीलों को मुसलमान बनाया और फिर इन लोगों ने शेष मुल्क में इस्लाम फैलाया।

चौदहवीं सदी में उत्तरी और उत्तर पश्चिम नाईजीरिया में और नाईजर-क्षेत्र में 'हावसा' के क़बीले के लोगों की कई हुकूमतें क़ायम थीं जिनमें कटसीना (Katsina), कानू, ज़ारिया और गोबीर की रियासतों के नाम उल्लेखनीय हैं। सम्भवतः इनमें सबसे पहले कटसीना के हावसावासियों ने इस्लाम क़बूल किया। वहाँ का हुक्मरान मुहम्मद कोरा (1320 ई०–1353 ई०) नाईजीरिया में पहला मुसलमान हुक्मरान माना जाता है। इसके बाद कानू के हुक्मरान अली याज़जी (1349 ई०–1385 ई०) ने इस्लाम क़बूल किया। बाद में कई और रियासतों के हुक्मरान भी मुसलमान हो गए और

उत्तरी नाईजीरिया में दूर-दूर तक इस्लाम फैल गया। इस्लाम के प्रभुत्व का नतीजा यह हुआ कि इन रियासतों की आर्थिक एवं अदालती व्यवस्था इस्लामी शरीअत के अनुसार ढल गई। उलमा (विद्वानों) का सम्मान बढ़ा, जिसके कारण ज्ञान का विकास-विस्तार हुआ। सोलहवीं सदी में कानू एवं कसटीना नाईजीरिया में सबसे बड़े बौद्धिक केन्द्र बन गए। अरबी में किताबें लिखी जाने लगीं और हावसा की भाषा के लिए अरबी लिपि अपना ली गई।

सोलहवीं सदी के आरम्भ में नाईजीरिया की इन हावसा-रियासतों पर कुछ समय के लिए माली के हुक्मरान मुहम्मद असकिया का आधिपत्य हो गया, परन्तु ये रियासतें मुहम्मद असकिया के बाद पुनः आज़ाद हो गईं और इनका अस्तित्व अट्ठारहवीं सदी के अन्त तक स्थापित रहा। इसके बाद फ़ौलानी नागरिकों ने हावसावासियों का राजनैतिक प्रभुत्व समाप्त कर दिया

उसमानदान फ़ौदियो और फ़ौलानी जिहाद

फ़ौलानी नागरिक तेरहवीं सदी में पश्चिम की ओर से नाईजीरिया आए उनकी बड़ी संख्या उस समय तक मुसलमान हो चुकी थी। उनमें चूँकि शुरु से ही इस्लामी शिक्षाओं का रुझान रहा था इसलिए वे नाईजीरिया के अन्य मुसलमानों के मुक़ाबले में मज़हब पर ज़्यादा दृढ़ता से जमे हुए थे नाईजीरिया के हावसा और अन्य नागरिक मुसलमान होने के बाद भी बहुत-सी पुरानी बातों एवं ग़ैर-इस्लामी रस्म-रिवाजों पर अमल करते थे उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में एक फ़ौलानी आलिम (विद्वान) एवं सुधारक उसमानदान फौदयो (1754 ई॰–1817 ई॰) ने इन ग़ैर-इस्लामी प्रभावों को समाप्त करके मूल इस्लामी शिक्षा के पुनरुत्थान के लिए एक तेहरीक (आन्दोलन) शुरू की जो आमतौर पर फ़ौलानी जिहाद के नाम से मशहूर है

उसमानदान फ़ौदयो ने फ़िक़्हे-मालिकी (इमाम मालिक रह॰ की फ़िक़्ह की आरम्भिक शिक्षा अपने वतन में प्राप्त की। उनमें शुरू ही से दीन (इस्लाम) की मुहब्बत एवं इसके लिए काम करने की भावना पाई जाती थी अभी उनकी उम्र मात्र बीस साल थी कि उन्होंने अपने उस्ताद अल-हाज जिबरील-बिन-उमर के साथ मिलकर ग़ैर-मुस्लिमों में इस्लाम के प्रसार के

काम शुरू कर दिया। 1776 ई॰ के क़रीब उसमान हज के लिए मक्का पहुँचे और वहाँ ठहरने के दौरान हिजाज़ के उलमा से भी अतिरिक्त शिक्षा प्राप्त की। उनका उन विद्वानों से भी सम्बन्ध बना जो नज्द के आलिम मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब के विचारों से प्रभावित थे। उसमान जब हिजाज़ से वापस वतन आए तो उनके दिल में इस्लाम का एक नया जोश एवं जज़्बा काम कर रहा था। अब उन्होंने ग़ैर-मुस्लिमों में इस्लाम का प्रसार करने से पहले स्वयं मुसलमानों की आस्थाओं एवं व्यवहारों के सुधार की ओर ध्यान दिया। उन्होंने उन मुसलमानों को समर्थन भी दिया जो ग़ैर-मुस्लिम हावसा-हुक्मरानों के ज़ुल्म का शिकार बन रहे थे। उनकी इन कोशिशों के कारण रियासत गोबीर के ग़ैर-मुस्लिम हुक्मरान से उनका टकराव हो गया। फ़रवरी 1804 ई॰ में जब उसमानदान फ़ौदयो ने गोबीर के हुक्मरान के ख़िलाफ़ जिहाद का एलान किया तो सभी मुसलमान उनके झण्डे के नीचे जमा हो गए। परन्तु उनकी सबसे ज़्यादा मदद फ़ौलानियों ने की, जिनके बीच उसमान रहते थे और जो उसमान के अख़लाक़, आचरण और शिक्षाओं से सबसे ज़्यादा प्रभावित थे। जंग का यह सिलसिला छह साल तक जारी रहा। इस अवधि में न केवल गोबीर की रियासत पर फ़ौलानी मुसलमानों का क़ब्ज़ा हो गया, बल्कि उन्होंने अन्य सभी हावसा की रियासतों को भी जीत लिया। 1810 ई॰ तक जिहाद समाप्त हो गया और बैनू-नदी एवं नाइजर- नदी तक उत्तरी नाईजीरिया का सम्पूर्ण इलाक़ा मुसलमानों के क़ब्ज़े में आ गया। उत्तर पूर्व में केवल बोर्नो की मुस्लिम रियासत फौलानी प्रभाव से आज़ाद रही।

1817 ई॰ में उसमान का इन्तिक़ाल हो गया। उन्हें सोकोटो में दफ़न किया गया, जहाँ उनका मक़बरा आज तक आम दर्शन-स्थल के रूप में उपस्थित है। पश्चिमी अफ़्रीक़ा और नाईजीरिया के मुसलमान उसमानदान फ़ोदयो को अपने वक़्त का मुजद्दिद (धर्मसुधारक) एवं क़ुतुब (महान बुज़ुर्ग) समझते हैं। सल्तनत के संस्थापक होने के साथ-साथ उसमान एक महान सुधारक एवं आलिमे-दीन (इस्लाम के विद्वान) भी थे। वे कई किताबों के लेखक थे, जिनमें 'इहयाउस-सुन्नह व इख़मादुल-बिदअह' उनकी सबसे अहम किताब है। यह बड़ी विचारोत्तेजक किताब है। पश्चिमी अफ़्रीक़ा में इस

किताब ने वही काम किया जो अरब-प्रायद्वीप में मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब की किताब 'अत-तौहीद' ने और उपमहाद्वीप भारत-पाक में इसमाईल शहीद की किताब 'तक़्वीयतुल-ईमान' तथा 'सिराते-मुस्तक़ीम' ने किया। यह किताब 1962 ई॰ में क़ाहिरा से प्रकाशित हो चुकी है और इसका एक नुस्ख़ा 'इदारा तहक़ीक़ाते-इस्लामी' इस्लामाबाद में मौजूद है।

उसमानदान फ़ोदयो की तेहरीक (आन्दोलन) को आमतौर पर फ़ौलानी जिहाद कहा जाता है, परन्तु यह क़बाइली तेहरीक नहीं थी। इसमें संदेह नहीं कि फ़ौलानी नागरिक इसके सबसे बड़े पक्षधर थे, परन्तु सुधार की यह तेहरीक फ़ौलानियों तक सीमित नहीं थी। हावसा के मुसलमान भी इस तेहरीक में शामिल थे, जबकि ग़ैर-मुस्लिम फ़ौलानियों ने उसमानदान फ़ोदयो से जंग की। यह वास्तव में एक सुधारवादी एवं इस्लामी तेहरीक थी।

उसमानदान फ़ोदयो के बाद उनके बड़े बेटे सुल्तान मुहम्मद बिल्लू (1817 ई॰–1837 ई॰) उनके उत्तराधिकारी हुए। मुहम्मद बिल्लू के दौर में फ़ौलानी सल्तनत अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। दक्षिण-पूर्व में आदमावा और दक्षिण पश्चिम में नाइजर-नदी के पार अलवरीन तक का इलाक़ा फ़त्ह कर लिया गया और इस प्रकार लगभग वह सारा इलाक़ा फ़ौलानियों के शासन के अन्तर्गत आ गया जो ब्रिटिश काल में उत्तरी नाइजीरिया कहलाता था, और जो वर्तमान नाइजीरिया के तीन चौथाई भूभाग पर स्थित है।

सुल्तान मुहम्मद बिल्लू एक क़ाबिल हुक्मरान थे और अपने पिता की तरह आलिम एवं लेखक थे। उन्होंने इस्लाम एवं भूगोल के विषयों पर आधारित कई किताबें लिखीं जिनमें कई छप चुकी हैं। ये किताबें नाइजीरिया के इतिहास और फ़ौलानी जिहाद तथा उसके उद्देश्यों पर प्रकाश डालती हैं।

उस काल की दो विशेषताएँ

फ़ौलानी सल्तनत एक मज़बूत केन्द्रीय (संघीय) हुकूमत नहीं थी, बल्कि विभिन्न रियासतों का एक ढीलाढाला संघ थी। इन रियासतों में कानू, आदमावा, बाची, कटसीना, ज़ारिया, सोकोटो और अलवरीन बड़ी रियासतें थीं। ये सभी रियासतें सुल्तान सोकोटो की अधीनता स्वीकार करती थीं, जो

सुल्तान सूदान या हावसा की भाषा में 'सारकीन' मुसलमान अर्थात् अमीरुल-मोमिनीन कहलाता था। मुहम्मद बिल्लू के बाद ये सभी रियासतें सोकोटो की अधीनता से आज़ाद हो गईं। सोकोटो के वर्तमान हुक्मरान[1] सर अबू-बक्र और नाईजीरिया के मशहूर रहनुमा (नेता) अहमद दबलू (1909 ई॰–1966 ई॰), जो सोकोटो के सरदोना (कमांडर इन चीफ़) कहलाते थे और आज़ादी के बाद उत्तरी नाईजीरिया के प्रधानमंत्री बने, उसमानदान फ़ोदयो की औलाद में से थे।

सुल्तान बिल्लू की मृत्यु के बाद यद्यपि नाईजीरिया का संक्षिप्त स्वर्णिम काल समाप्त हो गया, परन्तु दक्षिण की ओर इस्लामी सत्ता में इसके बाद भी इज़ाफ़ा होता रहा। नाइजर-नदी और बैनू-नदी के संगम पर नोपे-क़बीलों में अट्ठारहवीं सदी से ही इस्लाम फैलना शुरू हो गया था और नोपे-हुक्मरान जिबरील (1730 ई॰–1740 ई॰) पहला नोपे-बादशाह था जिसने इस्लाम क़बूल किया था। फ़ौलानी काल में न केवल नोपे-नागरिकों में बल्कि नाईजीरिया के पश्चिमी प्रान्त के यूरोबा के नागरिकों में भी इस्लाम का प्रचार-प्रसार तेज़ हो गया था। फ़ौलानियों ने न केवल यह कि नाईजीरिया के मुस्लिम समाज को ग़ैर-इस्लामी प्रभावों से बचाया बल्कि उत्तरी नाईजीरिया को पहली बार राजनीतिक एकता से परिचित किया। इस राजनीतिक एकता ने जल्द ही सांस्कृतिक एकता का रूप ले लिया। अतः उत्तरी नाईजीरिया का मज़हब आज इस्लाम है और साझा भाषा हावसा का प्रचलन है।

इस्लामी काल में नाईजीरिया में कई बड़े बदलाव हुए। इस्लामी शिक्षाओं के आम होने से अन्धविश्वास का ख़ातिमा हुआ। नरभक्षण एवं मानव-बलि जैसी क्रूर रस्में बन्द हो गईं। मुल्क को राजनीतिक स्थिरता प्राप्त हुई। न्यायिक एवं आर्थिक व्यवस्था उच्च आदर्शों पर स्थापित हुईं। मुल्क में पहली बार इल्म व अदब (ज्ञान एवं साहित्य) को तरक़्क़ी मिली। अरबी-भाषा में लेखन एवं पुस्तकों के संकलन का काम शुरू हुआ। यही काल है जब नाईजीरिया में इतिहास लिखने की परम्परा शुरू हुई और पहली बार उच्च

1. इस पुस्तक की रचना 1976 ई॰ में हुई है।—अनुवादक

कोटि के लेखक एवं साहित्यकार पैदा हुए। हावसा-भाषा की लिपि तैयार हुई और एक नई वास्तुकला का आग़ाज़ हुआ जो सूडानी वास्तुकला कहलाती है। ऐसे लिबासों का चलन हुआ जो अफ़्रीक़ा के प्रगतिशील इलाकों में पहने जाते थे, और इस प्रकार सांस्कृतिक दृष्टि से नाईजीरिया इस्लामी दुनिया का एक अंग बन गया। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय की शेष दुनिया की तरह नाईजीरिया में भी गुलामी की रस्म (दास-प्रथा) मौजूद थी, परन्तु इस्लाम ने गुलामों के जो अधिकार सुनिश्चित किए थे उनके कारण इस्लामी नाईजीरिया में गुलाम उस बरबरियत एवं अत्याचार का कभी शिकार नहीं हुए जिसका शिकार अफ़्रीक़ी गुलाम यूरोपीय व्यापारियों के हाथों कई सौ साल तक होते रहे।

अंग्रेज़ों का आगमन

उन्नीसवीं सदी में जब अंग्रेज़ समुद्र-मार्ग से नाईजीरिया पहुँचे तो मुल्क का दक्षिणी भाग विभिन्न क़बाइली हुकूमतों में बँटा हुआ था। मध्य एवं उत्तरी भागों में फ़ौलानी रियासतें और बोरनो की हुकूमत क़ायम थी। उस समय तक नाईज़ीरिया का नाम अपनाया नहीं गया था। साकोटो का हुक्मरान, जिसकी अधीनता सभी फ़ौलानी रियासतें स्वीकार करती थीं, सूडान का सुल्तान कहलाता था। अंग्रेज़ों ने 1861 ई॰ में लागोस की बन्दरगाह पर क़ब्ज़ा करने के बाद जल्द ही दक्षिणी नाईजीरिया की मज़ाहिर-परस्त (प्रकृति पूजक) हुकूमतों को अपना अधीनस्थ बना लिया। इसके बाद उन्होंने नाईजर-नदी और बीनू-नदी को पार करके उत्तर की मुस्लिम रियासतों पर हमला कर दिया। 1901 ई॰ में पोला एवं कोंटागारा तथा 1902 ई॰ में कटसीना, कानू और सोकोटो पर अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा हो गया। अगले साल बोरनो की रियासत भी अंग्रेज़ों की अधीनता में आ गई और इस प्रकार उस सम्पूर्ण इलाक़े पर अंग्रेज़ों की हुकूमत क़ायम हो गई जो आज नाईजीरिया कहलाता है। नई रियासत का यह नाम अंग्रेज़ों ही का दिया हुआ है।

(ब्रिटिश प्रभुत्व के बाद वर्तमान काल तक नाईजीरिया के इतिहास और वहाँ के आर्थिक सामाजिक हालात के लिए देखें, इस पुस्तक का तीसरा भाग।)

नाईजीरिया के फ़ौलानी हुक्मरान

1. उसमानदान फ़ोदयो (1804 ई॰—1810 ई॰)
2. मुहम्मद बिल्लू (1817 ई॰—1837 ई॰)
3. अबू-बक्र अतीक़ (1837 ई॰—1842 ई॰)
4. अली बाबा (1842 ई॰—1859 ई॰)
5 अहमदू अतीक़ (1859 ई॰—1866 ई॰)
6. अली बू किरामी (1866 ई॰—1867 ई॰)
7. अबू-बक्र अतीक़ द्वितीय (1873 ई॰—1877 ई॰)
8. मुअज़्ज़ू (1877 ई॰—1881 ई॰)
9. उमर (1881 ई॰—1891 ई॰)
10. अब्दुर्रहमान (1891 ई॰—1902 ई॰)
11. मुहम्मद अत-ताहिरो (1902 ई॰—1903 ई॰)
12. मुहम्मद अत-ताहिरो द्वितीय (1903 ई॰—1915 ई॰)
13. मुहम्मदू मितूरारे (1915 ई॰—1924 ई॰)
14. मुहम्मदू (1924 ई॰—1931 ई॰)
15. हसन (1931 ई॰—1938 ई॰)
16. अबू-बक्र (1938 ई॰—0000 ई॰)

3. बोरनो, विदाई और बगीरमी

हम पढ़ चुके हैं कि चौदहवीं सदी के आख़िर में कानम पर एक ग़ैर-मुस्लिम क़बीले बलाला का क़ब्ज़ा हो गया था जिसके कारण कानम के प्राचीन शाही ख़ानदान को अपनी राजधानी जिमी छोड़नी पड़ी थी। अब इस शाही ख़ानदान के एक व्यक्ति अली-बिन-दोनामा (1476 ई॰—1503 ई॰) ने चाड-झील के दक्षिण-पश्चिमी भाग में जो बोरनो कहलाता है, नई हुकूमत की बुनियाद डाली। अली-बिन-दोनामा के उत्तराधिकारी इदरीस दोनामा (1503

ई॰—1526 ई॰) के ज़माने में यद्यपि कानम पुनः जीत लिया गया, परन्तु अब कानम का इतिहास बोरनो का इतिहास बन गया। बोरनो इस समय नाईजीरिया का एक प्रान्त है।

इदरीस अलोमा

बोरनो के हुक्मरानों में इदरीस-बिन-अली (1570 ई॰—1602 ई॰) जो इदरीस अलोमा के नाम से मशहूर है, सबसे ख्यातिप्राप्त है। वह दिल्ली के मुग़ल-बादशाह अकबर का समकालीन था। इदरीस अलोमा एक विवेकशील एवं न्यायप्रिय हुक्मरान था। उसने बोरनो के विभिन्न क़बीलों को एकजुट किया तथा पूरब एवं पश्चिम में सल्तनत का विस्तार किया। उसके शासनकाल में पहली बार मध्य सूडान के इलाक़े में बन्दूक़ों का इस्तेमाल शुरू हुआ। ये बन्दूकें वे तुर्क-दस्ते अपने साथ लाए थे जिनको इदरीस हज करने के बाद अपने साथ बोरनो लाया था। इदरीस ने अरबों की एक ऊँट-सवार फ़ौज भी तैयार की थी।

इदरीस अलोमा का सबसे बड़ा कारनामा मुहम्मद असकिया एवं उसमानदान फ़ोदयो की तरह इस्लाम का पुनरुत्थान एवं पुनर्स्थापना है। अब तक बोरनो के शाही ख़ानदान में ग़ैर-इस्लामी प्रभाव एवं रस्मो-रिवाज मौजूद थे, लेकिन इदरीस अलोमा के काल में ये प्रभाव समाप्त हो गए और सल्तनत के सभी लोग मुसलमान हो गए। उसके काल में पारम्परिक क़ानून के स्थान पर शरई क़ानून (इस्लामी क़ानून) लागू करने की कोशिश की गई, इस्लामी अदालतें क़ायम की गईं और पहली बार न्यायपालिका को व्यवस्थापिका से अलग किया गया। इस काल में चाड एवं बोरनो के इलाक़े में कई मज़ाहिर-परस्त (प्रकृतिपूजक) क़बीलों ने इस्लाम क़बूल किया।

मुहम्मद कानमी

इदरीस अलोमा के बाद बोरनो की सल्तनत का पतन शुरू हो गया। बोरनो के अन्तिम काल के हुक्मरानों में मुहम्मद कानमी (मृत्यु-1835 ई॰) का नाम बहुत प्रसिद्ध है। लेकिन मुहम्मद कानमी का सम्बन्ध कानम या बोरनो के प्राचीन सैफ़ी ख़ानदान से नहीं था। वह मूलतः अरब-नस्ल का था और

लीबिया के दक्षिणी प्रान्त फ़ुज़ान में पैदा हुआ था। उसने मिस्र में शिक्षा प्राप्त की थी और अपने ज्ञान एवं श्रेष्ठ आचरण के कारण सबसे प्रतिष्ठित था। यह वह ज़माना था जब नाईजीरिया में उसमानदान फ़ोदयो ने सुधार एवं शुद्धिकरण का आन्दोलन छेड़ रखा था, जिसे फ़ौलानी जिहाद कहा जाता है। इस जिहाद के दौरान जब 1808 ई॰ में बोरनो पर फ़ौलानियों का क़ब्ज़ा हो गया तो सैफ़ी ख़ानदान के हुक्मरान ने मुहम्मद कानमी से मदद माँगी। मुहम्मद कानमी ने अपनी अद्‌भुत क्षमता का परिचय देते हुए बोरनो को फ़ौलानियों के आधिपत्य से आज़ाद करा लिया परन्तु इसके साथ ही वह बोरनो का तानाशाह बन गया। प्राचीन सैफ़ी ख़ानदान अब भी मौजूद था, परन्तु वास्तविक सत्ता अन्दलुस के अल-मनसूर की तरह मुहम्मद कानमी के हाथ में थी जिसने शेहू (Shehu) अर्थात् 'शेख़' की उपाधि धारण कर ली थी। मुहम्मद कानमी के बाद उसका लड़का उमर (1835 ई॰ से 1880 ई॰) उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसके बाद बोरनो और कानम के इलाक़े में अराजकता फैल गई और 1900 ई॰ में कानम पर फ़्रांस का आधिपत्य स्थापित हो गया।

कानम और बोरनो के सैफ़ी ख़ानदान के हुक्मरानों की उपाधि 'मानी' थी। शुरू में इनकी राजधानी जैमी थी, फिर अंगाज़ोरगामों और उसके बाद कोका राजधानी बनी। ये तीनों शहर चाड-झील के क़रीब स्थित थे और वर्तमान में प्रथम एवं अन्तिम शहर नाईजीरिया की सीमा के अन्तर्गत है।

रबीअ-बिन-फ़ज़्लुल्लाह

बोरनो में 1880 ई॰ के बाद जब अराजकता का दौर प्रारम्भ हुआ तो एक महत्त्वकांक्षी व्यक्ति रबीअ-बिन-फ़ज़्लुल्लाह बोरनो और उसके आसपास के इलाक़े पर क़ाबिज़ हो गया। वह चाड के इलाक़े के इतिहास के एक ऐसे अन्तरिम काल से सम्बन्ध रखता है जिसे हम क़ौमी आज़ादी की सुरक्षा का काल कह सकते हैं। अफ़्रीक़ा के आधे उत्तरी भाग के इतिहास का एक विचारनीय पहलू यह है कि उन्नीसवीं सदी में यहाँ के विभिन्न क्षेत्रों में कई हौसलामन्द इनसान पैदा हुए जिन्होंने अपनी योग्यता का परिचय देते हुए विशाल एवं विस्तृत हुकूमतें क़ायम कीं। परन्तु अन्ततः ये सब पश्चिमी

उपनिवेशवाद का शिकार होते गए। महदी सूडानी, अहमद वलूबू, उमर तजानी और इमाम समद या समूरी की गिनती ऐसे ही लोगों में होती है। ये सभी उसी पथ पर चले जिसपर इनसे कुछ पहले इसी सदी में पश्चिमी तुर्किस्तान में केनेसरी, पूर्वी तुर्किस्तान में याक़ूब बेग और अल-जज़ायर में अमीर अब्दुल-क़ादिर चल चुके थे। रबीअ-बिन-फ़ज़्लुल्लाह को भी ऐसे ही लोगों में गिना जा सकता है, यद्यपि वह अपने आचरण की दृष्टि से उनसे बहुत पीछे था। रबीअ सूडान का रहनेवाला था और वहाँ गुलामों के एक व्यापारी जुबैर पाशा का नौकर था। शुरू में यह व्यक्ति गुलाम प्राप्त करने के लिए सूडान के दक्षिणी भाग में छापे मारा करता था। इसके बाद 1889 ई॰ में इसने गुलामों की एक फ़ौज तैयार कर ली जिसकी मदद से उसने दो साल के अन्दर बोरनो, विदाई और बगेरमी पर क़ब्ज़ा जमा लिया, तथा चाड-झील के दक्षिण में दकुआ नामक स्थान पर, जो अब नाईजीरिया का अंग है, अपनी राजधानी बना ली। रबीअ अब कानू के पूर्वी प्रान्तों पर हमले की तैयारियाँ कर रहा था कि फ़्रांसीसी फ़ौजों के आगमन के कारण उसे 1898 ई॰ में बगेरमी वापस आना पड़ा। फ़्रांसीसी फ़ौजों से उसकी कई झड़पें हुईं और अन्ततः वह 1900 ई॰ में एक लड़ाई में मारा गया। उसकी मौत से फ़्रांस को कानम और बोरनो के इलाक़े में अपने सबसे बड़े दुश्मन से मुक्ति मिल गई और फ़्रांस इस इलाक़े पर आसानी से क़ाबिज़ हो गया।

रबीअ-बिन-फ़ज़्लुल्लाह यद्यपि किसी तेहरीक (आन्दोलन) के साथ नहीं था, परन्तु उसने स्वयं को एक ज़माने में महदी सूडानी से सम्बद्ध कर लिया था। रबीअ की फ़ौज की संख्या बीस हज़ार थी और यह फ़ौज अच्छी तरह प्रशिक्षित थी। इनमें लगभग पाँच हज़ार सिपाही बन्दूक़ों से लैस थे। पश्चिमी लेखकों ने रबीअ को गुलामों का व्यापारी, लुटेरा और छापामार घोषित किया है। हमारे पास इनती मालूमात नहीं कि इस मामले में कोई सही राय क़ायम कर सकें और चाड-क्षेत्र के राष्ट्रीय इतिहास में रबीअ का स्थान निर्धारित कर सकें, परन्तु हमें यह मालूम है कि पश्चिमी लेखकों ने महदी सूडानी जैसी महान शख़सियत को भी बदनाम करने की कम कोशिश नहीं की थी, परन्तु आज उसी महदी सूडानी को सूडान के जागरूकता अभियान का सूत्रधार समझा जाता है।

बगेरमी

बोरनो के बाद चाड-क्षेत्र की दूसरी प्रमुख रियासत बगेरमी की थी। यह रियासत चाड-झील के दक्षिण-पूर्व में शारी-नदी की निचली तराई में स्थित थी। बगेरमी की हुकूमत 1522 ई॰ के आसपास क़ायम हुई थी। इसके प्रारम्भिक तीन हुक्मरान ग़ैर-मुस्लिम थे। चौथे हुक्मरान ने इस्लाम क़बूल करके अपना नाम अब्दुल्लाह (1568 ई॰–1608 ई॰) रखा। उसने इस्लामी रीति-रिवाज लागू किए और 'मुबांग' की उपाधि धारण की जो आगे चलकर बगेरमी के सभी हुक्मरानों की उपाधि बन गई। अब्दुल्लाह ने बगेरमी का सियासी और फ़ौजी ढाँचा बोरनो की तरह खड़ा किया। बगेरमी की रियासत यद्यपि मानी इदरीस अलोमा के ज़माने में बोरनो के अधीन आ गई थी, परन्तु बाद में आज़ाद हो गई।

बगेरमी का सबसे मशहूर हुक्मरान मुहम्मद अमीन (1751 ई॰–1785 ई॰) हुआ है। उसके ज़माने में बगेरमी के नागरिकों ने व्यापक रूप से इस्लाम क़बूल कर लिया। अन्त में बगेरमी की रियासत चाड के पूर्वी भाग में स्थित एक दूसरी रियासत वदाई के अधीनस्थ बन गई। 1890 ई॰ में बगेरमी के सुल्तान गवारंग द्वितीय ने बगेरमी को फ़्रांस के हवाले कर दिया। शुरू में फ़्रांसीसियों ने सुल्तान के अधिकारों को मान्यता दी, फिर धीरे-धीरे सुल्तान को सभी अधिकारों से वंचित कर दिया।

वदाई

चाड-क्षेत्र की तीसरी मुस्लिम सल्तनत वदाई की थी। वदाई का इलाक़ा बगेरमी और सूडान के प्रान्त दारफ़ोर के बीच में स्थित है। सोलहवीं सदी के आरम्भ में इस इलाक़े पर तंजौर-क़बीले हुक्मरान थे जो दारफ़ोर से यहाँ आए थे। तंजौर-क़बीलों के एक भाग ने यद्यपि इस्लाम क़बूल कर लिया था परन्तु वदाई में इस्लाम का प्रसार एक व्यक्ति सालेह ने किया जिसने तंजौर हुक्मरान दाऊद को पराजित करके अपनी हुकूमत क़ायम कर ली थी। जिस प्रकार कानम के हुक्मरान 'मानी' और बगेरमी के हुक्मरान 'मुबांग' कहलाते थे उसी प्रकार वदाई के हुक्मरान कोलाक कहलाते थे। सालेह पहला कोलाक

था। वदाई की हुकूमत शुरू में दारफ़ोर और बोरनो के अधीन थी, परन्तु मुहम्मद जूदत (1745 ई॰–1795 ई॰) के ज़माने में उसने आज़ादी प्राप्त कर ली। मुहम्मद जूदत ने दक्षिण में मज़ाहिर-परस्तों (प्रकृति-पूजकों) के इलाक़े में भी अपनी सल्तनत को विस्तार दिया। उसके ज़माने में सिनार की फ़ंज रियासत से बहुत-से उलमा एवं फ़ुक़हा वदाई पहुँचे और वदाई के छात्र सिनार जाकर शिक्षा ग्रहण करने लगे। इस प्रकार वदाई चाड-क्षेत्र में इस्लामी ज्ञान का सबसे बड़ा केन्द्र बन गया।

वदाई के हुक्मरानों में अब्दुल-करीम सायून (1803 ई॰–1813 ई॰) और अली-बिन-शरीफ़ (1858 ई॰–1874 ई॰) योग्य हुक्मरान हुए हैं। वदाई की बगेरमी से प्रायः झड़प होती रहती थी और उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में अब्दुल-करीम सायून ने बगेरमी को अपने अधीनस्थ बना लिया था। वदाई बगेरमी पर यह आधिपत्य अली-बिन-शरीफ़ के ज़माने तक चलता रहा। इसके बाद उसके भाई यूसुफ़ (1788 ई॰–1798 ई॰) के दौर में बगेरमी ने वदाई से आज़ादी प्राप्त कर ली। वदाई पर फ़्रांस का क़ब्ज़ा 1909 ई॰ और 1911 ई॰ के मध्य स्थापित हुआ। फ़्रांस ने बोरनो, वदाई, बगेरमी, कानम और अन्य सम्बद्ध इलाकों को मिलाकर चाड के नाम से एक नई हुकूमत क़ायम की।

(फ़्रांसीसी वर्चस्व के बाद से वर्तमान काल तक चाड के हालात के लिए देखें इस इतिहास का तीसरी खण्ड।)

4. पूर्वी अफ़्रीक़ा

ज़ंज की सल्तनत के हालात के तेहत हम पढ़ चुके हैं कि ज़ंज की सल्तनत के पतन के बाद मुमबासा से मोज़ंबीक़ तक सम्पूर्ण पूर्वी अफ़्रीक़ा के तटीय प्रदेशों पर पुर्तगाली क़ाबिज़ हो चुके थे। उनका यह वर्चस्व 1500 ई॰ से 1650 ई॰ तक पूरे डेढ़ सौ साल क़ायम रहा। इस दौरान में मुमबासा एवं अन्य शहरों के मुसलमानों ने बार-बार बग़ावतें कीं, परन्तु पुर्तगालियों ने हर बार उन्हें कठोरतापूर्वक कुचल दिया। 1650 ई॰ में अरब-प्रायद्वीप में उमान के नागरिकों ने पुर्तगालियों को मस्क़त से निकाल दिया। उमान के

लोग शुरू ही से एक शक्तिशाली समुद्री बेड़े के मालिक थे, इसलिए मुमबासा और अन्य शहरों ने पुर्तगालियों के ख़िलाफ़ 1653 ई॰ में उमान से मदद माँगी। उमानवासियों ने आधी सदी तक पुर्तगालियों से जंग की और एक-एक करके सभी बस्तियाँ उनसे छीन लीं। 1698 ई॰ में एक दीर्घकालिक घेराव के बाद उमान के अरबों ने मुमबासा भी फ़तह कर लिया और 1699 ई॰ तक मोज़ंबीक़ के उत्तर में पुर्तगालियों की सत्ता हमेशा के लिए ख़त्म हो गई। अरबों ने कलवा, ज़ंजबार और यम्बा में अपने दस्ते तैनात कर दिए। पूर्वी अफ़्रीक़ा अब उमान के सुल्तान के अधीन आ गया। यह स्थिति लगभग सवा सौ साल तक क़ायम रही।

सईद-बिन-सुल्तान (1806 ई॰–1856 ई॰)

1806 ई॰ में सईद-बिन-सुल्तान पन्द्रह साल की उम्र में उमान के तख़्त पर बैठा। वह कभी मस्क़त में रहता था, कभी ज़ंजबार में। सईद जिस समय गद्दी पर बैठा तब फ़ारिस की खाड़ी में समुद्री लुटेरों का बोलबाला था और पूर्वी अफ़्रीक़ा पर उमान की सत्ता कमज़ोर पड़ गई थी। सईद-बिन-सुल्तान ने सबसे पहले समुद्री लुटेरों का ज़ोर तोड़ा। इसके बाद उसने मुमबासा, यम्बा, ज़ंजबार और अफ़्रीक़ा के पूर्वी तट पर अपनी पकड़ मज़बूत की। 1840 ई॰ में वह स्थायी रूप से ज़ंजबार आ गया और इसको अपनी राजधानी बना लिया। इसके बाद से उमान एवं ज़ंजबार की हुकूमतें अलग-अलग हो गईं।

सईद-बिन-सुल्तान एवं उसके ख़ानदान को पूर्वी अफ़्रीक़ा के इतिहास में बड़ी अहमियत हासिल है। 1822 ई॰ में सईद-बिन-सुल्तान ने ब्रिटेन से एक समझौता किया, जिसके अनुसार ब्रिटेन ने अफ़्रीक़ा के पूर्वी तट पर सुल्तान का आधिपत्य स्वीकार कर लिया और सुल्तान ने ग़ुलामों के व्यापार पर पाबन्दी लगाना मंज़ूर कर लिया। सुल्तान सईद जब ज़ंजबार आया तब वह एक ग़ैर-अहम द्वीप था। उसने इस इलाक़े की तरक़्क़ी की ओर पूरा ध्यान दिया। अठारहवीं सदी के आख़िर तक लौंग केवल सुदूर पूर्व के द्वीपों में पैदा होती थी। सुल्तान सईद ने ज़ंजबार में लौंग की खेती शुरू की और यह काम इतने व्यापक पैमाने पर किया गया कि आज दुनिया में सबसे ज़्यादा लौंग

ज़ंजबार में होती है। उसी ज़माने में गुलामों एवं हाथी-दाँत के कारोबार को भी तरक़्क़ी मिली। तंज़ानिया में टांगनिका-झील के किनारे यूजीजी नामक स्थान तक चौकियाँ स्थापित कर दी गईं। ज़ंजबार से जो क़ाफ़िले मुल्क के भीतरी भागों में जाते थे, वे सुल्तान का लाल झंडा लेकर जाते थे। सुल्तान ने व्यापार को तरक़्क़ी देने के लिए विदेशी व्यापारियों को प्रोत्साहित किया जिनमें भारत के हिन्दू व्यापारी भी सम्मिलित थे। इन हिन्दुओं को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी और उनसे कस्टम के अतिरिक्त कोई टैक्स नहीं लिया जाता था। ज़ंजबार की वित्तीय व्यवस्था भी उन्हीं हिन्दुओं के हाथ में थी। हुकूमत की इन कोशिशों का नतीजा यह निकला कि ज़ंजबार, जो मछुआरों की मामूली बस्ती थी, सुल्तान सईद की मृत्यु के समय साठ हज़ार की आबादीवाला शहर बन गया।

सुल्तान सईद की मृत्यु के बाद अंग्रेज़ों के दबाव के कारण, जो अब पूर्वी अफ़्रीक़ा के मामलात में हस्तक्षेप करने लगे थे, उमान की सल्तनत सुल्तान सईद के दो बेटों के बीच बँट गई। सबसे बड़े लड़के को उमान मिला और दूसरे लड़के मजीद (1856 ई॰–1870 ई॰) को ज़ंजबार मिला। मजीद के बाद उसका भाई बरग़श (1870 ई॰–1888 ई॰) गद्दी पर बैठा। उसके काल में अंग्रेज़ों के दबाव में ज़ंजबार से गुलामों का निर्यात बन्द कर दिया गया। 1885 ई॰ में टांगानिका पर जर्मन क़ाबिज़ हो गए। 1887 ई॰ में टांगानिका के उत्तर में सम्पूर्ण तटीय इलाक़ा ब्रिटेन ने सुल्तान से पट्टा पर ले लिया और 1890 ई॰ में ज़ंजबार पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। अंग्रेज़ों ने सुल्तान को ज़ंजबार-द्वीप के हुक्मरान की हैसियत से क़ायम रखा, परन्तु तटीय इलाक़ा सीधे अपने नियंत्रण में कर लिया। सातवें सुल्तान जमूद के काल में 1897 ई॰ में गुलामी प्रथा क़ानून के मुताबिक़ समाप्त कर दी गई।

यहाँ यह सपष्ट कर देना ज़रूरी है कि ज़ंजबार के अरबों के इस दौर में पूर्वी अफ़्रीक़ा में गुलामों का व्यापार बहुत बढ़ गया था और उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में लगभग पन्द्रह हज़ार गुलाम प्रत्येक वर्ष अरब, मिस्र एवं ईरान भेजे जाते थे। गुलामों का यह व्यापार और उनको प्राप्त करने के लिए छापे मारना निस्संदेह एक नापसन्दीदा एवं मानवता के विपरीत काम था, परन्तु

पूर्वी अफ़्रीक़ा में ग़ुलामों की इस तिजारत और पश्चिमी अफ़्रीक़ा में ग़ुलामों की उस तिजारत के बीच, जो यूरोपीय क़ौमें तीन सौ साल तक करती रहीं, ज़मीन और आसमान का फ़र्क़ था। खुद यूरोपीय इतिहासकार इस बात को स्वीकार करते हैं कि पूर्वी अफ़्रीक़ा में ग़ुलामों को पकड़ने के बाद वह अमानवीय व्यवहार नहीं किया जाता था जो ग़ुलामों के यूरोपीय व्यापारी उनसे किया करते थे। और फिर उन ग़ुलामों को बेच देने के बाद तो दुर्व्यवहार का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता था। उनकी हालत ग़ुलाम होने के बावजूद आज़ाद लोगों से अच्छी होती थी। उनसे खेतों एवं खदानों में कठोर परिश्रम नहीं कराया जाता था, बल्कि वे ग़ुलाम अपने स्वामी के परिवार के सदस्य बन जाते थे और जब उन्हें अवसर मिलता तो बड़े-बड़े पदों पर भी आसीन होते थे। सतरहवीं सदी में अहमद नगर के निज़ामशाही काल में मलिक अम्बर जैसी महान शख़्सियत इसका रौशन उदाहरण है।

देश के भीतरी भागों में भी उस ज़माने में कई शहर स्थापित हुए। सुल्तान सईद के ज़माने में यूजीजी और तबूरा आबाद हुए और सुल्तान मजीद के ज़माने में 1862 ई॰ में दारुस्सलाम आबाद हुआ, जो अब तंज़ानिया का मुख्यालय है। यहाँ सुल्तान ने अपने लिए महल एवं ज़रूरी इमारतें बनवाई थीं। दारुस्सलाम की प्रसिद्ध Acacia Avenue नामक सड़क उसी काल की निर्मित है।

पूर्वी अफ़्रीक़ा पर मुसलमानों के प्रभाव केवल ज़ंजबार, केनिया एवं तंज़ानिया के तट तक ही सीमित नहीं रहे। न्यासालैण्ड एवं यूगांडा की सियासी एवं मज़हबी ज़िन्दगी पर भी अरबों एवं स्थानीय मुसलमानों ने गहरे प्रभाव डाले, परन्तु इन इलाक़ों में मुसलमान स्थायी हुकूमत क़ायम नहीं कर सके।

इरीटिरिया और सोमालिया

जहाँ तक पूर्वी अफ़्रीक़ा के उस भाग का सम्बन्ध है जहाँ सोमालिया और हबशा अवस्थित हैं तो इसका इतिहास विगत पृष्ठों में बयान किया जा चुका है। ज़ैलअ का प्रसिद्ध ऐतिहासिक शहर जो अदूल की मुस्लिम हुकूमत में सम्मिलित था और हबशा की बन्दरगाह कहलाता था, आज सोमालिया की

सीमा के अन्तर्गत आता है और वर्तमान बन्दरगाह जिबूती के क़रीब स्थित है। यह शहर इस्लामी दौर में केवल व्यापारिक अहमियत ही नहीं रखता था बल्कि बड़े-बड़े विद्वान एवं लेखक भी यहाँ पैदा हुए जो इतिहास में 'ज़ैलई' के नाम से प्रसिद्ध हैं। अदूल की सल्तनत ज़ैलअ की सल्तनत भी कहलाती थी और जैसा कि हम बयान कर चुके हैं, ज़ैलअ की यह सल्तनत वास्तव में प्राचीन हबशा का एक भाग थी।

उन्नीसवी सदी के अन्त में जब हबशा की वर्तमान सीमाएँ निर्धारित हुईं तो उस समय हबशा के उत्तर-पूर्व में इरीटिरिया का पहाड़ी इलाक़ा हबशा के अन्दर आता था और तटीय इलाक़ा सोमालिया के दक्षिणी भाग तक, मिस्री हुकूमत के क़ब्ज़े में था। उसी ज़माने में यूरोपीय हुकूमतों ने पूर्वी अफ़्रीक़ा में हस्तक्षेप शुरू किया जिसके नतीजे में 1885 ई० में इटली ने इरीटिरिया पर क़ब्ज़ा कर लिया। दूसरे तटीय इलाक़ों पर जो अब सोमालिया कहलाता है, मुसलमानों की विभिन्न हुकूमतें क़ायम हो गई थीं। इरीटिरिया के बाद यूरोपीय हमलावरों ने सोमालिया का रुख़ किया और 1885 ई० में उसके एक भाग पर ब्रिटेन ने, दूसरे पर फ़्रांस ने और 1889 ई० में तीसरे भाग पर इटली ने क़ब्ज़ा कर लिया, और इन तीनों भागों को वहाँ पर क़ाबिज़ हुकूमतों के आधार पर ब्रिटिश सोमालीलैण्ड, फ़्रांसीसी सोमालीलैण्ड और इतालवी सोमालीलैण्ड का नाम दिया गया। हबशा से मुसलमानों की सत्ता पहले ही समाप्त हो चुकी थी, अब पूर्वी अफ़्रीक़ा के तटीय प्रदेशों से भी इस्लामी सत्ता का ख़ातिमा हो गया।

सोमालिया में जिन स्वतंत्रता सेनानियों ने ब्रिटिश एवं इतालवी आक्रमणों का मुक़ाबला किया उनमें मुहम्मद-बिन-अब्दुल्लाह हसन का नाम बहुत प्रमुख है। उन्होंने 1901 ई० से 1920 ई० तक ब्रिटेन और इटली का बड़ी बहादूरी से मुक़ाबला किया, परन्तु इन साम्राज्यवादी शक्तियों ने सोमाली क़बीलों को धन का लालच देकर अपने साथ मिला लिया था, जिसके कारण मुहम्मद-बिन-अब्दुल्लाह को सफलता नहीं मिली और वे हबशा में पनाह लेने पर मजबूर हो गए, जहाँ 1921 ई० में उनका इन्तिक़ाल हो गया। मुहम्मद-बिन-अब्दुल्लाह ने चूँकि ब्रिटिश फ़ौज का अन्तिम साँस तक मुक़ाबला किया

था, इसलिए उनके समकालीन अंग्रेज़ लेखक उन्हें 'पागल मुल्ला' कहकर उनका मज़ाक़ उड़ाते रहे हैं।

सईद-बिन-सुल्तान का ख़ानदान (ज़ंजबार)

1. सैयद सईद-बिन-सुल्तान	(1806 ई॰–1856 ई॰)
2. मजीद	(1856 ई॰–1870 ई॰)
3. बरग़श	(1870 ई॰–1888 ई॰)
4. ख़लीफ़ा प्रथम	(1888 ई॰–1890 ई॰)
5. अली	(1890 ई॰–1893 ई॰)
6. हमीद	(1893 ई॰–1896 ई॰)
7. हमूद	(1896 ई॰–1902 ई॰)
8. अली द्वितीय	(1902 ई॰–1911 ई॰)
9. ख़लीफ़ा द्वितीय	(1911 ई॰)

5. सूडान

हम इस अध्याय में पढ़ चुके हैं कि फ़ंज-ख़ानदान के पतन के बाद जब सूडान में अराजकता और बिखराव पैदा हो गया तो मिस्र के उसमानी गवर्नर मुहम्मद अली पाशा ने 1820 ई॰ में नोबिया और उसके अगले साल सनार फ़त्ह कर लिया। इसके बाद मिस्र की सीमाएँ धीरे-धीरे दक्षिण की ओर बढ़ती चली गईं, यहाँ तक कि 1870 ई॰ में इस्तवाइया (Equatoria) अर्थात् वर्तमान सूडान का सुदूर दक्षिण प्रान्त भी मिस्र की सल्तनत में शामिल कर लिया गया और इस प्रकार वर्तमान सूडान अस्तित्व में आया। अरब के लाल सागर से अटलांटिक-महासागर तक सम्पूर्ण विशाल मरुस्थल (सहारा) को और उससे लगे हुए दक्षिणी भागों को अरज़े-सूडान कहकर पुकारते थे परन्तु अन्त में यह शब्द मिस्र के दक्षिण में अवस्थित नील-नदी की वादी के लिए विशेष रूप से इस्तेमाल होने लगा।

मेहदी सूडानी (1844 ई॰–1885 ई॰)

मिस्रवालों ने सूडानी नागरिकों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया,

जिससे सूडानियों में तीर्व प्रतिक्रिया हुई और 1883 ई॰ में उन्होंने एक दरवेश (फ़क़ीर) मुहम्मद अहमद के नेतृत्व में, जो मेहदी सूडानी के नाम से मशहूर हैं, बग़ावत का झंडा बुलन्द कर दिया। मेहदी सूडानी के अनुयायियों ने, जो दरवेश कहलाते थे, दो साल के अन्दर लगभग सम्पूर्ण सूडान पर क़ब्ज़ा कर लिया। यह वह ज़माना था जब मिस्र पर अंग्रेज़ क़ब्ज़ा जमा चुके थे। अतः मिस्र की हुकूमत ने, जो अंग्रेज़ों की ग़ुलाम थी, बग़ावत को कुचलने के लिए एक अंग्रेज़ फ़ौजी जनरल गॉर्डन की सेवाएँ प्राप्त कीं, परन्तु गॉर्डन को भी सफलता नहीं मिली और वह स्वयं मारा गया। 26 जनवरी 1885 ई॰ को ख़रतूम पर दरवेशों का क़ब्ज़ा हो गया। मेहदी सूडानी अब मिस्र पर हमले की तैयारियाँ कर रहे थे कि इसी बीच उनका इन्तिक़ाल हो गया।

मेहदी सूडानी इस्लामी इतिहास की एक प्रमुख शख़्सियत हैं। वे केवल एक राजनीतिज्ञ एवं एक हुकूमत के प्रधान ही नहीं थे, बल्कि नाईजीरिया के उसमानदान फ़ोदयो की तरह एक सुधारक भी थे। उन्होंने जामे-अज़हर में शिक्षा प्राप्त की थी और कहा जाता है कि उन्होंने मिस्र में जमालुद्दीन अफ़ग़ानी से भी मुलाक़ात की थी। मिस्र से वापस आने के बाद उन्होंने तसव्वुफ़ की मंज़िलें तय कीं। वे अपनी सम्पूर्ण ज़िन्दगी में इस्लाम की शिक्षाओं की पाबन्दी कठोरतापूर्वक करते रहे। एक बार उन्होंने सूडान के शहर बरबरह में अपने उस्ताद का पेश किया हुआ खाना मात्र इस कारण खाने से मना कर दिया कि उसमें ज़ुल्म द्वारा सामग्री जुटाने का संदेह था। इसी प्रकार उन्होंने अपने मुर्शिद (गुरु) से मात्र इस कारण सम्बन्ध विच्छेद कर लिया कि शैख़ (गुरु) ने अपने बच्चों के ख़तना में गाने की व्यवस्था कर रखी थी।

1880 ई॰ में अपने शैख़ की मृत्यु के बाद मेहदी सूडानी तसव्वुफ़ के समानिया पंथ के प्रधान हो गए। उन्होंने कई साल से नील-नदी के एक टा[illegible] आबा (Aba) में रहना शुरू कर दिया था और यहीं से उन्होंने अपनी तेहरीक चलाई थी। यह तेहरीक 29 जून 1881 ई॰ को उस समय शुरू हुई जब मेहदी सूडानी ने सूडान के गणमान्य लोगों को क़ुरआन एवं रसूल (सल्ल॰) की सुन्नत पर जीवन गुज़ारने की दावत दी और कहा कि इस मक़सद के लि[illegible]

तैयार रहना चाहिए, और यह कि उनके अनुयायियों को चाहिए कि वे हिजरत करके आबा-टापू में आ जाएँ। अतः इसके बाद से ही सूडान के मिस्री शासकों और मेहदी के समर्थकों में झड़पें होने लगीं, जो अन्ततः मेहदी की फ़त्ह पर ख़त्म हुई। मेहदी सूडानी ने कामयाबी हासिल करने के बाद नील-नदी के पश्चिमी किनारे पर ख़रतूम की जगह उम्मे-दरमान शहर को अपनी राजधानी बनाया। मेहदी सूडानी ने हुकूमत सम्भालते ही सुधार-कार्य शुरू कर दिए। नए सिक्के ढाले गए। उन लोगों को जिन्हें पूर्व हुकूमत ने नाजाइज़ तरीक़े से ज़मीनों से बेदख़ल कर दिया था, उन्हें उनकी ज़मीनें वापस कर दी गईं। उन रस्मों को ख़त्म करने की कोशिश की गई जो इस्लामी शिक्षाओं के प्रतिकूल थीं। शराब एवं नशीले पदार्थ का सेवन वर्जित कर दिया गया और औरतों को पर्दा करने का निर्देश दिया गया। शादी-विवाह के अवसर पर फ़ुज़ूलख़र्चियों से रोका गया और दहेज पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। मेहदी सूडानी अपने अनुयायियों से इस प्रकार शपथ लिया करते थे—

"हम अल्लाह एवं उसके रसूल की आज्ञाकारिता की प्रतिज्ञा करते हैं और यह कि हम तौहीद (एकेश्वरवाद) के मामले में आपके आज्ञाकारी रहेंगे। हम किसी को अल्लाह का साझीदार नहीं बनाएँगे, हम चोरी नहीं करेंगे, ज़िना (व्यभिचार) से दूर रहेंगे और किसी पर मिथ्यारोपण नहीं करेंगे। हम आपके हाथ पर प्रतिज्ञा करते हैं कि दुनिया के लोभ-लालच को छोड़ देंगे और किसी जाइज़ काम में आपकी अवज्ञा नहीं करेंगे और अल्लाह की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए काम करेंगे तथा जिहाद से मुँह नहीं मोड़ेंगे।"

ब्रिटिश वर्चस्व

मेहदी सूडानी का उत्तराधिकारी ख़लीफ़ा अब्दुल्लाह (1885 ई०–1898 ई०) हुकूमत की ज़िम्मेदारियाँ सम्भालने में कामयाब न हो सका। परिणामस्वरूप मिस्र पर दरवेशों का हमला नाकाम हो गया और मिस्री फ़ौज ने अपने नए अंग्रेज़ सरदार लार्ड किचनर के नेतृत्व में 1898 ई० में सूडान पर हमला कर दिया। दरवेशों ने यद्यपि अद्भुत साहस का प्रदर्शन किया, परन्तु आधुनिक हथियारों से लैस फ़ौज का वे मुक़ाबला न कर सके। ख़लीफ़ा अब्दुल्लाह

नवम्बर 1899 ई॰ में जंग में मारा गया और सूडान पर ब्रिटिश आधिपत्य स्थापित हो गया। जनवरी 1900 में मशहूर दरवेशी सिपहसालार उसमान दग़ना, जिसने मेहदी सूडानी के ज़माने में बड़ी ख्याति अर्जित की थी, गिरफ़्तार हो गया। किचनर ने प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर मेहदी सूडानी की क़ब्र खुदवा दी और उनकी हड्डियाँ जला डालीं। 1903 ई॰ और 1908 ई॰ में दरवेशों ने ब्रिटिश सत्ता के ख़िलाफ़ बग़ावतें कीं, परन्तु वे दबा दी गईं।

अंग्रेज़ों ने मेहदी सूडानी और उनके अनुयायियों को अपने दौर में बदनाम करने की बड़ी कोशिश की, परन्तु अब सूडान में मेहदी मुहम्मद अहमद को सूडान के जागरुकता आन्दोलन का अग्रगामी समझा जाता है। उनकी हड्डियाँ यद्यपि किचनर ने क़ब्र से निकलवाकर जला डाली परन्तु उम्मे-दरमान में उनका मक़बरा, आज सूडान का सबसे बड़ा दर्शनीय स्थल है।

(ब्रिटिश आधिपत्य के बाद सोमालिया एवं सूडान के आधुनिक काल के हालात जानने के लिए देखें इस किताब का तीसरा खण्ड।)

महत्वपूर्ण घटनाएँ

1442 ई॰– पुर्तगाली नाविक गिनी की खाड़ी पहुँचे और नीगरो नागरिकों को गुलाम बनाकर ले गए। और इस प्रकार यूरोप में नीगरो लोगों को गुलाम बनाने का एवं उनके व्यापार का सिलसिला शुरू हुआ।

1501 ई॰– वेस्ट इंडीज़ में नीगरो गुलामों का आयात एवं व्यापार ज़ोर-शोर से शुरू हुआ। सतरहवीं सदी में ब्रिटेन गुलामों का सबसे बड़ा व्यापारी बन गया। स्पेन से एक समझौते के प्रावधानों के अनुसार ब्रिटेन प्रत्येक वर्ष चार हज़ार आठ सौ गुलाम अमेरिका के स्पेनी उपनिवेशों को तीस साल तक भेजता रहा।

1505 ई॰—1507 ई॰—पुर्तगालियों ने सोफ़ाला और कलवा पर क़ब्ज़ा कर लिया और मोजंबीक की बुनियाद डाली। लगभग दो सौ साल तक अफ़्रीक़ा का पूर्वी तट उनके प्रभाव में रहा।

1645 ई॰— सेनेगाल में फ़्रांस ने सेंट लुई की बुनियाद डाली।

1698 ई॰— पुर्तगाली पूर्वी अफ़्रीक़ा से बेदख़ल कर दिए गए।

1720 ई॰— फ़ोताजलों (गिनी) में शरई हुकूमत की स्थापना।

1804 ई॰— फ़ौलानी जिहाद का आग़ाज़ जो 1910 ई॰ तक जारी रहा।

1810 ई॰— अहमद दलोबू (मृत्यु-1844 ई॰) ने माली में शरई हुकूमत क़ायम की।

1828 ई॰— अंग्रेज़ों का मुमबासा पर क़ब्ज़ा।

1840 ई॰— सैयद सईद ने ज़ंजबार को राजधानी बनाया।

1849 ई॰— गिनी पर फ़्रांस का क़ब्ज़ा।

1854 ई॰—1865 ई॰—फ़्रांस का सेनेगाल पर क़ब्ज़ा। हाजी उमर तजानी से जंग।

1861 ई॰— ब्रिटिश दबाव के कारण उमान की सल्तनत, उमान एवं ज़ंजबार दो भागों में विभक्त। लागो (नाईजीरिया) पर अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा।

1862 ई॰— ब्रिटिश और फ़्रांस ने ज़ंजबार की आज़ादी स्वीकार की। दारुस्सलाम की बुनियाद पड़ी।

1881 ई॰— गिनी पर फ़्रांस का क़ब्ज़ा, 29 जून को मेहदी सूडानी की तेहरीक का आग़ाज़।

1883 ई॰— (5 नवम्बर) सूडान में अल-उबैद की जंग। मेहदी सूडानी ने जनरल हक्स को पराजित किया।

1885 ई॰– (26 जनवरी) ख़रतूम पर मेहदी सूडानी का क़ब्ज़ा। 21 जून को मेहदी की मृत्यु, टांगानिका पर जर्मनी का क़ब्ज़ा, इरीटिरिया पर इटली का और उत्तरी सोमालिया पर फ्रांस और ब्रिटेन का क़ब्ज़ा। स्पेन का रेवडी अवरद पर क़ब्ज़ा, बर्लिन की कॉन्फ्रेंस में अफ़्रीक़ा के विभाजन पर सहमति।

1887 ई॰– ब्रिटेन ने केनिया के तटीय इलाक़े पर क़ब्ज़ा कर लिया।

1889 ई॰– इटली का दक्षिणी सोमालिया पर क़ब्ज़ा।

1890 ई॰– (14 जून) ज़ंजबार पर अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा, सेगो पर फ्रांस का क़ब्ज़ा।

1893 ई॰– जनह एवं टम्बक्टू पर फ्रांस का कब्ज़ा।

1896 ई॰– (21 सितम्बर) लार्ड किचनर का डंगोला (सूडान) में प्रवेश।

1898 ई॰– (2 सितम्बर) उम्मे-दरमान की जंग, दरवेशों को पराजय और ख़रतूम पर अंग्रेज़ों का कब्ज़ा। 29 सितम्बर को कवल्ला की जंग में फ्रांसीसियों की फ़तह और इमाम समद की गिरफ़्तारी।

1900 ई॰– कानम और चाड पर फ्रांस का क़ब्ज़ा।

1901 ई॰–1903 ई॰–उत्तरी नाईजीरिया पर अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा।

1909 ई॰–1911 ई॰–वदाई (चाड) पर फ्रांस का क़ब्ज़ा।

अध्याय-36

इस्लामी दुनिया में जागरूकता

अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी मुसलमानों के केवल राजनीतिक पतन की सदियाँ नहीं थीं, बल्कि धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक एवं बौद्धिक पतन की सदियाँ भी थीं। ज़्यादा सही तो यह है कि धार्मिक, बौद्धिक और सामाजिक क्षेत्रों में मुसलमानों का पतन बहुत पहले शुरू हो चुका था। इस्लामी इतिहास की आरम्भिक सदियों में इस्लामी आस्थाओं के पीछे जो रूह काम कर रही थी वह अब ख़त्म हो चुकी थी। इस्लाम ने एक रिवाजी मज़हब की शक्ल ले ली थी और मुसलमान हुक्मरानों के समक्ष साम्राज्य-विस्तार और प्रसिद्धि के अतिरिक्त कोई उच्च उद्देश्य नहीं रह गया था। जनसाधारण एवं गणमान्य लोगों में खोज, अनुसंधान एवं जिज्ञासा की भावना ख़त्म हो चुकी थी। गणित, चिकित्सा-विज्ञान, भौतिकी एवं ज्ञान-विज्ञान के अन्य विषयों में रुचि अब वैसी नहीं रही थी जैसी बग़दाद-पतन के पहले थी। अब दीनी उलूम (इस्लामी ज्ञान) में भी इजतिहाद (चिन्तन-मनन एवं इस्लाम की मूल शिक्षाओं के आधार पर नई-नई समस्याओं का हल तलाश करना) को छोड़ दिया गया और उलमा का काम आरम्भिक काल के उलमा की किताबों की व्याख्या करना एवं उनका फ़ुट नोट लिखना रह गया था। बौद्धिक जड़ता का यह हाल था कि उलमा अब यह समझने लगे थे कि आरम्भिक काल के विद्वान जो कुछ लिख गए हैं अब उसमें कोई संशोधन अथवा अभिवृद्धि नहीं की जा सकती। यात्रा-पर्यटन की भावना क़ौमों में 'जीवन का लक्षण' के रूप में स्वीकार किया जाता है, यह भावना भी मुसलमानों में ठंडी पड़ चुकी थी। बग़दाद-पतन से पूर्व हमें एक से बढ़कर एक पर्यटक नज़र आते हैं, परन्तु अट्ठारहवीं एवं उन्नीसवीं सदी में एक भी उल्लेखनीय पर्यटक नज़र नहीं आता। चौदहवीं सदी में इब्ने-ख़लदून हमारा अन्तिम बड़ा विचारक है। उसके बाद एक भी ऐसा विचारक नज़र नहीं आता जिसने वैचारिक एवं बौद्धिक संसार में कोई उल्लेखनीय योगदान किया

हो।

इस्लामी रूह चूँकि मर चुकी थी इसलिए मुसलमानों में तरह-तरह की नैतिक ख़राबियाँ पैदा हो गई थीं। प्रशासनिक अधिकारियों का काम ऐश-विलास के अलावा कुछ न था। शराबख़ोरी, जो कभी मुसलमानों में आम नहीं हुई, पतन काल में ख़ासी आम हो गई थी। एक मुसलमान औरत का वेश्या का पेशा अपनाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, परन्तु इस काल में यह बुराई भी जड़ पकड़ने लगी थी। बेईमानी एवं कर्तव्य से लापरवाही मुसलमानों की पहचान बन गई थी। आरम्भिक इस्लामी समाज में किसी व्यक्ति की श्रेष्ठता एवं महानता का मापदण्ड उसकी ईशपरायणता को माना जाता था, परन्तु अब, विशेषकर इस्लामी हिन्द में, मुसलमानों में वंश जाति के आधार पर व्यक्ति की श्रेष्ठता तय होने लगी और मुस्लिम समाज भी उच्च जाति और नीच जाति जैसे दो वर्गों में बँट गया था। इस्लाम के पारिवारिक क़ानून की जगह पर पारम्परिक स्थानीय क़ानून को प्रधानता दी जाती थी और पठान, तुर्क, पख़तूनवली और चंगेज़ी क़ानून अभी तक पूर्ववत चल रहे थे। इस्लाम के उत्तराधिकार क़ानून पर भी पूरी तरह अमल नहीं किया जाता था और मीरास (उत्तराधिकार) का बँटवारा स्थानीय परम्परा के अनुसार होता था। ज़कात की वह प्रणाली जिसके कारण हज़रत उमर-बिन-अब्दुल-अज़ीज़ के ज़माने में मुसलमानों में इतनी ख़ुशहाली आ गई थी कि ज़कात लेनेवाले नहीं मिलते थे, अब बड़ी हद तक ख़त्म हो चुका था और व्यक्तिगत कर्तव्य तक सीमित होकर रह गया था।

सबसे अहम बात यह कि इस्लाम, जिसकी बुनियाद विशुद्ध तौहीद पर है और जिसमें शिर्क (अल्लाह के अलावा अन्य की उपासना करना) से बड़ा कोई गुनाह नहीं, तसव्वुफ़ (सूफ़ीवाद) में आई ख़राबी, उसके मूल इस्लामी शिक्षाओं से हट जाने और ग़ैर-इस्लामी विचारधाराओं की मिलावट के कारण, शिर्क एवं बिदअत का सम्मिश्रण बनता जा रहा था।

ऐसे हालात थे जिनमें इस्लामी दुनिया अट्ठारहवीं सदी तक पूरी तरह लिप्त हो चुकी थी। शुरू में तो इन कमज़ोरियों और ख़राबियों को इसलिए ज़्यादा अहमियत नहीं दी गई कि मुसलमानों को हर जगह राजनीतिक वर्चस्व

प्राप्त था जिसने सभी त्रुटियों पर पर्दा डाल रखा था, परन्तु अट्ठारहवीं सदी में जब राजनीतिक सत्ता की इमारत औंधे मुँह गिर पड़ी और ग़ैर-इस्लामी शक्तियों ने वर्चस्व प्राप्त करना शुरू किया तो ये सभी त्रुटियाँ उजागर हो गईं और मुसलमान इन कमज़ोरियों के कारणों और उन्हें दूर करने के उपायों पर ग़ौर करने लगे। उनके विचार में मुसलमानों के पतन का सबसे बड़ा कारण यह था कि मुसलमान मूल इस्लामी शिक्षाओं से बहुत दूर हो गए थे और क़ुरआन एवं रसूल (सल्ल॰) की सुन्नतों (तरीक़ों) को परे रखकर तक़लीदे-जामिद (जड़वत् अन्धानुकरण) में लिप्त हो गए थे। अट्ठारहवीं सदी के उलमा में जिन्होंने इस अन्दाज़ पर चिन्तन किया, उनमें एक शाह वलीउल्लाह देहलवी (रह॰) थे जिनके हालात पिछले पृष्ठों में बयान हो चुके हैं और दूसरे आलिम नज्द (अरब-प्रायद्वीप) के मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब हैं।

मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब

(1115 हि॰/1703 ई॰–1206 हि॰/1792 ई॰)

मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब अरब के इलाक़े नज्द में उसी साल पैदा हुए जिस साल दिल्ली में शाह वलीउल्लाह पैदा हुए। वे बड़े कुशाग्र बुद्धि एवं स्मरण शक्ति के धनी थे। दस वर्ष की उम्र में क़ुरआन हिफ़्ज़ (कंठस्थ) कर लिया। प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने मक्का एवं मदीना जाकर क़ुरआन एवं हदीस की उच्च शिक्षा प्राप्त की। उस समय शेष इस्लामी दुनिया की भाँति नज्द एवं अरब के मुसलमानों में भी भिन्न-भिन्न प्रकार की ख़राबियाँ पैदा हो गई थीं। लोग बुज़ुर्गों की क़ब्रों पर जाकर उनसे मदद माँगा करते थे और ऐसे काम करते थे जिन्हें शरीअत ने रोका है। मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब शिक्षा समाप्त करके इन बुराइयों एवं बिदअतों को ख़त्म करने के लिए अमल के मैदान में उतर पड़े। उन्होंने लोगों को क़ुरआन एवं सुन्नत की ओर बुलाया, शुद्ध तौहीद की दावत दी, कब्रों एवं इनसानों से मदद माँगने तथा मुरादें चाहने से रोका और क़ब्रों की ज़ियारत में सुन्नत के तरीक़ों के विपरीत जो बिदअतें प्रचलित हो गई थीं, उन्हें मिटाने के लिए व्यावहारिक क़दम उठाया। बस अब क्या था, सारे मुल्क में उनका विरोध होने लगा। क़ब्रपरस्तों एवं मुजाविरों ने इसलिए विरोध किया कि

मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब की कामयाबी की स्थिति में उनके हाथ से कमाई का साधन निकल जाने की आशंका थी जिससे वे सदियों से लाभान्वित हो रहे थे। प्रशासनिक अधिकारियों के वर्ग ने इसलिए विरोध किया कि क़ुरआन एवं सुन्नत पर अमल करने के बाद उन्हें अय्याशियों एवं अवाम पर ज़ुल्म-अत्याचार का अवसर नहीं मिलनेवाला था।

मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब कई सालों तक उपदेश, एवं नसीहत और तब्लीग़ के ज़रिए मुसलमानों को क़ुरआन एवं सुन्नत की ओर बुलाते रहे। इस राह में उन्हें तरह-तरह के कष्ट झेलने पड़े, परन्तु उन्होंने इनकी परवाह किए बिना अपने काम को जारी रखा। अन्ततः 1158 हि॰ के निकट नज्द के एक शहर दरइया के एक अमीर (प्रशासनिक अधिकारी) मुहम्मद-बिन-सऊद (मृत्यु-1179 हि॰/1765 ई॰) ने उनके हाथ पर बैअत कर ली (शिष्य बन गए)। अम्र बिल-मारूफ़ एवं नह्य अनिल-मुनकर (अर्थात् अच्छाई की दावत देना एवं बुराई से रोकना) पर अमल करने का वचन दिया, क़ुरआन एवं सुन्नत के बताए हुए तरीक़ों पर चलने की इच्छा प्रकट की। अमीर मुहम्मद-बिन-सऊद की मदद से उनकी तेहरीक सम्पूर्ण नज्द में फैल गई और अमीर की हुकूमत भी शहर दरइया से आगे बढ़कर सम्पूर्ण नज्द में क़ायम हो गई।

मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब ने पचास साल तक तब्लीग़ (प्रचार) एवं इस्लाह (सुधार) का काम पूरा किया और 1792 ई॰ में दुनिया से चले गए। वे कई किताबों के रचयिता हैं। जिनमें 'किताबुत-तौहीद' बहुत अहम है। इस किताब की इस्लाम के पुनरुत्थान में वही अहमियत है जो इस्लामी हिन्द में शाह इसमाईल की 'तक़वियतुल-ईमान' एवं 'सिराते-मुस्तक़ीम' की तथा पश्चिमी अफ़्रीक़ा में उसमानदान फ़ोदयो की 'इह्या-उस-सुन्नह' की है। मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब की तेहरीके-इस्लाह (सुधार-आन्दोलन) ने इस्लामी दुनिया पर गहरा प्रभाव डाला। कहा जाता है कि नाईजीरिया के सुधारक उसमानदान फ़ोदयो एवं माली के महान सुधारक अहमद वलूबू दोनों मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब से प्रभावित एवं प्रेरित थे। यह भी कहा जाता है कि शाह इसमाईल शहीद और सैयद अहमद शहीद के विचारों पर भी

मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब का प्रभाव था, यद्यपि इस दावे का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है परन्तु इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि किताबुत-तौहीद एवं मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब की अन्य रचनाएँ सैयद इसमाईल शहीद एवं सैयद अहमद शहीद के 1820 ई॰ में हज पर जाने से बहुत पहले ही अरब में आम हो चुकी थीं। बहरहाल इन सुधारकों का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ा हो या न पड़ा हो परन्तु उनके विचारों की समानता इस बात का प्रमाण है कि अट्ठारहवीं सदी में चिन्तनशील मुस्लिम विद्वानों के सोचने का अन्दाज़ लगभग एक जैसा था और वे सभी मुसलमानों को अपनी ख़राबियाँ दूर करने के लिए क़ुरआन एवं सुन्नत की ओर बुला रहे थे।

इन सभी सुधारकों के बीच एक और समर्वपता यह है कि इनमें से सभी ऐसी हुकूमतें क़ायम करने में सफल हो गए थे जो उन्नीसवीं सदी में इस्लामी हुकूमत का पूर्णतः नमूना कही जा सकती हैं। उसमानादान फ़ोदयो ने नाइजीरिया में, अहमद वलूबू ने माली में और सैयद अहमद शहीद ने पेशावर में हुकूमतें क़ायम कीं। मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब उनसे ज़्यादा ख़ुशक़िस्मत थे कि उनके प्रभाव में जो हुकूमत क़ायम हुई वह ज़्यादा स्थिर साबित हुई और वह आज तक इस्लामी दुनिया पर अपना प्रभाव डाल रही है।

सऊदी हुकूमत

दरईया की इस्लामी हुकूमत के पहले अमीर मुहम्मद-बिन-सऊद का मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब के जीवनकाल में ही 1765 ई॰ में इन्तिक़ाल हो गया था। इसके बाद उनका लड़का अमीर अब्दुल-अज़ीज़ (1765 ई॰–1803 ई॰) गद्दी पर बैठा, जिसके ज़माने में सऊदी हुकूमत बहरैन एवं उमान के तट तक फैल गई। उसके बाद सऊद-बिन-अब्दुल-अज़ीज़ (1803 ई॰–1814 ई॰) के काल में सऊदी हुकूमत चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। हिजाज़ पर भी सऊदियों का क़ब्ज़ा हो गया और सऊदी फ़ौजें बसरा, करबला एवं शाम (सीरिया) तक छापे मारने लगीं।

सऊदी हुकूमत के क़ायम हो जाने से लोगों को बड़ा फ़ायदा पहुँचा। अरब-प्रायद्वीप में जहाँ चोरी-डकैती आम थी और बड़े-बड़े क़ाफ़िले लूट लिए

जाते थे, ऐसा अम्न स्थापित हुआ कि ख़िलाफ़ते-राशिदा के बाद कभी ऐसा अम्न क़ायम नहीं हुआ था और मानवीय समता एवं क़ानून के अनुपालन का यह हाल था कि एक मामूली हबशी ग़ुलाम बड़े-बड़े क़बीले के सरदार को तन्हा गिरफ़्तार करके दरईया ले आता था। उस दौर में नाजाइज़ टैक्स हटा दिए गए, शराब एवं अन्य नशीली वस्तुओं का इस्तेमाल, जो अरब में आम हो गया था, ख़त्म कर दिया गया। क़ब्र-परस्ती और इसी प्रकार की दूसरी बिदअतें ख़त्म हो गईं और शरीअत पर लोगों का अमल बढ़ गया। लड़ाइयों में इस्लामी उसूलों के अनुसार अमल किया जाता था और माले-ग़नीमत न्यायसंगत तरीक़े से सभी फ़ौजियों में बाँटा जाता था। हुकूमत यद्यपि वंश परम्परा पर आधारित थी, परन्तु हुक्मरान एवं एक आम नागरिक के बीच किसी प्रकार का अन्तर नहीं था। हुक्मरान बादशाह न कहलाकर 'अमीर' कहलाता था। अमीर सऊद आम लोगों के साथ नमाज़ जमात के साथ (सामूहिक) पढ़ता था। सबके साथ क़ुरआन और हदीस के दर्स में शरीक होता था और खुद भी दर्स देता था। सभी प्रकार के फ़ैसले उलमा के मशवरे से किए जाते थे। हुकूमत की प्रणाली राजशाही पर आधारित थी, परन्तु किसी प्रकार तानाशाही हुकूमत नहीं थी।

सऊदी हुकूमत का उसमानी सल्तनत से टकराव उसके लिए हानिकारक साबित हुआ। सुल्तान महमूद द्वितीय का ज़माना था कि हिजाज़ पर सऊदियों का क़ब्ज़ा हो गया। उसमानी सुल्तान ने मिस्र के वाली (गवर्नर) मुहम्मद अली पाशा को सऊदियों के ख़िलाफ़ कार्रवाई करने का आदेश दिया। यह जंग 1811 ई॰ से 1818 ई॰ तक जारी रही। अमीर सऊद का लड़का अब्दुल्लाह (1814 ई॰–1818 ई॰) अपनी बहादुरी के बावजूद उसमानी फ़ौज का मुक़ाबला नहीं कर सका। मुहम्मद अली के लड़के इबराहीम पाशा ने 1818 ई॰ में दाईया पर क़ब्ज़ा करके उसकी ईंट-से-ईंट बजा दी। इबराहीम की फ़ौज के सिपाही शराबी थे, अय्याश थे। सामान्यतः दीनी फ़राइज़ (इस्लामी अनिवार्य कर्तव्यों) से ग़ाफ़िल थे, उन्होंने जो ज़ुल्म-अत्याचार किया एवं औरतों के साथ जैसी बदसलूकी की, वह मुसलमानों के लिए हमेशा शर्म का कारण रहेगी। उनका यह व्यवहार मुसलमानों के नैतिक

पतन का एक प्रमाण है। इस प्रकार यह इस्लामी तेहरीक कुछ समय के लिए ख़ुद मुसलमानों के हाथों कुचल दी गई, परन्तु विचारधाराएँ मरती नहीं हैं। लगभग एक सदी के बाद सऊदी ख़ानदान ने अरब पर पुनः सत्ता स्थापित कर ली और पहले से ज़्यादा शक्ति के साथ मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब की तेहरीके-इस्लाह (सुधार-आन्दोलन) फिर जीवित हो गई, परन्तु इस कालखण्ड के हालात हमारी पुस्तक के इस खण्ड की परिधि से बाहर हैं। इनके लिए तीसरा खण्ड देखें।

सऊदी हुकूमत हिजाज़ में बुज़ुर्गों की क़ब्रों को ढहाने और उनपर बने हुए गुम्बद को गिराने के कारण बहुत बदनाम है, परन्तु उन्होंने यह काम उन हदीसों की रौशनी में किया जिनमें पक्की क़ब्रें बनाने और उनपर गुम्बद निर्मित करने से रोका गया है। यह हक़ीक़त है कि बुज़ुर्गों की ये क़ब्रें ग़ैर-इस्लामी रस्म-रिवाजों और इस्लाम की मूल शिक्षा तौहीद के विपरीत कार्यकलाप का अड्डा बन गई थीं। सऊदी हुकूमत को बदनाम करने में उन मुजाविरों एवं क़ब्रपूजकों का बड़ा हाथ है जिनकी रोज़ी-रोटी उन क़ब्रों से जुड़ी थी और जो क़ब्रों के ढहाने के बाद मुफ़्तख़ोरी की आजीविका से वंचित हो गए थे। उसमानी सल्तनत और अंग्रेज़ों ने भी सऊदी हुक्मरानों को बदनाम किया। उनके सम्बन्ध में मनगढ़ंत एवं अतिश्योक्तिपूर्ण ख़बरें सारी दुनिया में फैलाईं। ये दोनों हुकूमतें सऊदी हुकूमत की विरोधी थीं। उसमानी तुर्कों से उनका सीधा टकराव था और फ़ारिस की खाड़ी में तटीय इलाक़ों पर सऊदी क़ब्ज़ा वहाँ अंग्रेज़ों के बढ़ते हुए प्रभाव की राह में रुकावट था और अंग्रेज़ों ने उमान के अमीर सईद-बिन-सुल्तान को उकसाकर सऊदियों से लड़वाया था। उसी कालखण्ड में भारत में मुजाहिदीन-आन्दोलन ज़ोर पकड़ रहा था। उसका ज़ोर तोड़ने के लिए अंग्रेज़ो ने यह प्रचारित किया कि ये लोग भी मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब के अनुयायी हैं और मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब के सम्बन्ध में तरह-तरह की ग़लत बातें फैलाईं और उन्हें वहाबी सम्प्रदाय का संस्थापक घोषित कर दिया। हालांकि मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब किसी नए सम्प्रदाय के संस्थापक नहीं थे। वे सुन्नी मुसलमानों में हम्बली विचारधारा के अनुयायी थे और उनका मक़सद क़ुरआन एवं सुन्नत

पर अमल करने की दावत देने के अलावा कुछ नहीं था।

(आधुनिक काल में सऊदी हुकूमत के हालात जानने के लिए इस किताब का तीसरा खण्ड देखें।)

सऊदी ख़ानदान

पहला दौर

1. मुहम्मद-बिन-सऊद—(1148 हि॰/1735 ई॰—1179 हि॰/1765 ई॰)
2. अब्दुल-अज़ीज़-बिन-मुहम्मद—(1179 हि॰/1765 ई॰—1218 हि॰/1803 ई॰)
3. सऊद-बिन-अब्दुल-अज़ीज़—(1218 हि॰/1803 ई॰—1229 हि॰/1814 ई॰)
4. अब्दुल्लाह-बिन-सऊद—(1229 हि॰/1814 ई॰—1233 हि॰/1818 ई॰)

दूसरा दौर

1. अब्दुल-अज़ीज़ (इब्ने-सऊद)— (1902 ई॰—1953 ई॰)
2. सऊद-बिन-अब्दुल-अज़ीज़— (1953 ई॰—1964 ई॰)
3. फ़ैसल-बिन-अब्दुल-अज़ीज़— (1964 ई॰—1975 ई॰)
4. ख़ालिद-बिन-अब्दुल-अज़ीज़ (1975 ई॰)

सन्नोसी तहरीक

लगभग उसी ज़माने में जबकि अरब में सऊदी ख़ानदान विकासोन्मुख था और मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब की तेहरीक फैल रही थी, उत्तरी एवं पश्चिमी अफ़्रीक़ा में भी एक इस्लाही तेहरीक (सुधार-आन्दोलन) शुरू हुई। यह तेहरीक 'सन्नोसी' के नाम से मशहूर है। इसके संस्थापक एक बुज़ुर्ग मुहम्मद-बिन-अली सन्नोसी (1791 ई॰—1851 ई॰) हुए हैं। उन्होंने लीबिया के रेगिस्तानी इलाक़े में जग़बूब नामक मरुद्यान में 1837 ई॰ में इस तेहरीक का मुख्यालय क़ायम किया। इस तेहरीक का मक़सद यह था कि मुसलमानों को अपने अख़लाक़ (नैतिक आचरण) एवं आदतों में बिलकुल प्रारम्भिक काल के मुसलमानों की तरह बना दिया जाए। इसके अतिरिक्त उन्होंने अफ़्रीक़ा के हबशी लोगों में इस्लाम की तब्लीग़ (प्रचार) भी की। सन्नोसी

तेहरीक के कारण पश्चिमी अफ़्रीक़ा के रेगिस्तानों एवं जंगलों में बसनेवाले लाखों वहशी एवं अर्द्ध वहशी लोगों ने इस्लाम क़बूल किया और सभ्य इनसानों की तरह ज़िन्दगी गुज़ारने लगे।

शाह वलीउल्लाह, मुहम्मद-बिन-अब्दुल-वह्हाब और मुहम्मद-बिन-अली सन्नोसी की तेहरीकें शुद्ध रूप से मज़हबी तेहरीकें थीं। उनका मक़सद मुसलमानों का नैतिक सुधार था। उस ज़माने में चूँकि मुसलमानों की नैतिक हालत बहुत ख़राब हो गई थी, शराब, जुआ का आम प्रचलन था, ईमानदारी एवं निष्ठा समाप्त हो चुकी थी, लोग मेहनत से जी चुराते थे, ऐश-विलास की ज़िन्दगी गुज़ारना चाहते थे। एक खुदा की इबादत के स्थान पर पीरों एवं क़ब्रों की ज़ियारत करके मक़सद पूरा करना चाहते थे। ग़रीबों का कोई पूछनेवाला नहीं था। अतः उन बुज़ुर्गों का मक़सद इन ख़राबियों को दूर करना था, और बात ठीक भी है, जब तक किसी क़ौम में ये त्रुटियाँ विद्यमान रहेंगी, वह तरक़्क़ी नहीं कर सकती। तरक़्क़ी के लिए ज़रूरी है कि लोग ईमानदार एवं मेहनती हों और बुरी बातों से बचते हों। लेकिन इसके बावजूद तरक़्क़ी के लिए और भी चीज़ें ज़रूरी हैं। दुनियावी तरक़्क़ी के लिए वे हथियार एवं औज़ार भी होने चाहिएँ जो दुनियावाले इस्तेमाल करते हैं। बन्दूक़ के मुक़ाबले के लिए बन्दूक़ और तोप के मुक़ाबले के लिए तोप होना ज़रूरी है। भाप से चलनेवाले तेज़ रफ़्तार समुद्री जहाज़ का मुक़ाबला बादबान से चलनेवाले जहाज़ नहीं कर सकते। यदि हमारे दुश्मन के पास फ़ौज को ले जाने के लिए रेलें और मोटरें हैं तो हमारे पास भी रेलें और मोटरें होनी चाहिएँ। यह तो हो नहीं सकता कि दुश्मन रेल के द्वारा फ़ौज भेजे और हम घोड़ों पर जाएँ। यदि ऐसा होगा तो दुश्मन मोर्चे पर पहुँचकर क़ब्ज़ा कर लेगा और हम पहुँच भी नहीं सकेंगे। फिर तोपों, रेलों समुद्री जहाज़ों आदि को बनाने के लिए कारख़ाने भी होने चाहिएँ। इसके लिए ज़रूरी है कि हमारे पास वैज्ञानिक एवं इंजीनियर हों, हमारे स्कूलों में विज्ञान एवं इंजीनियरिंग की शिक्षा दी जाती हो और चिकित्सा-विज्ञान भी पढ़ाई जाती हो।

हमारे बुज़ुर्गों ने जो तेहरीकें चलाईं, उनमें इन बातों का ख़याल नहीं रखा गया। यूरोपवाले इन सभी तथ्यों से अवगत थे। उनके पास जितनी अच्छी

तोपें थीं एवं लड़ाई के अन्य सामान थे, और उनकी फ़ौज जितनी भली भाँति संगठित थी, उसकी दुनिया में मिसाल नहीं मिलती। यही कारण था कि पलासी की जंग में अंग्रेज़ों ने केवल तीन हज़ार फ़ौज से सिराजुद्दौला की साठ हज़ार फ़ौज को मात दी थी, और समरक़न्द के पास रूसियों की डेढ़ हज़ार फ़ौज ने उज़्बेकों की तीस हज़ार फ़ौज को पराजित किया था।

आधुनिक विचारधारा

हमारे इन बुज़ुर्गों ने इन बातों पर सोचा ही नहीं, और चूँकि यूरोप से उनका ज़्यादा वास्ता नहीं पड़ा, इसलिए वे यूरोप के विकास एवं उत्थान के मूल कारक का अध्ययन भी नहीं कर सके। उन्हें इस बात का ख़याल भी नहीं आया कि दीन (इस्लाम) के पुनरुत्थान एवं शरीअत के प्रभुत्व के लिए सिर्फ़ दीनी उलूम का पुनरुत्थान और शरीअत की रूह को ताज़ा करना काफ़ी नहीं बल्कि आधुनिक ज्ञान एवं कला की प्राप्ति भी आवश्यक है जिनके बल पर यूरोप की क़ौमें इतनी शक्तिशाली बन गई थीं कि डेढ़ सौ साल की अवधि में सारी इस्लामी दुनिया पर छा गईं। इस्लामी जगत् की इस ज़रूरत की ओर उन उलमा एवं विचारकों ने ध्यान आकर्षित कराया जिनका यूरोप से क़रीबी सम्बन्ध स्थापित हुआ और जिन्होंने यूरोप जाकर वहाँ के ज्ञान एवं कला का अध्ययन करने के उपरांत यूरोप के विकास के मूल कारक मालूम किए। मुसलमान क़ौमों में यूरोप से सबसे क़रीब उसमानी तुर्क थे, इसलिए उन्होंने ही सबसे पहले यूरोप से कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किए। उसमानी सल्तनत के उन राजदूतों में अहमद रस्मी (1700 ई॰—1783 ई॰) और यरमी सीकज़ चलेपी मुहम्मद (मृत्यु-1732 ई॰) के नाम इस दृष्टि से अहम हैं कि उन्होंने आस्ट्रीया, जर्मनी और फ़्रांस के बारे में जहाँ वे राजदूत बनकर गए पहली बार अपने अनुभवों को लिपिबद्ध किया। यूरोप से मुसलमानों को क़रीब लाने में उन यूरोपीय नव-मुस्लिमों का भी बड़ा योगदान है जो यूरोप से सम्बन्ध रखने के कारण आम मुसलमानों की अपेक्षा यूरोप से ज़्यादा परिचित थे। ऐसे ही नव-मुस्लिमों में एक हंगरी के इबराहीम मुतफ़र्रिक़ा (1674 ई॰—1745 ई॰) भी थे। इस्तम्बूल में सबसे पहला छापाख़ाना उन्होंने ही 14 दिसम्बर 1727 ई॰ को स्थापित किया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने

पश्चिमी स्रोतों की मदद से भूगोल, गणित एवं भौतिकी पर भी किताबें लिखीं। उनकी सबसे अहम किताब 'उसूलुल-हिकम फ़ी निज़ामिल उमम' है, जिसमें उन्होंने उसमानी सल्तनत के सियासी एवं फ़ौजी प्रणाली को यूरोप की प्रणाली के अनुरूप बनाने की सिफ़ारिश की।

इन प्रारम्भिक प्रयासों के बाद हमारे सामने वे लोग आते हैं जिन्होंने यूरोप की तरक़्क़ी के कारकों का ज़्यादा गहराई से अध्ययन किया। इनमें तूनिस (Tunisia) के ख़ैरुद्दीन पाशा और मिस्र के तहतावी के नाम प्रमुख हैं। ये दोनों एक ओर इस्लामी ज्ञान के विद्वान थे और दूसरी ओर यूरोप का भी बहुत क़रीब से अध्ययन किया था। उन्होंने पहली बार इस विचार को अभिव्यक्त किया कि मुसलमानों को ऐसे विद्वानों की ज़रूरत है जो एक ओर आधुनिक ज्ञान एवं आज की समस्याओं से अवगत हों और दूसरी ओर दीनी ज्ञान पर भी उनकी अच्छी पकड़ हो। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि इस्लामी मुल्कों में राजशाही एवं तानाशाही शासन-प्रणाली के स्थान पर नागरिकों का प्रतिनिधित्व करनेवाली हुकूमत हो जो संविधान एवं शूरा (प्रामर्शदात्री समिति) के प्रति जवाबदेह हो। उन्होंने सामूहिक न्याय की अहमियत को भी स्पष्ट किया और यूरोप से उन सभी ज्ञान एवं कला को प्राप्त करने का समर्थन किया जो इस्लाम की शिक्षाओं के अनुरूप हों। उसी ज़माने में तुर्की में ज़िया पाशा और नामिक़ कमाल ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किए। भारत में सर सैयद अहमद ख़ाँ (1232 हि॰/1817 ई॰–1315 हि॰/1898 ई॰) ने और रूस में शिहाबुद्दीन मरजानी (1815 ई॰–1889 ई॰) ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किए और शिक्षण-व्यवस्था में ऐतिहासिक सुधार लाने की ज़रूरत पर बल दिया, परन्तु उन्नीसवीं सदी में जिस महान व्यक्तित्व ने मुसलमानों के सियासी एवं सामूहिक समस्याओं पर गहराई से चिन्तन किया और जो आधुनिक ज्ञान एवं दीनी ज्ञान पर समान रूप से अधिकार रखते थे, वे हैं जमालुद्दीन अफ़ग़ानी।

जमालुद्दीन अफ़ग़ानी (1254 हि॰/1839 ई॰–1314 हि॰/1897 ई॰)

जमालुद्दीन अफ़ग़ानी 1254 हि॰/1839 ई॰ में अफ़ग़ानिस्तान में पैदा हुए। अमीर दोस्त मुहम्मद ख़ाँ और उसके बेटे आज़म ख़ाँ के ज़माने में

वज़ीर बने और अफ़ग़ानिस्तान की सियासत में सक्रिय रहे। 1869 ई॰ में उन्होंने काबुल छोड़ दिया और भारत एवं मिस्र में संक्षिप्त निवास के बाद 1870 ई॰ में तुर्की पहुँचे, जहाँ प्रधानमंत्री आली पाशा ने उनका स्वागत किया, परन्तु उनकी क्रान्तिकारी विचारधारा को वहाँ के संकीर्ण उलमा सहन न कर सके। उनपर कुफ़्र का फ़तवा लगाया गया और मुल्क छोड़ने पर मजबूर कर दिया गया। अब जमालुद्दीन अफ़ग़ानी मिस्र आ गए जहाँ 1871 ई॰ से 1879 ई॰ तक रहे। इसके बाद ख़दयू तौफ़ीक़ ने जिसे सत्तासीन कराने में जमालुद्दीन अफ़ग़ानी ने बड़ी भूमिका निभाई थी, उनको मिस्र से देश निकाला दे दिया। अब वे पुनः भारत आ गए। लगभग दो साल तक हैदराबाद दक्कन में रहे और भारतीय मुसलमानों के मार्गदर्शन का काम किया। इसके बाद अंग्रेज़-हुकूमत ने उन्हें गिरफ़्तार करके कलकत्ता भेज दिया, जहाँ से वे 1883 ई॰ में लन्दन और फिर पेरिस गए। पेरिस से 'अल-उर्वतुल-वुस्क़ा' नामक एक पत्रिका निकाली जिसने इस्लामी दुनिया के जागरण एवं मार्गदर्शन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1886 ई॰ में नासिरुद्दीन शाह क़ाचार के बुलावे पर ईरान गए, परन्तु जल्द ही ईरान छोड़ना पड़ा। अब वे रूस चले गए, जहाँ 1889 ई॰ तक रहे। रूसी हुकूमत अपने मुसलमान नागरिकों को क़ुरआन छापने की इजाज़त नहीं देती थी। जमालुद्दीन अफ़ग़ानी के प्रयास से उन्हें यह अधिकार प्राप्त हुआ। इसके बाद नासिरुद्दीन शाह क़ाचार की दावत पर वे पुनः ईरान चले गए, जहाँ 1891 ई॰ तक ठहरे, परन्तु इस बार शाहे-ईरान के आदेश पर उन्हें गिरफ़्तार करवे ईरान से निकाल दिया गया। अब वे लन्दन चले गए। जहाँ से सुल्ता अब्दुल-हमीद ख़ाँ की दावत पर 1892 ई॰ में इस्तंबूल पहुँचे और वहीं 9 मा 1897 ई॰ (1314 हि॰) को इन्तिक़ाल किया।

जमालुद्दीन अफ़ग़ानी की बौद्धिक योग्यता असाधारण थी। दीनी ज्ञान वे साथ-साथ आधुनिक दर्शन पर भी अच्छी पकड़ थी। अरबी, फ़ारिसी ए तुर्की के अतिरिक्त अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी और रूसी भाषाएँ भी जानते थे। विचा की स्वतंत्रता के ध्वजावाहक थे और तानाशाही शासन-प्रणाली के घ विरोधी थे। यही कारण है कि उनकी मिस्र में ख़दयू इसमाईल, ख़दयू तौफ़ी

से, ईरान में नासिरुद्दीन शाह क़ाचार से और तुर्की में सुल्तान अब्दुल-हमीद से निभ न सकी। ये हुक्मरान उन्हें अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करना चाहते थे और जमालुद्दीन अफ़ग़ानी के समक्ष आम लोगों का हित रहता था। नतीजा स्पष्ट है, वे मिस्र, ईरान एवं तुर्की से बार-बार जलावतन किए गए।

जमालुद्दीन अफ़ग़ानी पश्चिमी उपनिवेशवाद के, विशेषकर अंग्रेज़ी उपनिवेशवाद के कट्टर दुश्मन थे। यही कारण है कि ब्रिटिश इलाकों में उनपर कड़ी निगरानी रखी जाती थी। वे पश्चिम के ग़ुलाम मुसलमान क़ौमों में देशभक्ति की भावना पैदा करना चाहते थे ताकि वे इसके द्वारा पश्चिमी उपनिवेशवाद का मुक़ाबला कर सकें। इसके साथ ही वे इस्लामी एकता के भी बड़े आवाहक थे। वे सभी मुसलमानों को पश्चिमी उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ संगठित करना चाहते थे। ईरान, तुर्की और मिस्र के राष्ट्रीय आन्दोलन पर उनके गहरे प्रभाव थे। तुर्की के प्रथम राष्ट्रभक्त कवि मुहम्मद अमीन यूरदाकुल Yurdakul ने तुर्की में राष्ट्रभक्ति पर आधारित कविता का सुत्रपात किया। यह उन्हीं के प्रभाव से सम्भव हुआ। मिस्र के सभी राष्ट्रभक्त नेता जिन्होंने बाद में ब्रिटिश ग़ुलामी के ख़िलाफ़ जंग की उनके शिष्य थे। ईरान में संविधानवादी क्रांन्ति लाने में उनके प्रयासों का बड़ा योगदान है। भारत एवं उत्तरी अफ़्रीक़ा के आन्दोलनों पर भी उनके प्रभाव से इनकार नहीं किया जा सकता। वास्तविकता यह है कि वे किसी एक मुल्क या क़ौम के रहनुमा (नेता) नहीं थे, वे सम्पूर्ण इस्लामी दुनिया के रहनुमा थे। जमालुद्दीन अफ़ग़ानी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने आधुनिक विश्व की सामूहिक समस्याओं को इस्लामी दृष्टिकोण से हल करने का रास्ता बताया और प्राचीन एवं आधुनिक विचारशैली को मिलाकर एक सारगर्भित एवं व्यापक इस्लामी विचारशैली की बुनियाद डाली।

उन्नीसवीं सदी में पैदा होनेवाली वैचारिक कश-मकश ने बीसवीं सदी में क्या रूप धारण किया, इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि तुर्की में हमें मुहम्मद जौनपुरी, मुजद्दिद अल्फ़सानी, शाह वलीउल्लाह और शाह इसमाईल जैसी हस्तियाँ नज़र नहीं आती और न ही वहाँ नज्द की वहाबी तेहरीक एवं पश्चिमी अफ़्रीक़ा की फ़ौलानी तेहरीक की तरह इस्लामी

पुनरुत्थान की कोई तेहरीक नज़र आती है। तुर्की में आधुनिक विचार एवं सुधार का उन्नीसवीं सदी में जो घोर विरोध हुआ और हर नई चीज़ की काट की गई शायद उसकी एक बड़ी वजह यह भी थी कि वहाँ इस प्रकार की दीनी इस्लाही तेहरीकों का अभाव था। ऐसी तेहरीकों के न होने के कारण तुर्की में इजतिहाद के रास्ते बन्द हो गए थे और उलमा घोर अंधानुकरण एवं जड़ता के शिकार हो गए थे और जब दीनी रास्ते से इस्लाह (सुधार) का दरवाज़ा बन्द हो गया तो यह काम बेदीनी (अर्थात् ग़ैर-इस्लामी रास्ते से) होने लगा। लोकतंत्र की स्थापना के बाद तुर्क-नेताओं का मज़हब-दुश्मन रवैया और ज़ावियों और ख़ानक़ाहों का बन्द किया जाना वास्तव में तुर्की उलमा की संकीर्ण मानसिकता के ख़िलाफ़ एक प्रतिक्रिया थी। यदि वहाँ भारत, अरब और अफ़्रीक़ी देशों की तरह इस्लामी सुधार एवं पुनरुत्थान की तेहरीकें विद्यमान रहतीं तो शायद तुर्कों की नई नस्ल की प्रतिक्रिया इतनी तीव्र न होती। इस मामले में तुर्किस्तान की हालत तुर्की से भी ज़्यादा ख़राब थी और वहाँ के उलमा अंधानुकरण, मानसिक जड़ता, संकीर्णता आदि में शायद सम्पूर्ण इस्लामी जगत् में सबसे आगे थे। तुर्किस्तान के मुसलमान उनकी इस कमज़ोरी का ख़मयाज़ा आज तक भुगत रहे हैं।

महत्वपूर्ण घटनाएँ

1793 ई॰— उसमानी फ़ौजों के लिए 'आधुनिक प्रणाली' लागू, जिसने उसमानी फ़ौजों को यूरोपीय शैली में संगठित करने की बुनियाद डाली।

1214 हि॰/1800 ई॰— (4 मई) कलकत्ता में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना, उर्दू में पुस्तकों के अनुवाद का काम शुरू।

1810 ई॰— मौलवी इकराम अली ने कलकत्ता से प्रथम उर्दू अख़बार निकाला।

1229 हि॰/1814 ई॰— नवाब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने लखनऊ में छापाख़ाना स्थापित किया।

1816 ई॰—	इस्तंबूल में अरबी का पहला छापाख़ाना स्थापित हुआ। तुर्की भाषा का छापाख़ाना 1727 ई॰ में स्थापित हो चुका था।
1822 ई॰—	बाबे-आली (इस्तंबूल) में अनुवाद-विभाग स्थापित हुआ। बोलाक़ (क़ाहिरा) में मुहम्मद अली ने छापाख़ाना क़ायम किया, जहाँ से बाईस वर्षों में 243 किताबें प्रकाशित हुईं।
1831 ई॰—	तुर्की भाषा का प्रथम अख़बार 'तक़्वीम वक़ाय' प्रकाशित हुआ।
1836 ई॰—	दिल्ली से मौलवी बाक़र अली ने देहली उर्दू अख़बार जारी किया जो उर्दू का दूसरा अख़बार था।
1839 ई॰—	(3 नवम्बर) तुर्की में 'तंज़ीमात' के नाम से सुधार-कार्य का एलान और पश्चिमी शैली के स्कूलों (रुश्दिया मदरसों) का आरम्भ।
1840 ई॰—	इस्तंबूल से पत्रिका 'हवादिस' का प्रकाशन।
1847 ई॰—	बैरूत में ईसाई नागरिकों ने पश्चिमी विचारधारा के प्रचार के लिए 'सोसाइटी ऑफ़ आर्टस एण्ड साईंस' की स्थापना की।
1850 ई॰—	इस्तंबूल में 'अंजुमन दानिश' की स्थापना हुई, जिसका मक़सद प्रस्तावित यूनीवर्सिटी के लिए पाठ्य-पुस्तकों की तैयारी था। बैरूत में ईसाई नागरिकों ने 'ओरियंटल सोसाइटी' बनाई।
1850 ई॰—1857 ई॰—	आज़रबाइजान के साहित्यकार फ़तह अली अख़वन्दज़ादा ने पहली बार ड्रामे लिखे।
1857 ई॰—	दिमश्क़ में 'जामिआ इल्मीया सूरिया' की स्थापना।

1859 ई॰— इस्तंबूल से 'तरजुमान अहवाल' के नाम से आज़ाद अख़बार का लोकार्पण।

1860 ई॰— तूनिस में अहमद बे ने 'आईन' (संविधान) का एलान किया जो इस्लामी दुनिया का आधुनिक काल में पहला संविधान है।

1861 ई॰— इस्तंबूल में जमीयत इल्मीया उसमानिया क़ायम हुई। शनासी ने 'तस्वीरे-अफ़कार' नामक पत्रिका निकाली जो नामिक़ कमाल के संपादन में तुर्की में सियासी एवं बौद्धिक पुनर्जागरण का उत्प्रेरक बन गया।

1863 ई॰— सर सैयद ने ग़ाजीपुर में बौद्धिक किताबों को उर्दू में अनुवाद करने के लिए 'साईंटिफ़िक सोसाइटी' स्थापित की।

1863 ई॰— इस्तंबूल में 'दारुल-फ़ुनून' के नाम से पहली यूनीवर्सिटी स्थापित हुई और 1869 ई॰ में उसने बाक़ायदा यूनीवर्सिटी का रूप ले लिया।

1864 ई॰— नामिक़ कमाल ने 'तस्वीरे-अफ़कार' का संपादन सम्भाल लिया।

1865 ई॰— तुर्की में शिक्षा-विभाग में अनुवाद का प्रकोष्ठ बनाया गया। माह जून में 'नौजवान उसमानियों' की अंजुमन (समिति) स्थापित हुई जो संवैधानिक सुधार की पक्षधर थी।

1866 ई॰— (15 मुहर्रम 1283 हि॰) सर सैयद ने मुहम्मडन एजुकेशनल कान्फ्रेंस स्थपित की। दारुल-उलूम देवबंद की स्थापना। बैरूत में मसीही बाशिंदों ने कॉलेज क़ायम किया।

1867 ई॰— ख़ैरुद्दीन पाशा ने 'अक़वामुल ममालिक' लिखी। इस किताब ने तहतावी और कवाकबी को भी प्रभावित किया।

1868 ई॰— नामिक़ कमाल ने पेरिस से 'हुर्रियत' प्रकाशित किया।

1869 ई॰— तहतावी की किताब 'मनाहिज' प्रकाशित हुई जिसमें जागीरदारी व्यवस्था पर पहली बार आलोचना की गई। वे इससे पूर्व 'मुर्शिदुल-अमीन' एवं 'तख़लीसुल-अबरेज' प्रकाशित कर चुके थे जो मुसलमानों की आधुनिक विचारधारा के इतिहास में बड़ी अहमियत रखती है।

1870 ई॰— सर सैयद अहमद ख़ाँ ने आधुनिक समाज बनाने के लिए 'तेहज़ीबुल-अख़लाक़' का प्रकाशन शुरू किया।

1871 ई॰— जमालुद्दीन अफ़ग़ानी मिस्र आए और 1879 ई॰ तक यहाँ रहकर मिस्र में ब्रिटेन के ख़िलाफ़ राष्ट्रीय आन्दोलन को बल दिया।

1872 ई॰— (13 जून) नामिक़ कमाल ने 'इबरत' का प्रकाशन किया और ऐसे आधुनिक समाज पर ज़ोर दिया जो इस्लामी बुनियादों पर क़ायम हो। तंज़ीमात के रहनुमाओं की कटु आलोचना की।

1873 ई॰— (1 अप्रैल) नामिक़ कमाल का प्रसिद्ध नाटक 'वतन' का मंचन हुआ जिसने तुर्की में तानाशाही शासन-प्रणाली के ख़िलाफ़ लोगों में तीव्र भावना पैदा की।

1876 ई॰— (23 दिसम्बर) उसमानी संविधान का एलान जिसमें व्यक्तिगत आज़ादी, अंतरात्मा की आज़ादी और सबसे समान व्यवहार की गारंटी दी गई।

1877 ई०— (8 जनवरी) अलीगढ़ कॉलेज की स्थापना। बाद में यह इस्लामी हिन्द की पहली यूनीवर्सिटी बना।

1883 ई०— जमालुद्दीन अफ़ग़ानी ने मुहम्मद अब्दहु के सहयोग से 'अल-उर्वतुल-वुसक़ा' का प्रकाशन लन्दन से शुरू किया जिसने इस्लामी दुनिया के जागरण और पश्चिमी सामन्तवाद के ख़िलाफ़ भावनाएँ पैदा करने में भूमिका निभाई।

1885 ई०— रूसी मुसलमानों के रहनुमा इसमाईल गसराली ने क्रीमिया से अख़बार 'तर्जुमान' प्रकाशित किया जिसने तुर्की बोलनेवाले मुल्कों के मुसलमानों को जगाने में अहम हिस्सा लिया। अख़बार का नारा 'भाषाई, वैचारिक एवं बौद्धिक एकता' था। यह शिक्षा के क्षेत्र में आधुनिक उसूल का पक्षधर था।

1888 ई०— (12 अगस्त) हंगरी और इस्तंबूल के बीच रेल-लाइन का उद्घाटन।

1889 ई०— (21 मई) 'अंजुमन इत्तिहाद व तरक़्क़ी' की स्थापना।

1892 ई०— इस्तंबूल से अंक़रा तक रेल-लाइन का काम पूर्ण।

1311 हि०/1893 ई०— लखनऊ में 'नदवतुल-उलमा' की स्थापना जिसका मक़सद ऐसी शिक्षा देना था जो इस्लामी विचारधारा के साथ आधुनिक ज़रूरतों को पूरा कर सके।

1899 ई०— तुर्की ने जर्मनी से बग़दाद में रेल के निर्माण करने से सम्बन्धित संधि की।

1900 ई०— अब्दुर्रहमान कवाकबी की किताबें 'तबाइउल-इस्तिबदाद' और 'उम्मुल-क़ुरा' क़ाहिरा से प्रकाशित हुईं। इन किताबों ने तुर्क-दुश्मनी और अरब-राष्ट्रवाद की भावना को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

—:—